

GOVERNMENT OF INDIA

DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY

**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY**

Acc. No.

8684

CALL No.

891.3709

Upa

D.G.A. 79.

Acc N.

8684

~~891.309/12~~





पालि साहित्य का इतिहास

Pāli Sāhitya Ka Itihāsa

लेखक

भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, जैन कालेज, बड़ौत

Bharat Singh Upadhyaya

8684



891.3709

Upa

Ref 891.370109

Pha

२००८

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मूल्य १०)

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI,

Acc. No. ४६४५

Date. १०. ५. ५७

Call No. ४९१-३७०९

Upa

कल्याणमित्र
श्री तुलसीराम वर्मा को

ONE

Ac.

Dn

0

~~371~~
~~14. 6. 52~~
~~891. 309~~ / upa

1041

1041

1041

upa

प्रकाशकीय

श्री भरत सिंह उपाध्याय एम० ए० के इस ग्रन्थ 'पालि साहित्य का इतिहास' का प्रकाशकीय लिखना में अपने लिए विशेष महत्त्व की बात मानता हूँ। विद्वान लेखक बौद्ध और जैन साहित्य के पण्डित हैं। 'बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन' पर इन्हें बंगाल हिन्दी मण्डल से १५००) का 'दर्शन' पारितोषिक मिल चुका है। पर यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। गंभीर साहित्य पर लिखने वाले हिन्दी में अभी बहुत कम हैं। जिन इन्ने गिने व्यक्तियों का नाम उँगलियों पर गिना जा सकता है उनमें एक उपाध्याय जी हैं यह इनके इस प्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है। लेखक ने चार वर्षों के अध्यवसाय और तपस्या से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। संसार के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य को हिन्दी जनता के लिए सुगम बनाने का श्रेय लेखक को मिल कर रहेगा। इस ग्रन्थ का लाभ देश की दूसरी भाषाओं को भी मिलेगा। साहित्य के विद्यार्थी इससे ईसा पूर्व के सामाजिक जीवन, भाव और विचार से परिचित होंगे।

यह ग्रन्थ दस अध्याय और उनमें वर्णित वैज्ञानिक विभागों में पूरा हुआ है। विषय-सूची को एक बार देख लेने पर सामान्य हिन्दी पाठक का बौद्धिक क्षितिज अनायास विस्तृत हो उठता है और ग्रन्थ के भीतर पढ़ने की जिज्ञासा जाग जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास और उन्नयन के लिए संस्कृत की जानकारी जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है पालि की जानकारी भी। संस्कृत का परिचय संस्कार और अभ्यास से शिक्षित वर्ग को थोड़ा बहुत मिलता रहा है पर पालि परिचय के लिए हिन्दी में अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है, यह कहने में हमें संकोच नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शनों में लेखक की रुचि और जिज्ञासा पाठक के भीतर दर्शन और साहित्य दोनों की रुचि जगा देती है।

पालि साहित्य में दायक्यमुनि के आचार-विचार, धर्म और संघ के विवरण के साथ इस देश का वह इतिहास जो ईसा-पूर्व और बाद की कई शताब्दियों का

इतिहास है, हमें मिल जाता है। पालि में उपलब्ध सामग्री जो न मिलती तो फिर उस काल का हमारा इतिहास भी लुप्त हो गया होता। दो सहस्र वर्ष पहले का हमारा समाज, हमारे जीवन का तल, हमारी आशा आकांक्षाएँ, हमारी दिन-चर्या, बुद्धि और कौतुक के सभी क्षेत्र कम या अधिक इस ग्रन्थ से हमें सुगम बन जाते हैं। संस्कृति का वह सूत्र जिसे हम भूल चुके थे, लेखक ने जिस मनोयोग से खोज निकाला है, उसका अभिनन्दन हम इसलिए करेंगे कि महत्त्व के ऐसे कठिन कार्य अर्थ और यश की कामना से सम्भव नहीं होते। गहरी निष्ठा, कठोर संकल्प, अडिग समाधि और अनासक्त बुद्धि से, व्यक्ति जब निर्माण में लगता है तभी वह ऐसी रचनाएँ दे सकता है। श्री उपाध्याय जी का सरल स्वरूप कितनी सरलता से पाण्डित्य का पर्वत उठा सका है, देख कर विस्मय होता है। अभी वे तरुण हैं और कार्य करने के अनेक वर्ष उनके सामने हैं। संकल्प और साधना की यही योगवृत्ति जो उनमें बनी रही तो वे अभी और कई ग्रन्थ रत्न हिन्दी भाषा को दे सकेंगे।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

साहित्य मन्त्री

प्राक्थन

भारतीय वाङ्मय में बौद्ध साहित्य और उसमें भी पालि-साहित्य का बहुत महत्त्व है, इतना कहने से भी हम पालि साहित्य के महत्त्व को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। वस्तुतः ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिल्कुल अधूरी रह जाती यदि हमारे पास पालि साहित्य न होता। हमारे इतिहास के कितने ही अन्धकारावृत भागों पर पालि साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों में से बहुतों को विस्मृति के गर्भ में से बाहर निकालने का श्रेय पालि साहित्य को है। फिर भारत के सर्व श्रेष्ठ पुरुष गौतम बुद्ध के मानव रूप का साक्षात्कार करने के लिए पालि साहित्य तो अनिवार्यतया आवश्यक है।

दुनिया की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में पालि साहित्य की अनमोल निधियों के अनुवाद हुए हैं, पालि साहित्य के ऊपर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं, यह खेद की बात है कि हमारी हिन्दी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद अवश्य हुए हैं, लेकिन वहाँ भी बहुत थोड़े भाग में काम हो सका है। श्री भरत सिंह उपाध्याय ने पालि साहित्य के इतिहास पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। उनके ग्रन्थ में पालि साहित्य और तुलनात्मक भाषा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री दी गई है। इस ग्रन्थ के सब गुणों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक पालि साहित्य के उच्च विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए तो बहुत सहायक साबित होगी ही, साथ ही साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

दिल्ली

राहुल सांकृत्यायन

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुदस्स

भूमिका

हिन्दी में पालि साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का अभी सूत्रपात ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवादों के अतिरिक्त पालि साहित्य सम्बन्धी कार्य हिन्दी में प्रायः बहुत कम ही हुआ है। अनुवाद भी प्रायः विनय-पिटक और सुत्त-पिटक के कुछ ग्रन्थों के ही हुए हैं। सुत्त-पिटक के भी संयुक्त और अंगुत्तर जैसे निकाय अभी अनुवादित नहीं हो पाए हैं। खुद्दक-निकाय के भी अनेक ग्रन्थ अभी अनुवादित होने को बाकी हैं। सम्पूर्ण अभिघम्म-पिटक पर तो अभी हाथ ही नहीं लगाया गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य, जिसमें बुद्धदत्त, बुद्धघोष और घम्मपाल की अट्ठकथाएँ और अन्य विशाल साहित्य सम्मिलित हैं, अभी अनुवाद की बाट देख रहा है। इस साहित्य में से केवल 'मिलिन्द-प्रश्न' और 'महावंश' तथा कुछ अन्य अल्पाकार ग्रन्थ ही हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर सके हैं। 'विमुद्धिमग्गो' जैसा ग्रन्थ अभी हिन्दी जनता को अविदित है। ऐसा लगता है कि एक महान् उत्तराधिकार से हम वंचित हो गए हैं। जिस दिन अवशिष्ट पालि साहित्य हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर लेगा, उस दिन भारतीय मनीषा को एका नई स्फूर्ति मिलेगी। उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत, जो आज सूखे पड़े हैं, पुनः आप्लावित हो उठेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जो दस पालि ग्रन्थों के अनुवादों की है, वही उनके मूल पाठों के नागरी संस्करणों की भी है। सन् '३७ में पुण्यश्लोक वर्मी भिक्षु उत्तम ने भिक्षु-जय, महामति राहुल सांस्कृत्यायन, भदन्त आनन्द कौस्तल्यायन और भिक्षु जगदीश कादयण द्वारा सम्पादित खुद्दक-निकाय के ११ ग्रन्थों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया था। तब से बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से निदान-कथा, महावंश, दोष-निकाय (दो भाग), मज्झिम-निकाय (मज्झिम-वग्ग्यासक), धेरीगाथा,

पेरगाथा, मिलिन्दपञ्चो तथा पातिमोक्ख आदि का प्रकाशन नागरी लिपि में हो चुका है। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य के भिक्षु और भिक्षुनी पातिमोक्ख के तथा डा० विमलाचरण लाहा के 'चरियापिटक' के नागरी संस्करण भी स्मरणीय हैं। इसी प्रकार मृनि जिनविजय का 'अभिधानपदीपिका' का संस्करण, प्रोफेसर बापट के 'धम्मसंगणि' और 'अट्ठसालिनी' के संस्करण, आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के 'विसुद्धिमग्ग' एवं स्वकीय नवनीत-टीका सहित 'अभिधम्मत्थ संग्रह' के संस्करण तथा भिक्षु जगदीश काश्यप का गोमाल्लान-व्याकरण पर आधारित 'पालि महा-व्याकरण' ये सब हिन्दी में पालि-स्वाध्याय के महत्त्वपूर्ण प्रगति-चिन्ह हैं। इनके अलावा कुछ अन्य ग्रन्थों के भी नागरी संस्करण निकले हैं और धम्मपद, सुत्त-निपात, तेलकटाहगाथा, खुदक-पाठ आदि कुछ ग्रन्थों के मूल पालि-सहित हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। फिर भी जो कुछ काम अभी तक हो चुका है वह उसके सामने कुछ नहीं है जो अभी होना बाकी है। भारतीय विद्वानों के सामने एक भारी काम करने को पड़ा हुआ है। यह काम सफलता-पूर्वक हो, इसके लिए अथक परिश्रम और जायिक व्यवस्था दोनों की ही बड़ी आवश्यकता है। महाबोधि सभा की कई योजनाएँ आर्थिक अभाव के कारण अपूर्ण पड़ी हुई हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत संयुक्त-निकाय का हिन्दी-अनुवाद वर्षों से पड़ा हुआ है और उसके प्रकाशन की व्यवस्था अभी-अभी हुई है। इसी प्रकार उनके द्वारा संकलित बृहत् पालि-हिन्दी शब्द कोश के प्रकाशन का सवाल है। अनेक पालि ग्रन्थों के मूल पाठ, जिन्हें विद्वान् भिक्षुओं ने नागरी अक्षरों में लिख लिया है, विद्यमान हैं, किन्तु उनके छपने की कोई व्यवस्था नहीं। यही अवस्था अनेक अनुवादों की है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाबोधि सभा या कोई पुरानी या नई साहित्य-संस्था सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और हिन्दी-अनुवाद को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में ले और विद्वानों के सहयोग से उसे निकट भविष्य में पूरा करे। सरकार और जनता का भी कर्तव्य है कि वह इसमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग दे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों में हम प्रत्येक स्वाधीनता-दिवस पर अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया करते थे कि अन्य अनेक ह्रासों के साथ उन्होंने हमारा सांस्कृतिक ह्रास भी किया है। आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के चौथे वर्ष में भारतीयों को यह पाव दिलाने की आवश्यकता

प्रतीत नहीं होगी कि जब कि हमारी अपनी भाषा में कुछ गिने-चुने पालि ग्रन्थों के मूल पाठों और अनुवादों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अंग्रेजों ने बीसों वर्ष पहले सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और अंग्रेजी अनुवाद को रोमन-लिपि में रख दिया था। क्या पालि साहित्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा अंग्रेजी संस्कृति और सभ्यता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्धित है? क्या हमारी अपेक्षा पालि साहित्य का महत्त्व और समत्व अंग्रेजों के लिए अधिक था? क्या ५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक का भारतीय इतिहास हमारी अपेक्षा अंग्रेज लोगों के लिए अधिक ज्ञातव्य विषय था? सन् १९०२ में 'बुद्धिस्ट इंडिया' लिखते समय रायन डेविड्स ने अपने देश की सरकार की उदासीनता की शिकायत करते हुए लिखा था कि इंग्लैण्ड में केवल दो जगह संस्कृत और पालि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है जब कि जर्मनी की सरकार ने अपने यहाँ बीस से अधिक जगह इसका प्रबन्ध किया है "जैसे कि मानो जर्मनी के स्वार्थ भारत में हमसे दस गुने से भी अधिक हों।" आज सन् १९५१ में भारत में पालि के उच्च स्वाध्याय की अवस्था और उसके प्रति सरकार के धन्यात्मक सहयोग को देख कर कोई भारतीय विद्यार्थी यह दुःखद अनुभूति किए बिना नहीं रह सकता कि सन् ५१ में भारतीय सरकार का जितना हित इस देश की संस्कृति और साहित्य के साथ दिखाई पाइता है उसके कदाचित् दुगुने और बीस गुने से भी अधिक कमरा: इंग्लैण्ड और जर्मनी का सन् १९०२ में था।

जब पालि ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद और उनके मूल पाठों के नागरी-संस्करणों की उपर्युक्त अवस्था है तो पालि साहित्य पर हिन्दी में अभी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने का कोई आधार ही नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के विस्तृत वास्तवीय अध्ययन एवं उस पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने के लिए पहले यह आवश्यक है उसके मूल संस्करण और अनुवाद उपलब्ध हों, जिनके आधार पर उपादान-सामग्री का संकलन किया जा सके। हिन्दी इस बात को पूरा नहीं करती। इसीलिए सिर्फ दो-एक निबन्धों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कोई विवेचनात्मक ग्रन्थ हमें नहीं मिलते। पूज्य भद्रन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने सिंहल में अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि ग्रन्थों का एक संक्षिप्त विवरण लिखा था जो 'पालि बाङ्मय की अनुक्रमणिका' शीर्षक से काशी विद्यापीठ

की पत्रिका 'विद्यापीठ' के संवत् १९९३ के आश्विन-शुक्ल अंक में निकला था। एक दूसरा पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के चतुर्थ परिशिष्ट के रूप में है। सरसरी तौर पर यहाँ पालि साहित्य के विकास को दिखाने की चेष्टा की गई है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादों की प्रस्तावनाओं में उन उन ग्रन्थों सम्बन्धी विवरणों के साथ-साथ सामान्यतः पालि साहित्य सम्बन्धी परिचयात्मक विवरण भी कहीं-कहीं दे दिया गया है। विशेषतः महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्ध-चर्या', 'दीघ-निकाय', 'विनय-पिटक' एवं 'अभिधर्म-कोश', आदि की भूमिकाएँ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जातक' (प्रथम लण्ड) और 'महावंश' की भूमिकाएँ और भिक्षु जगदीश काश्यप की 'उदान' और 'पालि महाव्याकरण' की भूमिकाएँ इस दृष्टि से देखने योग्य हैं। भदन्त श्री शान्ति भिक्षु जी के भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध इधर 'विश्व भारती पत्रिका' और 'विशाल भारत' में निकलते रहे हैं। 'धर्मदूत' में भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी, भिक्षु शीलभद्र जी, भिक्षु धर्मरत्नजी, तथा अन्य अनेक बौद्ध विद्वानों के पालि साहित्य सम्बन्धी लेख प्रायः निकलते रहते हैं। इधर बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी में निकले हैं। उनमें भी यथास्थान पालि साहित्य का कुछ विवरण है। पर उनमें कोई ऐसी मौलिकता या विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती जिससे उसे विशिष्ट महत्त्व दिया जा सके। अतः प्रकीर्ण निबन्धों, प्रस्तावनाओं और गौण संक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास पर हिन्दी में अभी कुछ नहीं लिखा गया है।

हाँ, अंग्रेजी में पालि साहित्य के इतिहास पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मेविल बौड का 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा' (लन्दन, १९०९) और जी० पी० मल्लसेकर का 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन' (लन्दन, १९२८) क्रमशः बरमा और लंका के पालि साहित्य पर अच्छे विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। डा० विन्टर-निल्ड ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर' (कलकत्ता, १९२३) की दूसरी जिल्द (पृष्ठ १-४२३) में पालि साहित्य का संक्षिप्त किन्तु

अत्यन्त प्रामाणिक विवरण दिया है। पालि भाषा और साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर विद्वत्तामय विवेचन जर्मन विद्वान् डा० विल्हेल्म गायगर ने अपने ग्रन्थ 'पालि लिटरेचर एण्ड लॅंग्वेज' (अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९४३) में किया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पालि साहित्य का निर्देश तो अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में किया गया है (पृष्ठ ९-५८), किन्तु पालि भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन (पृष्ठ १-७ तथा ६१-२५०) इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पालि भाषा और साहित्य दोनों के परिपूर्ण और शृंगलाबद्ध विवेचन की दृष्टि से डा० विमलाचरण लाहा का दो जिल्दों में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर' (लन्दन, १९३३) एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसका भाषा-सम्बन्धी विवेचन डा० गायगर के ग्रन्थ के सामने नगण्य सा है। पालि साहित्य-सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अलावा उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले अनेक प्रबन्ध एवं परिचयात्मक निबन्ध आदि हैं, जो पालि टेक्स्ट सोसायटी के 'जर्नल' में अनुसन्धेय हैं। रोयल एशियाटिक सोसायटी के 'जर्नल' तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में भी प्रासंगिक तौर पर पालि साहित्य सम्बन्धी प्रभूत सामग्री मिलती है। पालि टेक्स्ट सोसायटी लन्दन के अंग्रेजी-अनुवादों की भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं में भी भारी सामग्री भरी पड़ी है; जिसका उपयोग पालि साहित्य के किसी भी इतिहासकार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सम्पूर्ण पालि साहित्य में प्राप्त व्यक्तिवाचक नामों का विवरणात्मक कोश (पालि डिक्शनरी ऑफ प्रॉपर नेम्स) जिसे अत्यन्त परिश्रम और विद्वत्ता के साथ सिंहली विद्वान् डा० मल्लसेकर ने, विशेषतः पालि टेक्स्ट सोसायटी के अनुवादों की अनुक्रमणियों के आधार पर, प्रकट किया है, पालि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदा एक प्रेरणा की वस्तु रहेगी। पालि साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विवेचन हमें कर्न के 'मैनुअल ऑफ इन्डियन बुद्धिज्म' (स्ट्रैसवर्ग १८९६), रामस डेविड्स के 'बुद्धिज्म: इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर' (लन्दन, १९१०) एवं 'बुद्धिस्ट इंडिया' (लन्दन, १९०३) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। वंश-साहित्य पर डा० गायगर का 'दीपवंस एण्ड महावंस' (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो १९०८) एक महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रंथ है। अभिधम्म-पिटक के विषय का विवेचन करने वाले प्रबन्धों और ग्रन्थों में स० ज०

ऑग का 'अभिधम्म लिटरेचर इन बरमा' (जनरल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९१०-१२), डा० सिलवा का 'ट्रीटाइज ऑन बुद्धिस्ट फिलासफी' श्रीमती रायस डेविड्स की 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजिकल एथिक्स' (धम्म संगणि का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन १९००) की भूमिका, महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गार्ह्य ५५ दि अभिधम्म पिटक (लुजाक एण्ड कं०, लन्दन, १९३८) एवं भिक्षु जगदीश काश्यप की 'अभिधम्म फिलॉसफी' (दो जिल्दें, सारनाथ १९४२) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, पालि काव्य, व्याकरण, अभिलेख-साहित्य, अट्ठकथा-साहित्य आदि पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर इतनी विवेचनात्मक सामग्री अंग्रेजी और यूरोप की अन्य भाषाओं जैसे फ्रेंच और जर्मन में भरी पड़ी है कि उसके संक्षिप्त तम निर्देश के लिए भी एक महाग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यह कहना अतिशयोक्ति न जान पड़े इसलिए यहाँ यह बता देना जरूरी है कि गत सत्तर-अस्सी वर्षों में पश्चिमी देशों में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो खोज-कार्य हुआ है, उसका तीत-चोबाई बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति से ही सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में पालि साहित्य के इतिहास पर लिखी जाने वाली यह प्रथम पुस्तक है। इस पृष्ठभूमि से देखने पर इसमें अनेक अनिवार्य कमियाँ मिलेंगी, जिनकी पूर्ति भावी विद्वानों की कृतियाँ करेंगी। १२-१-४७ के अपने कृपा-पत्र में पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे उत्साहित करते हुए लिखा था—“हिन्दी में 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो ऐसा ही लिखा जाय कि अंग्रेजी इतिहास की पड़ जायें और १९४७ तक की साहित्यिक खोज का पूरा पूरा सार रहे। अपनी राष्ट्र-भाषा में 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो यह ऐसा ही होता चाहिए कि उसे ही पढ़ने के लिए लोगों को हिन्दी पढ़नी पड़े”। मैं नहीं कह सकता कि पूज्य भदन्त जी ने मुझसे जो बड़ी आशा बाँधी थी, उसे पूरा करने में मैं कहीं तक सफल हुआ हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि बरमा, सिंहल और स्वाम के निवासी भी यदि बुद्ध के देश के इस माणविक के पालि साहित्य सम्बन्धी विवरण को पढ़ेंगे तो अधिक निराश नहीं होंगे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के अनुवादों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में बड़ी

सहायता मिली है। पूज्य भिक्षु काश्यप जी के अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन के फलों और निष्कर्षों को (जैसे कि वे अभिधम्म फिलॉसफी में प्रस्फुटित हुए हैं) पाठक इन पुष्ठों में हिन्दी-रूप में प्रतिबिम्बित देखेंगे और पूज्य राहुल जी की विद्वत्ता के फलों से मैं कितनी प्रकार लाभान्वित हुआ हूँ, इसकी तो कोई इम्तता नहीं। उन्होंने कृपा कर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा है, जिसके लिए उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरिजी ने इस रचना में आदि से ही बड़ी रुचि दिखाई है, यह मेरे लिए एक बड़ी प्रेरणा और आश्वासन की बात रही है। उन्होंने ही श्री राहुल जी से मेरा परिचय कराया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता भी की। आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी ने इस ग्रन्थ की रूपरेखा को देखकर मुझे अत्यधिक उत्साहित किया, जिसके लिए उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगन्नाथ तिवारी जी, आचार्य श्री धर्मन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी एवं आचार्य श्री कृष्णानन्द जी पन्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कृपा कर पांडु लिपि के कई अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा और सत्परा-मर्श दिये। राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्री चन्द्रबलीजी पाण्डेय, श्री कृष्णदेव प्रसादजी गौड़, श्री दयाशंकरजी दुबे, श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र, श्री रामप्रतापजी त्रिपाठी, एवं सम्मेलन की साहित्य-समिति के सदस्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सम्मेलन के द्वारा प्रकाशन के योग्य समझा। अन्त में मैं श्री सीतारामजी गुण्टे, व्यवस्थापक सम्मेलन मुद्रणालय तथा उनके सहयोगियों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी दक्षता से इस पुस्तक को छापा है। भगवान् बुद्ध का अनुभाव उन पर अभिवर्षित हो !

किसी खोजपरक विवेचनात्मक ग्रन्थ के लेखक के लिए आजकल यह प्रायः आवश्यक माना जाता है कि वह यह बताये कि कहाँ तक उसने अपने पूर्वगामियों का अनुसरण किया है अथवा कहाँ तक उसने मौलिक स्थापनाएँ और निष्कर्ष उपस्थित किए हैं। मैं समझता हूँ यह काम तो पालि-साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक ही, जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा है, कर सकेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ, पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर का विमलेक्षण कर देखा तो मुझे कहीं 'मैं' या 'मेरा' नहीं मिला, 'अपना' कुछ दिखाई

नहीं दिया। जो 'मैं' नहीं है, जो मेरा 'अपना' नहीं है, उसको जितना जल्दी हो छोड़ देना ही मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इसी विचार के साथ मैं समाप्त करता हूँ।

जैन कालेज, बड़ौत,
१०-९-५१

भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय—पालि भाषा—भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान—पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी? पालि और वैदिक भाषा—पालि और संस्कृत—पालि और प्राकृत भाषाएँ: विशेषतः अङ्ग-मागधी, शौरसेनी और पंजाबी—पालि के ध्वनि-समूह का परिचय—पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार—पालि भाषा के विकास की अवस्थाएँ—पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व, उपसंहार।

पृष्ठ १-७३

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-विभाग

पालि साहित्य का उद्भव और विकास—पालि साहित्य का विस्तार—सामान्यतः दो विभागों में उसका वर्गीकरण—पालि या पिटक साहित्य—अनुपालि या अनुपिटक साहित्य—पिटक साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय और काल-क्रम—अनुपिटक साहित्य का काल-विभाग, उपसंहार।

पृष्ठ ७४-११०

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि विपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं? सुत्त-पिटक—विषय, शैली और महत्त्व—सुत्त-पिटक के अन्तर्गत ग्रन्थों के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचय और उनका साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व:—

अ. दीप-निकाय

आ. मग्गिम-निकाय

- इ. संयुक्त-निकाय
ई. अंगुत्तर-निकाय
उ. खुट्ठक-निकाय

पृष्ठ १११-३०१

तीसरा अध्याय

विनय-पिटक

त्रिपिटक में विनय-पिटक का स्थान—विनय-पिटक का विषय और सकल-काल—विनय-पिटक के भेद—विनय-पिटक के नियम—विनय-पिटक के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचय—मुत्त-विभंग—खन्धक—परिवार, उपसंहार।

पृष्ठ ३०२-३३३

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक—रचना-काल—विषय, शैली और महत्त्व—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ—पालि अभिधम्म पिटक और सर्वोस्तिवाइ सम्प्रदाय के अभिधम्म पिटक की तुलना—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचय—

- अ. धम्मसंगणि
आ विभंग
इ. धानुकथा
ई. पुग्गलपञ्जाति
उ. कथावत्थु
ऊ. यमक
ए. पट्ठान

पृष्ठ ३३४-४६४

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग

(१०० ई० पू० से ४०० ई० तक)

नेतिपकरण—पेटकोपदेश—मिलिन्दपञ्चो—अन्य साहित्य ।

पृष्ठ ४६५-४९५

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अट्ठकथा-साहित्य—अट्ठकथा-साहित्य का उद्भव और विकास—अट्ठकथा-साहित्य, संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना—अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ—पालि त्रिपिटक के तीन बड़े अट्ठकथाकार—बुद्धदेव—बुद्धघोष—धम्मपाल—बुद्धदेव—जीवन-वृत्त और रचनाएँ—अभिधम्मभावतार—रूपारूपविभाग—विनय-विनिच्छय—उत्तर-विनिच्छय—बुद्धघोष—जीवन-वृत्त—रचनाएँ—विमुद्धिमग्गी—समन्तपासादिका—कथावितरणी—सुसंगलविलासिनी—पञ्चमुदनी—सारत्थपकासिनी—मनोरथपूरणी—परमत्थजोतिका—अट्ठसालिनी—सम्मोहविनोदनी—धातुकथा, पुग्गलपञ्जति, कथावत्थु, ममक और पट्ठान, इन पाँच अभिधम्म-ग्रंथों पर अट्ठकथाएँ (पञ्चुप्पकरणअट्ठकथा) —धम्मपदअट्ठकथा—जातकत्थवर्णना—बुद्धघोष की अन्य रचनाएँ—पालि साहित्य में बुद्धघोष का स्थान—धम्मपाल—जीवन-वृत्त—रचनाएँ—विमानवत्थु-अट्ठकथा—पेतवत्थु-अट्ठकथा—घेर-थेरी गाथाओं पर अट्ठकथाएँ—उदान, इतिवृत्तक और चरियापिटक पर अट्ठकथाएँ—अनिउड और उनका अभिधम्म-त्थसंगह—अभिधम्मत्थसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण—बुद्धघोष-युग के अन्य अट्ठकथाकार, उपसंहार । पृष्ठ ४९६-५३६

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाश्रों का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ—बर्मा पालि साहित्य—इस युग की अन्य रचनाएँ, उपसंहार । पृष्ठ ५३७-५४६

नवाँ अध्याय

वंश-साहित्य

‘वंश’ शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद—वंश-संघ—दीपवंस—महावंस—चूलवंस—बुद्धघोमुत्पत्ति—सद्धम्मसंगह—महावंधिर्वंस—सुपवंस—

अतनगलुविहारवंस—डाठावंस—छकेसवातुवंस—गन्ववंस—सासतवंस,
उपसंहार । पृष्ठ ५४७-५८२

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

श्रिपय-प्रवेश—काव्य-ग्रंथ—अनागतवंस — तेलकटाहगाथा — जिनालंकार—
जिनचरित—पञ्चमबु — सद्धम्मोपायन — पञ्चगतिदीपन — लोकप-
दीपसार या लोकदीपसार—रसवाहिनी — बुद्धालंकार—सहस्रवत्पुष्प-
करण — राजाधिराजविलासिनी — पालि का व्याकरण-साहित्य और
उसके तीन सम्प्रदाय—कच्चान-व्याकरण और उसका सहायक साहित्य—
सोमगल्लान-व्याकरण और उसका सहायक साहित्य—अग्गवंस-कृत सद्द-
तीति और उसका सहायक साहित्य—अन्य पालि व्याकरण—पालि कोश—
अभिवानप्पदीपिका—एकक्खरकोस—छन्दः शास्त्र—वृत्तोदय आदि—
काव्य-शास्त्र—सुबोचालंकार—पालि का अभिलेख-साहित्य, उपसंहार ।
पृष्ठ ५८३-६४३

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि-साहित्य का स्थान—पालि और विश्व-साहित्य ।
पृष्ठ ६४४-६४७

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं, वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ईसा की तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीसे पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। 'पालि' शब्द का सब से पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है, (१) बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में, (२) 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में। चूँकि 'मूल त्रिपिटक' और 'मूल त्रिपिटक के पाठ' में भेद कहने भर को है, अतः मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल त्रिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ में ही बुद्धघोष महा-स्वविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोरान-अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा) से विभिन्नता दिखाने के लिये मूल त्रिपिटक के किसी अंश को उद्धृत करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमग्ग' में "इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन...." (ये तो 'पालि' में हैं, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो.....) तथा वही "नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं" (यह न 'पालि' में आया है और न 'अट्ठकथा' में)। इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीप-निकाय की अट्ठकथा) की सामञ्जस्यफलसूत-वर्णना में "नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति" (यह न 'पालि' में दिखाई देता है और न 'अट्ठकथा' में) तथा पुगलपञ्चास्ति-अट्ठकथा में "पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथामयेन" ('पालि' को छोड़कर 'अट्ठकथा' की प्रणाली से) आदि। इसके अलावा जहाँ उन्हें त्रिपिटक की व्याख्या करते हुए कहीं कहीं उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'इति

पि पालि' (ऐसा भी पाठ है) कह कर 'पालि' शब्द से मूल त्रिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है, जैसे 'सुमंगलविलासिनी' की सामञ्जस्यसूत्र-वर्णना में 'महच्च-राजानुभावेन' पद की व्याख्या करते हुए पहले उन्होंने उसका अर्थ किया है 'महता राजानुभावेन' और फिर पाठान्तर का निर्देश करते हुए लिखा है 'महच्चा इति पि पालि' अर्थात् 'महच्चा' ऐसा भी पाठ है। यहाँ 'पालि' का अर्थ निश्चित रूप से 'पाठ' ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि समान प्रसंगों में 'पालि' के समानार्थ वाची शब्द के रूप में 'पाठ' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग आचार्य बुद्धघोष ने किया है। कुछ एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। "सेतकानि अट्ठीनि... सेत-ट्ठिका ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवर्णना) तथा "अपगत-काष्ठो... अपहतकालो ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवर्णना)

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखे गये 'दीपवंस' ग्रन्थ में भी, आ चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में हो किया गया है।^१ आचार्य बुद्धघोष के बाद भी सिंहल देश में 'पालि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में होता रहा। आचार्य धम्मपाल (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) ने अपनी 'परमत्त्वदीपनी' (बुद्ध-निकाय के कतिपय ग्रन्थों की अट्ठकथा) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक के 'पाठ' के अर्थ में किया है, यथा "अवाचितो ततागच्छोति... आगतो ति पि पालि"। इसी प्रकार 'बुद्ध-वचन' के अर्थ में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग वहाँ उपलब्ध होता है। 'चूलवंस' (तिरहवीं शताब्दी) में भी, जो 'महावंस' (छठी शताब्दी) का उत्तरकालीन परिवर्द्धित अंश है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अट्ठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि त्रिपिटक, के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य है—“पालिमत्तं इवानीत्तं नत्थि अट्ठकथा इध”^२ (यहाँ केवल 'पालि' ही लाई गई है, 'अट्ठकथा' यहाँ नहीं है)। इसी प्रकार 'पालि महाभिघम्मस्स' अर्थात् 'मूल त्रिपिटक के अन्तर्गत अभिघम्म का' ऐसा भी प्रयोग वहाँ मिलता है।^३ उसी के

१. २०।२० (ओलडनवर्ग का संस्करण)

२. ३७।२२७; मिलाइये वहाँ ३३।१०० (गायगर का संस्करण)

३. ३७।२२१ (गायगर का संस्करण)

समकालिक 'सद्धम्मसंगह' (तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण में बड़े महत्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका वे दिग्दर्शन करते हैं। अतः उनसे हमें एक आधार-मिलता है, जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। त्रिपिटक में तो 'पालि' शब्द मिलता नहीं। त्रिपिटक को आधार मान कर लिखे हुए साहित्य में भी बुद्धघोष की रचनाओं या 'दीपवंस' के समय से पूर्व किसी ग्रन्थ में 'पालि' शब्द का निर्देश नहीं मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय ग्रहण कर 'पालि' शब्द को उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त किया, यह हमारे गवेषण का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों में, बुद्धघोष के समय से पहले 'पालि' शब्द का इतिहास हमें जानता है। भाषाओं के विकास में, स्थान और घुग की विशेष परिस्थितियों के कारण, शब्दों के रूपों, अर्थों और ध्वनियों में नाना विकार होते रहते हैं। ध्वनि, रूप और अर्थ के उन विकारों को हमें बुढ़ना है, जिनका अतिक्रमण कर 'पालि' शब्द बुद्धघोष के समय तक 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और फिर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक उसी अर्थ को धारण करता रहा। उसके बाद के अर्थ-विकार की बात तो बाद में। उपर्युक्त महत्वपूर्ण उद्धरणों में 'पालि' शब्द के जो अर्थ व्यक्त किये गये हैं, उन्हीं को आधार मानकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने 'पालि' शब्द को निरुक्ति के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, जिनमें तीन अधिक प्रभावशाली हैं। पहली स्थापना इस बात को प्रमुखता देकर चलती है कि बुद्धघोष को अट्ठकथाओं में चूँकि 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिए उसका मूल रूप भी कोई ऐसा शब्द रहा होगा जो बुद्धकाल में इसी अर्थ को सूचित करता हो। दूसरी स्थापना इसी प्रकार 'पालि' शब्द के 'पाठ' अर्थ को प्रमुखता देकर चलती है। तीसरी स्थापना संस्कृत शब्द 'पालि' जिसका अर्थ पंक्ति है, को प्रधानता देकर उसे बुद्धघोष आदि आचार्यों

के द्वारा प्रयुक्त 'पालि' शब्द के अर्थों के साथ संगत करने का प्रयत्न करती है। इन तीनों स्थापनाओं की समीक्षा हमें करनी है।

पहली स्थापना के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप हमें 'परियाय' शब्द में मिलता है। 'परियाय' शब्द त्रिपिटक में अनेक बार आया है। कहीं कहीं 'धम्म' शब्द के साथ और कहीं कहीं अकेले भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। उदाहरणतः 'को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति'¹ (भन्ते ! यह किस नाम का धम्म-परियाय है) 'भगवता अनेक परिपायेन धम्मो पकासितो'² (भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया) आदि, आदि। स्पष्टतः ऐसे स्थलों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। बाद में 'परियाय' शब्द का ही विकृत रूप 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध भाषू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। मगध के भिक्षु-संघ को कुछ चूने हुए बुद्ध-वचनों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी 'धम्मराजा' कहते हैं "भन्ते ! ये धम्म-पलियाय हैं। मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक और उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और पालन करें।"³ 'पलियाय' शब्द के 'पलि' उपसर्ग का बोध होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। 'पालियाय' शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद में 'पालि' होकर 'बुद्ध-वचन' या 'मुल त्रिपिटक' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस मत की स्थापना भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की वस्तुकथा में योग्यतापूर्वक की है।⁴

दूसरा मत, जिसकी स्थापना भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने अंग्रेजी निबन्ध "पालि भाषा का उद्गम और विकास, विशेषतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर" में की है,⁵ इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'पालि' या ठीक कहें तो 'पालि' शब्द

१. ब्रह्मजाल-सूत (बोध. १।१)

२. सामञ्जसकल-सूत (बोध-१।२)

३. इमस्मिन् भन्ते धम्मपलियायानि.....एतान् भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किति बहुके भिक्षुपाये भिक्षुनिये चा अभिखिनं सुनयू च उपधालेयेयु च । हेवं हेवा उपासका च उपासिका चा ।

⁴. पृष्ठ आठ-बारह।

⁵. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-६५६

का मूल उद्गम संस्कृत 'पाठ' शब्द है। इस मत के अनुसार संस्कृत 'पाठ' शब्द का ही विकृत या परिवर्तित रूप 'पालि' या 'पालि' है। यह विकास-क्रम भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार कुछ-कुछ इस प्रकार चला। प्राचीन काल में 'पाठ' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषतः वेद-शास्त्रों के 'पाठ' के लिये किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय में भी यह परम्परा ब्राह्मणों में चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण-महाशाल बुद्ध-मत में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त करते थे, अब बुद्ध-वचनों के लिये प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक भी था। जब उन्होंने बुद्ध को 'मुनि' 'वेदज्ञ' 'वेदान्तज्ञ' कह कर अपनी श्रद्धा अर्पित की, तो उनके वचनों के निर्देश के लिये भी वे पवित्र 'पाठ' शब्द का अभिधान क्यों न करते ? भिक्षु सिद्धार्थ ने ठीक ही 'पाठ' शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों की सूची दी है, जो पहले वैदिक परम्परा के थे किन्तु बौद्ध संघ में आकर जिन्होंने नये स्वरूप ग्रहण कर लिये थे। 'संहिता' 'सहित' 'होगई', 'तन्त्र' 'तन्ति' हो गया, 'प्रवचन' 'पावचन' हो गया। अतः प्राचीन 'पाठ' शब्द का भी बौद्ध संस्करण असम्भव न था। किन्तु बौद्धों ने जो कुछ लिया उसे एक नया स्वरूप भी प्रदान किया। संस्कृत 'पाठ' शब्द भिक्षु-संघ में आकर 'पाळ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर सर्वथा सम्भव भी था। संस्कृत के सभी मूढन्त्य व्यञ्जन (हृ ङ् ङ् ङ् ङ् ङ्) पालि और प्राकृत भाषाओं में 'लृ' हो जाते हैं। उदाहरणतः संस्कृत 'आठविक' पालि में 'आळविक' है, सं० 'पटञ्चर' पालि में 'पळञ्चर' है, सं० 'एळक' पालि में 'एळक' है। इसी प्रकार सं० वेणु-पालि वेळु, सं० दृढ-पालि दळ्ह, आदि, आदि। 'पाळ' शब्द का ही बाद में विकृत रूप 'पालि' हो गया। यह भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों के असंगत न था। अन्त्य स्वर-परिवर्तन का विधान पालि में अक्सर देखा जाता है, जैसे संस्कृत 'अंगुल' से पालि 'अंगुलि-अंगुली', सं० 'सर्वज्ञ' से पालि सब्बज्झ आदि, आदि। अतः मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पाळ' शब्द का विकृत रूप 'पालि' हो गया। 'पालि' शब्द में 'लृ' व्यञ्जन वैदिक मूढन्त्य 'ळ' ध्वनि का प्रति-रूप था। इस ध्वनि का विकास कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'ड' के रूप में हुआ है। यह वैदिक ध्वनि अन्तःस्व 'ळ' से भिन्न थी। किन्तु 'लृ' और 'लृ' के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद में मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पालि' शब्द को 'पालि' शब्द के साथ मिला दिया गया, जो वास्तव में व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से एक बिल्कुल भिन्न शब्द था। 'पालि' शब्द के साथ इस

प्रकार मिल कर 'पालि' शब्द भी बुद्ध-वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार 'पालि' शब्द की यही निश्चिति है।

तीसरे मत का निर्देश करने से पूर्व इन दोनों मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों मत निर्दोष हैं। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर दोनों बरे उतरते हैं। दोनों एक दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। जहाँ तक वे भिन्न भिन्न हेतुओं से 'पालि' शब्द का सात्पर्य 'बुद्ध-वचन' में दिखलाते हैं, वे एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भिक्षु सिद्धार्थ के मत की एक निर्वलता है। उन्होंने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' या 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिये यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नहीं दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकवाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी 'इति पि पाठो' ही बुद्धघोषोक्त वचन है, 'इति पि पाळो' नहीं। जब बुद्धघोष के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द का वैसा ही संस्कृत का सा रूप पालि-साहित्य में मिलता है, तो फिर इस स्थापना के लिये क्या आधार है कि बुद्ध-काल में ही संघ में आकर उसका रूप 'पाळ' हो गया था? वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से तो यही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'इति पि पालि' के बाद ही, उससे पहले नहीं, 'इति पि पाठो' लिखना आरम्भ किया गया होगा, जब कि विपिटक के पठन-पाठन का प्रचार कुछ अधिक बढ़ा होगा। श्रीमती रायस डेविड्स का भी यही मत है^१। अतः भिक्षु सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस ऐतिहासिक आधार की कमी के कारण वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में ऐसी कोई कमी दिखाई नहीं देती। भावू शिलालेख का अद्वितीय साक्ष्य उसे प्राप्त है। 'पेय्याळ' शब्द में भी वही तत्त्व निहित है^२। अतः एक पूरी परम्परा का आधार लेने के कारण और इस कारण भी कि पालि साहित्य में उपलब्ध 'पालि' शब्द के समस्त विकृत

१. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट आंरोजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०

२. देखिये पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतालोस (वस्तुकथा)

या विकसित रूपों के साथ उसकी संगति लग जाती है, वह मत हमारा वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरा मत पं० विष्णुसेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' है और इस प्रकार वह संस्कृत 'पालि' शब्द का पर्यायवाची है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी कुछ समर्थन प्राप्त न हो, ऐसी बात नहीं है। प्रसिद्ध पालि कोश 'अभिधानपदीपिका' (चारहवीं शताब्दी) में 'पालि' शब्द के 'बुद्धवचन' अर्थ के साथ साथ 'पंक्ति' अर्थ भी दिया गया है। "तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि"। पालि-साहित्य में 'अम्ब-पालि' 'दन्तपालि' जैसे प्रयोग भी 'पालि' शब्द के 'पंक्ति' अर्थ को ही सूचित करते हैं। अतः 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' और बाद में 'ग्रन्थ की पंक्ति' इस आधार पर कर लिया गया है और बुद्धशेष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी संगति भी मिला ली गई है। किन्तु इस मत में दोष फिर भी स्पष्ट है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने उसमें प्रचलितया तीन कमियाँ दिखाई हैं।^१ (१) 'पंक्ति' के लिये लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। विपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिये विपिटक के उद्धरण के लिये 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में नहीं उपयुक्त हो सकता था। (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो उस अवस्था में 'उदान-पालि' जैसे प्रयोगों में 'उदान-पंक्ति' अर्थ करने से कोई समझने योग्य अर्थ नहीं निकलता (३) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो अट्ठकथाओं आदि में कहीं भी उसका बहुवचन में भा प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिये था, जो नहीं होता। अतः 'पालि' शब्द का 'पंक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नहीं ले जा सकता। हाँ, भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं, उनमें से प्रथम के उत्तर में आंशिक रूप से यह कहा जा सकता है कि विपिटक की अलिखित अवस्था में 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पंक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पंक्ति ही 'पालि' कहलाई जाने लगी होगी। श्रीमती रायगस डेविड्स ने इसी प्रकार का मत प्रकाशित किया है।^२

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ आठ (वस्तुकथा)

२. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट अरैरीजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०

फिर भी इस मत से 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह हमारे लिये महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त मतों के अलावा एक मत जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वेलेसर ने सन् १९२४ और फिर १९२६ में प्रकाशित किया था। इस मत के अनुसार ('पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही संक्षिप्त रूप 'पालि' है। चूंकि 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में अट्ठकथाओं तक में कहीं मिलता नहीं, अतः मैक्स वेलेसर का मत अपने आप गिर जाता है। डा० थॉमस द्वारा उसका पर्याप्त प्रतिवाद कर दिये जाने पर^१ आज उसका कोई नाम नहीं लेता। यही भाष्य कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध मतों का भी हुआ है, जिनमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा उनके उद्भावकों का बुद्धि-वैचित्र्य ही अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कुछ 'पल्लि' (साँव) शब्द से 'पालि' भाषा की उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताना चाहते हैं, कुछ प्राकृत-याकट-माजड-माजल-पालि इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति करना चाहते हैं, कुछ संस्कृत 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) शब्द से उसकी व्युत्पत्ति बताकर उसमें एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना चाहते हैं^२। वह सब अन्धकार ही अन्धकार है।

हाँ, 'अभिधानपदीपिका' के 'पालि' शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ को लेकर हमें कुछ और विचार कर लेना चाहिये। 'पालि' शब्द को तन्ति^३ (संस्कृत तन्त्र) 'बुद्ध-वचन' और 'पन्ति' का समानार्थवाची मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति वहाँ की गई है—'पा-पालेति रक्खतीति पालि' अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह 'पालि' है। किसको पालन करती है? किसकी रक्षा करती है? स्पष्टतम उत्तर हैं बुद्ध-वचनों की। 'पालि' ने किस प्रकार बुद्ध-वचनों का पालन किया, किस प्रकार उनकी रक्षा की? एक उत्तर है त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर के,

१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९२८ पृष्ठ ७७३; मिलाइये विटरमिन्स: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट दूसरा); लाहा: पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १८ (भूमिका); देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३०-३१ में डा० कौय द्वारा मैक्स वेलेसर के मत का खण्डन भी।

२. देखिये जहांगीरवार-कृत कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इन्डो आर्यन लैंग्वेजेज में पालि-सम्बन्धी विवेचन।

दूसरा उत्तर है लंकाधिपति बट्टगामणि के समय में उसको लेखबद्ध कर के। त्रिपिटक का संकलन किया, इसलिये 'पालि' 'बुद्ध-वचन' है, त्रिपिटक को लेखबद्ध किया, इसलिये 'पालि' 'पंक्ति' है। ऐसा मालूम पड़ता है 'अभिधानपदीपिका' कार ने 'पालि' शब्द के इस पालन करने या रखा करने सम्बन्धी अर्थ पर जोर देकर उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की ओर संकेत किया है, जो सिंहल में सम्पादित किया गया और जिसके विषय में 'महावंश' में लिखा है "त्रिपिटक की पालि (पंक्ति) और उसकी अट्ठकथा को, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कंठस्थ कर के ले आये थे, प्राणियों की (स्मृति-) हानि देख कर, भिक्षुओं ने एकत्रित हो, धर्म की चिरस्थिति के लिये पुस्तकों में लेखबद्ध करवाया।"^{११} कुछ भी हो, 'पालि' शब्द के इतिहास की दृष्टि से 'अभिधानपदीपिका' की निरुक्ति अवश्य महत्वपूर्ण है, यद्यपि वह 'पालि' शब्द के मौलिक रूप 'परिपाय' पर विचार नहीं करती। वह केवल उसका समानार्थवाची 'बुद्ध-वचन' शब्द दे देती है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'पालि' शब्द की निरुक्ति और उसका अर्थ-निर्वाचन जो 'परिपाय' या 'परिपाय शब्द' में उसके मूल रूप को खोजता है, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है। 'तत्तु समन्वयात्'।

पालि भाषा

अगर हमने चौदहवीं शताब्दी तक का 'पालि' शब्द का इतिहास देखा है। इस बीच हमें एक भी उदाहरण ऐसा न मिला जिसमें 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में किया गया हो। फिर कब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के स्थान पर जिस भाषा में बुद्ध-वचन लिखे गये, उसके लिये होने लगा, इसका निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हुआ यह बड़े स्वाभाविक नियम के आधार पर। पहले 'तन्ति' या त्रिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिये सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामानिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। पालि-भाषा अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं 'पालि' शब्द ही भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य हम उस भाषा से लेते हैं, जिसमें स्थिरवाद बौद्धधर्म का

४. ३३।१००-१०१; देखिये महावंश पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त ज्ञानन्द कोसल्या-यन का अनुवाद)

लिपिद्वय और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्ता हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि-साहित्य में भी कभी नहीं किया गया है। जिस भाषा में लिपिद्वय लिखा गया है, उसके लिये यहाँ मागधी, मगध-भाषा, मागधी निश्चित, मागधिका भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार किया गया है, जिसका अर्थ होता है मगध-देश में बोले जाने वाली भाषा। इस प्रकार के प्रयोगों के कुछ-एक उदाहरण ही यहाँ समाप्त होंगे, यथा, मागधानं निश्चितया परिवर्ततेहि (मागधी भाषा में कथान्तरित करो) — महावंश, परिच्छेद ३७। भाषिस्तं मागधं सदृशकृतम् (मागधी भाषा के व्याकरण का निरूपण करूँगा) — मंगललात-व्याकरण का आदि श्लोक, आदि। सिहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह 'मूल' भाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमें ही उनका संग्रह 'लिपिद्वय' नाम से किया गया था। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कव्वाण-व्याकरण में कहा गया है "सा मागधी मूल भासा... सम्बुद्धा चापि भासरे" (मागधी ही वह मूल भाषा है जिसमें सम्मत् सम्बुद्ध ने भी भाषण दिया)। अष्टकवाच्यं भगवान् बुद्धबोध की भी यही मान्यता थी "सम्मा-सम्बुद्धेन वृत्तयकारी मागधो बोहारो" (सम्मत् सम्बुद्ध के द्वारा प्रवृत्त मागधी भाषा-बोध) — सतन्तसंसादिका। इस रूप में मागधी भाषा की प्रतिष्ठा स्वविर-वादी बौद्ध साहित्य में इतनी अधिक है कि कहीं कहीं उसके गौरव के विषय में इतना अधिक अवैवाक्य कर दिया गया है कि वह आधुनिक ऐतिहासिक बुद्धि को कुछ अवतरता भी है। मागधी भाषा को यहाँ सम्पूर्ण प्राणियों की आदि भाषा ही मान लिया गया है। आचार्य बुद्धबोध ने 'विमुद्धिमग्ग' में कहा है "मागधिकाय सब्बतत्तानं मूलभासाय" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी की)। इसी प्रकार महावंश, परिच्छेद ३७ में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निश्चितया" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी भाषा का) आदि। निश्चय ही सिहली परम्परा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज 'पालि' कहते हैं, वह बौद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली मगध की भाषा ही थी। कहीं तक या किन अर्थों में यह परम्परा ठीक है, वह हमारे अध्ययन की सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूर्ण समस्या है। पालि स्वाध्याय के प्रथम युग में उपर्युक्त सिहली परम्परा सिहली भिक्षुओं की एक मनगढ़ंत कल्पना माना जाती थी। ओड्डनवर्ग ने इस मान्यता के प्रचार में काफ़ी योग दिया था। अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् भी उनके इस प्रवाह में बह गये

वे ।^१ किन्तु उसके बाद इस दिशा में जो महत्वपूर्ण गवेषण-कार्य हुआ है, उससे अब हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। इस महत्वपूर्ण समस्या पर हम अभी भारतीय भाषाओं के विकास में पालि की पृष्ठभूमि को देखने के बाद आयेगे।

भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान

भारतीय भाषाओं का इतिहास तीन युगों या विकास-श्रेणियों में विभक्त किया गया है (१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग (वैदिक युग से ५०० ईसवी पूर्व तक) (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग (५०० ईसवी पूर्व से १००० ईसवी तक) (३) आधुनिक आर्य-भाषा युग (१००० ईसवी से अब तक)। प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक, ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकास ग्रहण करती गई। जब भगवान् बुद्ध ने भगवद्-श्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की जन-भाषा में उपदेश दिया तो वह वही ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूपों में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप बाद में राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं और उपभाषाओं का सम्मिश्रण भी इसमें हो गया। इसे हम आज 'पालि' भाषा कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं (१) पालि और अशोक की चर्मलिपियों की भाषा (५००

-
१. डा० विमला चरण लाहा जैसे आधुनिक विद्वान् भी हम मोह से मुक्त नहीं हो पाये हैं। वे लिखे उनका हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ, ११ (भूमिका) जहाँ उन्होंने सागर्भी निश्चित की सिंहली भिक्षुओं की धुंध गईत कहा है।

ईसवी पूर्व से १ ईसवी पूर्व तक (२) प्राकृत भाषाएँ (१ से ५०० ईसवी तक) (३) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ईसवी से १००० ईसवी तक)। आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद अब हमें पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी ?

पालि भाषा के विषय में सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है—वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है, यह हम अभी कह ही चुके हैं। किन्तु यह समस्या इतनी सस्ती निवटने वाली नहीं है। विद्वानों के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती हैं। कुछ विद्वानों के मतों का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रोफेसर राब्स डेविड्स^१—पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में बोले जाने वाली भाषा थी। कारण (१) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे (२) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सो वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

(२,३) वेस्टरगाई^२ और ई० कुहून^३—पालि उज्जयिनी-प्रदेश की बोली थी। कारण (१) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है (२) कुमार महेन्द्र (महिन्द्र) जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि लिपि को वहाँ पहुँचाया, की मातृ-भाषा यही थी।

(४) आर० ओ० क्रोके^४—पालि-भाषा का उद्गम-स्थान विन्ध्य-प्रदेश

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १५३-५४; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्व पहली, पृष्ठ १८७; पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ५ (प्राक्कपन)

२,३,४,५ लाहा:पालि लिटरेचर, जिल्व पहली, पृष्ठ ५०-५६ (भूमिका);

बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २३३

देसिये मायागर:पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ३-४ (भूमिका)

विटरनिल्ल: इंडियन लिटरेचर, जिल्व दूसरी, पृष्ठ ६०४ (परिशिष्ट दूसरा)

है। कारण (१) गिरनार-शिलालेख से उसका सर्वाधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए फ्रैंक ने कहा है कि पालि उत्तर भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ट्री लेखों से भी उसकी समानताएँ और असमानताएँ दोनों हैं, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी विभिन्नता है। अधिकतर उसका साम्य मध्य-देश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएँ हैं। अतः पालि भाषा का उद्गम-स्थान 'विन्ध्य के मध्य और पच्छिमी भाग का प्रदेश' है।

(५) स्टैन कोनो^१—विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम-स्थान है। कारण (१) पैंशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (२) पैंशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैंशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् प्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसके अनुसार पैंशाची प्राकृत कैकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। प्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

(६) डा० ओल्डनबर्ग^२—पालि कालिंग देश की भाषा थी। कारण (१) लंका के पड़ोसी होने के कारण कालिंग से ही लंका में धर्मापदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (२) खंडगिरि के शिलालेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना है। उनके मतानुसार कालिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगीं।

(७) ई० मुलर^३—कालिंग ही पालि का उद्गम-स्थान है। कारण, यहाँ से सब से पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म प्रचार करना अधिक संभव है।

आगे के मतों का निर्देश करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। इन सब मतों में सब से मुख्य बात यह है कि ये सभी मत

१. विनय-पिटक (डा० ओल्डनबर्ग द्वारा रोमन अक्षरों में सम्पादित) जिल्द पहली, पृष्ठ १-५६ (भूमिका)

२. सिम्पलीकाइड ग्रामर ऑव दि पालि लंग्वेज, पृष्ठ ३ (भूमिका)

पालि भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिन्धुली परम्परा से असहमत हैं। पालि भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिये कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घुम-निकरे, अतः उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी, मगध की भाषा भी और उनका संमिश्रण भी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिये यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगध-शासन की राष्ट्र-भाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध-साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा होने का गौरव मिला। हाँ, चारों ओर की जनपद-बोलियों की भी, जिनमें एक प्रधान कोशल प्रदेश की बोली भी थी, उसमें अपना उचित स्थान मिला। एक सावैदेशिक, टकसाली, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में प्रादेशिक बोलियों का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अतः कोशल-प्रदेश की बोली का भी अन्तर्भाव मगध की राष्ट्र-भाषा (मागधी भाषा) में हो गया था, ऐसा हम कह सकते हैं। वैसे यदि रायस डेविड्स के मत को उसके मौलिक रूप में देखा जाय तो उसका कोई आधार ही नहीं मिलता, क्योंकि जैसा डा० विन्टरनिट्ज ने भी कहा है, छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश की बोली की आज हमारी जानकारी ही क्या है, जिसके आधार पर हम उसे पालि का मूल रूप मान सकें? वैस्टरगार्ड, ई० कुहून, फेंक और स्टैन कोनी के उत्तर निदिष्ट मत भी, जो किसी न किसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश को पालि का जन्म-स्थान मानते हैं, एकांगदर्शी हैं। अधिक से अधिक वे पालि भाषा के मिश्रित रूप को, जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रांतीय भाषा के लिये सर्वथा अतिव्याप्त है, अंगीकृत करते हैं। इससे अधिक उनका और कुछ सहत्व नहीं है। फेंक ने विन्ध्य-

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट २); डा० कीव ने भी रायस डेविड्स के मत का खंडन किया है। देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९२५ में प्रकाशित कीव का 'पालि दि लैन्गेज ऑव सर्वने बुडिस्ट्स' शीर्षक निबन्ध।

प्रदेश के मध्य और पच्छिमी भाग को पालि का उद्गम-स्थान बताने के अतिरिक्त एक ओर विचित्र बात कही है। उन्होंने सामान्यतः पालि समझे जाने वाली भाषा (अर्थात् त्रिपिटक और उसके उपजीवी साहित्य की भाषा) के लिये तो 'साहित्यिक पालि' शब्द का प्रयोग किया है और 'पालि' शब्द से उन्होंने बुद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली अन्य सब आर्य-भाषाओं को अभिप्रेत करना चाहा है। फेरक का यह पारिभाषिक शब्द-निर्माण भ्रमात्मक ही सिद्ध हुआ है। जिन आर्य-भाषाओं को उन्होंने 'पालि' कहा है, उनके लिए भारतीयसाहित्य में प्राकृत भाषाओं का नाम रखे हैं और आज भी उनका यही नाम प्रचलित है। अतः उसी का प्रयोग करना अधिक उचित जान पड़ता है। त्रिपिटक की भाषा के लिए केवल 'पालि' नाम पर्याप्त है। उसके साथ 'साहित्यिक' लगाने से भ्रम पैदा होने की आशंका हो जाती है। स्टैन कोनो का मत पैशाची प्राकृत को उम्बयिनी-प्रदेश की बोली बतलाता है और इस प्रकार भाषातत्त्वविदों के सामने एक नई समस्या खड़ी कर देता है। वास्तव में उनका यह मत विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हुआ है और पैशाची को केकय और पूर्वी गान्धार की बोली मानना ही सब प्रकार ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक तथ्यों से संगत है। ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत प्रधानतः कल्पनाप्रसूत हैं। ओल्डनबर्ग को अपने मत-स्थापन में महेन्द्र के लङ्का में धर्म-प्रचार संबंधी कार्य को भी, जो अन्यथा सब प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध है, अनेतिहासिक मानना पड़ा है। इसी से उनके मत की गंभीरता का पता लग जाता है। खंडगिरि के शिलालेख के साक्ष्य पर पालि का जन्म-स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धांत है जितना गिरनार के शिलालेख के आधार पर उसे उज्जयिनी-प्रदेश की बोली ठहराना। पालि के प्राचीन कारणों से उत्पन्न मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतों का अन्य कोई साक्ष्य या महत्व नहीं है।

जिन विद्वानों ने पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होंने सिंहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विडिश, विन्टरनिट्ज, ग्रियर्सन और मायगर के

१. बेलिये आगे दूसरे अध्याय में 'पालि साहित्य का उद्भव और विकास' सम्बन्धी विवेचन।

नाम अधिक प्रसिद्ध है। भिन्नु सिद्धार्थ^१ और भिन्नु जगदीश काश्यप^२ जैसे भारतीय बौद्ध विद्वानों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। जेम्स एल्विस और चाइल्ड्स की यह मान्यता है कि 'मागधी' ही पालि भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। जेम्स एल्विस के मतानुसार बृद्धकालीन भारत में १६ प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थीं। इनमें 'मागधी' बोली में, जो मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। विडिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विटरनिट्ज का मत भी इनो के समान है। उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी, जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के समिश्रण से हुआ था, जिनमें 'प्राचीन मागधी' प्रधान थी।^३ ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियों के प्रभाव को देखकर उन्हें यह मानना पड़ा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है। इसी को सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि पालि का विकास मागधी भाषा के उस रूप से हुआ जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में बोला जाता था और जिसमें ही त्रिपिटक का संस्करण वहाँ किया गया था^४। किन्तु न तो मागधी भाषा के वहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने की और न उसमें त्रिपिटक के वहाँ संकलित होने की कोई अकाट्य युक्ति ग्रियर्सन या अन्य किसी विद्वान् ने अभी तक दी है।^५ जर्मन विद्वान् गायगर का मत उपर्युक्त सभी मतों से अधिक परिपूर्ण और ग्राह्य है। उनके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। यह भाषा किसी जनपद-विशेष की बोली नहीं थी, बल्कि सम्म-समाज में बोले जाने वाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बृद्ध-पूर्व युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा में स्वभा-

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-५६

२. पालि महाव्याकरण की प्रस्तुतियाँ।

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३।

४. भांडारकर कमेमोरेशन वोल्यूम, पृष्ठ ११७-१२३ (ग्रियर्सन का 'वि होम अंथ लिटररी पालि' शीर्षक लेख)

५. यह आलोचना डा० कीच की है। देखिये उनका 'वि होम अंथ पालि' शीर्षक निबन्ध, 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३९।

वतः ही अनेक बोलियों के तत्व विद्यमान थे । एक मगध का निवासी इतने एक एक प्रकार से बोलता था, कोशल का दूसरी प्रकार से और अवन्ती का किसी तीसरे प्रकार से । सद्यपि भगवान् बुद्ध मगध प्रदेश के नहीं थे, किन्तु उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं संपादित किया गया था । अतः मगध की बोली की उनकी भाषा पर अमिट छाप पड़ी होगी । इसलिए उनकी भाषा को आसानी से 'मागधी' कहा जा सकता है, फिर चाहे उसमें मागधी बोली की कुछ विशेषताएँ भले ही उपलब्ध न हों । अतः मागधर के मतानुसार पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, किन्तु उस पर आधित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे ।

वास्तव में पालि कहाँ तक या किन अर्थों में मागधी थी या नहीं, यह हमारे अध्ययन की सबसे बड़ी समस्या है । जिस मागधी का विवरण उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है या जिसके स्वरूप का दर्शन कतिपय अभिलेखों या नाटक-ग्रन्थों में होता है, उससे तो पालि निश्चयतः भिन्न है, ऐसा कहा जा सकता है । प्राकृत-व्याकरणों, अभिलेखों और नाटक-ग्रन्थों की मागधी का विकास पालि के बाद हुआ है । इस प्रकार की मागधी भाषा के रूप की दो प्रधान विशेषताएँ हैं (१) प्रत्येक र् और स् का क्रमशः ल् और श् में परिवर्तित हो जाना (२) पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप एकारान्त होना । पालि में र रहता है, उसका 'ल्' में परिवर्तन केवल अति समित रूप से कभी-कभी होता है, सर्वथा नियमानुसार नहीं । उदाहरणतः अशोक के पश्चिम के लेखों में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु पूर्व के लेखों में उनके क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितु रूप हो जाते हैं । 'स्' का 'श्' में परिवर्तन तो पालि में होता ही नहीं । 'श्' पालि में है ही नहीं । केवल अशोक के उत्तर (मनसेहर) के शिलालेख में इसका प्रयोग अवश्य दृष्टि-गोचर होता है, जैसे प्रियदर्शिन, प्रियदर्शि, प्राणवत्तसहस्रानि, आदि । पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग अकारान्त शब्दों के रूप भी पालि में प्रथमा विभक्ति एकवचन में क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते हैं, एकारान्त नहीं । 'राहुलोवादः' को जगह 'लाहुलोवादः', 'बुद्धः' की जगह 'बुधे' 'मृगः' की जगह 'मिगे' आदि प्रयोग अशोक के कुछ शिलालेखों में अवश्य पाये जाते हैं और सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में

भी । किन्तु नियमतः ये प्रयोग नहीं पाये जाते । अतः जिस मागधी का निरूपण प्राकृत-वैयाकरण करते हैं, उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता । उसका विकास तो, जैसा अभी कहा गया है, पालि के बाद हुआ है । पालि का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य-मंडल अर्थात् पश्चिम में उत्तर-कुश से पूर्व में पाटलिपुत्र तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ और अनेक कारणों से ही जिसमें नाना प्रदेशों की बोलियों का संमिश्रण हो गया, जिसका साध आज हम उसके सुरक्षित रूप 'पालि' में पाते हैं ।

जिस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित मागधी को पालि भाषा का आधार नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जैन सूत्रों की भाषा अर्द्ध-मागधी या 'आर्य' को भी उसका आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता । उसका भी विकास पालि के बाद हुआ है । पश्चिम में शौरसनी और पूर्व में मागधी प्राकृत के बीच के क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी, वह अपने मिश्रित स्वरूप के कारण 'अर्द्धमागधी' कहलाती है । ध्वनि-समूह, शब्द-साधन और वाक्य-विचार की दृष्टि से पालि और अर्द्धमागधी में क्या समानताएँ या असमानताएँ हैं, इसका विवेचन हम आगे पालि और प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय करेंगे । अभी लूड्स के उस मत का निर्देश करना है, जिसके अनुसार 'प्राचीन अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है । लूड्स का मत है कि मौलिक रूप में पालि त्रिपिटक प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में, जो पच्छिमी बोली पर आश्रित थी, किया गया । अतः उनके मतानुसार आज त्रिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के वे अवशिष्ट अंश मात्र हैं जो उसका पालि में अनुवाद करते समय रह गये थे^१ । लूड्स का यह तर्क बिल्कुल अनुमान पर आश्रित है । जिस प्राचीन अर्द्धमागधी को लूड्स ने त्रिपिटक का मौलिक आधार माना है, उसके रूप का निर्णय करने के लिए सिवाय उनकी कल्पना के और कोई आधार नहीं है । जैसा कीच ने नें कहा है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लूड्स द्वारा निमित्त या परिकल्पित प्राचीन अर्द्ध-मागधी का विकास

-
१. देखिये ब्रुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३४; गायगर:पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५; लाहा:हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २०-२१ (भूमिका)

वाद में अर्द्ध-मागधी प्राकृत के रूप में ही हुआ है^१ । अतः लूइस ने तथाकथित 'प्राचीन अर्द्ध-मागधी' के रूप का निर्माण अशोक के शिलालेखों और बाद में अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों से किया है । किन्तु यह अनुमानित निर्माण-कार्य प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता । पालि भाषा में प्राप्त विभिन्न-ताओं की व्याख्या उसके प्रांतीय विकास और संमिश्रण, मौखिक परम्परा और एक भिन्न देश में त्रिपिटक के लिपिबद्ध किये जाने के परिणाम स्वरूप भी की जा सकती है^२ ।

लूइस के समान ही एक मत प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिलवा लेवी का है । उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि-त्रिपिटक मौलिक ब्रुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था । पालि के 'एकोदि' एवं 'संघादिसेस' जैसे शब्दों की उनके संस्कृत प्रतिरूप 'एकोति' 'संघातिशेष' जैसे शब्दों के साथ तुलना कर उन्होंने त्रिपिटक के अन्दर एक ऐसी बोली के अवशिष्ट चिन्ह खोजने का प्रयत्न किया है, जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क्, च, त्, प् आदि) स्पर्शों के स्थान पर घोष (ग, ज, द, ब् आदि) स्पर्श होने का नियम था । पालि त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों के कुछ विशेष शब्दों में, जिनमें उपर्युक्त नियम लागू होता है, लेवी ने प्राचीन मौलिक ब्रुद्ध-वचन (जिन्हें उन्होंने ऐसा समझा है) में प्रयुक्त शब्दों के रूपों को खोजने का प्रयत्न किया है । उदाहरणतः भाषू अभिलेख में 'राहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवादे' है, 'अधिकृत्य' की जगह 'अधिगिच्य' है । लेवी का कहना है कि क् (अघोष स्पर्श) के स्थान पर ग् (घोष स्पर्श) का होना पालि में तो बहुत अल्प ही होता है, इसी प्रकार 'अधि-गिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है । इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक एक ऐसी भाषा से अनुवाद किया हुआ है, जिसमें अघोष स्पर्शों (क्, त्, प् आदि) का घोष स्पर्शों (ग, द, ब् आदि) में परिवर्तित हो जाना अधिक सीमा तक पाया जाता था । नीचे के कुछ उदाहरण लेवी के तर्कों को स्पष्ट करने के लिए अलग होंगे—

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३४, पद-संकेत २

२. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५

संस्कृत	पालि
माकन्दिक	माणन्दिय
कचंगल	कजंगल
अचिरवती	अजिरवती
पाराजिक	पाराजिक
ऋषिवदन	इसिपतन

इन उद्धरणों के आधार पर लेवी ने अनुमान किया है कि पालि त्रिपिटक अपने मौलिक रूप में उस ऐसी भाषा में था जिसमें शब्द के मध्य-स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों में परिवर्तित होने का नियम था। लेवी के मत को गायगर ने प्रामाणिक नहीं माना है। उन्होंने इसके तीन कारण दिये हैं (१) लेवी ने 'संघादिसस' 'एकोदि' 'पारिचित्तय' (प्राक्चित्तिक) आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ दी हैं, वे सभी अनिश्चित हैं (२) अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तित होना केवल उपर्युक्त शब्दों में ही नहीं पाया जाता, अन्य अनेक शब्दों में भी इस नियम का पालन देखा जाता है, उदाहरणतः

संस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु
प्रथित	गथित
व्यथते	पवेघति

(३) लेवी द्वारा निर्दिष्ट नियम का ठीक विपरीत अर्थात् संस्कृत घोष स्पर्शों का अघोष स्पर्शों में परिवर्तित हो जाना भी पालि में दृष्टिगोचर होता है—

पालि	संस्कृत
अगरु	अकल
परिघ	परिष
कुसीद	कुसीत
मृदंग	मृतिग
शावक	चापक
प्रावरण	पापुरण

अतः गायगर के मतानुसार लेवी द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-परिवर्तन संबंधी उदा-

हरणों से हम उनके द्वारा निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँच सकते। लेवी का मत पालि भाषा की केवल एक विचित्रता को बतलाता है और वह विचित्रता है उसका विविधतामय रूप, जिसकी व्याख्या हम नाना बोलियों के संमिश्रण के आधार पर ही कर सकते हैं। अतः लेवी का मत भी अन्ततोगत्वा पालि के मिश्रित स्वरूप को ही प्रकट करता है।

ऊपर कुछ विद्वानों के मतों का उल्लेख और उनकी समीक्षा की जा चुकी है। अब बृद्ध-युग की परिस्थितियों और स्वयं त्रिपिटक के साक्ष्य पर पालि भाषा के मागधी आधार पर हम कुछ और विचार कर लें। यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध ने पंदल घूम घूम कर अपने उपदेश मध्य-मण्डल (मज्झिमेसु पदेसु) अर्थात् कोसी कुदक्षेत्र से पाटलिपुत्र और विन्ध्य से हिमाचल के बीच के प्रदेश में दिये। यह भी निश्चित है कि उनके शिष्यों में नाना जाति, वर्ग और प्रदेशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके महापरिनिर्वाण के अनन्तर दो-तीन शताब्दियों में उनका संकलन किया गया। उनका लिपिबद्ध रूप तो प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में आकर हुआ, जब से वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। इस इतने विकास की परम्परा में अनेक परिवर्तनों और परिवर्तनों की संभावना हो सकती है। भगवान् बुद्ध की 'चारों वणों की श्रद्धा' और उसके विषय में उनकी कोई 'आचार्य-मुष्टि' (रहस्य-भावना) न होने के कारण हम यह तो स्वाभाविक ही मान सकते हैं कि नाना प्रदेशों से आये हुए भिक्षु अपनी-अपनी बोलियों में ही बुद्ध-वचनों को समझने का प्रयत्न करते होंगे। कम से कम अन्तर्प्रातीय मागधी भाषा का व्यवहार करने पर भी उस पर अपनी बोलियों की कुछ छाप तो वे लगा ही देते होंगे। बाद में उन्हीं लोगों ने जब अपने सुने हुए के अनुसार बुद्ध-वचनों का संकलन किया तो उनमें उन विभिन्नताओं का भी चला आना सर्वथा संभव था। अतः बुद्ध-वचनों की भाषा मूल रूप से मागधी होने पर भी उसमें प्राप्त विविधरूपता की व्याख्या उपर्युक्त ढंग पर की जा सकती है। किन्तु गायगर ने मागधी को पालि का मूलधार सिद्ध करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि भाषा और विषय दोनों की ही दृष्टि से पालि-त्रिपिटक ही मूल बुद्ध-वचन है, एक ऐसे तर्क का उपयोग किया है जिसके बिना भी उनका काम चल सकता था। विनय-पिटक के चूलवग्ग में एक कथा है, जिसमें दो ब्राह्मण भिक्षु इस बात पर बड़े अग्रह होते दिखाये गये हैं कि नाना जाति और गोवों

जाने तक का विरोध किया तो फिर वे किसी साधारण बोल-चाल की भाषा में उन्हें रखने जाने का किस प्रकार आदेश दे सकते थे ? उस दशा में तो उनके मौलिक अर्थों और प्रभाव में ही काफी अन्तर हो जाता ।^१ "अतः निःसन्देह भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मगध-देश की टकसाली भाषा में ही दिये और उसी में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा और फिर उपदेश किया ।"^२ भिक्षु सिद्धार्थ के इस मन्तव्य से किसी को विरोध नहीं हो सकता । चूंकि भगवान् बुद्ध ने मध्य-मंडल की सामान्य सभ्य-भाषा में ही अपने उपदेश दिये और उसी के विभिन्न स्वरूपों में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा, अतः आज हम कहना चाहें तो कह ही सकते हैं कि मागधी भाषा ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का माध्यम थी और उसी में उनके शिष्य उन्हें सीखते और उपदेश करते थे । इस दृष्टि से बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ के अर्थ ठीक हैं । किन्तु यदि उसके अर्थों से हम यह समझें कि स्वयं भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों को भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा से वही अर्थ अभिप्रेत था जो बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ ने उसे दिया है, तो यह बिल्कुल गलत है । वास्तव में, हम बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा की व्याख्या करने में बुद्धघोष या गायगर की अपेक्षा उस अनुज्ञा के ही पूर्वापर प्रसंग और बुद्ध की भावना से भी, जैसी वह अन्यत्र प्रस्फुटित हुई है, अधिक सहायता लेने के पक्षपाती हैं । विन्टरनिट्ज ने कुछ स्पष्टता-पूर्वक यह दिखाया है कि 'सकाय निरुत्तिया' का सम्बन्ध 'भित्तस्वे' के साथ लगाने के लिये उसके साथ 'वे' शब्द का आना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है जैसा कि गायगर ने आग्रह किया है । उसे प्रसंग-वश भी समझा जा सकता है ।^३ डा० विमलाचरण लाहा ने पालि के मागधी आधार को स्वीकार नहीं किया है, अतः उन्होंने कुछ विस्तार से गायगर के मत का प्रतिवाद किया है ।^४ कीच ने भी, जो

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४८

२. "There can be no doubt as to the fact that the Buddha preached his doctrine in the standard vernacular of the Magadha country and his disciples studied and taught it in that very language." बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ६४९

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०२ (परिशिष्ट दूसरा)

४. पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११-१६ (भूमिका)

पालि को किसी पच्छिमी बोली पर आधारित मानते हैं, गायगर के परम्परावादी मत को स्वीकार नहीं किया है।^१ वास्तव में बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी गायगर की बुद्ध-अनुज्ञा की उपर्युक्त व्याख्या उस प्रसंग में ठीक नहीं बैठती, जिसमें वह आई है। अतः पालि भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में उस मत को सिद्ध करने के लिये, जो दूसरे प्रमाणों के आधार पर उनके द्वारा ही सुनिश्चित कर दिया गया है, पर्याप्त नहीं ठहरती। सामान्यतः गायगर का अर्थ इन कारणों से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। (१) प्रसंग में वह ठीक नहीं बैठता। पहले भिक्षु लोग 'सकाय निरुत्तिया' (अपनी अपनी भाषा में) बुद्ध-वचनों को वृणित करते दिखाये गये हैं। इस पर ब्राह्मण भिक्षुओं ने उन्हें 'छन्दम्' में करने का प्रस्ताव रक्खा है। भगवान् ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए 'सकाय निरुत्तिया' बुद्ध-वचनों को सीखने की अनुज्ञा दे दी है। स्पष्टतः प्रसंग के अनुसार यहाँ 'सकाय निरुत्तिया' का वहाँ अर्थ लेना ठीक है जो पहले लिया गया है, अर्थात् 'अपनी अपनी भाषा में'। (२) किसी विशेष भाषा में बुद्ध-वचनों को सीखना बन्द कर देना भगवान् तथागत की प्रवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार उनका 'वम्म' प्रकाशित नहीं होता, जो सारी प्रजाओं के लिये खुलने पर ही प्रकाशित होता है^२। (३) भगवान् बुद्ध का जोर शब्दों पर नहीं था, अर्थों पर था^३। कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा से उनकी दृष्टि में उच्च अथवा हेय नहीं थी। न उन्हें संस्कृत से द्वेष था, न मागधी से मोह। वे केवल जीवित भाषा में उपदेश देना चाहते थे, जिससे लोग उन्हें आसानी से समझ सकें। मागधी का ऐसा ही माध्यम उन्हें अनावास मिल गया, जिसे उन्होंने प्रयुक्त किया। (४) जनपद-निरुक्तिगणों अर्थात् भाषा के स्थानीय प्रयोगों में तथागत को अभिनिवेश नहीं था। किसी एक भाषा-प्रयोग में उनका आग्रह नहीं था। उन्होंने स्वयं कहा है कि एक ही वस्तु 'पाव' के

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, १९२५, पृष्ठ ५०१; बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ७३०

२. ऐसाही अंगुत्तर-निकाय के तिक निपात में कहा गया है। देखिये विस्तरनिजः इण्डियन लिटरेचर, जिल्व दूसरी, पृष्ठ ६३-६४; मिलिन्द-प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद) पृष्ठ २३१

३. किन्तिमुत्त (मज्झिम.३।१।३)

लिये किसी जनपद में 'पाति', किसी में 'पत्त' किसी में 'वित्' किसी में 'सराव', किसी में 'धारोप' किसी में 'पोण' किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही लेकर यह समझ कर नहीं बैठ रहना चाहिये कि यही प्रयोग ठीक है और सब गलत। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रख कर जहाँ जैसा प्रयोग चलता हो, वहाँ उसी के अनुसार चलना चाहिये^१। अतः मगध-जनपद के प्रयोग के प्रति भी तत्प्रागत का अभिनिवेश या पक्षपात-व्यवहार कैसे हो सकता था? अतः गायगर का अर्थ सहण नहीं हो सकता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गायगर की 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या के साथ असहमत होते हुए भी पालि भाषा के मागधी आधार को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अब तक हमने इस विषय सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह हमें इसी निष्कर्ष की ओर पहुँचने के लिये बाध्य करता है कि पालि भाषा का विकास मध्य-मंडल में बोले जाने वाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जिसकी संज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी 'मागधी' के विकसित, विकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न जनपदीय स्वरूप हमें अशोकके अभिलेखों की 'मागधी' में मिलते हैं। निश्चय ही इस अशोक-कालीन मगध-भाषा की उससे तीन सौ चार सौ वर्ष पूर्व बोले जाने वाली मगध-भाषा से, जो त्रिपिटक में सुरक्षित है, विभिन्नताएँ भी हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल डाला था कि पालि मागधी नहीं है। पालि को मागधी न मानने से उनका तात्पर्य, जैसा डा० ई० जे० थॉमस ने दिखाया है, सिर्फ यही था कि पालि अशोक के अभिलेखों की भाषा नहीं है।^२ किन्तु यहाँ पर यह नहीं सोचा गया कि जो कुछ भी विभिन्नताएँ त्रिपिटक की भाषा और अशोक के अभिलेखों की भाषा में हैं, वे सब एक अन्तर्-प्रान्तीय राजभाषा के प्रान्तीय प्रयोगों के आधार पर समझी जा सकती हैं। अशोक का उद्देश्य अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न जनपदों की सामान्य जनता तक अपने संदेश को पहुँचाना था। जनपद-निरुक्तियों का अभिनिवेश उसके हृदय में

१. देखिये अरणविभंग सुत्त (मज्झिम. ३। ४। ९)

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २३४ (डा० ई० जे० थॉमस का "बुद्धिस्ट एजुकेशन इन पालि एंड संस्कृत स्कूलस" शीर्षक निबन्ध)

या नहीं। उसने जैसा प्रयोग जिस जनपद में चलता देखा, वैसा ही शिलालेखों में अंकित करवा दिया। इसी कारण उनमें उच्चारण आदि की अल्प विभिन्नताएँ मिलती हैं। एक ही लेख के पूर्व (जौगड़) पश्चिम (गिरनार) और उत्तर (मनसेहर) इन तीन संस्करणों का मिलान करने से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन तीनों अभिलेखों को उद्धृत तो नहीं कर सकते, किन्तु उनके आधार पर विभिन्न भाषा-स्वरूपों का अध्ययन करना आवश्यक है। उनके भाषा-स्वरूपों में मुख्य विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं। (१) पश्चिम (गिरनार) के शिलालेख में 'र' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतः 'राजा', 'राज्ञा', 'पुरा', 'आरभित्वा' जैसे प्रयोग वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर के शिलालेख (मनसेहर) में भी 'र' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वहाँ प्रादेशिक उच्चारण-भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। 'राजा' की जगह वहाँ 'रज', 'राज्ञा' की जगह 'राजिने', 'पुरा' की जगह 'पुर' और 'आरभित्वा' की जगह 'आरभितु' मिलते हैं। पूर्व के शिलालेख (जौगड़) में 'र' का 'ल्' में परिवर्तन हो जाता है। वहाँ 'राजा' की जगह 'लजा' है, 'राज्ञा' की जगह 'लाजिना' है, 'पुरा' की जगह 'पुलुव' है और 'आरभित्वा' की जगह 'आलभितु' है। (२) पश्चिम के लेख में (सामान्यतः पालि के समान) केवल दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग है। तालव्य 'श्' और मूर्धन्य 'ष्' वहाँ नहीं मिलते। इनकी जगह भी दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है। 'प्रियदसि' इसका उदाहरण है। पूर्व के लेख की भी यही प्रवृत्ति है। किन्तु उत्तर के लेख की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति 'श्' और 'ष्' दोनों को रखने की है। वहाँ 'प्रियदसि' (पश्चिम) या 'पियदसि' (पूर्व) की जगह 'प्रियदसि' है। इसी प्रकार 'प्रियदसिना' या 'पियदसिना' की जगह 'प्रियदसिन' है। 'प्राणसतसहस्रानि' (पश्चिम) या 'पानसतसहस्रानि' (पूर्व) की जगह 'प्राणसतसहस्रानि' है। 'आरभरे' (पश्चिम) या 'आलभियिस्' की जगह आश्चर्यजनक रूप से 'अरभियंति' है। (३) पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के प्रथमा एक-वचन का रूप पश्चिम के अभिलेख में ओकारान्त है, जैसे 'एको मगो'। किन्तु पूर्व और उत्तर के अभिलेखों में वह एकारान्त हो गया है, जैसे 'एक मिगो' (पूर्व), 'एके मिगो' (उत्तर)। (४) पूर्व के अभिलेख में व्यंजन रेफप्रकृत होने पर रेफ की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन में ही मिल गई

१. जिसके लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैत्तिरीय-सौतोस (वस्तुकथा)

है, जैसे प्रियदर्शी से 'प्रियदर्शि'; प्राणाः से 'पानानि'। किन्तु पश्चिम और उत्तर के अभिलेखों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है। वहाँ 'प्रियदर्शि', 'प्राणा' (पश्चिम) एवं 'प्रियदर्शि' 'प्रणि' (उत्तर) शब्दों में रेफध्वनि सुरक्षित है। (५) 'ऋ' के परिवर्तन में भी असमानता है। मृग से 'मर्गो' पश्चिम में है, 'मिर्गो' पूर्व में है, 'मिर्गो' उत्तर में है। (६) पश्चिम का शिलालेख संस्कृत के अधिकतम समीप है। मिलाइये, पुरा महानसमिह देवानं प्रियस प्रियदर्शिनो राजो अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सुपायाय (पश्चिम); पुलुवं महानसमि देवानं प्रियस प्रियदर्शिनं लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहस्रानि आरभिसु सुपथाये (पूर्व); पुर महनसमि देवानं प्रियस प्रियदर्शिस राजिने अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सुपथाये (उत्तर)। इन विभिन्नताओं के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रांतीय या जनपदीय रूप हैं, जो उच्चारण-भेद से उत्पन्न हो गये हैं। मूल तो उन सब का एक ही है—मागधी की राज-भाषा-मागधी, जिसमें ४०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जो आज तक अपने उसी प्रामाणिक किन्तु मिश्रित रूप में पालि त्रिपिटक में सुरक्षित है।

पालि और वैदिक भाषा

ऊपर अशोक की धर्मलिपियों में पाई जाने वाली पालि की विभिन्नताओं की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएँ पालि की जन्म-जात हैं। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली हैं। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम इन भाषाओं के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा की गई। अतः उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का संमिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में इसी भाषा के विकसित

१. अशोक के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी अभिलेखों के ही भाषा-तत्त्व पालि में मिलते हैं। जिन्होंने पूर्वी तत्त्वों पर जोर दिया है उन्होंने पालि को मागधी या अर्द्ध-मागधी पर आधारित माना है, जिन्होंने पश्चिमी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने उसमें शौरसेनी के तत्त्व ढूँढ़े हैं और जिन्होंने उत्तरी तत्त्वों को प्रबलता दी है, उन्होंने उसमें पंजाबी तत्त्व ढूँढ़े हैं।

स्वरूप के दर्शन होते हैं। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलाई। ब्राह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन-कार्य हुआ। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिये इसके लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस्' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आयों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आयों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें आज 'पालि' के रूप में होते हैं। मगध-साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न भिन्न ढंगों से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दों के क्रमशः पालि और संस्कृत में विकसित स्वरूपों को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

वैदिक भाषा की सब से बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। इस तथ्य का विशेष विवरण हम आगे पालि के शब्द-शोधन और वाक्य-विचार का विवेचन करते समय करेंगे। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवोभिः' 'कर्णोभिः' जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पालि में ये 'देवोभि' 'देवोहि' 'कर्णोभि' 'कर्णोहि' आदि के रूप में सुरक्षित हैं। वैदिक भाषा में 'विश्वन्' 'व्यवन्' जैसे नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा' 'व्यवना' जैसे अकारान्त होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता' 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पाई जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'ससि' पालि में 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पच्चरे' 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है।

पालि में भी 'कातवे' 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्न' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब' को रख लिया है।^१ वैदिक अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवास' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे' 'वम्मासे' 'बुद्धाने' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ हैं। दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत हुई हैं। किन्तु जैसा कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूपजल' कह कर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह ब्रह्म महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरोध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्तों की लहरें सतत चलती रहीं। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के ताना विषत धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गई है। संस्कृत 'पुराणयुक्ती' है। पुरानी होने हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, बूढ़ा स्वरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि त्रिपिटक में उसके बाल्य और तारुण्य का सामान्यतः दिग्दर्शन होता है, अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके बुद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये हैं। जिन भाषा-तत्त्व-विदों ने उसके इस रहस्य

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६५५-५६ (भिक्षु सिद्धार्थ का पालिभाषा सम्बन्धी निबन्ध)

को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास-स्वान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदशी मत प्रकट किए हैं, यह हम पहले देख ही चुके हैं।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और संस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ हैं भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नहीं है। दोनों के ध्वनि, रूप और अर्थ का विस्तृत तुलनात्मक में अध्ययन करते समय यह हम अभी देखेंगे। पहले विकास-क्रम को पूरा करते हुए पालि-भाषा का सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं के साथ देखें।

पालि और प्राकृत भाषाएँ: विशेषतः अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पेशाची

प्राकृतों का विकास (१-५०० ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। हम पहले कह चुके कि अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम से कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकासवाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोलियों, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पेशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। पहले से बोलियाँ मात्र थीं, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इसका स्वरूप अवर्ध हो गया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है, (१) मागधी प्राकृत, (२) अवन्ती प्राकृत, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) वात्सीक और (७) दाक्षिणात्य^१। बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पेशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्व दिया है। महाराष्ट्री प्राकृत का विस्तृत विवेचन करने के बाद उन्होंने अन्य प्राकृतों की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर 'शेष महाराष्ट्रीयत्' कहकर छोड़ दिया है।

१. मागध्वन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी ।

बाह्लीका दाणिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥

२. महाराष्ट्राभ्यां भाषाः प्रकृष्टं विदुः । वण्डी

भाषा-तत्त्व की दृष्टि से पालि और प्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उपर्युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पँशाची प्राकृत ही पालि के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक ध्यान देने योग्य हैं। पहले हम सामान्यतः पालि में पाये जाने वाले प्राकृत-तत्त्वों का निर्देश करेंगे और फिर मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पँशाची के साथ उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक सा ही है। ऋ, ॠ, कृ, ए और ओ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही नहीं पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में ॠ ध्वनि अ, इ, उ, स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नहीं मिलता। श्, ष् की जगह मागधी को छेड़ कर और सब प्राकृतों और पालि में 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ल' पालि और प्राकृत दोनों में ही पाई जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्त्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनों में ही पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं (१) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह व् या ब् का आगमन (२) शब्द के अन्तःस्थित घोष महाप्राण की जगह ह्, हो जाता (२) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना। (४) महाप्राणत्व (ह्-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि में अनियमितः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों में नियमितः पाये जाते हैं। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन में इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा। वास्तव में बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनों का पालि में सूत्र-पात ही हुआ है, उन्हीं का विकास हमें प्राकृतों में देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यंजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। इसीलिये पालि-भाषा के विकास में भी हम तारतम्य देखते हैं, जिसका वर्णन हम अभी आगे करेंगे।

मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध में भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमें जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो हैं किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्गम या आचार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्युत उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना। पालि के पुरे (पुरः); सुवे (इवः); भिगलवे (भिन्नवः); पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'से' हो जाना। यह प्रवृत्ति 'स्यमथा' (तद्वथा) जैसे पालि के प्रयोगों में रूढ़ हो गई है। (३) इसी प्रकार संस्कृत वद् के स्थान पर 'ये' हो जाना। (४) र् का ल् हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। पालि में भी यह कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है; नियमानुसार नहीं। (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के बाद आने पर 'एव' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं कहीं दृष्टिगोचर होती है। (६) कहीं कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान भी पालि में अर्द्ध-मागधी के समान ही है। उदाहरणतः

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्षं (आँखों के सामने)	सक्खि (सक्खि भी)	सक्खं
सरु (मूँठ, तलवार)	सरु	सरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लंगल (हल)	नंगळ	नंगळ

लूडर्स ने, अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आचार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानताओं पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणों को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उदाहरणतः, सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र्' की जगह 'ल्' हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ जो अर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं, पालि में कहीं कहीं ही पाई जाती हैं।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अर्थात् बज्र-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति

दिखाई देती है। पालि भी मध्य-मंडल की ही लोक-भाषा रही हो। अतः उसका प्रभाव शौरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्ध-मागधी) न मान कर किसी पच्छिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है। कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं। (१) शौरसेनी के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का लोप नहीं होता और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है; (२) शब्द के मध्यास्थित 'नृ' में भी साधारणतः परिवर्तन नहीं होता; (३) शब्द के आदि में स्थित 'म्' की जगह 'ज्' नहीं होता, जैसा उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है; (४) 'दानि' और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होते हैं; (५) इसी प्रकार 'वेक्ख' 'गम्मिस्सि' 'सत्किं' जैसे रूपों में भी समानता है। इन समानताओं के विषय में हमें यहाँ कहना है कि इनमें से बहुत सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलती, बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पाई जाती हैं।

इसी प्रकार पालि और पैंशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। इन दोनों भाषाओं की मुख्य समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) घोष स्पर्शों (म्, द्, ब्) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क्, त्, प्) हो जाते; (२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित रहना; (३) 'भारिय' 'मितान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विस्लेषण (वृक्त-विकर्ष) पाया जाता; (४) ज्, ण्य् और न्य् का 'ञ्ज्' में परिवर्तन होता; (५) म् का ज् में परिवर्तन न हो कर सुरक्षित रहना; (६) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना; (७) धातु-रूपों में समानताएँ; (८) र् का ल् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। पालि की ये समानताएँ भी केवल पैंशाची प्राकृत के साथ ही नहीं हैं। अन्य प्राकृतों में भी ये पाई जाती हैं। उदाहरणतः ज्, ण्य् और न्य् की जगह 'ञ्ज्' मागधी और अन्य अनेक प्राकृतों में भी पाया जाता है। इसी प्रकार म् का ज् में परिवर्तित न होकर 'म्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का ओकारान्त हो जाना केवल पैंशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पच्छिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैंशाची से ही अपितु सामान्यतः सभी पच्छिमी बोलियों से समानता रखता है। यही हाल 'र्' के पालि में परिवर्तित न होने का है। पश्चिमी बोलियों में भी ऐसा ही पाया जाता है। पैंशाची

प्राकृत के सब रूपों में 'र' सुरक्षित ही मिलता हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैंशाची के साथ पालि के ध्वनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पष्टों के स्थान पर अघोष स्पष्ट हो जाता पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैंशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। अतः पैंशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सकते।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। वास्तव में तथ्य यही है कि पालि एक मिश्रित, साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के संमिश्रण के चिह्न मिलते हैं। उसके ध्वनि-समूह का विस्तृत विवरण, प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को, जिसे हमने अभी तक अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही निर्दिष्ट किया है, अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा।

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय

पालि के ध्वनि-समूह को समझने के लिये पहले वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-समूह को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ थीं, जिनमें १३ स्वर थे और ३९ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर—

- (१) नौ मूल स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ,
- (२) चार संयुक्त स्वर : ए, ऐ, ओ, औ

व्यंजन—

- (१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन —

कठ्य	क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य	च, छ, ज, झ, ञ
मूर्धन्य	ट, ठ, ड, ढ, ण, त, ल, र
दन्त्य	प, फ, ब, भ, म
ओष्ठ्य	व, श, ष, स, ह

- (२) चार अन्तःस्थ — य, र, ल, व
- (३) तीन ऊष्म — श, ष, स
- (४) अनुनासिक — (अनुस्वार)

(६) तीन अघोष ऊष्म

विसर्जनीय या विसर्ग :

जिह्वामूलीय^१उपध्मानीय^२

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं—(१) लृ, लृह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता (२) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम पालि के ध्वनि-समूह पर विचार करें। पालि का ध्वनि-समूह इस प्रकार है—

स्वर

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व ए, ए, ह्रस्व ओ, औ

व्यंजन

कण्ठ्य	—	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
तालव्य	—	च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्धन्य	—	ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, लृ, लृह्
दन्त्य	—	त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—	प्, फ्, ब्, भ्, म्
अन्तःस्थ	—	य्, र्, लृ, व्
ऊष्म	—	स्
प्राणध्वनि	—	ह्

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) ऋ, ॠ, लृ, ए, औ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नहीं मिलता (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते हैं, (३) विसर्ग पालि में नहीं मिलता (४) झ्, ञ् पालि में नहीं मिलते, (५) लृ, लृह् व्यंजनों का प्रयोग पालि में संस्कृत से अधिक होता है। दो स्वरों के बीच में आने वाले ड् का

१. क् से पहले आने वाला विसर्ग। 'ततः किं' में विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

२. 'प्' से पहले आने वाला विसर्ग। 'पुनः पुनः' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

स्थान यहाँ 'ळ' ने ले लिया है, इसी प्रकार 'ड' का स्थान 'ल्ह' ने। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'ळ' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (६) स्वतंत्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य, र, लृ, व या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैय्याकरणों ने 'औरस' या 'हृदय से उत्पन्न' कहा है। इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि-परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते हैं। पहले हम स्वर-परिवर्तनों को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को। स्वर-परिवर्तनों में भी क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में असंयुक्त और संयुक्त व्यंजनों की दृष्टि से शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यंजन, मध्य-व्यंजन, अन्त्य-व्यंजन, आदि। इसके साथ ही स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर-परिवर्तन

ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ए, ओ)

१. साधारणतया संस्कृत ह्रस्व स्वर अ, इ, उ, पालि (एवं प्राकृतों) में सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि	
वधूः	वधू	(प्राकृत वट्ठ)
अग्नि	अग्नि	} प्राकृत में पालि के समान ही रूप
अर्थ	अट्ठ	
प्रिय	पिय	
रुक्ष	रुक्खो	
मुखम्	मुखं	(प्राकृत मुहं)

२. यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
फल्गू (सारहीन)	फेग्गू

शब्दा

सेय्या (प्राकृत सेज्जा)

३. इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के रूपों में विभक्तयुक्त इकार और उकार का दीर्घ होकर क्रमशः ईकार और ऊकार हो जाता है, यथा ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु। इस प्रकार 'अग्नि' (अग्नि) और 'भिक्षु' (भिक्षु) शब्दों के रूपों में क्रमशः अग्नीहि, भिक्षुहि (तृतीया बहुवचन) एवं अग्नीसु, भिक्षूसु (सप्तमी बहुवचन) रूप होते हैं।

(४) यदि संस्कृत में इ और उ संयुक्त व्यंजन से पहले होते हैं, तो पालि में वे क्रमशः ए और ओ (ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ) हो जाते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
विष्णु	वेणु (कहीं कहीं विणु भी)
निष्क	नेक्क
उष्ट्र	ओट्ठ
उत्कामुख	ओक्कामुख
पुष्कर	पोक्कर

(५) संस्कृत में जहाँ संयुक्त व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर होते हैं, वहाँ पालि में उनका रूप ह्रस्व हो जाता है, यह पालि भाषा का एक प्रसिद्ध नियम है, जिसका विवेचन हम दीर्घ स्वरों के परिवर्तन का विवरण देते समय आगे करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस नियम के कारण संस्कृत के ए, ऐ तथा ओ, औ जब संयुक्त व्यंजनों से पहले आते हैं तो पालि में उनके रूप क्रमशः ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ हो जाते हैं। उदाहरण—

श्लेष्मन्	सेम्ह
चेत्य	चेतिय
ओष्ठ	ओट्ठ
मौर्य	मोरिय

(६) जब उपसृक्त स्वर संयुक्त व्यंजनों से पहले न आकर अ-संयुक्त व्यंजनों के भी पहले आते हैं तो भी उनका परिवर्तन उपसृक्त ह्रस्व स्वरूपों में ही हो जाता है, किन्तु उनके आगे आने वाला व्यंजन संयुक्त हो जाता है। उदाहरण—

एक	एक्क
एवम्	एव्वम्

ऋ और लृ के पालि प्रतिरूप

(अ) ऋ का परिवर्तन पालि में विविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। मर्मपी ध्वनियों पर यह अधिक निर्भर करता है कि कब क्या परिवर्तन हो। ओष्ठ्य अक्षरों के बाद अक्सर उ होता है। फिर भी प्रयोगों के अनुसार विविधता पाई जाती है, जिसे नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। ऋ का परिवर्तन बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी यह पाया जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत 'अवट' शब्द पहले 'अवृत्' था। 'विकट' और 'विकृत' शब्द दोनों साथ साथ ऋग्वेद में मिलते हैं। शास्त्र भी इस तथ्य से अवगत हैं। उन्होंने 'कुटस्य' 'कृतस्य' जैसे समानार्थवाची शब्दों के उदाहरण दिये हैं। उत्तरकालीन युग में इस परिवर्तन की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम में ऋ का परिवर्तित स्वरूप 'अ' हो जाता है और दूसरी में 'इ' या 'उ'। प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक सामान्यतः पालि, अशोक के गिरनार-शिलालेख, मेहरारूपट्टी प्राकृत एवं अर्द्धमागधी प्राकृत हैं। दूसरी प्रवृत्ति के परिचायक विशेषतः अशोक के पूर्व और उत्तर-पश्चिम के शिलालेख एवं शौरसेनी प्राकृत हैं।

उदाहरण

(१) ऋ की जगह 'अ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
ऋक्ष	अच्छ
वृक	वक
हृदय	हृदय
दृढ़	दल्ह (गिरनार शिलालेख)
मृग	मग (गिरनार शिलालेख)

(२) ऋ की जगह 'इ' हो जाती है—

कृत	कित (शौरसेनी किट) (अशोक पालि)
मृत	मित (शौरसेनी मृद) (अशोक-पालि)
ऋक्ष	इक्क
ऋण	इण
वृश्चिक	विच्छिक

(३) ऋ की जगह 'उ' हो जाता है—

ऋजु	उजु या उज्जु
ऋषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋ के पालि प्रतिरूपों में अनेक विभिन्नताएँ हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द के दो परिवर्तित स्वरूप दृष्टगोचर होते हैं। जैसे 'कृत' से 'कत' और 'कित'; 'मृत' से 'मत' और 'मित'; 'कृष' से 'अच्छ' और 'इस्क'। कहीं कहीं इस प्रकार के समान प्रयोगों में अर्थ की कुछ भिन्नता भी हो गई है, यथा 'बुद्धि' और 'बुद्धि' दोनों सं० 'बुद्धि' के ही परिवर्तित स्वरूप हैं, किन्तु प्रथम का प्रयोग होता है उन्नति के अर्थ में और दूसरे का उगने के अर्थ में। इसी प्रकार 'मृग' के दो परिवर्तित रूप 'मग' और 'मिग' हैं। 'मग' का प्रयोग होता है सामान्य पशु मात्र के लिये, किन्तु 'मिग' का केवल हिरन के लिये। अन्य भी अनेक विविन्नताएँ हैं। 'ऋण' का पालि में 'इण' होता है, किन्तु 'स-ऋण' के लिये 'स + इण' न हो कर 'स + जण' अर्थात् 'साण' होता है। इसी प्रकार 'अनण' होता है, 'अनिण' नहीं। सम्भवतः यह परिवर्तन स्वर-अनुरूपता के कारण है। 'पितृ' और 'मातृ' शब्दों के परिवर्तन एक जगह तो 'पिति-पक्खतो' 'माति-पक्खतो' इस प्रकार होते हैं, किन्तु दूसरी जगह 'पितुषातक' 'मातुषातक' इस प्रकार होते हैं। 'पृथिवी' शब्द के पालि प्रतिरूप तो और भी अधिक आश्चर्यमय हैं—पथवी, पठवी, पुथवी, पुधुवी, पुठुवी। ये सब पार्सल के भिन्नतामयी लोक-भाषा होने के साक्षी हैं।

(४) कहीं कहीं ऋ व्यंजन भी हो जाता है—

संस्कृत	पालि
बृंहयति	बूहेति
वृक्ष	वक्ख
प्रावृत	पारुत
अपावृत	अपारुत

(आ) 'लृ' का 'उ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
क्लृप्त	कुत्त
क्लृप्ति	कुत्ति

दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ)

(१) पद के अन्त में वा संयुक्त व्यंजन से पूर्व की स्थिति को छोड़कर, संस्कृत दीर्घ स्वर पालि में प्रायः सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
काल	काल
प्रहीण	पहीण
खीर	खीर
मूल	मूल या मूळ

(२) पद के अन्त में जहाँ संस्कृत में दीर्घ स्वर होते हैं, पालि में वे ह्रस्व कर दिये जाते हैं।

उदाहरण

देवानां	देवानं
गणनायां	गणनायं
नदीं	नदि

(३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होने पर पालि में उसका प्रतिकृपह्रस्व हो जाता है और उसके बाद भी संयुक्त व्यंजन रहता है।

उदाहरण

जीर्ण	जिण्ण
माद्वं	मद्द्वं
तीर्थ	तिट्थं

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर रहने पर कभी-कभी पालि में उसका प्रतिकृप भी दीर्घ ही बना रहता है और इस दशा में संयुक्त व्यंजन असंयुक्त हो जाता है। उदाहरण

लाक्षां	लाखा
दीर्घ	दीघ

ए और ओ रहने पर संयुक्त व्यंजन विकल्प से असंयुक्त होता है, अर्थात् कहीं-कहीं वह असंयुक्त होता है और कहीं-कहीं नहीं भी।

उदाहरण

अपेक्षा	अपेक्षा, अपेक्षा भी
उपेक्षा	उपेक्षा, उपेक्षा भी
विमोक्ष	विमोक्ष, विमोक्ष भी

उपर्युक्त (३) और (४) ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन भाषातत्त्वविद् डा० मायगर ने एक नियम खोज निकाला है। इस नियम का नाम 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' (दिल्ला और मोरा) है। इस नियम के अनुसार पालि में प्रत्येक शब्दांश के प्रारम्भ में या तो (१) ह्रस्व स्वर हो सकता है (एक ह्रस्व मात्रा-काल) या (२) दीर्घ स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल) या (३) उसके अन्त में ह्रस्व स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल)। इस प्रकार किसी भी शब्दांश में दो से अधिक ह्रस्व मात्रा काल नहीं हो सकते। दीर्घ सानुनासिक स्वर पालि में नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर ही उपर्युक्त (३) (४) ध्वनि-परिवर्तनों की सिद्धि डा० मायगर ने की है। इस नियम के अनुसार अन्य परिवर्तनों का भी उन्होंने उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(१) जहाँ संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले ह्रस्व स्वर होता है, वहाँ पालि में साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है। उदाहरण

समप (समसों)	सस्सप के बजाय सामप
वत्क (छाल)	वक्क के बजाय वाक्क
निर्पाति (बाहर चला जाता है)	नीपाति

(२) जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होता है, वहाँ पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर होता है। उदाहरण

आवृहति	अव्वहति
नीड	निड्ड (नेड्ड भी)
उदुल्ल	उदुल्लल
कुवर	कुव्वर

(३) जहाँ उपर्युक्त नियम (१) के अनुसार संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले (ह्रस्व) स्वर होने पर पालि में उसका साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो

जाता है, यहाँ इस नियम के अनुसार कहीं कहीं उसके दीर्घ स्वर के स्थान पर सानु-नासिक ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। इस नियम का कारण यह है कि ह्रस्व सानु-नासिक स्वर में भी दीर्घ स्वर के समान दो ह्रस्व मात्रा-काल होते हैं।

उदाहरण—

मत्कुण	माकुण के बजाय मंकुण
शवंरी	सावरी (सञ्चरी) के बजाय संवरी
शुल्क	सुक (सुक्क) के बजाय सुंक

(४) उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अनु-नासिक ह्रस्व स्वर का परिवर्तन पालि में दीर्घ स्वर भी हो जाता है।

सिह	सीह
विंशति	वींशति, वीस

(५) कभी-कभी संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व आने वाला दीर्घ स्वर पालि में भी बना रहता है। ऐसा अधिकतर सन्धियों में होता है, जैसे साञ्ज = सा + अञ्ज; यथाञ्जभासयेत् = यथा + अञ्जभासयेत्, आदि।

(६) पालि में स्वर-भक्ति का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब स्वर-भक्ति के कारण संयुक्त व्यंजन असंयुक्त किये जाते हैं, तो संयुक्त व्यंजन से पहले आने वाला दीर्घ स्वर पालि में ह्रस्व कर दिया जाता है। उदाहरण—

सूर्य	सुय्य के बजाय सुरिय
प्रकीर्य	पकिरिय
मौर्य	मोरिय
चेत्थ	चेतिय

(७) विवृत् स्वर ई और ऊ पालि में क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं।

उदाहरण—

ईदुश्	एदिस (एरिस)
ईदुसा	एदिसक
ईदुवा	एदिकल (एरिकल)

संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ) और उनके पालि प्रतिरूप

ए और ओ पालि में लृस्व और दीर्घ दोनों ही हैं। लृस्व ए और ओ का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दीर्घ ए और ओ भी पालि में पाये जाते हैं।

(१) पालि में ए और ओ का आगमन संस्कृत संयुक्त स्वरों ऐ और औ से हुआ है ।^१

ऐरावण	एरावण
मैत्री	मेत्ता
वै	वे
औरस	ओरस
पौर	पोर

(२) कभी कभी ए, ओ, संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले जाने पर, पालि में लघु होकर क्रमशः इ और उ रह जाते हैं। उदाहरण

प्रतिवेश्यक	पटिविस्सक
प्रसेवक	पसिब्बक
ऐस्वयं	इस्सरिय
सैन्धव	सिन्धव
ओष्यामि	सुस्सं
ओत्सुक्य	उत्सुक
क्षौद्र	खुद्द
रौद्र	रुद्द

विसर्ग

पालि में जाते-जाते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतों में भी वह नहीं मिलता। इसका परिवर्तन प्रायः तीन प्रकार से हुआ है।

(१) शब्द के मध्यस्थित विसर्ग का समावेश उसके आगे जाने वाले व्यंजन में हो गया, जैसे

१. सं० अय से पालि ए; अव से ओ; आव से ओ; अयि, आयि, आवि से ओ; इन परिवर्तनों के लिये देखिये आगे अक्षर-संकोच का विवरण।

दुःखं	दुःखसं
दुःसहं	दुःसहो
निःशोक	निःसोको

(२) अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का जो हो गया ।

देवः	देवो
कोः	को

(३) इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का लोप हो गया—

अग्निः	अग्नि
घेनुः	घेनु

स्वर-अनुरूपता अर्थात् एक स्वर का दूसरे समीपवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना

समीपवर्ती स्वरों का प्रभाव पालि में दूसरे स्वरों पर भी पड़ता है । इस प्रकार पालि में हम 'स्वर-अनुरूपता' का प्रारम्भ देखते हैं । समीपवर्ती स्वरों के कारण स्वर-विपर्यय के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना—

(१) संस्कृत में 'इ' के बाद जहाँ 'उ' होता है, तो पालि में 'इ' की जगह भी 'उ' हो जाता है—

इमु	उमु
इशु	उच्छु (अर्द्धमागधी में इन्शु)
जिणु	सुमु

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है ।

समुद्गं	सुमुग्गं
असूया	उसूया (असुय्या भी)

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाता है ।

तमिसा	तिमिसा
सरीसृप	सिरिसप

(आ) परवर्ती स्वर का पूर्ववर्ती स्वर के अनु रूप हो जाना ।

(१) उ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है ।

कुरग

कुरग

उदक

उळक

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में इ की जगह भी अ हो जाता है ।

अलिजर

अरजर

काकिणिका

काकणिका

पुष्करिणी

पोत्तरणी

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में उ की जगह भी अ हो जाता है ।

आपुष्पन्

आप्सन्त

सधकुली

सधकुली (सधखलिका)

(४) इ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाती है ।

शृंगवेर

सिगिवेर

निषण्ण

निसिन्न

समीपवर्ती व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव

(१) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप विशेषतः उ आता है ।

समाज्जनी

सम्मज्जनी (कहाँ कहीं)

सम्मज्जनी भी)

मतिमान्

मूतीमा

(२) मूर्धन्य व्यंजनों के समीप विशेषतः इ आता है ।

मज्जा

मिज्जा

जुगुप्सते

जिगुप्सति

स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय अभी नहीं हो सका ।

किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल के बाद ही स्वराघात के चिन्ह को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोबी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप था, जो संस्कृत में। यह तथ्य नीचे लिखे परिवर्तनों से स्पष्ट होता है।

(१) तीन-चार अक्षरों के शब्द में, जिसमें संस्कृत के साध्य पर प्रथम अक्षर में स्वराघात होता था, स्वराघात वाले अक्षर के बाद के अक्षर में अर्थात् दूसरे अक्षर में पालि में स्वर-परिवर्तन पाया जाता है।

(अ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का इ हो जाता है—

चन्द्रमा	चन्दिमा
चरम	चरिम
परम	परिम
पुत्रमान्	पुत्तिमा
मध्यम	मज्झिम
अहंकार	अहिंकार

(आ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का उ भी हो जाता है—

नवति	नवुति
प्रावरण	पापुरण
सम्मति	सम्मृति

(इ) कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के बाद इ का उ और उ का इ हो जाता है—

राजिल	राजुल
गैरिक	गेरुक
प्रसित	पसुत
मुदुता	मुदिता (मुदुता भी)

(२) स्वराघात वाले अक्षर के बाद आने पर अनुदात्त लघु स्वर कभी-कभी लृप्त भी कर दिये जाते हैं—

उदक	ओक
अमार	अमग

(३) स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिये जाते हैं। इस प्रकार 'ओ' का 'उ' हो जाता है—

असौ	असू (प्रथम 'असो' हुआ; मागधी में यही रूप)
उताहो	उदाहु
सद्यः	सज्जू (प्रथम 'सज्जो' हुआ)

(४) कहीं-कहीं शब्द का दूसरा दीर्घ अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन पालि में स्वराघात के दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है।

अलीक	अलिक
गृहीत	गहित
पानीय	पानिय (अर्द्धमागधी पाणिय)

(४) कहीं-कहीं प्रथम अक्षर के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह परिवर्तन भी उस अक्षर पर स्वराघात कर देने के कारण होता है।

अजिर	आजिर
अलिन्द	आलिन्द
अरोग	आरोग (अरोग भी)

सम्प्रसारण और अक्षर-संकोच

(अ) सम्प्रसारण—

(१) उदात्त 'य', का 'ई' हो जाता है—

स्त्यान	यीन
द्वयह	द्वीह
व्यह	वीह
व्यतिवृत्त	वीतिवत्त
कहीं-कहीं 'य' सुरक्षित भी रहता है	

व्यसन	व्यसन
व्याध	व्याध

(२) सम्प्रसारण के कारण ही कहीं-कहीं 'य' का ऊ हो जाता है।

इयन्	सून्
------	------

यदि 'य' संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले है तो पालि में उसका रूप ऊ न होकर पहले उ होता है और फिर ओ में सम्प्रसारण—

स्वस्ति

सुवस्ति—सोस्ति

स्वप्न

सुप्ति—सोप्ति

असंयुक्त व्यंजनों से पहले ऊ की जगह ओ होता है—

स्वपाक

सोपाक (अर्द्धमागधी सोपाक)

(३) कुछ सम्प्रसारण विचित्र भी होते हैं, जैसे सं० 'द्वेष' और 'दोष' दोनों के प्रतिस्वयं पालि में 'दोस' में मिल गये हैं।

(आ) अक्षर-संकोच

(१) अय और अव क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं। बीच में स्वराघात के कारण क्रमशः अयि, ऐ, अवु, औ अस्वस्थाओं में होकर ये परिवर्तन होते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जयति

जेति (जयति भी)

अध्ययन

अज्जेन

मोचयति

मोचेति

कथयति

कथेति

अवधि

ओधि

प्रवण

पोण

लवण

लोण

(२) अय और आव का ओ हो जाता है

प्रतिसंलयन

पटिसल्लान

स्वस्त्ययन

सोत्थान

काल्यायन

कच्चान (कच्चायन भी)

मौद्गल्यायन

मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन भी)

(३) आव का ओ हो जाता है।

अतिघाघन

अतिघोन

(४) अवा का ओ हो जाता है।

यवानू

यानू

(५) अयि और अवि ए हो जाते हैं—

आश्चर्यं

अच्छायिर, अच्छारिय से होकर अच्छेर

आचाये	आचरिय-आचर
मात्सये	मच्छेर
स्वविर	वेर

(६) प्राकृतों के समान पालि में भी कहीं-कहीं उप और अप उपसर्ग क्रमशः उव और अव स्वरूपों में होकर ऊ और ओ हो जाते हैं।

उपहृदति	ऊहादेति
अपवरक	ओवरक
अपन्नप	ओत्तप्प

(७) कहीं-कहीं अतियमित अक्षर-संकोच भी दिखाई पड़ते हैं।

मयूर	मोर (भयूर)
------	------------

स्वरभक्ति के कारण स्वरागम

पालि में स्वरागम अधिकतर शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी; स्मयते से उम्हयति, उम्हयते जैसे शब्द अपवाद हैं। शब्द के मध्य में स्थित केवल उन्हीं संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगमन होता है, जिनमें य, र, ल, व, में से कोई एक व्यंजन हो या जो सानुनासिक हो। 'कष्ट' जैसे शब्द का 'कसट' रूप होना एक अपवाद है। यह पालि में पाया जाने वाला पेशाची प्राकृत का प्रयोग है। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। पालि में पाये जाने वाले कुछ स्वरागम इस प्रकार हैं—

(अ) इ का आगमन, जो पालि में अधिकता से होता है।

(१) संयुक्त व्यंजन 'ये' में

ईयंते	इरियति
मर्यादा	मरियादा

(२) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक य हो

कालुष्य	कालुसिय
ज्या	जिया
ह्यः	हिय्यो

(अर्द्धमागधी द्विजों)

(३) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक ल हो

पल्लव	पिलव्वु
-------	---------

(५१)

ह्लाद

हिलाद

(४) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक र् हो

वञ्च

वजिर

(५) सानुनासिक संयुक्त व्यंजनों में,

स्नेह

सिनेह

तृष्णा

तसिष्णा

निम्नलिखित अपवाद भी हैं,

कृष्ण

कषह

नग्न

नग्ग

(आ) अ का आगमन,

प्रायः ऐसे संयुक्त व्यंजनों के मध्य में होता है, जिनके पूर्व और पश्चात्

अ स्वर हो

गर्हा

गरहा

गर्हति

गरहति

(इ) उ का आगमन

प्रायः म् और ष से पूर्व होता है

ऊष्मन्

उसुमा

सूक्ष्म

सुखुम

द्वे

दुवे

छन्द और समास के कारण स्वरों के मात्राकाल में परिवर्तन

(अ) छन्द की आवश्यकता के कारण

(१) कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर का दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'नदति' की जगह गाया में लय को ठीक करने के लिये 'सी हो व नदती बने' में कर दिया गया है। 'सतिमती' से 'सतीमती' 'तुरिय' से 'तूरिय' आदि परिवर्तन भी इसी प्रकार कर दिये जाते हैं।

(२) कहीं-कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे 'भुम्मानि वा यानि व अन्तलिखन्ते'। यहाँ 'व' की जगह 'वा' होना चाहिये वा। किन्तु छन्द की गति के लिये उसे ह्रस्व कर दिया गया है। इसी प्रकार 'पञ्चनीका' से 'पञ्चनिका' जैसे प्रयोग भी छन्द में कर दिये जाते हैं।

(३) सानुनासिक स्वरों को अनुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'दीघ-मदान सोचति' में। यहाँ वैसे 'दीघमदान' होना चाहिये था। इसी प्रकार 'जीवन्तो' से 'जीवतो' जैसे प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

(४) संयुक्त व्यंजनों को सरल बना कर उनमें से केवल एक रख लिया जाता है, जैसे 'दुक्ख' से 'दुख'। यह भी ह्रस्व कर देने के समान ही है।

(आ) समास में होने वाले स्वर-परिवर्तन

(१) समास के प्रथम पद के अन्त में होने पर ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे सखिभाव से सखीभाव; अब्भमत्त से अब्भामत्त; रजपथ से रजापथ। उपसर्ग-युक्त शब्दों में भी यह स्वरों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे सं० प्रवचन से पालि पावचन (अर्द्धमागधी पावयन); प्रकट से पालि पाकट (अर्द्धमागधी पागट)।

(२) जब समास के प्रथम पद में आकारान्त, ईकारान्त या ऊकारान्त शब्द होते हैं, तो इनको ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे दासिगण (दासी + गण); उपा-हनदान (उपाहना + दान)।

कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन

(१) एक ही सं० शब्द 'पुनः' के पालि में दो रूप-परिवर्तन हैं। 'पुन' और 'पन'। किन्तु इन दोनों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं। 'पुन' का अर्थ तो सं० 'पुनः' के समान ही है, किन्तु 'पन' का अर्थ है 'किन्तु' 'प्रत्युत'।

(२) कहीं-कहीं पालि के स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। इस प्रकार पालि का 'गरु' शब्द समानार्थवाची संस्कृत 'गुरु' शब्द से अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार संस्कृत 'अगरु' या 'अगुरु' की अपेक्षा समानार्थवाची पालि शब्द 'अगरु' 'अगलु' अधिक प्राचीन हैं। कहीं-कहीं पालि शब्दों का मूल रूप-संस्कृत में न मिल कर प्राचीन वैदिक भाषा में मिलता है। 'अम्ब' शब्द का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। 'सिम्बल' या 'सिम्बली' (कपास का पेड़) शब्द भी ऐसा है। यह संस्कृत के 'शाल्मली' से नहीं लिया गया, किन्तु वैदिक भाषा के 'सिम्बल' (कपास का फूल) से उद्भूत है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों के मूल रूप भी संस्कृत में न मिल कर वैदिक भाषा में मिलते हैं।^१

१. अधिक उदाहरणों के लिये देखिये, पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज,

स्वर-सन्धि

स्वर-सन्धि के नियमों का विवेचन करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह तो व्याकरण का विषय है। यहाँ हम केवल स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

(१) एक पद के अन्तिम स्वर का दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर के साथ मिलना पालि में अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार 'से अज्ज यदा अयं धम्मलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरंभरे' (गिरतार शिलालेख) जैसे प्रयोग पालि में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जहाँ समान स्वर मिलते हैं तो संस्कृत के समान ही दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं, जैसे बुद्ध + अनुस्सति = बुद्धानुस्सति; सम्मन्ति + इध = सम्मन्तीध; बहु + उपकारं = बहूपकारं; दुग्गता + अहं = दुग्गताहं।

(२) अ अथवा आ से परे इ और उ आने पर क्रमशः ए और ओ होना भी पालि में संस्कृत के समान ही दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन अधिकांश पालि के प्राचीनतम रूप—गाथाओं की भाषा—में दृष्टिगोचर होता है। अब + इच्च = अवैच्च; उप + इतो = उपेतो; मुख + उदकं = मुखोदकं; मच्चुस्स + इव + उदके = मच्चुस्सेवोदके; च + इमे = चेमे।

(३) अ से परे असवर्ण स्वर रहने पर इ का य और उ अथवा ओ से परे असवर्ण स्वर रहने पर उ का व हो जाता है। वि + आकतो = व्याकतो; यो अव = व्याव; सु + आगतं = स्वागतं।

(४) असवर्ण स्वरों के मिलने पर कहीं-कहीं (१) पूर्व स्वर का लोप हो जाता है, (२) पर स्वर का लोप हो जाता है, (३) पर स्वर का दीर्घ हो जाता है, (४) पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।

उदाहरण (१) मस्स + इन्द्रियाणि = मस्सिन्द्रियाणि; मे + अत्थि = मत्थि (२) चत्तारो + इमे = चत्तारो मे; ते + इमे = तेमे (३) सचे + अयं सचायं; (४) देव + इति = देवाति; लोकस्स + इति = लोकस्साति।

(५) अनेक स्वर-सन्धियों में व्यंजनों का आगम होता है, जैसे न + इदं = नपिदं; लघु + एस्सति = लघुमेस्सति; यथा + एव = यथरिव; तथा + एव = तथरिव; गिरि + इव = गिरिमिव; सम्मा + अत्थो = सम्मदत्थो, आदि, आदि।

(६) कभी-कभी अनुस्वार से परे स्वर का लोप हो जाता है, जैसे इदं + अपि = इदपि; दातुं + अपि = दातुपि; अभिनंदुं + इति = अभिनंदुति। इस

प्रकार की सन्धियों के आधार पर मायगर ने अनुमान किया है कि पालि में स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने वाले 'व' (सं० 'इव' के लिये) 'पि' (सं० 'अपि' के लिये) 'ति' (सं० 'इति' के लिये) 'दानि' (सं० 'इदानी' के लिये); पोसथ (उपोसथ, सं० 'उपवसथ' के लिये) आदि शब्द लुप्त सन्धियों के स्मारक स्वरूप हैं।

व्यंजन-परिवर्तन

व्यंजनों का परिवर्तन पालि में प्रधानतः शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार हुआ है। सामान्यतः संस्कृत आदि-व्यंजन पालि में सुरक्षित रहते हैं। मध्य-व्यंजनों का विकास मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषा-युग में तीन अवस्थाओं में हुआ है। पहली अवस्था में अधोष स्पर्श घोष हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में घोष स्पर्श 'य' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में य ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रधानतः प्रथम दो अवस्थाएँ ही पाई जाती हैं। तीसरी अवस्था का विकास प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्य व्यंजन पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही लुप्त कर दिये जाते हैं। व्यंजन-परिवर्तनों का विस्तृत अध्ययन इस प्रकार है।

असंयुक्त व्यंजन

(अ) आदि व्यंजन

(१) सामान्यतः, शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत असंयुक्त व्यंजन (अल्पप्राण क, त, प, ग, द, व आदि और महाप्राण ख, घ, फ, ष, ध, न, आदि) पालि में सुरक्षित रहते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
करोति	करोति (प्राकृत करेदि)
गच्छति	गच्छति (प्राकृत गच्छेदि)
चोरः	चोरो
जनः	जनो
साव्यति	सावेदि
पुत्रः	पुत्तो
दन्तः	दन्तो
बधिरः	बहिरो
खनति	खनति

घटः

घटो

फलं

फले

(२) पाँच सानुनासिक व्यंजनों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) में से संस्कृत में भी केवल न् और म् ही शब्द के आदि में आते हैं, अन्य नहीं। यही नियम पालि में भी है। अतः संस्कृत शब्द के आदि में अवस्थित न् और म् पालि में भी सुरक्षित रहते हैं। प्राकृतों में चल कर इनका परिवर्तन ण् में हो गया है। 'म्' तो वहाँ भी सुरक्षित रहा है।

नाशयति

नासेति (प्रा० शासेइ)

मुखं

मुखं

मन्त्रयति

मन्त्रेति (प्रा० मन्तेदि)

(३) शब्द के आदि में अवस्थित अन्तःस्थ प्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित रहते हैं। र् के विषय में यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि र् काल् में परिवर्तन होना पालि में एक बड़ी साधारण बात है। मागधी प्राकृत का तो यह एक नियम ही है और अन्य प्राकृतों में भी यह नियम कहीं-कहीं पाया जाता है। प् के विषय में भी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि पालि में तो वह सुरक्षित रहता है (कहीं कहीं उसके साथ ही ल् में परिवर्तित स्वरूप भी दिखाई पड़ता है) किन्तु प्राकृतों में चलकर बाद में उसका ज् में परिवर्तन हो गया है। उदाहरण—

रूपानि

रूपानि (लूपानि भी, विशेषतः
अशोक के बोली और जोगड़ के
लेखों में)

रज्यते

लुज्जति

राजा

राज (लाजा, विशेषतः अशोक
के पूर्व के लेखों में)

रौद्र

लूद्र

यावत्

याव (प्राकृत जाव)

यट्ठिका

यट्ठिका (लट्ठिका भी)

वादः

वादो

(४) संस्कृत ऊष्म श्, प्, स् का अन्तर्भाव पालि में केवल 'म्' में हो गया है। अतः पालि में केवल दन्त्य स् है। पच्छिमी प्राकृतों को भी यही विशेषता है। इसके

विपरीत पूर्वी प्राकृतों में केवल एक तालव्य 'श्' रह गया है। अशोक के शिलालेखों में हम इस विकास-परम्परा के सभी रूप देखते हैं। इस प्रकार मगध के शिलालेखों में केवल दन्त्य स् पाया जाता है। गिरनार के शिलालेखों में स् और श् दोनों ही पाये जाते हैं। उत्तर-पच्छिम के शिलालेखों में तीनों ही स्, श् और स् पाये जाते हैं। बोलियों के मिथुन के कारण फिर भी इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में दिखाई पड़ता है।

सार्धवाह	सत्धवाहो
श्रवणीय	सवनीय
देशः	देशो
परश्	फरसु
पुरुष	पुरिस

(५) उपर्युक्त नियम (१) के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) कहीं कहीं शब्द के आदि में पालि में प्राणध्वनि (ह्) का आगमन होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) हो जाते हैं। उदाहरण

कील	खील
कुञ्ज	खुञ्ज
कुस्वः	खत्सु
परश्	फरसु

(आ) कहीं कहीं, किन्तु अपेक्षाकृत कम संख्या में, उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अघोष महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर पालि में उसी वर्ग के अघोष अल्पप्राण व्यंजन भी दिखाई पड़ते हैं।

भालिका	खलिका
भगिनी	बहिनी (बहिणी भी)

(इ) वर्णों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन भी पालि में बहुत पाया जाता है। आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में यह होता है। शब्द के आदि में होने वाले कुछ परिवर्तनों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) कहीं-कहीं कंद्य स्पर्शों की जगह तालव्य स्पर्श हो जाते हैं

कुन्द

चुन्द

(२) कहीं-कहीं दन्त्य स्पर्शों की जगह मूर्धन्य स्पर्श हो जाते हैं

दहति

उहति

दाह

दाह

दसति

इसति

आ—मध्य-व्यंजन

पालि में मध्य-व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का विचार करते समय हम उन प्रवृत्तियों की सूचना पाते हैं, जिन्हें 'प्राकृतत्व' या 'प्राकृतपन' कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि जिन परिवर्तनों का पालि में सूत्रपात ही हुआ है उनका अन्तिम विकास प्राकृतों में चल कर हुआ है। इस विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। प्राकृतों के साथ मिलने वाली पालि की ये विशेषताएँ अनेक बोलियों के संमिश्रण के आधार पर व्याख्यात की जा सकती हैं। ये समानताएँ विशेषतः मध्य-व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में पालि में कहीं-कहीं दृष्टि-गोचर होती हैं, उदाहरणतः—

(१) शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। इस प्रकार क्, च्, ट्, त्, प्, ब् आदि क्रमशः ग, ज, ङ, द, ब, ध आदि हो जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिकृत्य

पटिगच्च (पटिगच्च भी)

शाकल

सागल

माकन्दिक

मागन्दिप

खृच्

सुजा

कक्खट

कक्खळ (निर्दयी)

खेट

खेळ (गाँव)

स्फटिक

फळिक

उत्ताहो

उदाहु

पुषत

पुसद

अपांग

अपंग

कपि

कवि

कपिस्थ

कविष्ठ

गधित

गधित (गधित भी)

इस प्रकार के परिवर्तन अपभ्रंश और कई प्राकृतों में भी पाये जाते हैं।

(२) उपर्युक्त परिवर्तन से एक अधिक विकसित अवस्था वह है जिसमें अघोष स्पर्शों का लोप हो जाता है और वे 'य्' या 'व्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके बाद ही वह अवस्था होती है जिसमें 'य्' या 'व्' व्यंजन का भी बिलकुल लोप हो जाता है। सं० 'सत' शब्द के विकृत या विकसित रूपों में हम इस विकास का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं। पहले इसका पालि में 'सत' होता है, फिर अघोष स्पर्श 'त्' का 'द' होता है और इस प्रकार प्राकृत में 'सद' रूप बनता है। इसका भी आगे विकसित रूप 'सय' बनता है और फिर अन्त में 'सअ' और 'सौ'। अघोष स्पर्शों का लुप्त हो कर 'य्' या 'व्' में परिवर्तित होना प्राकृतों के समान पालि में भी पाया जाता है। अतः वह भी पालि का एक 'प्राकृतपत' है। उदाहरण—

शुक

सुव (सुक भी)

खादित

खायित

स्वादते

सायति (सादिवति भी)

अपरगोदान

अपरगोयान

कुशीनगर

कुसिनअर-कुसिनार

कोशिक

कोसिय

(३) शब्द के मध्य में स्थित घोष महाप्राण व्यंजनों (घ, ध, भ, आदि) का 'ह्' में परिवर्तित हो जाना प्राकृतों की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति पालि में भी यत्र-तत्र पाई जाती है।

लघु

लहु

रुधिर

रुहिर (रुधिर भी)

साधु

साहु (अधितकर तो साधु ही)

इसके विपरीत कहीं-कहीं पालि वैदिक भाषा के घोष महाप्राण व्यंजनों को सुरक्षित रखती है जब कि संस्कृत में उनके स्थान में 'ह्' हो जाता है। इसका उदाहरण पालि 'इध' (यहाँ) शब्द है। अवेस्ता (जिसमें भी इसका रूप 'इध' होता है) के आधार पर हम जान सकते हैं कि इसका वैदिक स्वरूप 'इध' ही था। किन्तु संस्कृत में यह 'इह' हो गया है।

(४) शब्द के आदि में अवस्थित व्यंजनों में प्राण-ध्वनि के आगम और लोप न का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में भी यह परिवर्तन होता है, अर्थात् मध्य में स्थित संस्कृत अधोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अधोष महाप्राण व्यंजन हो जाते हैं—

शूनक (कुत्ता)

सुनख (प्रा० सुनह)

सुकुमार

सुखुमाल

इसी प्रकार कहीं-कहीं, किन्तु जादि स्थित व्यंजनों की तरह ही बहुत कम, प्राण-ध्वनि का लोप भी हो जाता है—

कफोणि

कपोणि

(५) कहीं कहीं नियम (१) के विपरीत सं० घोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के अधोष स्पर्श हो जाते हैं। ये परिवर्तन बोलियों की विभिन्नताओं के कारण हुए हैं।

अगुरु

अकल

छगल

छकल

परिघ

पलिख (पलिघ भी)

कुसीद

कुसीत

मुदंग

मुतिङ्ग

उपधेय (तकिया)

उपधेय्य

पिधीयते (ढाँका जाता है)

पिधीयति

शावक (जानवर का बच्चा)

चापक

प्रावरण

पापुरण

(६) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन। यह परिवर्तन मध्य-स्थित व्यंजनों में आदि-स्थित व्यंजनों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन सं० दन्त्य व्यंजनों का पालि में मृद्वन्धीकरण है। सं० दन्त्य व्यंजन त्, थ्, द्, ध्, न् पालि में क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् हो जाते हैं। यह नियम सामान्यतः आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों के लिये ठीक है।

पतंग

पटंग

हत

हट

व्यापृत	व्यावट
प्रतिमा	पटिमा
प्रथम	पठम
पृथिवी	पठवी (पथवी भी)
दाह	डाह
द्वेष (सन्देश)	द्वेल्हक
सकुन	सकुण

(७) पालि में मध्य-स्थित व्यंजनों के अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(अ) कहीं-कहीं सं० तालव्य स्पर्शों के स्थान पर पालि में दन्त्य स्पर्श होते हैं।

चिकित्सति	तिक्किञ्छति
जाञ्जल्यते	दहल्लति

(आ) कहीं-कहीं मूर्द्धन्य के स्थान पर दन्त्य होते हैं—

डिडिम	देण्डिम (दिण्डिम भी)
-------	----------------------

(इ) कहीं-कहीं द् के स्थान पर र होता है—

एकादस	एकारस (एकादस भी)
ईदुण	ऐरिस (एदिस भी)
ईदुक्षा	एरिक्खा (एदिक्खा भी)

(ई) कहीं-कहीं न् के स्थान पर ल् या र होता है—

एनः (अपराध)	एल
नेरंजना	नेरंजरा

(उ) कहीं-कहीं ण् के स्थान पर ल् होता है—

वेणु	वेळु
मणाल	मुळाल

(ऊ) र् के स्थान पर ल् अधिकतर होता है। आदि-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। मध्य-स्थित र के ल् में परिवर्तन के कुछ उदाहरण ये हैं—

एरंड	एळंद
तरण	तलुण (तरण भी)

परिष्वजते

पलिस्सजति

परिखनति

पलिखनति

पालि में यह परिवर्तन यद्यपि अधिकतर पाया जाता है, किन्तु नियमतः यह मागधी प्राकृत की ही विशेषता है। कुछ अन्य प्राकृतों में भी इसके स्फुट उदाहरण मिलते हैं।

(ए) कहीं-कहीं सं० ल् के स्थान पर पालि में र् पाया जाता है।

अलिजर

अरंजर

आलम्बन

आरम्भण

इसके अपवाद-स्वरूप कहीं कहीं ल् के स्थान पर न् भी पाया जाता है—

देहली

देहनी

आदि में भी इसी प्रकार

लांगल (हल)

नंगल

(ऐ) सं० य् के स्थान पर पालि व्—

आयुध

आवुध

आयुष्मान्

आवुसो

कषाय

कसाव

(ओ) सं० व् के स्थान पर पालि व्—

दाव

दाय (दाव भी)

(औ) सं० व् के स्थान पर पालि म् और सं० म् के स्थान पर पालि व्—

द्विच

दमिळ

मीमांसते

मीमंसति

कुछ अनियमित प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—

पिपीलिका

किपिल्लिका

(८) वर्ण-विपर्यय। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में पारस्परिक एक दूसरे की जगह ग्रहण कर लेना भी प्रायः देखा जाता है। यह विपर्यय अधिकतर 'र्' व्यंजन में होता है।

आरालिक

आलारिक

करेणु

कणेह

रुद

रुहद

प्रावरण

पारुण (पापुरण भी)

किन्तु अन्य व्यंजनों में भी,

मशक

मकस

संयुक्त-व्यंजन

(अ) आदि संयुक्त-व्यंजन

संस्कृत में भी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग प्रायः सीमित होता है। प्रायः दो ही प्रकार के संयुक्त व्यंजन संस्कृत में शब्द के आदि में पाये जाते हैं, (१) व्यंजन + अन्तःस्थ (घ, ङ, ल, व); (२) व्यंजन + ऊष्म (श, ष, स)। व्यंजन + अन्तःस्थ में अन्तःस्थ कभी पहले न आकर व्यंजन ही पहले आते हैं। इस प्रकार शब्द के आदि में कृ, त्व, प्र, म् जैसे संयुक्त व्यंजन ही हो सकते हैं, त्व्, र्व् जैसे नहीं। अन्तःस्थ + ऊष्म में ऊष्म पहले भी आ सकते हैं, जैसे स्त्, द्त् आदि में और पीछे भी जैसे ध् (क् + श्) में

(१) व्यंजन + अन्तःस्थ—इस अवस्था में व्यंजन के बाद की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन का ही रूप धारण कर लेती है—

प्रशान्त

पसन्ती

प्रजा

पञ्चा

ग्राम

ग्राम

कहीं-कहीं स्वर-भक्ति के कारण बीच में स्वर आने के कारण संयुक्त व्यंजन केवल असंयुक्त कर दिये जाते हैं—

क्लेश

क्लेशो

क्लान्त

क्लान्तो

कहीं-कहीं, जब व्यंजन + ल् का संयोग होता है, तो य् का पूर्ववर्ती व्यंजन तालव्य हो जाता है—

त्यजति

चजति

(२) ऊष्म + व्यंजन—इस अवस्था में ऊष्म का लोप हो जाता है और वह परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेता है तथा वह व्यंजन, यदि वह अल्प प्राण होता है, तो महाप्राण हो जाता है।

स्कम्भः

सम्भो

स्तूपः

थूपो

स्वापयति

ठापेति

स्थितः

ठितो

- (३) शब्द के आदि में क्ष होने पर पालि में उसका क्स् या च्स् हो जाता है।
मध्य-स्थिति में भी यही परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों के ही उदा-
हरण दे देने ठीक होंगे—

क्षुधा

क्षुधा

दक्षिणा

दक्खिणा

मक्षिका

मक्खिका

क्षारिका

छारिका

कक्ष

कच्छ

तक्षति

तच्छति

अक्षि

अक्खि (अच्छि भी)

कहीं कहीं 'क्ष' का परिवर्तित रूप 'ग्' या 'ज्' भी होता है।
गायनर का मत है कि इस दशा में संस्कृत अक्षर क्ष एक विशेष
भारत-यूरोपियन ध्वनि का विकसित रूप है—

प्रक्षरति

पग्घरति

क्षाम

भाम

(आ) मध्य-संयुक्त-व्यंजन

मध्य-संयुक्त-व्यंजनों के परिवर्तन में पालि में व्यंजन-अनुरूपता, व्यंजन-विपर्यय,
व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन, प्राणध्वनि का आगमन और लोप,
आदि सभी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। विशेषतः व्यंजन-अनुरूपता और व्यंजन-
विपर्यय अधिक पाये जाते हैं। नीचे के विवरण से यह स्पष्ट होगा।

(१) व्यंजन-अनुरूपता

(अ) पूर्ववर्ती व्यंजन का लुप्त होकर परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श + स्पर्श में, यथा

उक्त

उत्त

सप्त

सत्त

शब्द

सद्

उत्पद्यते

उत्पज्जति

मुद्युग (भृग)

मुग्ग

(२) ऊष्म + स्पर्श में, यथा

आश्चर्य

अच्छेर

निष्क

निक्खत्त, नेक्ख

यहाँ पर साथ-साथ प्राण-ध्वनि का आगमन भी हो गया है।

(३) अन्तःस्व + स्पर्श, या ऊष्म, या अनुनासिक व्यंजन में, यथा

कफं

कक्का

किस्विष

किक्खिस

बल्क

ब्राक्क

कर्षक

कस्सक

कल्माष

कम्मास

(४) अनुनासिक + अनुनासिक में, यथा

निम्न

निन्न

उन्मूलयति

उम्मूलेति

(५) र + ल, या र्, या र्, या र्, यथा

दुलंभ

दुल्लभ

आर्ष

अर्य्य (अरिय भी)

उदीर्यते

उदिर्य्यति

निर्याति

निर्य्याति

कुर्वन्ति

कुर्वन्ति

(जा) परवर्ती व्यंजन का लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श + अनुनासिक में, यथा

लग्न

लग्ग

अग्निः

अग्गि

उद्विग्न

उद्विग्ग

स्वप्न

सोप्प

(२) स्पर्श + र् वाल् में, यथा

तक

तक

सुकल

सुकल

(३) स्पर्श + अन्तःस्व में, यथा

शक्त

सक्त

उच्यते

वुच्यति

प्रज्वलति

पज्वलति

(४) ऊष्म + अन्तःस्व में, यथा

मिश्र

मिस्स

अवश्यम्

अवस्स

अश्व

अस्स

श्लेष्मन्

सेम्ह

(५) अनुनासिक + अन्तःस्व में, यथा

किण्व

किष्ण

रम्भ

रम्म

कल्प (सम्भव)

कल्ल

विल्व

विल्ल

(६) व्य्, वृ जैसे संयुक्त व्यंजनों में, जो व्य् हो जाते हैं

परिख्याय

परिख्यय

तीव्र

तिव्व

(७) व्यंजन-विपर्यय

(१) ह् + अनुनासिक, या 'वृ', या 'वृ'—इस व्यंजन-संयोग में विपर्यय होता है, अर्थात् 'हृण्', 'हृन्', 'हृम्', 'हृप्', 'हृव्', इन संयुक्त व्यंजनों के क्रमशः 'णह्', 'नह्', 'मह्', 'पह्', 'तह्' रूप हो जाते हैं—

पुर्बाहृण

पुव्वण्ह

अपराहृण

अपरण्ह

जिह्वा

जिम्ह

मह्य

मण्ह

मह्य

मण्ह

चिह्न

चिह्न

चिह्वा

चिह्वा

मह्य—मह्य के सादृश्य के आधार पर तुभ्य का भी पालि प्रतिरूप तुम्ह हो गया है।

(२) ऊष्म + अनुनासिक—इस संयोग-दशा में भी व्यंजन-विपर्यय होता है। पहले ऊष्म का ह् में परिवर्तन होता है और फिर दोनों का विपर्यय। इस प्रकार 'शन्', 'धम्', 'पण्', 'धम्', 'सन्', 'सम्' क्रमशः 'ज्ह', 'म्ह', 'ण्ह', 'म्ह', 'न्ह', 'म्ह' हो जाते हैं—

प्रश्न

पण्ह (अर्द्धमागधी पण्ह)

अश्मना (पत्थर के द्वारा)

अम्हना

उष्णा (गर्मी)

उण्हा

कृष्ण

कण्ह

तृष्णा

तण्हा

ग्रीष्म

गिम्ह

मुस्तात

मुन्हात

विस्मय

विम्हय

(३) 'धण्', 'धम्', 'त्सन्'—इन संयुक्त व्यंजनों के स्वरूप विपर्यय के कारण क्रमशः 'ण्ह', 'म्ह', 'न्ह', हो जाते हैं। इस विकास का क्रम यह है कि पहले 'धण्', 'धम्', 'त्सन्' के क्रमशः रूप 'धण्', 'धम्', 'सन्' होते हैं और फिर इनका विपर्यय हो कर उपर्युक्त नियम (२) के अनुसार इनके क्रमशः 'ण्ह', 'म्ह', 'न्ह' रूप बनते हैं—

मलक्ष्य (सुन्दर, कोमल)

मण्ह

पक्ष्म (पलक)

पम्ह

ज्योत्स्ना

जुण्हा (पहले 'जुन्हा' रूप बना और फिर न् का मूर्द्धन्य होकर 'जुण्हा' हो गया)

(२) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन—

(१) दन्त्य स्पर्ज + म्—इस संयोग-दशा में दन्त्य स्पर्जों का तालव्यीकरण हो जाता है—

सत्य	सच्च
छिद्यते	छिज्यति
जाल्या	जच्चा

‘ण्य’ संयुक्त व्यंजनों में भी

कर्मण्य	कम्मञ्ज
---------	---------

(२) संस्कृत तालव्य संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर पालि में कहीं कहीं कण्ठ्य संयुक्त व्यंजन हो जाते हैं, कहीं कहीं मूर्धन्य संयुक्त व्यंजन और कहीं कहीं दन्त्य संयुक्त व्यंजन ।

(अ) तालव्य के स्थान पर कण्ठ्य	
भैषज्य	भिसक्क (भेसज्ज भी)

(आ) तालव्य के स्थान पर मूर्धन्य	
आज्ञा	आणा

(इ) तालव्य के स्थान पर दन्त्य	
उच्छिद्य	उत्तिट्ठ

(३) मध्यस्थित दन्त्य संयुक्त व्यंजनों का मूर्धन्यीकरण । यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है । इस परिवर्तन के कारण ‘त्’ ‘ध्’ ‘द्व’ ‘ध्व’ क्रमशः ‘ट्’ ‘ट्ठ’ ‘ट्ठ’ ‘ट्ठ’ हो जाते हैं—

आर्त	अट्ठ
कैवर्त	केवट्ठ
वर्धते	वट्ठति
प्रस्थाप	पट्ठाप
कूटस्थ	कूटट्ठ

(४) प्राण-ध्वनि का आगमन और लोप—

आगमन, यथा

सूक्ष्माटक (चौराहा)	सिपाटक
पिप्पल	पिप्पल

लोप, यथा

लोघ्र	लोह
मूच्छति	मूच्चति

अन्त्य-व्यंजन

संस्कृत के अन्त्य-व्यंजन पालि में लुप्त हो जाते हैं—

भगवान्

भगवा

सम्भक्

सम्भा

विद्युत्

विज्ज्

पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार

पालि के ध्वनि-समूह की अपेक्षा उसका रूप-विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि रूप-विधान की एक मुख्य विशेषता है। पहले कहा जा चुका है कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से संस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण का जन्म वैदिक भाषा की विभिन्नताओं को एकरूपता देने के लिये हुआ। अतः संस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिये गये, जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे। पालि चूँकि लोक-भाषा थी, उसमें ये प्रयोग चले आये हैं। यह पालि के रूप-विचार की एक मुख्य विशेषता है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

पहले मिथ्या-सादृश्य के आधार पर रूपों के सरलीकरण की लें। पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम हैं, यह हम पहले निर्देश कर ही चुके हैं। संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता है, एक-वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। पालि में केवल दो वचन हैं। एक-वचन और अनेक वचन। वहाँ द्वि-वचन नहीं है। उसका भी काम वहाँ अनेक-वचन से ही निकाल लिया जाता है। यद्यपि कहने को पालि में भी सात विभक्तिवाँ हैं, किन्तु उनके रूपों में बड़ी सरलता है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में प्रायः कोई भेद नहीं होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते हैं। पालि में व्यंजनान्त पदों का प्रयोग भी नहीं होता। वहाँ सभी पद स्वरान्त हैं। संस्कृत के व्यंजनान्त पद भी पालि में स्वरान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार संज्ञा और सर्वनाम के रूपों में यही सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात ठीक है। संस्कृत के समान यद्यपि पालि में भी परस्मैपद (परस्मैपद) और आत्मनेपद, (अत्मनेपद) ये दो पद हैं, किन्तु व्यवहार में आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित् ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगों में भी जहाँ संस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक

रूप से होना चाहिये, पालि में उसका प्रयोग प्रायः विकल्प से ही होता है। संस्कृत के दस गण पालि में केवल सात रह गये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार हैं। लिट् लकार का प्रयोग पालि में नहीं के बराबर होता है। लङ् और लृङ् वहाँ भूतकाल द्योतित करने के लिये हैं, किन्तु इनमें भी प्रायः लुङ् का ही प्रयोग पालि में अधिकता से होता है। इस प्रकार संस्कृत की अपेक्षा सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि में अधिकता से पाई जाती है।

वैदिक भाषा से प्राप्त रूपों की अनेकता पालि में सुरक्षित है, जब कि संस्कृत ने उसे व्यवस्थित कर उसमें एकरूपता ला दी है। वेद की भाषा में पुल्लिङ्ग अकारात् शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असृक्' प्रत्यय भी लगता था। इस प्रकार 'देव' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। संस्कृत ने इस रूप को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु पालि में 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे प्रयोगों में वह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'देवेभिः' है। पालि में यह 'देवेभि' के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत ने इस रूप को भी ग्रहण नहीं किया है। वैदिक भाषा में प्रायः चतुर्थी विभक्ति के लिये षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिये चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत ने इसे निश्चित नियम में बाँध कर रोक दिया है। किन्तु पालि में यह व्यत्यय 'ब्राह्मणस्स धनं ददाति' 'ब्राह्मणस्स सिस्सो' जैसे प्रयोगों में मिलता है। निश्चयतः पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप ही प्रायः समान होते हैं। वैदिक भाषा में 'मो' और 'पति' शब्दों के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एक वचन के रूप क्रमशः 'मोनाम्' और 'पतिना' होते थे। पालि में ये क्रमशः 'मोने' या 'मुने' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग की जगह बहुधा पुल्लिङ्ग का भी प्रयोग होता था। संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। किन्तु पालि में बहुधा ऐसा हो जाता है। उदाहरणतः 'फल' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलाणि' दोनों ही रूप होवे हैं। यही प्रवृत्ति क्रिया-रूपों में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद उतना स्पष्ट नहीं था। वहाँ 'इच्छति' 'इच्छते' 'युध्यति' 'युध्यते' जैसे दोनों प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति समान रूप से ही दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान कर दिया गया है। 'श्रु' धातु का वैदिक भाषा में अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का एकवचन का रूप 'श्रूषी' और अनुज्ञा-काल

का मध्यम-पुरुष का बहुवचन का रूप 'शृणोत' होता था। पालि में ये क्रमशः 'सुणुहि' और 'सुणोथ' के रूपों में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का लुङ् लकार का उत्तम-पुरुष का एकवचन का रूप 'वधी' होता था। संस्कृत ने इसे भी स्वीकार नहीं किया है। किन्तु पालि में यह 'वधि' के रूप में सुरक्षित है। कृदन्त के प्रयोग में भी संस्कृत और पालि में उपर्युक्त प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद में निमित्तायक १४ प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेन, कसे, कसेन, अघ्ये, अघ्येन, कघ्ये, कघ्येन, शघ्ये, शघ्येन, तवेन, तु। संस्कृत ने इनमें से केवल 'तु' प्रत्यय को ले लिया है। पालि ने उसके साथ साथ 'तवेन' प्रत्यय को भी ले लिया है। वैदिक 'दातवे' या 'दातवै' पालि के 'दातवे' में पूरी तरह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'कातवे' 'विष्णहातवे' 'निधातवे' जैसे प्रयोग भी पालि में दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। 'त्यप्' के स्थान पर वेद में 'त्वा' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'परिधापयित्वा'। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह रूप अशुद्ध है। वहाँ उपसर्ग-पूर्वक धातु में अनिवार्यतः 'त्यप्' होता है; किन्तु पालि में वैदिक भाषा की तरह 'त्वा' देखा जाता है यथा अभिवदित्वा, निस्साय आदि। वेद की भाषा में पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय' 'त्वीन' आदि प्रत्येक लगा कर 'गत्वाय' 'इष्ट्वीन' जैसे शब्द बनते थे। पालि में 'गत्वान' 'कातून' जैसे प्रयोगों में ये सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत में नहीं मिलते। वेद की भाषा में विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के अनेक व्यत्यय पाये जाते हैं। पालि में भी ये सब पाये जाते हैं। 'एकस्मिं समयस्मिं' के लिये 'एकं समयं' (विभक्ति-व्यत्यय) 'अन्ति इमस्मिं काये केसा लोमा नखा' के लिये 'अन्ति इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, (वचन-व्यत्यय); 'बुद्धेभि' के लिये 'बुद्धेहि', 'दुक्कट' के लिये 'दुक्कत' (वर्ण-व्यत्यय) 'अनेक जाति-संसारं सन्धाविस्स' (भूतकाल के अर्थ में भविष्यत् काल-काल-व्यत्यय) जैसे व्यत्यय पालि में वैध हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें ग्रहण नहीं किया है।^१ इस प्रकार संस्कृत भाषा की अपेक्षा पालि ही वैदिक भाषा की अधिक सच्ची उत्तराधिकारिणी ठहरती है।

१. विषय की अधिक सुगमता के लिये देखिये भिन्न जगदीश काश्यप-कृत 'पालि-महाव्याकरण' पुष्प तेईस-उन्तीस (वस्तुकथा) पर दो हुई तालिकाएँ।

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विचार का जो निर्देश किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान हैं। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता है। फिर भी पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वोपर रूपों को समझ सकते हैं और उनकी संगति लगा सकते हैं। पालि-भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं, (१) त्रिपिटक में आने वाली भाषाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की सी ही अनेकरूपता इसमें मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कहीं कहीं तो इस भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती हैं और कहीं कहीं पालि का अपना विशेष रूप-विधान भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ 'पितृ' और 'रब्ब्या' जैसे शब्द प्राचीन आर्य भाषा से पालि में आ गये हैं, किन्तु इन्हीं से क्रमशः 'पितुस्स' और 'राजिनी' जैसे रूप पालि ने स्वयं बना लिये हैं। इस प्रकार यह भाषा बुद्ध-कालीन मध्य-देश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। मुत्त-निपात की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (२) त्रिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। भाषाओं की भाषा की अपेक्षा इसमें एकरूपता अधिक है। भाषाओं की भाषा की अपेक्षा प्राचीन रूपों की कमी और नये रूपों की अभिवृद्धि इसका एक प्रधान लक्षण है। 'जातक' की भाषा इसका उदाहरण है। (३) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमें मिलिन्द-प्रश्न और अर्यकथा-साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार त्रिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमें आलंकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पाई जाती है। विशेषतः मिलिन्द-प्रश्न और बद्धघोष की अर्यकथाओं में हमें एक विकसित और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते हैं। (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा। यह भाषा बिल्कुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखकों ने अपनी अपनी रचि के अनुसार कहीं तो प्राचीन रूपों का ही अनुकरण किया है या कहीं कहीं अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपों को स्वीकार किया है। इस भाषा में एक जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी

इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। महावंस, दीपवंस, वाठा-वंस, तेलकटाहगाथा जैसे ग्रन्थों में इस भाषा के स्वरूप के दर्शन होते हैं।

पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अंशों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी, ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो पाया। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन जार्य-भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, हमारा अभी अध्ययन ही अधूरा पड़ा है। अपनी भाषा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिये हमें पालि भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिन्धु, ब्रह्म-देश और स्वाम देश की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिये अध्ययन का इससे अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूँढ़े और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि-साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानतः तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्ययन कर हम उस विशाल जन-समुदाय से नाता जोड़ते हैं, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नवयुग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दें तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य के अध्ययन का प्रभूत महत्त्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोदम लोला किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। चाक्यसिंह ने जिन गुणों में निनाद किया है, वे साधारण नहीं हैं। यदि मनुष्यता-धर्म से ही अन्त में संसार

-
१. डा० धीरेन्द्र वर्मा १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में लिखते हैं "हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक ही जाता है..... अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास भी अभी ठीक नहीं दिया जा सकता।" पृष्ठ १४२

को मुक्ति मिलनी है, तो तत्वागत के संदेश का व्यापक प्रचार होना ही चाहिये। इतिहास की दृष्टि से भी पालि-साहित्य का प्रभूत महत्व है। जो सांस्कृतिक निधि हमारी इस साहित्य में निहित है, उसका अभी महत्वाङ्कन ही नहीं किया गया। भारतीय इतिहास के काल-क्रम के निरूपण करने में भी सब से अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की जो असूख सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उसके सम्पर्क अध्ययन से हम बौद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्त्व है। हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालाँती में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरूप से बहुत दूर है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्धदर्शन को समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ ही रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभाव-शीलता के लिये विश्व में अद्वितीय है, उदासीनता का कारण है। पालि-साहित्य के प्रकाश में हम देख सकते हैं कि भगवान् गौतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सिखाया था। पालि-साहित्य का सब से बड़ा महत्त्व वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक स्थानों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रूप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सृष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के विषय में हम काफी कह ही चुके हैं। यहाँ अन्तिम प्रेरणा के विषय में यही कहना है कि पालि-साहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि वह अभी हिन्दी-साहित्य में अनेक विधायाक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आधार दे सकती है। अभी हमने 'बुद्धचरित' 'सिद्धार्थ', 'पञ्चधरा' और 'प्रसाद' के कतिपय नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में विशाल पालि-साहित्य से प्रेरणा ही क्या ग्रहण की है? निश्चय ही प्रत्येक विधा में उपयोग के लिये यहाँ एक कभी समाप्त न होने वाली सामग्री भरी पड़ी है। यदि पालि की समुचित आराधना की जाय तो निश्चय ही वह बहुफलसाधिका हो सकती है।

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम

पालि साहित्य का उद्भव और विकास

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से संसार ने सब से पहले मनुष्यता सीखी; जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्व प्रथम आलोक पड़ा, उसी से पालि साहित्य का भी उदय हुआ। तत्प्रागत की सम्यक् सम्बोधि ही पालि-साहित्य का आधार है। जिस दिन भगवान् ने ब्रह्मत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसीके बीच उन्होंने जो कुछ, जहाँ कहीं, जिस किसी से कहा, उसी के संग्रह का प्रयत्न पालि-त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक का अर्थ है तीन-पिटक या तीन-पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में ब्रह्म-वचन संगृहीत किये गये हैं, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त हैं। उपर्युक्त तीन पिटकों या पिटारियों के नाम हैं, सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। भगवान् ब्रह्म ने जो कुछ अपने जीवन-काल में कहा या सोचा, वह सभी त्रिपिटक में संगृहीत है, ऐसा दावा त्रिपिटक का नहीं है। कौन जानता है कि भगवान् के अन्तर्मेन के कुछ उद्गार केवल उल्लेख की पहाड़ियों ने ही सुने, नैरंजरा की शान्त धारा ने ही धारण किये ! फिर सहस्रों ने जो कुछ सुना, उन सब ने ही आ आकर त्रिपिटक में उसे संगृहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। अतः ऐतिहासिक रूप से ब्रह्म के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे भी वचन हो सकते हैं, जो त्रिपिटक में हमें नहीं मिलते और जिन्हें अन्यत्र हम कहीं पा भी नहीं सकते। इसी प्रकार त्रिपिटक में जो कुछ सुरक्षित है, वह सभी बिना किसी अपवाद के ब्रह्म-वचन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। 'विभज्यवादी' (विभाग कर वतलाने वाला, ब्रह्म) को समझने के लिये हमें सब प्रकार 'विभज्यवादी' ही होना पड़ेगा। हाँ, यह आश्वासन अवश्य प्राप्त है कि पालि त्रिपिटक में विश्वस्ततम रूप से ब्रह्म-वचन अपने मौलिक रूप में सुरक्षित हैं, जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौलिक थे। सद्यपि लेखन-कला का आविष्कार भारत में बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था, फिर भी बुद्ध-उपदेश भगवान् बुद्ध के समय में ही लेख्यबद्ध कर लिये गये हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्य उन्हें स्मृति में ही रखने का प्रयत्न करते थे। इस बात के अनेक प्रमाण स्वयं त्रिपिटक में ही मिलते हैं। उदाहरणतः, एक बार दूर से आये हुए गौण नामक भिक्षु को जब भगवान् पूछते हैं "क्यों भिक्षु! तुम ने धर्म को कैसे समझा है?" तो इसके उत्तर में वह सोलह अष्टक वर्गों को पुरा पुरा स्वर के साथ पढ़ देता है। भगवान् अनुमोदन करते हुए कहते हैं "माधु भिक्षु! सोलह अष्टक वर्गों को तुम ने अच्छी प्रकार याद कर लिया है, अच्छी प्रकार धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का प्रकार बड़ा अच्छा है, खुला है, निर्दोष है, अर्थ को साफ साफ दिखा देने वाला है"।^१ इसी प्रकार बुद्ध-वचनों को अधिक विस्तृत रूप से धारण करने वाले भी अनेक बहुश्रुत, स्मृतिमान् भिक्षु थे। उनमें से अनेक धर्म-धर, सुत्त-नित्तक (धर्म या सुत्त-पिटक को धारण करने वाले) थे, अनेक विनय-धर (विनय-पिटक या विनय-सम्बन्धी उपदेशों को धारण करने वाले) थे, अनेक मात्रिका-धर (मात्रिकाओं—उपदेश-सम्बन्धी अनुक्रमणियों, जिनसे बाद में अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ, को धारण करने वाले) थे।^२ इनके विषय में त्रिपिटक में अनेक बार प्रशंसापूर्वक कहा गया है—बहुस्मृता आगतागमा धम्मधरा विनयधरा मात्रिकाधरा।^३ बाद के 'पंचनेकायिका' 'भाणक' 'सुत्तनित्तक', 'पेटकी' जैसे शब्द भी इसी पूर्व परम्परा को प्रकट करते हैं। अंगुत्तर-निकाय के 'एतदमावग' में हम भगवान् बुद्ध के उन प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणी एवं उपासक उपासिकाओं को एक लम्बी सूची देखते हैं, जिन्होंने साधना की विशिष्ट शाखाओं में दक्षता प्राप्त करने के अतिरिक्त भगवान् के वचनों को स्मरण करने में भी विशेषता प्राप्त कर ली

१. उवात, पृष्ठ ७९ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ, धर्म, विनय और मात्रिकाओं को धारण करने वाले विद्वान् भिक्षु। विनय-पिटक के महावग्ग २: १०, और चुल्लवग्ग १: १२ में; दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त (तृतीय भागवार) में; अंगुत्तर-निकाय (विसुद्धिमग्ग ४: १९ में उद्धृत) में; तथा त्रिपिटक के अग्य अनेक स्थानों में।

थी ^१। इन्हीं त्रीं साधकों के प्रति हम आज बुद्ध-वचनों के दायार के लिये ऋणी हैं।

शास्ता के समीप रहते भिक्षुओं को ज्ञान और दर्शन का बड़ा सहारा था। किन्तु उनके अनुपाधि-शेष-निर्वाण वातु में प्रवेश कर जाने के बाद उन्हें चारों ओर अन्धकार ही दिखाई देने लगा। यह ठीक है कि बुद्ध के समान ही उन्हें धम्म का सहारा था। किन्तु साधारण जनता बहिर्मुखी थी। अन्तरात्मा की अपेक्षा वह बाहर ही अधिक देखती थी। फिर जिस 'धम्म' की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था, उसका भी अस्तित्व अन्ततः उनके वचनों पर निर्भर था। उससे मात्र उन भिक्षुओं और अर्हतों का गुजारा हो सकता था, जिनको स्वयं शास्ता से सुनने का अवसर मिला था। किन्तु बाद की जनताओं के लिये क्या होगा? जो भिक्षु भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में अपना अधिकतर समय और ध्यान बुद्ध-वचनों के स्मरण और संवह करने के बजाय उनके व्यावहारिक अभ्यास में ही लगाते थे, उन्हें भी अब यह चिन्ता होने लगी कि हमारे बाद इस धाती को कौन सँभालेगा, इस प्रकार के दीपक को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कौन पहुँचायेगा? उनका इस प्रकार चिन्तित होना भावुकता पर भी आधारित नहीं था। स्वयं भिक्षु-संघ में इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनसे संयमी भिक्षुओं को दुःख होना स्वाभाविक था। अभी भगवान् के परिनिर्वाण को मात्र दिन भी नहीं हुए थे कि सुभद्र नामक बड़ा भिक्षु ^२ कहता हुआ सुना गया था, "बस आयुष्मानो! मत शोक करो! मत विलाप करो! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये। वह हमें सदा ही यह कह कर कह पीड़ित किया करता था 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है'। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, सो नहीं करेंगे।"^३ सुभद्र जैसे अवीतराग अनेक भिक्षु भी उस समय संघ में हो सकते थे।

१. देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६९-७२

२. यह भिक्षु इसी नाम के उस भिक्षु से भिन्न था, जिसने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय प्रवज्जा प्राप्त की थी और इस प्रकार जो उसका अन्तिम शिष्य था।

३. अलं आयुसो ! मा सोचित्थ ! मा परिदेवित्थ ! सुमुत्ता मयं तेन महा-समणेन । उपहृता च होम । इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति । इदानीं पुन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम । यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम । महापरिनिब्बान-सुत्त (दीघ २।३); विनय-पिटक-बुल्ल-वग्ग, पंचसतिक खण्डक।

इस मौल को धो डालने के लिये और शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंयम को देखकर आर्य महाकाश्यप की मानसिक क्लेशों के दर्शन हम उनके इन शब्दों में करते हैं, “आयुष्मानो ! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो ! हम धम्म और विनय का संगायन करें”। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक सभा की गई। यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः श्रावण मास में हुई^१। आषाढ़ का मास तैयारी में लगा। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए, अतः बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा ‘पंचशतिका’ नाम से भी विख्यात है। सभासदों में एक आनन्द भी थे। सभापतित्व का कार्य महाकाश्यप को सौंपा गया। सभा की कार्यवाही में, जैसा स्पष्ट है, बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह ही मुख्य था। सभापति महाकाश्यप ने उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों का दूसरे भिक्षुओं ने संगायन किया। उदाहरणतः महाकाश्यप ने उपालि से पूछा—“आबुस उपालि ! प्रथम पाराजिक का उपदेश कहाँ दिया गया ?” “भन्ते ! वैशाखी में” “किस व्यक्ति के प्रसंग में ?” “कलन्द के पुत्र सुदिश्व के प्रसंग में” “किस बात को लेकर ?” “मैथुन को लेकर”। इसी प्रकार आनन्द से बुद्ध-उपदेशों (सुत्तों) के विषय में प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने उत्तर दिये। इस प्रकार निश्चित धम्म और विनय का सारी सभा ने समापन किया, महाकाश्यप के प्रस्ताव पर—धम्मञ्च विनयञ्च संगाये-प्पाम।

उपर्युक्त सभा का ऐतिहासिक आधार और महत्व क्या है, और उसमें जिस ‘धम्म’ और ‘विनय’ का स्वरूप निश्चित किया गया, उसका हमारे आज प्राप्त

१. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिवाहिपति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिवाहिपति। हन्द मये आबुत्तो धम्मं च विनयं च संगायाम। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।
२. वेस्सिये महावंश (भवन्त आनन्द कौसल्यापन का अनुवाद) पृष्ठ ११ (परिचय)

सुत और विनय पिटक से तथा सम्बन्ध है, ये प्रश्न पालि साहित्य के विचार्यों के लिये बड़े महत्व के हैं। राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन, जिसमें धम्म और विनय का संगायन किया गया, इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है (१) विनय-पिटक-चुल्लवग्ग (२) दीपवंस (३) महावंस (४) बुद्धोपदेश समन्तापासादिका (विनय-पिटक की अर्थकथा) की निदान-कथा (५) महाबोधिवंस (६) महावस्तु (७) तिच्चरी बुल्लव। इन सभी ग्रन्थों में छोटी-मोटी अनेक विभिन्नताएँ हैं। उदाहरणतः सभा के बुलाने के उद्देश्यों में ही कोई किसी बात पर जोर देता है और कोई किसी बात पर। 'चुल्लवग्ग' में सुभद्र वाले प्रकरण को ही प्रधानता देकर उसे सभा बुलाने का कारण दिखलाया गया है, जब कि 'दीपवंस' में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। 'महावंस' में कुछ अन्य साधारण कारण भी दिये हुए हैं। हम आसानी से देख सकते हैं कि ये-ये कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार सभा में भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। ऐसा होना भी बहुत सम्भव है। हम आसानी से इतना निश्चित तथ्य तो निकाल ही सकते हैं कि यह संख्या ५०० के लगभग थी। इसी प्रकार सम्मिलित सदस्यों में धम्म और विनय के स्वरूप के निश्चित करने में किसने कितना योग दिया, इसके विषय में भी उपर्युक्त ग्रन्थों में विभिन्न मत हैं। 'चुल्लवग्ग' के अनुसार तो सारा काम महाकाश्यप, आनन्द और उपासि ने ही किया। किन्तु 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार अन्य भिक्षुओं ने भी काफी योग दिया। इन अन्य भिक्षुओं में, अनिरुद्ध, बंगीश, पूर्ण, कात्यायन, कण्डित आदि मुख्य थे। यहाँ भी कोई मौलिक भेद दिखाई नहीं पड़ता। प्रत्यक्षतः महाकाश्यप, आनन्द और उपासि के ही प्रधान भाग लेने पर भी अन्य अनेक भिक्षुओं का भी उनके काम में पर्याप्त सहयोग हो सकता था। अतः उपर्युक्त ग्रन्थों के विवरणों में, जिनमें 'चुल्लवग्ग' का विवरण ही प्राचीन-

१. "उस महास्वविर (महा काश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, बड़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का, भगवान् द्वारा चौरदान तथा अपनी समता देने का, और सद्धर्म की स्थापना के लिये किये गये भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण कर के, सम्बुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिये, नवाङ्ग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वज्ञयुक्त, आनन्द स्वविर के कारण पाँच सौ से एक कम महाक्षीणालस्य भिक्षु चुने" महावंस, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द की स्थापन का अनुवाद)

तम जान पड़ता है, कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें से अधिकांश 'सुल्लवग्ग' के वर्णन को ही विस्तृत रूप देते हैं। उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर बौद्ध अनुश्रुति राजगृह की सभा के ऐतिहासिक तथ्य को मानती है। आधुनिक विद्यार्थी भी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं देखता। ओल्डनबर्ग ने अवश्य इसमें सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि सुभद्र वाला प्रकरण, जिसे 'सुल्लवग्ग' में राजगृह की सभा के बुलाने का कारण बतलाया गया है, 'महापरिनिब्बान-सुत्त' (दीप २।३) में भी उन्हीं शब्दों में रक्खा हुआ है, किन्तु वहाँ इस सभा का कोई उल्लेख नहीं है। इस मौन का कारण उन्होंने यह माना है कि 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के संपादक या सम्पादक को इस सभा का कुछ पता नहीं था। यदि यह सभा हुई होती तो 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के संपादक को भी इसका अवश्य पता होता और उस हालत में सुभद्र वाले प्रकरण के साथ साथ उसने इस सभा का भी अवश्य उल्लेख किया होता। चूँकि यह उल्लेख वहाँ नहीं है, इसलिये हम मान हो सकते हैं कि यह सभा हुई ही नहीं।^१ कितना भयावह और इतिहास की प्रणाली से असिद्ध है डा० ओल्डनबर्ग का यह तर्क ! किन्तु यह भी बहुत दिनों तक विद्वानों को भ्रम में डाले रहा। वास्तव में डा० ओल्डनबर्ग के तर्क का कोई आधार नहीं है। 'महापरिनिब्बान-सुत्त' का विषय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दृश्य का वर्णन करता है, संघ के इतिहास का निर्देश करना नहीं। संघ के इतिहास का सम्बन्ध 'विनय' से है। अतः भगवान् के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की विह्वल दशा का वर्णन करते हुए 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के संपादक या संपादकों ने सुभद्र जैसे असंयमी भिक्षु के विपरीत व्यवहार का तो उल्लेख कर दिया है, किन्तु उससे आगे जाना वहाँ ठीक नहीं समझा गया। इसके विपरीत 'विनय-पिटक' में संघ-शासन की दृष्टि से इस तथ्य को लेकर संघ के इतिहास पर भी उसका प्रभाव दिखलाया गया है। यदि यह भी समाधान पर्याप्त न माना जाय, तो यह भी द्रष्टव्य है कि 'दीपवंस' में भी सुभद्र वाले प्रकरण का उल्लेख नहीं है, किन्तु वहाँ प्रथम संगीति का वर्णन उपलब्ध है। इसलिये 'दीपवंस' के लेखक को जब हम सुभद्र के प्रकरण में मौन रखते हुए भी प्रथम संगीति के विषय में अभिज्ञात देखते

१. विनय टेक्सट्स, जिल्द पहली, पृष्ठ २६ (भूमिका) (—सेक्रेट बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं)

है, तो 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के विषय में ही हम ऐसा क्यों मानें कि उसका मौन इस संगीति के वास्तविक रूप से न होवे का सूचक है ।^१ अतः 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के मौन से हम उस प्रकार का निषेधात्मक सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जैसा ओल्डनबर्ग ने निकाला है, जब कि अनेक ग्रन्थों की भारी परम्परा उसके विपक्ष में है । गायनर^२ और बिन्टरनित्ज^३ जैसे विद्वानों ने भी इसी कारण राजगृह की सभा को ऐतिहासिक तथ्य माना है । बिन्टरनित्ज ने कुछ यह अवश्य कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इतने शीघ्र इस सभा का बुलाया जाना हम से कुछ अधिक विश्वास करने की अपेक्षा रखता है ।^४ इसी प्रकार मिनयफ ने इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार कर के भी यह स्वीकार करने में कुछ हिचकिचाहट की है कि बुद्ध-वचनों का संगायन भी इस सभा की कार्यवाही का एक अंग था ।^५ हमारी समझ में ये दोनों ही संकाएँ निर्मूल हैं । भारतीय साधना की आत्मा को यहाँ नहीं समझा गया । अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य क्या हो सकता था कि वे जल्दी से जल्दी एक जगह मिल कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें । ब्राह्मण और क्षत्रिय गृहस्थों ने तो भगवान् के शरीर के प्रति अद्भुत आदर प्रदर्शित किये, चक्रवर्ती के समान उसका दाह-संस्कार किया और भगवान् की अस्थियों को बाँट कर उनकी पूजा की । भिक्षु क्या करते ? उनके लिये तो पूजा का अन्य ही विधान शास्ता छोड़ गये थे । उनके लिये तो एक ही उप-देस था । तथामत के अन्तिम पुरुष मत बनो । बुद्ध के बाद 'धम्म' की शरण लो ।^६

१. तिब्बती बुद्ध का भी परिस्थिति 'दीपवंस' के समान ही है, अर्थात् वहाँ सुभद्र का प्रकरण नहीं है, किन्तु प्रथम संगीति का वर्णन है । देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ४०-४१

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत ३

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४

४. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४

५. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ४३

६. ये अक्षरशः उद्धरण नहीं हैं । इन भावनाओं के लिये देखिये धम्मदायाद-सुत्त (मज्झिम. १।१।३); गोपक-सोमल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८)

ऐसी अवस्था में 'धम्म' की अनुस्मृति करना उनका प्रथम और एक मात्र कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करते तो हम आज यही कहते कि भगवान् का भिक्षु-संघ ही उस समय नहीं था। चूँकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि भिक्षु-संघ उस समय था, इसलिए उससे भी अधिक निश्चित रूप से हमें यह जानना चाहिये कि उन्होंने एक जगह मिलकर 'बुद्ध' और 'धम्म' की अनुस्मृति भी अवश्य की होगी, भगवान् के वचनों का संग्राह्य भी अवश्य किया होगा, फिर चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो। बुद्ध-संघ की आत्मा और उसका सारा विधान इसी तथ्य की ओर निर्देश करता है, जो इतिहास के साक्ष्य से कहीं अधिक दृढ़ है, और इस विषय में तो इतिहास का साक्ष्य भी, जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, बहुत अधिक पर्याप्त है।

राजगृह की सभा की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि धम्म और विनय के जिस रूप का बुद्ध के इन प्रथम शिष्यों ने संग्राह्य और संकलन किया, वह कहीं तक हमारे वर्तमान रूप में प्राप्त सुत्त-पिटक और 'विनय-पिटक' में मिलता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त संघटन वाची में और कमजोर हो दिया जा सकता है, यद्यपि आचार्य बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के विभिन्न भागों के नाम ले ले कर यह दिखाया है कि उनका संग्राह्य प्रथम संगीति में ही किया गया था। फिर भी आधुनिक विद्वानों तो उनके इस साक्ष्य को सावधानी से ही ग्रहण करेगा। प्रथम संगीति के वर्णन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहाँ धम्म (सुत्त) और विनय के संग्राह्य की ही बात कही गई है। अभिधम्म के संग्राह्य की बात वहाँ नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधम्म-पिटक की रचना प्रथम संगीति से बाद के काल की है। किन्तु यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संग्राह्य का उल्लेख किया है।^१ यूनान्-

महादेव-सुत्त (मज्झिम. २।४।३) एवं महापरिनिब्बान-सुत्त (दीघ. २।३) आदि।

१. ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि-विभङ्गञ्च, कथावत्थुञ्च पुगलं, धानु-पमक-पट्ठानं, अभिधम्माति वुत्ततीति। एवं संबण्णितं सुखुमज्जाण-गोचरं, तन्ति संगायित्वा इवं अभिधम्मपिटकं नामाति वत्था पञ्च-वरहन्तसतानि सञ्झायमकंसु। सुमंगलविलासिनी को निदान-कथा। मिलाइये समन्त-पातादिका को निदान-कथा भी।

बुद्धों की भी यही बात मान्य थी। बुद्धघोष या पूजा-बुद्धों के साथ इस हद तक सहमत न हो सकने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुद्ध-वचनों का जो स्वरूप राजगृह की सभा में स्वीकार और स्वीकृत किया गया, उसी पर वर्तमान पालि विविक्त आधारित है। इस सभा के एक महत्वपूर्ण प्रसंग का यही उल्लेख कर देना और आवश्यक होगा। जिस समय यह सभा हो रही थी या समाप्त हो चुकी थी, पुराण नामक एक भिक्षु कहीं विचरता हुआ आ निकला। उससे जब संगायन में भाग लेने के लिये कहा गया तो उसने कहा, "आवुस ! स्वविरो ने धम्म और विनय को सुन्दर तीर से संगायन किया है। किन्तु जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुख से सुना है, मुख से बहना किया है, मैं तो वैसा ही धारण करूँगा"।^१ पुराण की इस उक्ति में राजगृह के समामियों के द्वारा संगायन किये हुए धम्म और विनय के प्रति अप्रामाणिकता का भाव नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश सोचा है। संघ के लिये यह कोई खतरे की घंटी भी नहीं थी, जैसा एक विद्वान् को भ्रम हुआ है।^२ पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त-साधना का भाव उसमें अवश्य अधिक था, जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान-भावना में, जो उसे शास्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क से मिली थी, किसी प्रकार का विलेप नहीं आने देना चाहता था। दूसरों ने बुद्ध-मुख से जो कुछ सुना है, वह सब ठीक रहे, सत्य रहे। किन्तु पुराण को तो अपना जीवन-यापन उसी से करना, जो उसकी आवश्यकता देखते हुए स्वयं भगवान् ने उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो पुराण की उक्ति में राजगृह की सभा में संगायन किये हुए बुद्ध-वचनों की अप्रामाणिकता की ओर संकेत है और और न वह भिक्षु-संघ के लिये कोई खतरे की घंटी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु-संघ ने कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया। यह उसकी एक विशेषता है। अतः हम कह सकते हैं कि धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया उसके ही दर्शन हमें पालि सूत और विनय पिटकों में मिलते हैं, यद्यपि उसके साथ कुछ और भी मिल गया है।^३

१. विनय-पिटक-सुल्लवग; देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५५२ भी।

२. डा० रमेशचन्द्र मज्झिमवार ने लिखा है "This was a danger signal for the Church" बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ४४

३. बुद्धघोष की भी यह मत आंशिक रूप से मान्य था। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ २२१

भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद (वस्सतत्परिनिब्बुते भगवति—
बुल्लवग्ग) किन्तु यूनान् चुआब् द्वारा निषिद्ध परम्परा के अनुसार ११०
वर्ष बाद, वैशाली में 'धम्म' और 'विनय' का, जैसा कि वह प्रथम संगीति में
संगृहीत किया गया था, पुनः संगायन किया गया। यह बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी
संगीति थी, जिसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसीलिये यह 'सप्तवातिका'
भी कहलाती है। यह सभा वास्तव में विनय-सम्बन्धी कुछ विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का
निर्णय करने के लिये बुलाई गई थी। वैशाली के भिक्षु दस बातों में विनय-विपरीत
आचरण करने लगे थे, जिनमें एक सोने-चांदी का ग्रहण भी था। अनेक भिक्षुओं
के मत में उनका यह आचरण वित्तव-विपरीत और निषिद्ध था। इसी का निर्णय
करने के लिये वैशाली में यह सभा हुई, जो आठ मास तक चलती रही। पालि
साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस सभा का बड़ा महत्व है। एक बात इस सभा
से यह निश्चित हो जाती है कि इस समय तक भिक्षु-संघ के पास एक ऐसा सुनि-
श्चित संगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर भिक्षु विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का
निपटारा कर सकते थे, फिर चाहे वह साहित्य मौखिक परम्परा के रूप में ही भले
रूपों में हो। वैशाली की सभा ने वैशालिक भिक्षुओं के दस बातों सम्बन्धी व्यव-
हार को विनय-विपरीत ठहराया। इससे एक महत्वपूर्ण समस्या पालि-साहित्य,
विशेषतः विनय-पिटक, के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती है। आज जिस रूप में विनय-

-
१. ऐसा ही आधार स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में भी विद्यमान था।
"भिक्षुओ! यदि कोई भिक्षु ऐसा कहे 'मैंने इसे भगवान् के मुख से
सुना है,' ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन
है, तो भिक्षुओ! उस दिन उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन
करना, न निन्दा करना। बल्कि सूत्र से तुलना करना, विनय
में देखना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र
में उतरे, न विनय में दिखाई दे, तो विश्वास करना यह भगवान् का
वचन नहीं है। किन्तु यदि वह सूत्र में भी उतरे, विनय में भी दिखाई
दे, तो विश्वास करना अवश्य यह भगवान् का वचन है।" महापरि-
निब्बाण सुत्त (दीघ. २।३) मिलाइये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द ६, पृष्ठ
५१; जिल्द ४, पृष्ठ १८० (पालि टेक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

पिटक पाया जाता है उसमें उन दस बातों में से, त्रित्तके निर्णय के लिये वैशाली की सभा बुलाई गई थी, अधिकतर बातें स्पष्टतः बुद्ध-मन्तव्य के विपरीत उद्धराई गई हैं^१। इसमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज जिस रूप में विनय-पिटक हमें प्राप्त है वह वैशाली की सभा से पूर्व का नहीं हो सकता^२। यदि ऐसा होता, तो स्वविरो को इतना बाद-विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो स्पष्टतः उन्हें निषिद्ध बतलाया ही गया है। अतः ऐसा माना गया है कि पहले विनय-पिटक का रूप कुछ और रहा होगा और बाद में वैशाली की सभा के बाद उसके निर्णयों को उसमें उचित स्थानों में समाविष्ट कर दिया होगा।^३ हम यह अस्वीकार नहीं करते कि वैशाली की सभा के परिणाम-स्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन न किया गया हो, किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि तत्पश्चात् वैशाली की सभा से पूर्व के विनय और आज वह जिस रूप में पाया जाता है, उसमें कोई भेद है। वास्तवमें बात यह है कि वैशाली की सभा से पूर्व और उसके कुछ शताब्दियों बाद तक भी 'विनय', जैसे कि अग्य बुद्ध-वचन, मौखिक अवस्था में ही रहे। अतः यदि विनय-पिटक का स्वरूप वैशाली की सभा से पहले का भी यदि आज का सा ही होता, तो भी उन दस बातों पर विवाद चल सकता था, जिन पर वैशाली की सभा में वह बला और विनय से ब्रह्मों के ऊपर विनय का आज स्पष्ट साद्य उपलब्ध है। अतः यह मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की सभा से पहले का नहीं है। हाँ, वैशाली की सभा ने एक बात पहली बार स्पष्ट कर दी है। वह यह कि जिस भिक्षु-सभा ने वैशाली में मिल कर अपने मतानुसार प्रामाणिक बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार वैशाली के वृज्जियों के अन्तर्धार की निन्दा की, उनका ही एक मात्र संग्रह बुद्ध-वचनों का नहीं है। जिन भिक्षुओं की इस सभा में पराजय हो गई, उन्होंने अपनी अलग एक भारी सभा (महा-संघाति) की, जिसमें उन्होंने अपने मतानुसार तत्वे बुद्ध-वचनों की सृष्टि की। इसके विषय में 'दीपवंस' में कहा गया

१. कुछ उद्धरणों के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६२-६४

२. यह निष्कर्ष डा० रमेशचन्द्र भज्जमदार ने निकाला है। देखिये बुद्धि-स्टिक स्टडीज पृष्ठ ६२

३. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६३-६४; ओल्डनबर्ग को भी यही मत मान्य है, देखिये वहाँ पृष्ठ ६४, पदसंकेत १

है "महासंगीति के" भिक्षुओं ने बुद्ध-शास्त्र को विलकुल विपरीत कर डाला। मूल संघ में भेद उत्पन्न कर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर दिया। मौलिक 'धम्म' को नष्ट कर उन्होंने एक नया ही सूतों का संग्रह किया"।^१ आदि। इन महासंगीति-कारों ने जो कुछ भी संग्रह किया हो या उनका जो कुछ भी अर्थ अवशेष रहा हो, हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध-वचनों के पालि-संस्करण के सामने उसकी कोई प्रमाणवत्ता नहीं है। वैशाली की संभा में चिनय-सम्बन्धी दस बातों के विषय में निर्णय हो जाने के बाद ३०० भिक्षुओं ने महासंगीति रचने के सभापतित्व में, प्रथम संगीति के समान ही, 'धम्म' का संगोपन और संकलन किया। 'अकं धम्मसंगहं'। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों, पाँच निकायों, ती अंगों और ८४००० धर्मस्कन्धों में वर्गीकरण इसी समय किया गया। इस संगीति की ऐतिहासिकता विद्वानों को तहली की अपेक्षा अधिक मान्य है। इस संगीति का वर्णन भी प्रायः उन सब ग्रन्थों में मिलता है जिनमें प्रथम संगीति का। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध-भरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। इस संगीति का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका (चिनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठ-कथा) में मिलता है। चिनय-पिटक के चूलवग्ग में इस संगीति का निर्देश नहीं किया गया है। तिब्बत और चीन के महायानी बौद्ध साहित्य में भी इस संगीति का निर्देश नहीं मिलता और न सूत्रानु-चुवाक, ने ही इसके विषय में कुछ लिखा है। अशोक के किसी शिलालेख में भी इस संगीति का स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं

-
१. महासङ्गीतिका भिक्षू विलोमं अकं सु शास्त्रं। भिन्विता मूलसंघं अञ्जं अकं सु संघं ॥ अञ्जाया सङ्गहितं सुतं अञ्जाया अकं रि सु ते। अत्वं धम्मं च भिन्विं सु ये निकायं सु पंच सु ॥ यही आगे कहा गया है कि महासंगीति के इन भिक्षुओं ने परिवार, अभिधम्म, पटिसम्भिदा, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को स्वीकार नहीं किया—परिवारं अस्वुद्धारं अभिधम्मत्पकरणं, पटिसम्भिदां च निद्देसं एकदेसं च जातकं, एतकं निस्सज्जेत्वा अञ्जं अकं रि सु ते। ५।३२-३८ (ओल्टनचर्ग का संस्करण)

मिलता।^१ अतः कुछ विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है।^२ वास्तव में बात यह है कि अशोक के समय तक बौद्ध संघ १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था और जिस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण कर यह सभा बुलाई गई थी जयवा जिस सम्प्रदाय को इस सभा के बाद बृद्ध-धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया था वह विभज्यवादी या स्वविरवादी^३ सम्प्रदाय था। अतः यह बहुत सम्भव है कि दूसरे सम्प्रदाय वालों ने इसे स्वविरवादी या विभज्यवादी भिक्षुओं की ही अपनी सभा मानकर इसका उल्लेख सामान्य बौद्ध संगीतियों के रूप में न किया हो। अशोक के शिलालेखों का इस सम्बन्ध में मौन रखने का यह कारण हो सकता है कि अशोक ने वास्तव में इस सभा में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया

१. नवे शिलालेख में कुछ 'कथावत्यु' के समान झेली अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं। देखिये भांडारकर और मज्जूमदार: इन्सक्रिप्शन्स ऑफ अशोक, पृष्ठ ३४-३६
२. जिनमें मुख्य मिनयफ, कीब, मैक्स वेलेसर, वार्थ, फ्रैंक और लेवी हैं। डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स, श्रीमती रायसडेविड्स, विटरनित्ज और गायगर इस सभा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानते हैं। देखिये विटरनित्ज; हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ १६-९-७० पद संकेत ५, एवं गायगर: पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ ९ पद संकेत २ में निविष्ट साहित्य।
३. स्वविरवाद का अर्थ है स्वविरों अर्थात् बृद्ध, ज्ञानी पुरुषों और तत्त्व-दर्शियों का मत। बृद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये 'स्वविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बृद्ध-मन्तव्य के विषय में उनका मत ही सर्वाधिक प्रामाणिक था। अतः स्वविरवाद का अर्थ 'प्रामाणिक मत' भी हो गया। स्वविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' (पालि, विभज्जवाद) और स्वविरवाद (पालि, थेरवाद) दोनों एक ही वस्तु के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर, प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। इसका उल्टा एकांशवाद (पालि, एकंसवाद) है, जो सोलहो आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है। भगवान् बृद्ध ने सुन-सुत (मग्गिम, २।५।९) में अपने को उपर्युक्त अर्थ में

था। अबवा उसके सारे श्रेय को वह उस समय के सबसे अधिकप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक भोग्गलिपुत्त तिसस को देना चाहता था, जिन्होंने यह सभा बुलाई थी और जो ही इस सभा के सभापति थे। अनेक प्रान्तों के भिक्षुओं ने इस सभा में भाग लिया। इस सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि बौद्ध संघमें जो अनेक अ-बौद्ध लोग सम्प्रदाय अथवा के बौद्ध संघ सम्बन्धी दानों से आकृष्ट होकर घुस गये थे उनका निष्कासन किया जाय और मूल बौद्ध-उपदेशों का प्रकाशन किया जाय। सभा की कार्यवाही में यही काम किया गया। साथ ही पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बौद्ध-वचनों के स्वल्प का निश्चय किया गया और ९ सहीनों के अन्दर भिक्षुओं ने तिसस भोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में बौद्ध-वचनों का संग्रहण और पारायण किया। इसी समय तिसस भोग्गलिपुत्त ने मिथ्यावादी १८ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्तु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला।^१ जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्धघोष और मुञ्जान्-चुआह के वर्णन के अनुसार अभिधम्म-पिटक का भी संग्रहण महाकाश्यप ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही किया था। किन्तु उसकी इतनी प्राचीनता अपने वर्तमान रूप में विद्वानों को मान्य नहीं है। कम से कम इस तीसरी संगीति के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथा-

विभज्यवादी' कहा है। स्वविरवादी भिक्षु भी यही दृष्टिकोण रखते थे। विभज्यवाद का एक सूक्ष्म और तार्त्विक अर्थ भी है, जिसका उप-देश भगवान् बुद्ध ने दिया था। इस अर्थ के अनुसार मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का स्वल्प, आघतन और धातु आदि में विश्लेषण किया जाता है, किन्तु फिर भी उनमें 'अत्ता' (आत्मा) या स्थिर तत्त्व जैसा कोई पदार्थ नहीं मिलता। विभज्यवाद के इस सूक्ष्म अर्थ के विवेचन के लिये देखिये भिक्षु जगदीश-काश्यपः अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-२२; स्वविरवाद और विभज्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध के अधिक निरूपण के लिये देखिये गाफ्फर; पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ९ पद-संकेत १; तथा विंटरनिट्जः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

१. महावंश ५।२७८ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

वस्तु' की रचना महास्वविर तिस्रों मोगलिपुत्र ने अशोक के समय में की। इतना भी निश्चित है कि सम्पूर्ण अभिषम्भ-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से इस संगीति के समय तक हो गया था। इस सभा के परिणाम-स्वरूप एक महत्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बूद्ध-धर्म के प्रचार करने के लिये उपदेशकों को भेजने का भी किया गया। अशोक के नेरखें और दूसरे शिलालेखों में यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसने वाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में और केरलपुत्र, मल्लपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में तथा सिंहल द्वीप में भी बूद्ध-धर्म के प्रचारार्थ भ्रमोपदेशकों को भेजा था। दीप-वंस,^१ महावंस^२ और समन्तपासादिका^३ में उन भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न भिन्न देशों में बूद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। किस-किस भिक्षु को किस-किस प्रदेश में भेजा गया, इसकी यह सूची इस प्रकार है—

१. स्वविर माध्यन्तिक (मज्झन्तिक) —काश्मीर और गान्धार प्रदेश को
२. स्वविर महादेव —महिष मंडल (महिषक मंडल) को
(नवंदा के दक्षिण का प्रदेश)
३. स्वविर रक्षित (रक्षित) —वनवासि-प्रदेश को
(वर्तमान उत्तरी कनारा)
४. युवानी भिक्षु धर्मरक्षित
(योनिक् धम्मरक्षित) —अपरान्तक प्रदेश को
(वर्तमान गुजरात)
५. स्वविर महाधर्मरक्षित —महाराष्ट्र (महार्द्ध) को
(महाधम्मरक्षित)
६. स्वविर महारक्षित (महारक्षित) —यवन-देश (योनिक् लोक) को
(वैकिट्टया)
७. स्वविर मध्यम (मज्झिम) —हिमालय-प्रदेश (हिमवन्त) को

१. परिच्छेद ८

२. ५।२८०; १२।१-८

३. पृष्ठ ६३-६४ (पालि टैक्सिट् सोसायटी का संस्करण)

८. स्वविर बोध और उत्तर —सुवर्ण भूमि (सुवर्ण भूमि) को
(दोनों नाई) (कस्मा)

९. महेन्द्र (महिन्द्र, ऋष्टिय), (इष्टिय)
उपिय (उत्तिय) सम्बल (सम्बल) —ताम्रपर्णी (तम्बपर्णि) को
और भद्रशाल (भद्रशाल) से (लंका) १

पाँच भिक्षु

उपर्युक्त सूची ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक है। सार्चि-स्तुप में इन आचार्यों में से कुछ के नाम उल्कीर्ण हैं २। अजन्ता की चित्रकारी में भी एक चित्र महेन्द्र और संघमित्रा (अशोक के प्रवर्जित पुत्र और पुत्री, जो अन्य भिक्षुओं के साथ लंका में धर्म-प्रचारार्थ गये) की मिहल-यात्रा को अमर बनाता है। फिर लंका में आज तक महेन्द्र और संघमित्रा तथा उनके साथी अन्य भिक्षुओं की स्मृति के लिये जो जीवित श्रद्धा विद्यमान है, वह केवल कल्पना पर ही आश्रित नहीं हो सकती। अशोक का धर्म-प्रचार का कार्य यहीं तक सीमित नहीं था। उसने अपने धर्म-प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी राज्यों में भी भेजे। इस प्रकार सिरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोक्स (एंटियोक्स वियोस—ई० पू० २६१-२४६ ई० पू०) मिथ के राजा नुरमय (टोलेमी फिलाडेल्फस—ई० पू० २८५-२४७ ई० पू०) मेसिडोनिया के राजा अन्तकिन (एंटिगोनस गोनटस—ई० पू० २७८-२३९ ई० पू०) सिराती के राजा मग (मेगस—ई० पू० २८५-२५८ ई० पू०) और एफिरस के राजा अलिक मृन्दर (एलेक्जेंडर-ई० पू० २७२-२५८ ई० पू०) के देशों तक अशोक कालीन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बूढ़ का सन्देश लेकर गये। ३ इस सब विस्तृत धर्म-प्रचार के इतिहास में से हमें यहाँ लंका-सम्बन्धी प्रचार-कार्य से ही अधिक सम्बन्ध है। लंका में महेन्द्र और उनके अन्य साथी बूढ़-धर्म को ले गये। वहाँ के राजा देवानाम्पिय तिसस ने भारतीय भिक्षुओं का बड़ा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। स्वविर महेन्द्र और उनके साथी लंका में

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २०८ और ४६१; मिलाइये, अशोक की धर्मलिपियाँ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१-६२

२. स्वविर सज्जित को वहाँ 'हिमवान् प्रदेश का उपदेशक' (हेमवता-चरिय) कह कर स्मरण किया गया है।

३. मालालेज २

उस त्रिपिटक को भी ले गये थे जिसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय पाटलिपुत्र की संगीति में हो चुका था । लंका में 'महा-विहार' की स्थापना हुई और त्रिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा । परन्तु यह अध्ययन-क्रम अभी कुछ और शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा (मुखपाठवसेत) में ही चलाता रहा । बाद में लंका के राजा बट्टगामणि अभय के समय में प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में, जिस त्रिपिटक को महेन्द्र और अन्य भिक्षु अशोक और देवानांणिय तिसस के समय में वहाँ ले गये थे, लेखबद्ध कर दिया गया ।^१ तब से वह उसी रूप में चला आ रहा है । महेन्द्र के लंका-गमन और बट्टगामणि के समय में त्रिपिटक के लेखबद्ध होने के समय के बीच में तीन और धर्म-संगीतियों कमजोर देवानांणिय तिसस, बुट्टगामणि और बट्टगामणि अभय नामक लंकाधिपों के समयों में हुई । अतः पालि-साहित्य के विकास के इतिहास में उनका भी अवश्य एक स्थान है, यद्यपि पहली तीन संगीतियों की अपेक्षा वह बहुत गौण है । यह निश्चित है कि इन तीन संगीतियों में महेन्द्र द्वारा प्रचारित त्रिपिटक के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया और बट्टगामणि के समय में जिस त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया वह वही था जिसे महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे ।

इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक पालि-साहित्य के विकास की हमने देखा । इससे आगे पालि-साहित्य के उस अंश के विकास की कहानी है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक अन्तिम रूप से सुनिश्चित और लिखित उपर्युक्त त्रिपिटक की आधार मान कर लिखा गया है । स्वभावतः यहाँ हम पालि-साहित्य के विस्तार और विभाजन के प्रश्न पर आते हैं ।

पालि-साहित्य का विस्तार—दो मोटे मोटे भागों में उसका वर्गीकरण—
पालि या पिटक साहित्य एवं अनुपालि या अनुपिटक साहित्य

त्रिपय की दृष्टि से पालि-साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने संस्कृतादि अन्य साहित्य । अनेक प्रकार की ज्ञान-शास्त्राओं पर उसमें साहित्य

-
१. दीपवंस २०।२०-२१ (ओलडनवर्ग का संस्करण) ; महावंस ३३। १००-१०१ (गायनर का संस्करण) (बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'महावंस' के संस्करण में ३३।२४७९-८०) देखिये महावंस, पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

नहीं मिलता। ठीक तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्वविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमें जातव्य ही अल्प है। विभिन्न ज्ञान-शास्त्रों की वह बहुमूल्य सम्पत्ति उसमें नहीं मिलती जो एक सर्वविध समृद्ध साहित्य से सम्बन्ध रखती है। फिर भी पालि-साहित्य के अन्य अनेक बड़े आकर्षण हैं। उसके साहित्य का विकास न केवल भारत में ही, अपितु लंका, बर्मा और स्याम में भी हुआ है और स्वभावतः उसने इन सब देशों की भाषा और विचार-परम्परा को भी प्रभावित किया है। पालि साहित्य की रचना बौद्ध-काल से लेकर आज तक निरन्तर होती चली आ रही है। अतः उसके विकास का २५०० वर्ष का इतिहास है। कालानुक्रम और प्रवृत्तियाँ, दोनों की ही दृष्टि से पालि-साहित्य को दो मोटे-मोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) पालि या पिटक साहित्य, (२) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पालि या पिटक साहित्य का विकास, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बुद्ध-निर्वाण काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक है। अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।

पिटक-साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त विश्लेषण और काल-क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पालि या पिटक साहित्य तीन भागों में विभक्त है, सूत्त पिटक, विनय पिटक और अभिघम्म पिटक। सूत्त-पिटक पाँच निकायों या शास्त्रों में विभाजित है, जिनके नाम हैं, दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। विनय-पिटक अपने आप में एक परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी विषय-वस्तु तीन भागों में विभक्त है, सूत्त-विभंग, खंघक और परिवार। सूत्त-विभंग के दो विभाग हैं, पाराजिक और पाचिस्सिय। इसी प्रकार खंघक के भी दो भाग हैं, महावग्ग और चुल्लवग्ग। अभिघम्म-पिटक में सात बड़े बड़े ग्रन्थ हैं, जिनके नाम हैं धम्मसंगणि, विभंग, धानुकथा, पुग्गलपञ्चात्ति, कथावत्थु, वमक और पट्ठान। सूत्त-पिटक के पाँच निकायों का कुछ अधिक विश्लेषण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। दीघ-निकाय में कुल ३४ सूत्त हैं, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं। पहले सीलक्खन्य-वग्ग में १३ सूत्त हैं, दूसरे महावग्ग में १० सूत्त हैं और तीसरे पाटिक-वग्ग में ११ सूत्त हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

दीर्घ-निकाय

(अ) सीलकस्त्रन्ध-वग्ग

१. ब्रह्मबाल-सुत्त
२. सामञ्जसफल-सुत्त
३. अम्बुदठ-सुत्त
४. सोणदंड-सुत्त
५. कूटदन्त-सुत्त
६. महालि-सुत्त
७. जालिय-सुत्त
८. कस्सपसीहनाद-सुत्त
९. पोदठाद-सुत्त
१०. सुभ-सुत्त
११. केवड्ड (या केवट्ट) -सुत्त
१२. लोहिन्त-सुत्त
१३. तेविन्त्र-सुत्त

(आ) महावग्ग

१४. महापदान-सुत्त
१५. महानिदान-सुत्त
१६. महापरिनिब्बान-सुत्त
१७. महासुदस्सन-सुत्त
१८. जलवसभ-सुत्त
१९. महागोविन्द-सुत्त
२०. महासमय-सुत्त
२१. सक्कपञ्च-सुत्त
२२. महासतिपट्ठान-सुत्त
२३. पाप्पसि-सुत्त

(इ) पाटिक-वग्ग

२४. पाटिक-सुत्त
२५. उदुम्बरिक सीहनाद-सुत्त

२६. चक्रवर्ति सीहनाद-सूत	सूत-संख्या २३
२७. अगज-सूत	सूत-संख्या २३
२८. सम्पसादनिय-सूत	सूत-संख्या २३
२९. पासादिक-सूत	सूत-संख्या २३
३०. लवण-सूत	सूत-संख्या २३
३१. सिगालीवाद (या सिगालीवाद)-सूत	सूत-संख्या २३
३२. आटानाटिय-सूत	सूत-संख्या २३
३३. संगीति-सूत	सूत-संख्या २३
३४. वसुन्तर-सूत	सूत-संख्या २३

मज्झिम-निकाय में १५२ सूत हैं, जो १५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं—

मज्झिम निकाय

१. मूल-परिषाय-वग्ग

१. मूलपरिषाय-सूत	सूत-संख्या २३
२. सञ्वासव-सूत	सूत-संख्या २३
३. धम्मदायाद-सूत	सूत-संख्या २३
४. भयभेख-सूत	सूत-संख्या २३
५. जर्नगण-सूत	सूत-संख्या २३
६. आकखेय्य-सूत	सूत-संख्या २३
७. जलपूषम-सूत	सूत-संख्या २३
८. सल्लेख-सूत	सूत-संख्या २३
९. सम्मादिट्ठ-सूत	सूत-संख्या २३
१०. सतिपट्ठान-सूत	सूत-संख्या २३

२. सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सूत	सूत-संख्या २३
१२. महासीहनाद-सूत	सूत-संख्या २३
१३. महापुक्खवन्ध-सूत	सूत-संख्या २३
१४. चूलपुक्खवन्ध-सूत	सूत-संख्या २३
१५. अनुमान-सूत	सूत-संख्या २३
१६. वेतोखिल-सूत	सूत-संख्या २३

१७. वनपत्थ-सुत्त
 १८. मधुपिण्डक-सुत्त
 १९. द्वेधावित्तक-सुत्त
 २०. वित्तकसंयान-सुत्त

३. ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त
 २२. अलगहूपम-सुत्त
 २३. वम्मिक-सुत्त
 २४. रत्तविनीत-सुत्त
 २५. निवाप-सुत्त
 २६. अरिपपरियेसन-सुत्त
 २७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त
 २८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त
 २९. महासारोपम-सुत्त
 ३०. चूलसारोपम-सुत्त

४. महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिग-सुत्त
 ३२. महागोसिग-सुत्त
 ३३. महागोपालक-सुत्त
 ३४. चूलगोपालक-सुत्त
 ३५. चूलसूचक-सुत्त
 ३६. महासूचक-सुत्त
 ३७. चूलतण्हासंखय-सुत्त
 ३८. महातण्हासंखय-सुत्त
 ३९. महा-त्रस्सपुर-सुत्त
 ४०. चूल-त्रस्सपुर-सुत्त

५. चूलयमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त
 ४२. वेरञ्जक-सुत्त

४३. महावेदल्ल-सुत्त
४४. भूलवेदल्ल-सुत्त
४५. भूल-धम्मसमादान-सुत्त
४६. महा-धम्मसमादान-सुत्त
४७. वीमंसक-सुत्त
४८. कोसम्बिय-सुत्त
४९. ब्रह्मनिमंतणिक-सुत्त
५०. मारतज्जनिय-सुत्त

६. गहपति-धम्म

५१. कन्दरक-सुत्त
५२. अट्ठकनागर-सुत्त
५३. सेत-सुत्त
५४. पोतलिय-सुत्त
५५. जीवक-सुत्त
५६. उपालि-सुत्त
५७. कुक्कुरवर्तिक-सुत्त
५८. अभयराजकुमार-सुत्त
५९. बहुवेदनीय-सुत्त
६०. अपण्णक-सुत्त

७. भिक्खु-धम्म

६१. अम्बलट्ठिकाराहुलोवाद-सुत्त
६२. महाराहुलोवाद-सुत्त
६३. भूलमालुक्ख-सुत्त
६४. महामालुक्ख-सुत्त
६५. भद्रालि-सुत्त
६६. लट्ठकिक्कोपम-सुत्त
६७. चातुम-सुत्त
६८. तलकपातक-सुत्त
६९. गूलिस्सानि-सुत्त

७०. कीटागिरि-सुत्त

८ परिव्राजक-वग्ग

- ७१. तेविज्जवच्छगोत-सुत्त
- ७२. जग्गिक्खगोत-सुत्त
- ७३. महावच्छगोत-सुत्त
- ७४. दीघनख-सुत्त
- ७५. भागन्दिप-सुत्त
- ७६. सन्दक-सुत्त
- ७७. महासकुलुदायि-सुत्त
- ७८. समणमण्डिका-सुत्त
- ७९. चूलसकुलुदायि-सुत्त
- ८०. वेखतस्स-सुत्त

९ राज-वग्ग

- ८१. प्रदीकार-सुत्त
- ८२. रट्ठपाल-सुत्त
- ८३. मखदेव-सुत्त
- ८४. मघुर-सुत्त
- ८५. बोधिराजकुमार-सुत्त
- ८६. अंगुलिमाल-सुत्त
- ८७. गियजातिक-सुत्त
- ८८. बाहितिक-सुत्त
- ८९. धम्मचेतिय-सुत्त
- ९०. कण्णकत्थल-सुत्त

१० ब्राह्मण-वग्ग

- ९१. ब्रह्मायु-सुत्त
- ९२. सेल-सुत्त
- ९३. अस्सलायन-सुत्त
- ९४. षोडसुत्त-सुत्त

९५. चङ्की-सुत्त
 ९६. एमुकारि-सुत्त
 ९७. धानजानि-सुत्त
 ९८. वासेट्ठ-सुत्त
 ९९. सुभ-सुत्त
 १००. संगारख-सुत्त

११. देवदह-वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त
 १०२. पञ्चत्तम-सुत्त
 १०३. कित्ति-सुत्त
 १०४. सामगाम-सुत्त
 १०५. सुनक्खत्त-सुत्त
 १०६. आणञ्जसप्पाव-सुत्त
 १०७. गणक-मोग्गल्लान-सुत्त
 १०८. गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त
 १०९. महापुण्णम-सुत्त
 ११०. चूलपुण्णम-सुत्त

१२. अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त
 ११२. छन्दिमोघन-सुत्त
 ११३. सण्णुरिस-सुत्त
 ११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त
 ११५. बहुवानुक-सुत्त
 ११६. इसिगिलि-सुत्त
 ११७. महाचत्तारीसक-सुत्त
 ११८. आनापातसति-सुत्त
 ११९. कायगतसति-सुत्त
 १२०. संस्वाकप्पति-सुत्त

१३. सुञ्जता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्जता-सुत्त

१२२. महा-सुज्जता-सुत्त
 १२३. अच्छरियवभुत-धम्म-सत्त
 १२४. वक्कुल-सुत्त
 १२५. दन्तभूमि-सुत्त
 १२६. भूमिज-सुत्त
 १२७. अनुरुद्ध-सुत्त
 १२८. उपक्किलेस-सुत्त
 १२९. बाल-पंडित-सुत्त
 १३०. देवदुत-सुत्त

१४. विभंग-वग्ग

१३१. भदेकरत्त-सुत्त
 १३२. आनन्द-भदेकरत्त-सुत्त
 १३३. महाकच्चान-भदेकरत्त-सुत्त
 १३४. लोमसकर्मगिय-भदेकरत्त-सुत्त
 १३५. चूलकम्मविभंग-सुत्त
 १३६. महाकम्मविभंग-सुत्त
 १३७. सल्लायतन विभंग-सुत्त
 १३८. उद्देसविभंग-सुत्त
 १३९. अरणविभंग-सुत्त
 १४०. धातुविभंग-सुत्त
 १४१. सत्तविभंग-सुत्त
 १४२. दक्खिणाविभंग-सुत्त

१५. सल्लायतन-वग्ग

१४३. अनायपिण्डकोवाद-सुत्त
 १४४. छश्रीवाद-सुत्त
 १४५. पुण्णोवाद-सुत्त
 १४६. नन्दकोवाद-सुत्त
 १४७. चूल-राहुलोवाद-सुत्त
 १४८. छल्लस-सुत्त

१४९. महासज्जापतनिक-सुत्त
 १५०. नगरविन्देय्य-सुत्त
 १५१. पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त
 १५२. इन्द्रियभावना-सुत्त

संयुक्त-निकाय में कुल ५६ संयुक्त हैं, जो ५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं।

संयुक्त-निकाय

(१) सगाय-वग्ग, जिसमें ११ संयुक्त हैं।

१. देवता-संयुक्त
२. देवपुत्र-संयुक्त
३. कोसल-संयुक्त
४. मार-संयुक्त
५. भिक्षुणी-संयुक्त
६. ब्रह्म-संयुक्त
७. ब्राह्मण-संयुक्त
८. वगौस-संयुक्त
९. वन-संयुक्त
१०. पक्ख-संयुक्त
११. सक्क-संयुक्त

(२) निदान-वग्ग, जिसमें १० संयुक्त हैं।

१. निदान-संयुक्त
२. अभिसमय-संयुक्त
३. धातु-संयुक्त
४. अनमतग्ग-संयुक्त
५. कस्सप-संयुक्त
६. लाभ-सक्कार-संयुक्त
७. राहुल-संयुक्त
८. लक्षण-संयुक्त
९. औपम्म-संयुक्त
१०. भिक्षु-संयुक्त

(३) खन्ध-वग्ग, जिसमें १३ संयुक्त हैं ।

१. खन्ध-संयुक्त
२. राघ-संयुक्त
३. दिट्ठि-संयुक्त
४. ओक्कन्तिक-संयुक्त
५. उप्पाद-संयुक्त
६. किलेस-संयुक्त
७. सारिपुत्त-संयुक्त
८. नाग-संयुक्त
९. सुपण्ण-संयुक्त
१०. गन्धव्वकाय-संयुक्त
११. बलाह-संयुक्त
१२. वच्छगोत्त-संयुक्त
१३. भान-संयुक्त

(४) सलायतन-वग्ग, जिसमें १० संयुक्त हैं ।

१. सलायतन-संयुक्त
२. वेदना-संयुक्त
३. मानुगाम-संयुक्त
४. जम्बुखादक-संयुक्त
५. सामण्डक-संयुक्त
६. मांगल्लान-संयुक्त
७. चित्त-संयुक्त
८. गामणि-संयुक्त
९. असंखत-संयुक्त
१०. अब्याकत-संयुक्त

(५) महावग्ग, जिसमें १२ संयुक्त हैं ।

१. मंग-संयुक्त
२. बोज्झग-संयुक्त
३. सतिपट्ठान-संयुक्त

४. इन्द्रिय-संयुत
५. सम्मन्वय-संयुत
६. बल-संयुत
७. इन्द्रियाद-संयुत
८. अनुबुद्ध-संयुत
९. भान-संयुत
१०. आनापाण-संयुत
११. सोतापत्ति-संयुत
१२. सच्च-संयुत

अंगुत्तर-निकाय का विभाजन विलकुल संख्याबद्ध है। एक-एक, दो-दो, तीन-तीन, इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही उतनी संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशों का संग्रह है। इस प्रकार यह महाप्रन्थ ११ निपातों (समूहों) में विभक्त है—

१. एक-निपात
२. दुक-निपात
३. तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पंचक-निपात
६. छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अट्ठक-निपात
९. नवक-निपात
१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

बुद्धक-निकाय में स्वतन्त्र १५ ग्रन्थ हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. बुद्धक-पाठ
२. धम्मपाद
३. उदान
४. इतिवृत्तक
५. सुत्तनिपात

६. विमान-वत्सु
७. पेत-वत्सु
८. शेर-गाथा
९. शेरो-गाथा
१०. जातक
११. तिहेस
१२. पटिसम्मिदामग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

पालि साहित्य अपने वर्गीकरण के लिये प्रसिद्ध है। बुद्ध-वचनों के त्रिपिटक और उसके उपर्युक्त उपविभागों के अतिरिक्त अन्य भी विभाजन किये गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को पाँच निकायों में बाँटा गया है। यहाँ चार निकाय तो सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों के समान ही हैं, किन्तु पंचम निकाय (सुद्धक-निकाय) में स्वभावतः ही उसके पन्द्रह ग्रन्थों के अलावा विनय-पिटक और अभिधम्म पिटक के सारे ग्रन्थ भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।^१ कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्गीकरण प्रथम के समान स्वाभाविक नहीं है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण नौ अंगों के रूप में किया गया है,^२ जिनके नाम हैं, सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवृत्तक, जातक, अब्रूतधम्म और वेदल्ल। सुत्त (सूत्र) का अर्थ है सामान्यतः बुद्ध-उपदेश। दीघ-निकाय, सुत्त-निपात आदि में गद्य में रक्खे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश 'सुत्त' हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित अंश गेय्य (गाने योग्य) कहलाते हैं। 'वेय्याकरण' (व्याकरण, विवरण, विवेचन) वह व्याख्यापरक साहित्य है जो अभिधम्म पिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सम्मिलित

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक का विवेचन।

२. नौ अंगों एवं अधिकतर १२ धर्म-प्रवचनों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन महायान बौद्ध धर्म के संस्कृत-साहित्य में भी पाया जाता है, देखिये सट्टमपुंडरीक २।४८ (सेकंड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्ड २१, पृष्ठ ४५); महाकल्याण पुंडरीक, पृष्ठ ३३ (भूमिका) (सेकंड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्ड दस, भाग प्रथम में)

है। सिर्फ पाँच म रचित अंग 'गाथा' (पालि-श्लोक) कहलाते हैं। 'उदान' का अर्थ है बुद्ध-मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्गार। 'इतिवृत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'जातक' का अर्थ है। (बुद्ध के पूर्व) जन्म सम्बन्धी कथाएँ। 'अद्भुत धम्म' (अद्भुत धर्म) वे सुत्त हैं जो अद्भुत वस्तुओं या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण करते हैं। 'वेदल्ल' का शाब्दिक अर्थ है वेद-निःश्रित या ज्ञान पर आधारित। 'वेदल्ल' के उपदेश हैं जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये हैं।^१ बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का विभाजन विषय-स्वरूप की दृष्टि से ही है, ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। अतः कहा जा सकता है कि यह केवल औपचारिक ही हैं और व्यावहारिक उपयोग में प्रायः नहीं आता। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८४००० धर्म स्कन्धों के रूप में है। किन्तु यह भी बौद्धों की विश्लेषण-प्रियता का ही एक उदाहरण है। प्रयोग में यह भी अक्सर नहीं आता। साधारणतः हम त्रिपिटक और उसके उप-विभागों के रूप में ही बुद्ध-वचनों का अध्ययन करते हैं।

यह कहना कुछ आश्चर्यजनक भले ही जान पड़े किन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सत्य है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्गीकरणों का निश्चय त्रिपिटक के अन्तिम रूप से प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में वे लेखबद्ध होने से बहुत पहले ही हो चुका था। तीनों पिटकों का निर्देश स्वयं त्रिपिटक में ही मिलता है, यह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कह आये हैं। अशोक के शिलालेखों ने यह बात अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दी है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से भी पहले बुद्ध-वचनों का कुछ उसी प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित था जैसा कि वह आज पालि त्रिपिटक में मिलता है। अशोक के शिलालेखों का पालि-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में क्या साक्ष्य है, इसका विस्तृत विवेचन तो हम दसवें अध्याय में पालि के अभिलेख-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अशोक के भाबू शिलालेख में राहुलोवाद (लाधुलो-वादे) सूत्त आदि शीपों से यही निश्चित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू०

१. यथा मज्झिम-निकाय के जूल-वेदल्ल-सुत्त और महावेदल्ल-सुत्त। इनमें परिप्रश्नात्मक शैली का व्यवहार किया गया है। सम्भवतः इसी-लिये 'वेदल्ल' शब्द का अर्थ इस प्रकार की शैली में लिखे गये उपदेश किया गया है।

में त्रिपिटक प्रायः अपने उसी वर्गीकरण और नामकरण के साथ विद्यमान था जैसा वह आज है। कम से कम त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों (सूत्र-पिटक और विनय-पिटक) के विषय में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। अशोक के बाद साँची और भारहुत (तीसरी या दूसरी शताब्दी ई० पू०) के स्तूपों के लेखों का साक्ष्य भी यही है। इन लेखों में 'पंचनेकायिक' (पाँच निकायों का ज्ञाता) भाषक (पाठ करने वाला) सुत्तन्तिक (सूत्र-पिटक का ज्ञाता) पेटकी (पिटकों का ज्ञाता) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और ज्ञातक के कुछ दृश्य भी दिखाये गये हैं, जिनसे विद्वानों ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि बौद्ध-वचनों का तीन पिटकों और पाँच निकायों में आज का सा विभाजन इन अभिलेखों के युग से पहले ही निश्चित हो चुका था।^१ भाषकों और निकायों एवं त्रिपिटक के उपर्युक्त विभाजन की जो परम्परा अशोक के काल से बहुत पहले से चली आ रही थी, उसके बाद भी अबाध गति से चलती रही। साँची के लेखों के अलावा मिलिन्द प्रश्न^२ (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) और बाद में बृद्धघोष की अर्थकथाओं^३, दीपवंस,^४ महावंस^५ आदि में उसके पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। बृद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन स्वयं त्रिपिटक को भी ज्ञात है^६ और बाद में न केवल मिलिन्द प्रश्न,^७ अपितु बृद्धघोष

१. रायस डेविड्स: बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६७; बूहलर: एपीग्रेफिका इंडिका, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९३;
२. त्रिपिटक बृद्धवचन, पृष्ठ १९; त्रिपिटका भिक्खु पंचनेकायिका पि च, चतुनेकायिका चेव, पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
३. धम्मपदट्ठकथा जिल्द पहली, पृष्ठ १२९ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण) देखिये विन्टरनिस्ज; इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७, पद-संकेत ३ भी।
४. ८।६; १२।८४; १३।७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)
५. १२।२९; १४।५८; १४।६३; १५।४ (गायगर का संस्करण)
६. अल्लगडूपम सुत्तन्त (मणिभूम. १।३।२) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७; १०३; १०८ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण)।
७. नवंगजिनसासनं, पृष्ठ २२; नवज्जे बृद्ध-वचने पृष्ठ १६३; नवंगमनु-मज्जन्तो, पृष्ठ ९३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

की अशोकवाओं^१ गन्धर्वसं,^२ दीपवंस,^३ आदि में भी उसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बृद्ध-वचनों का ८४००० धर्म-स्कन्धों में विभाजन भी बहुत प्राचीन है। बृद्धघोष ने प्रथम संगीति में ही उनका संगायन होता दिखाया है^४ और अशोक द्वारा उनके सम्मान में ८४००० विहारों का बनवाया जाना (चतुरासीति विहारसहस्रानि कारापेमि) भी बौद्ध परम्परा में अति प्रसिद्ध है।^५ ये सभी तथ्य पालिविपिटक के वर्गीकरण के साथ साथ उसके काल-क्रम और प्रामाणिकता-पर भी काफी प्रकाश डालते हैं।

ऊपर पालि-साहित्य के उद्भव और विकास का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार तीन बौद्ध संगीतियाँ भारत में और बाद में तीन संगीतियाँ लंका में पालि विपिटक के स्वरूप के सम्बन्ध में हुई थी, जिनमें बृद्ध-वचनों का संगायन किया गया था। डा० विमलालरण-लाहा ने इन संगीतियों के अनुसार पालि विपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम को पाँच क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त करने का प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार हैं

प्रथम युग (४८३ ई० पू०—३८३ ई० पू०)

द्वितीय युग (३८३ ई० पू०—२६५ ई० पू०)

तृतीय युग (२६५ ई० पू०—२३० ई० पू०)

१. सुमंगलविलासिनी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३; अट्ठसालिनी, पृष्ठ २६ (पालि टैक्सट सोसायटी के संस्करण)
२. पृष्ठ ५५, ५७ (जनरल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित)
३. ४।१५ (ओल्डनबर्ग का संस्करण); देखिये महावंश, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
४. समन्तपासादिका, जिल्द पहली, पृष्ठ २९; देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २२२
५. "राजा (अशोक) न स्वविर मोग्गलिपुत्त तिसस से पूछा, 'बुद्ध के विषय गम उपदेश कितने हैं? स्वविर ने उत्तर दिया, 'धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (विभाग) हैं'। यह सुनकर राजा ने कहा 'मे प्रत्येक के लिये बिहार बनवाकर उन सब की पूजा करूँगा।' तदन्तर राजा ने चौरासी हजार नगरों में.....बिहार बनवाने आरम्भ किये।" महावंश ५।७६-८० (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

चतुर्थ युग (२३० ई० पू०— ८० ई० पू०)

पंचम युग (८० ई० पू०— २० ई० पू०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिपिटक के जो प्राचीन से प्राचीन अंश हैं उनके स्वरूप का निश्चय ४८३ ई० पू० अर्थात् शास्ता के परिनिर्वाण के समय ही हो गया था, और जो अर्वाचीन से अर्वाचीन भी हैं वे भी २० ई० पू० के बाद के नहीं हैं, क्योंकि उस समय वे लेखबद्ध ही हो चुके थे, जब से वे उसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। इस प्रकार समष्टि रूप में त्रिपिटक की रचना की उपरली और निचली कोटियों का पूर्ण अनुमापन हो जाने पर भी उसके अलग अलग ग्रन्थों के आपेक्षिक काल-पर्याय-क्रम का सवाल अभी रह ही जाता है। इसके लिये न केवल ऐतिहासिक विवेचन की ही किन्तु अलग अलग ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विवेचन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसे हम इस स्थल पर नहीं कर सकते। अतः जब हम आगे के अध्यायों में त्रिपिटक के भिन्न भिन्न ग्रन्थों या अंशों का विवेचन करेंगे तो उस समय उनके काल-पर्याय-क्रम का विवेचन भी हमारे अध्ययन का एक विशेष अंग होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में जो पूर्व अध्ययन हो चुका है उसके परिणामों को यहाँ रख देना आवश्यक होगा। सब से पहले डा० रायस डेविड्स ने त्रिपिटक के काल-पर्याय-क्रम का विवेचन किया था। उन्होंने अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप पालि त्रिपिटक का बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर अशोक के काल तक इन दस काल-पर्यायात्मक अवस्थाओं में विभाजन किया था^२—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में ही त्रिपिटक के प्रायः सबग्रन्थों की भाषाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग, पातिमोक्ख।

४—दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुक्त निकाय।

५—सुत्त-निपात, खेर-गाथा, परो-गाथा, उदान, खुद्क-गाथ।

६—सुत्त-विभंग, खन्धक।

७—जातक, धम्मपद।

१. हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्ह पहली, पृष्ठ १२-१३

२. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८८

८—निर्देस, इतिवृत्तक, पटिसम्भिदा ।

९—पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरिपापिटक, बुद्धवंस ।

१०—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ, जिनमें पुग्गलपञ्जत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं ।

इस क्रम का कुछ परिवर्तन डा० विमलाचरण लाहा ने किया है । उनके मतानुसार त्रिपिटक के ग्रन्थों का काल-क्रम की दृष्टि से यह तारतम्य ठहरता है—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में त्रिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं ।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं ।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद ।

४—दीघ-निकाय (प्रथम स्कन्ध), मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय, पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं ।

५—दीघ-निकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) शेरगाथा, वेरीमाग्गा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्त-विमंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्जत्ति, विमंग

६—महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु ।

७—चुल्लनिर्देस, महानिर्देस, उदान, इतिवृत्तक, सुत्त-निपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान ।

८—बुद्धवंस, चरिपापिटक, अपदान ।

९—परिवार-पाठ ।

१०—खुद्दक-पाठ ।

त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों या अंशों के काल-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष अपर्याप्त हो नहीं स्वेच्छापूर्ण भी हैं । रायस डेविड्स और लाहा दोनों ही विद्वानों ने भाषा-सम्बन्धी विकास को आधार मान कर, जिसका साक्ष्य अभी स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता, अपना काल-क्रम स्थापित किया है । वास्तव में त्रिपिटक के ग्रन्थों में पूर्वापरता स्थापित करने के लिये हमें पहले निश्चित करना होगा कि उसके कौन से अंश मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं और कौन से बाद के परिवर्तन या दोनों के मिश्रित स्वरूप । मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचनों में भी हमें बुद्ध के वर्षावासों

के अनुसार उनके काल-क्रम का तात्त्विक निश्चित करना पड़ेगा। यह कार्य उपर्युक्त दो विद्वानों ने नहीं किया है। केवल महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'बुद्ध-वचनों' में इस ढंग पर बुद्ध के कतिपय उपदेशों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है। किन्तु 'बुद्धवचनों' में सभी सुत्तों का उद्धरण शक्य न होने के कारण यह कार्य वहाँ अपर्याप्त रूप में ही हो सका है। पालि साहित्य के इतिहासकार के लिये बुद्ध-वचनों के काल-क्रम के निश्चय के लिये इससे अच्छा मार्ग-दर्शन नहीं मिल सकता। वास्तव में सद्धर्म के प्रथम संग्रहकार काल-चिन्तक थे ही नहीं। वे तत्त्वतः धर्मचिन्तक थे। इसलिये काल-गणना के अनुसार उन्होंने सुत्तों का संग्रह नहीं किया है। आज हम बुद्ध के वर्षावसानों के आधार पर ही यह कार्य कर सकते हैं। भाषा-शास्त्र से भी कुछ सहायता ले सकते हैं, किन्तु अत्यन्त सावधानीपूर्वक। त्रिपिटक के जो अंश बुद्ध-वचन नहीं हैं उनके काल-क्रम का निर्णय बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विशेषतः किया जा सकता है। उनमें वर्णित प्रसंग उनके काल-क्रम पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इन सब तथ्यों का विवेचन करते हुए हमने त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम का निश्चय करने का प्रयत्न किया है, जो आगे के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाग

त्रिपिटक के काल-सर्वाय-क्रम की समस्या को मोटे रूप से समझने के बाद हमें अनुपिटक-साहित्य के भी काल-विभाग की रूपरेखा को समझ लेना आवश्यक है। यह उतनी दुरूह या विवादग्रस्त नहीं है। उसकी रेखाएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अनुपिटक साहित्य की रचना त्रिपिटक के पूर्ण हो जाने के बाद से प्रारम्भ हो कर वर्तमान काल तक चली आ रही है। इस इतने सुदीर्घ विकास में भी उसमें इतनी विभिन्नरूपता दिखाई नहीं पड़ती जितनी कि किसी भी साहित्य के सम्बन्ध में हो सकती थी। इसका कारण यह है कि इस साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु बौद्ध धर्म—स्थविरवाद बौद्ध धर्म—का अध्ययन और विवेचन ही रहा है। फिर भी कालानुक्रम और प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से इस सुदीर्घ काल के साहित्यिक इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक अर्थात् बुद्धदशक के आविर्भाव-काल तक चलता है।

इस युग में नैतिककरण, पेटकोपदेश, सुत्तसंग्रह और मिलिन्दपञ्च की रचना

हुई, जिनमें मिलिन्दपञ्च सब से अधिक प्रसिद्ध है। इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीपवंस' भी इसी युग में लिखा गया। चूँकि बुद्धघोष अनुपिटक-साहित्य में सब से बड़ा नाम है और बुद्धघोष ने एक युग-विधायक साहित्य की रचना की, अतः उनके काल के पहले इस दिशा में कितना काम हो चुका था इसे द्योतित करने के लिये इस युग के साहित्य को 'पूर्व-बुद्धघोष' युगीन साहित्य नाम दिया जा सकता है। अनुपिटक साहित्य के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्धघोष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विमुट्ठिमग्ग' और उनकी अर्थकथाओं के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की अर्थकथाएँ भी इसी युग में लिखी गईं। पालि त्रिपिटक पर अर्थकथाओं की रचना इस युग की प्रधान विशेषता है, जिसे प्रेरणा देने वाले आचार्य बुद्धघोष ही हैं। अतः इस युग को 'बुद्धघोष-युग' नाम दिया गया है। इस युग की रचना ५वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चलती है। विशाल अर्थकथा-साहित्य के अतिरिक्त लंका का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' भी इसी युग में रचा गया। व्याकरण के क्षेत्र में कन्नान का व्याकरण और दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनिरुद्ध का प्रसिद्ध 'अभिधम्मत्वसंगह' भी इसी युग की रचनाएँ हैं। इस युग में जो अर्थ कथा-साहित्य लिखा गया उसी की टीकाएँ-अनु-टीकाएँ बाद की शताब्दियों में लिखी जाती रहीं। यह बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक का सुदीर्घ युग है। प्रायः बुद्धघोष और उनके समकालीन आचार्यों के दिखाये हुए ढंग पर ही और उनके ही ग्रन्थों के उपजीवी स्वरूप साहित्य की रचना इस युग में होती रही है। अतः इस युग को 'बुद्धघोष-युग' की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' नाम दिया गया है। बारहवीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय में लंका में आचार्य बुद्धघोष आदि की अर्थकथाओं पर मगध-भाषा (पालि) में टीकाएँ लिखने का आयोजन शुरू किया गया। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनकी शिष्य-मंडली ने इस दिशा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में बड़ा काम किया। मूल 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से आगे परिवर्द्धन भी इसी युग की घटना है। १५वीं शताब्दी से बर्मा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन की बड़ी प्रगति हुई। बर्मी भिक्षुओं के अध्ययन का प्रधान विषय 'अभिधम्म' रहा। इस दिशा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, जिनमें 'अभिधम्मत्व संगह' का एक लम्बा सहायक साहित्य है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ठीक वर्तमान समय तक लंका, बर्मा, स्वाम और भारत में अनुपिटक साहित्य की रचना होती

संकी आ रही है। भारत में हम अभी हाल में परिनिर्वात पूज्य आचार्य धर्मातन्त्र कौशाम्बी के नाम से सुपरिचित हैं। उन्होंने अनुषिठक साहित्य को दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, एक 'विसुद्धिमगदीपिका' नामक 'विसुद्धि-मग्न' की टीका और दूसरा 'अभिधम्मत्वसंग्रह' पर 'नवनीत टीका'। इस वर्तमान काल में रचित साहित्य में भी यद्यपि बहुत सी बातों को आधुनिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है जो बहुत आवश्यक है, फिर भी आलोक और प्रामाणिक आधार तो बुद्धधोष की रचनाओं से ही लिया गया है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर इस इतने अभित्त साहित्य को भी 'बुद्धधोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' कहना अनुचित नहीं है।

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि-त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध वचन है ?

पालि त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, इस प्रश्न का अंशतः उत्तर पालि-भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) दिया जा चुका है। यदि पालि मागधी भाषा का वही स्वरूप है जिसे मध्य-देश में विचरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रवृत्त किया था, तो फिर इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचनों का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप है। यदि आरम्भ से ही अनेक प्रान्तीय भाषाओं में बुद्ध-वचन सौंख्य जाते रहे हों तो भी हमारे पालि-माध्यम को प्राचीनतम होना ही चाहिये। पालि-त्रिपिटक का किसी दूसरी उपभाषा से अनुवाद हुआ है, लेवी के इस मत का खंडन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार लण्डर्स के उस मत का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके अनुसार प्राचीन अर्द्ध-मागधी से, जिसके स्वरूप की अवतारणा स्वयं उनकी बुद्धि ने की है, पालि-त्रिपिटक का अनुवाद हुआ है। यह निर्विवाद है कि अशोक के समय अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व पालि-त्रिपिटक का भाषा और शैली की दृष्टि से वही स्वरूप था जो आज है। अशोक के शिलालेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी भाषा, उनमें निर्दिष्ट कुछ 'धम्म-पालियायों' के नाम, सब इसी तथ्य को और संकेत करते हैं कि तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व भारतीय जनता बुद्ध-वचनों के नाम से उसी संप्रदाह को पहचानती थी और आदरपूर्वक श्रवण और मनन करती थी, जिसे हम आज पालि-त्रिपिटक के नाम से पुकारते हैं। छन्द की दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता असंदिग्ध है। ओल्डमबर्ग ने कहा है कि पालि-त्रिपिटक की भाषाओं में प्रवृत्त छन्द वाल्मीकि-रामायण से अधिक प्राचीन होना चाहिये^१।

१. गुरुपूजाकीमूढी, पृष्ठ ९०, मिलाइये रायस डेविड्स और कारपेटर

अतः भाषा और शैली के साध्य के आधार पर पालि-त्रिपिटक बुद्ध-मुक्त से निःसृत वचनों का प्रामाणिकतम माध्यम ही हो सकता है।

विषय की दृष्टि से भी कोई बात उपर्युक्त साध्य के विपरीत जाने वाली दिखाई नहीं पड़ती। पालि-त्रिपिटक में छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय जीवन की पूरी झलक मिलती है। गौतम बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय स्वरूप, वहाँ स्पष्टतम शब्दों में अंकित मिलता है। इस विषय में उसकी उत्तरकालीन महायान-ग्रन्थों से एक अद्भुत विशेषता है। उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप पर जोर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बाव का निर्माण ही हो सकता है। पालि-त्रिपिटक में मध्य-देश की ही प्रधानता है और उसी में चारिकाएँ, करते हुए शास्ता को दिखाया गया है, जब कि महायानी ग्रन्थों में इसके विपरीत उनका लंका-गमन तक दिखा दिया गया है^१ जो लोकोत्तर तथ्यों पर आश्रित हो हो सकता है। इसके अलावा पालि-त्रिपिटक में वचार्थवाद और विवेकवाद की प्रधानता है जब कि महायानी साहित्य में अतिरंजनाओं और कल्पनाओं से भी बहुत काम लिया गया है। अतः अपेक्षाकृत महत्व की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक को ही बुद्ध के जीवन और उपदेशों की समझने का प्राचीनतम और प्रामाणिकतम साधन मानना पड़ता है।

इतिहास की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक को ही एक मात्र सच्चा बुद्ध-वचन मानने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि बुद्ध-धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में ही उसके अनेक विभाग हो गये थे। अशोक के काल तक ही कम से कम १८ सम्प्रदायों का उल्लेख है^२। इन सभी सम्प्रदायों के अपने अपने साहित्य थे, जिन्हें वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे। पालि-त्रिपिटक इन्हीं प्राचीन सम्प्रदायों में से एक (स्वविरवाद—थेरवाद) की साहित्यिक निधि है। पालि-त्रिपिटक में लिखित बुद्ध-वचन और उनकी अट्ठकयाएँ—इतना ही स्वविरवाद बौद्ध धर्म का साहित्यिक

द्वारा सम्पादित बौध्द-निकाय, जिल्द दूसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८
(पालि-टेक्स्ट) सोसायटी द्वारा प्रकाशित)

१. स्वविरवादी ग्रन्थ 'महावंस' में भी बुद्ध का तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो उतना ही अ-प्रामाणिक है।

२. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में 'कयावत्थु' का विवेचन।

आधार है—“लेपिटकसंगहितं सादृकत्वं सर्व्वं धेरवादति”।^१ अन्य सम्प्रदाय वालों का बहुत-कुछ साहित्य लुप्त हो चुका है। मूल तो प्रायः किसी का भी मिलता ही नहीं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही आज हमें उनकी कुछ जानकारी होती है। त्रिन सम्प्रदायों के साहित्य का इस प्रकार कुछ परिचय मिलता है उनमें, सर्वास्तिवादी (सम्बल्लिवादी) मुख्य है। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। इस सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म तीनों पिटक मिलते हैं। किन्तु उनके चीनी अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं, मूल रूप में वे संस्कृत में थे, किन्तु आज उनका वह रूप उपलब्ध नहीं। पालि-त्रिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गई है, जिसके परिणाम स्वरूप इन दोनों में विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पाई गई हैं, केवल विषय-विन्यास में कहीं कुछ थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है। यह बात सुत्त और विनय पिटक के सम्बन्ध में तो सर्वाश में सत्य है, किन्तु अभिधम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओं में ग्रन्थ-संख्या समान (सात) होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषय-वस्तु की दूसरे की विषय-वस्तु के साथ कोई विशेष समता नहीं है। इस प्रकार—

स्वविरवाद का सुत्त-पिटक	सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटक
दीघ-निकाय (३४ सूत्र)	दीर्घागम (३० सूत्र-प्रधानतः बुद्धयश तथा चू० फा० नैन द्वारा पाँचवीं शताब्दी ई० में अनुवादित)
मज्झिम-निकाय	मध्यमागम (गौतम संघदेव-द्वारा चौथी शताब्दी में अनुवादित)
संयुत्त-निकाय	संयुक्तकागम (पाँचवीं शताब्दी में गुणभद्र द्वारा अनुवादित)
अंगुत्तर-निकाय	अंकोत्तरागम (चौथी शताब्दी में धर्मानन्दि द्वारा अनुवादित)
सुद्धक-निकाय	क्षुद्रकागम

पालि-त्रिपिटक में भी यद्यपि कभी कभी दीघ-निकाय आदि के लिये दीर्घागम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रधानतः ‘निकाय’ शब्द का ही प्रयोग

१. समन्तपासादिका की बाहिरकथा ।

होता है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक में 'आगम' शब्द का ही प्रयोग होता है। इसी का चीनी भाषा में 'अगोन्' हो गया है। सर्वास्तिवाद में यद्यपि प्रधानता प्रथम चार निकायों की ही है, किन्तु वहाँ पाँचवाँ निकाय भी मिलता है। उसका नाम पालि खुद्दक-निकाय के अनुरूप ही 'खुद्दकागम' है। पालि खुद्दक-निकाय के कितने ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में मिलते हैं, यह निम्नांकित सूची से विदित होगा।

स्वविरवादी खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त ग्रन्थ

१. खुद्दक पाठ	
२. धम्मपद	धर्मपद
३. उदान	उदानं
४. इतिवृत्तक	
५. सूत्तनिपात	सूत्रनिपातः
६. विमानवत्थु	विमानवस्तु
७. पेतवत्थु	
८. धेरगाथा	
९. धेरी गाथा	
१०. जातक	
११. निहेस	
१२. पटिमम्भिदाग्ग	
१३. अपदान	
१४. बुद्धवंस	बुद्धवंशम्
१५. चरियापिटक	

दोनों परम्पराओं के विनय-पिटक का विभाजन इस प्रकार है—

स्वविरवादी विनय-पिटक सर्वास्तिवादी विनय-पिटक

विभंग	{	१. पाराजिका	पाराजिका
		२. पाचित्तिय	प्रायश्चित्तिक
खन्धक	{	३. महावग्ग	अवदानं
		४. चुल्लवग्ग	(जातकं)

५. परिवार

पालि अभिधम्म-पिटक के ७ ग्रन्थों के साथ सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों की, जहाँ तक उनके नामों का सम्बन्ध है, पूर्वाप्त समानता है, किन्तु विषय समान नहीं हैं। यथा,

स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के साथ उनके नामों की समानता

१. धम्मसंगणि	धर्मसूक्त्यपाद
२. विभंग	विज्ञानकायपाद
३. पुग्गल पञ्जति	प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	धातुकायपाद
५. पट्ठान	ज्ञानप्रस्थान
६. यमक	संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुपकरण	प्रकरणपाद

ऊपर स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के साहित्य की समानताओं का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। पालि त्रिपिटक के प्रत्येक पिटक या उसके अंशों का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार हम उनकी तुलना सर्वास्तिवादी पिटक के अंशों के साथ करेंगे। अभी जो कहा जा चुका है उससे इतना स्पष्ट है कि दोनों सम्प्रदायों के सुत्त और विनय-पिटक में काफी समानता है और जो विभिन्नताएँ हैं वे प्रायः उसी प्रकार की हैं जैसी वेद की विभिन्न शाखाओं के पाठों में पाई जाती हैं। केवल अभिधम्म-पिटक की विषय-वस्तु में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक के कम से कम वे अंश जो सर्वास्तिवादी त्रिपिटक से समानता रखते हैं, अर्थात् सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश, सर्वांश में प्रामाणिक हैं और उनके बुद्ध-वचन होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पालि-अभिधम्म-पिटक की प्रमाण-वत्ता निश्चय ही सुत्त और विनय के बाद की रह जाती है, कम से कम उसके विषय में सन्देह तो दृढ़मूल हो ही जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक की समीक्षा करते समय करेंगे। सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी परम्पराओं में जिन बातों पर मत-भेद है अथवा उनके साहित्य में जहाँ विभिन्नता है, वहाँ हमें यह सोचना पड़ेगा कि किस का साक्ष्य अधिक प्रभाव-

शाली और मानने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि स्थविरवादी विपिटक के स्वरूप का अन्तिम निश्चय और स्थिरीकरण अशोक के काल में अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व हो चुका था और उसी समय से वह लंका में उसी रूप में सुरक्षित रहा है। कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व (बट्टगामणि अभय का समय—मिलिन्दपञ्च का समय भी) के बाद तो उसमें एक अक्षर का कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ ही नहीं है। इसके विपरीत सर्वोस्तिवादी साहित्य की परिस्थिति बड़ी संकटग्रस्त और असमंजसमय रही है। पहले तो अशोक ने ही स्थविरवादियों के अतिरिक्त सारे बौद्ध सम्प्रदायों के अनुयायियों को मिथ्यावादी समझ कर प्रवज्या-हीन कर दिया।^१ फिर शुंग राजाओं के काल में उन पर जो आपत्तियाँ डायें गईं, उनसे तो अपनी मूल परम्परा से उनका कदाचित् उच्छेद ही हो गया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके मूल विशाल साहित्य का, जो संस्कृत में था, आज कोई पता नहीं चलता और वह केवल चीनी अनुवादों में सुरक्षित है। आज पुरातत्व का कोई भी भारतीय विद्यार्थी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस ज्ञान-विलुप्ति के लिए लज्जित हुए बिना नहीं रह सकता। सर्वोस्तिवादी सम्प्रदाय की साहित्य-विलुप्ति के अन्य चाहे जो कारण दिये जा सकें, वह भारतीय संस्कृति की उदारता और धर्म-सहिष्णुता की एक कटु टिप्पणी भी अवश्य है। 'पुद्गमित्र'^२ नाम तक के प्रति चीनी बौद्ध साहित्य में जो सहरी अवज्ञा का भाव विद्यमान है, वह इस साहित्य-विलुप्ति से असम्बन्धित नहीं हो सकता। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी मूल परम्परा से विच्छिन्न होकर ही सर्वोस्तिवाद बौद्ध धर्म चीन और

१. देखिये महावंश ५।२६८-२७०

२. प्रसिद्ध शुङ्ग वंशीय राजा, जिसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये, जिनके कारण अनेक बौद्धों को देश छोड़ कर बाहर भाग जाना पड़ा। केवल आन्ध्र, सौराष्ट्र, पंजाब, काश्मीर और काबुल में बौद्ध धर्म इस समय रह गया। चीनी बौद्ध साहित्य में बिना अभिशाप के 'पुद्गमित्र' का नाम नहीं लिया जाता। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८२०

अन्य देशों में गया, अतः उसकी प्रामाणिकता स्वविरवाद के सामने कुछ नहीं हो सकती। सर्वास्तिवादी ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवाद भी इसी सन् के कई सौ वर्ष बाद हुए, अतः इस दृष्टि से भी उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की काफी संभावना हो सकती है। फिर बौद्ध धर्म जहाँ जहाँ गया वह अपनी समन्वय-भावना को भी अपने साथ लेता गया और जिन जिन देशों में उसका प्रसार हुआ, उनके लोक-गत विषयों का भी उसके अन्दर समावेश होता गया। अतः इस प्रवृत्ति के कारण भी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के साहित्य में विभिन्नताएँ आ सकती हैं, जिनके मौलिक या उत्तरकालीन परिवर्द्धित होने का निर्णय हम उनके मूल के अभाव में नहीं कर सकते। भाषा के साक्ष्य पर भी हम उसे पालि-माध्यम के साथ मिला कर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः दोनों के तुलनात्मक महत्व और प्रामाण्य का अंकन अभी हम अनिश्चित रूप से ही कर सकते हैं। फिर भी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे यही विदित होता है कि सर्वास्तिवादी माध्यम की अपेक्षा स्वविरवादी माध्यम ने ही बुद्ध-वचनों की अधिक सच्ची और प्रामाणिक अनुरक्षा की है। सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में, जिनकी उत्पत्ति अशोक के काल तक हो चुकी थी और जिनके साथ ही स्वविरवादियों जीवित सम्बन्ध की कल्पना हम कर सकते हैं, हमें महत्वपूर्ण कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी भी परम्पराएँ थीं अवश्य, किन्तु आज वे हमारे लिये प्राप्त नहीं हैं। द्वितीय संगीति के अवसर पर ही, जैसा हम पहले देख चुके हैं,^१ महासंगीतिक भिक्षुओं ने सुत्त और विनय के कुछ अंशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिघम्म-पिटक की ही प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी। उन्होंने विनय-पिटक के परिवार और सुत्त-पिटक के पटिसम्भिममग्ग, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं माना था। अभिघम्म-पिटक के अस्वीकरण में सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षु समान ही थे। अतः हमें उसके विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा कि उसे कहाँ तक बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक माना जाय। यही स्थिति जातक, निद्देस और पटिसम्भिममग्ग की भी है। इस सूची को और भी काफी बढ़ाया जा सकता है। उदाहरणतः धेरगाथा और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में ऐसे आन्तरिक साक्ष्य हैं,^२ जिनके

१. दूसरे अध्याय में।

२. देखिये आगे इसी अध्याय में सुद्धक निकाय का विवेचन

आधार पर उन अंशों को बुद्ध-परिनिर्वाण से दो या तीन शताब्दी बाद की रचना हो माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक की प्रमाणवत्ता का एकांशेन उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसके कतिपय अंश (जैसे महापरि-निर्वाण-सुत्त, धम्मचक्कापवत्तन-सुत्त आदि, आदि) अत्यन्त प्राचीन हैं और उनमें बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन और उपदेशों की सजीव और सर्वांश में सच्ची प्रति-मूर्ति मिलती है, कुछ शास्ता के परिनिर्वाण के ठीक बाद के हैं (जैसे गोपक भोग्ग-ल्लान-सुत्त) और कुछ एक-दो शताब्दियों बाद की परम्पराओं की भी अंश करते हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। सुत्त और विनय-पिटक का अधिकांश भाग तो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों तक ही सीमित है। जो अंश बाद के भी हैं, वे भी अशोक के काल तक ही अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। भाषा और शैली एवं पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम पूर्व और परगामी तत्त्वों को अलग अलग कर सकते हैं। उदाहरणतः सुत्तों का पारस्परिक मिलान कर के हम जान सकते हैं कि किस मौलिक नमूने का आश्रय लेकर किस सुत्त को किस प्रकार परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया गया है। यही हाल विनय के नियमों का है। उनमें परिवर्तन हुआ है। विनय के सभी नियम शास्ता के मुख से निकले हुए नहीं हो सकते। कुछ मौलिक आधारों को लेकर शेष की सृष्टि कर ली गई है और उनकी प्रामाणिकता देने के लिये ही बुद्ध-वचन के रूप में प्रस्थापित कर दिया गया जान पड़ता है। अन्यथा मानवीय विचार को इतनी अधिक स्वतन्त्रता देने वाले के द्वारा जीवन की छोटी से छोटी क्रियाओं में विधान प्रज्ञापन करना संगत नहीं बैठता। शिष्यों पर उनके प्रभाव को देखते हुए भी उनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः वे बुद्ध-धर्म के विकास से सम्बन्धित हैं, यह हम आसानी से जान सकते हैं। बौद्ध संगीतियों के इतिहास ने भी हमें यही बताया है कि उसके स्वरूप का निर्माण और निर्धारण द्वितीय संगीति के समय ही हुआ है जो बुद्ध-परिनिर्वाण से १०० वर्ष बाद हुई। अतः एक सीमित किन्तु निश्चित अर्थ में ही हम पालि-त्रिपिटक (विशेषतः सुत्त और विनय) को बुद्ध-वचन कह सकते हैं जिसे ईड़ने के लिये हमें काफी समालोचना-बुद्धि, और साथ ही श्रद्धा-बुद्धि की भी आवश्यकता है।

समालोचना-बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-बुद्धि की आवश्यकता इसलिये है कि हम भारतीयों की पालि-साहित्य का परिचय पच्छिमी विद्वानों ने ही प्रारम्भिक रूप से कराया है और पच्छिमी विद्वानों की भारतीय ज्ञान और साहित्य को जानने

की इच्छा उस समय हुई जब वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में सन्देहवाद का बोलबाला था। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सन्देह के ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्येक ज्ञान के पहले सन्देह होना आवश्यक है। किन्तु सन्देह ही ज्ञान का रूप धारण कर ले, यह ज्ञान का अपलाप है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति से शायद ही आर उठ पाये हैं। उनकी प्रत्येक अभिज्ञा और जानकारी में सन्देह समाया हुआ है। पालि-स्वाध्याय के प्राथमिक युग में बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के सम्बन्ध में उनमें से कई ने (उदाहरणतः फ्रैंक, सेनॉ, बार्थ आदि) सन्देह प्रकट किया। त्रिपिटक के वर्णनों में थोड़े-बहुत विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों का संग्रह फ्रैंक के द्वारा किया गया है। पर उनमें से कई वास्तविक विरोध नहीं भी हैं। अस्तु, जो भी विरोध है उनका कारण क्या है? जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बुद्ध-धर्म के प्राथमिक विकास में बुद्ध-वचनों की परम्परा बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक मौखिक परम्परा में चलती रही। अतः अनेक विरोध (बुद्ध-वचनों का संगायन करने वाले भिक्षुओं की) स्मृति-हानि के कारण ही हैं। उन पर अनावश्यक जोर देना बुद्ध-वचनों के संरक्षण-प्रकार से ही अपनी अनभिज्ञता दिखाना है। एक ही उपदेश को बुद्ध या उनके किसी शिष्य के मुख से दिया हुआ दिखलाने में या भिन्न भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाने में कोई विरोध नहीं है। यह तो ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हो सकता था। भगवान् अपनी चारिकाओं में चतुरायं सत्य जैसे प्रमुख उपदेशों की पुनरावृत्ति भिन्न भिन्न स्थानों में करते ही रहे होंगे और फिर उनके शिष्य भी इसी प्रकार करते हुए विचरते होंगे, यह समझना कठिन नहीं है। भिन्न भिन्न स्थानों के भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन हुआ है, अतः इसमें अस्वाभाविक क्या है? बल्कि यह तो उनके सत्य और ऐतिहासिक रूप से प्रमाण होने का एक प्रबल साक्ष्य है। कौन सा उपदेश किस स्थान पर दिया गया, किसके प्रति दिया गया, किस अवसर पर दिया गया, इतनी छानबीन के साथ बुद्ध-वचनों को उनके उसी रूप में संरक्षित रखना भिक्षुओं की महती ऐतिहासिक बुद्धि का साक्ष्य देता है। निश्चय ही इतने अधिक व्यौरों के साथ बुद्ध-वचनों का संरक्षण करने में कुशल भिक्षुओं ने जो दक्षता दिखाई है, वह उनके समय को देखते हुए आश्चर्यजनक है। इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिये। उनके द्वारा दी हुई सूचना पर सन्देह करना ही मान

ऐतिहासिक प्रणाली नहीं होगी। कम से कम यह मानना पड़ेगा कि वे धर्मवादी थे और भगवान् बुद्ध के वचनों की रक्षा ही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः उनके द्वारा संगृहीत वचनों में मानवीय स्मरण-शक्ति की स्वाभाविक अल्पता के कारण कहीं अशुद्धि या अपूर्णता भले ही रह गई हो, किन्तु जो कुछ उन्होंने सुना था उसी का अत्यन्त सावधानी के साथ उन्होंने संग्रहण किया था, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा। जो उन्होंने संग्रहण किया था, उसी का संगृहीत रूप आज हमें पालि-त्रिपिटक में मिलता है, यह भी निःसन्देह है ही। सर्वांश में पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचन है, ऐसी मान्यता तो स्वयं पालि-त्रिपिटक की भी नहीं है। वहाँ स्पष्टतम रूप से दिखा दिया गया है कि कौन से वचन सम्पक् सम्बुद्ध के हैं, कौन से वचन उनके शिष्यों के हैं, अथवा कौन से वचन अन्य व्यक्तियों के भी हैं। अतः जब हम पालि-त्रिपिटक को बुद्ध-वचन कहते हैं तो उसका अर्थ यही होता है कि वहाँ बुद्ध-कालीन भारत के देश-काल की पृष्ठभूमि में बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सजीव और मौलिक चित्र मिलता है और जो बुद्ध-वचन वहाँ बुद्ध-मुन से निःसृत दिखाये गये हैं, वे प्रायः वैसे ही हैं। अशोक उन्हें ऐसा ही मानता था और अशोक बुद्धिवादी व्यक्ति नहीं था, ऐसा हम नहीं कह सकते। जब बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शताब्दी में उत्पन्न होकर अशोक को बुद्ध-वचनों के निश्चित स्वरूप के विषय में पूर्ण सन्तोष हो गया था तो उसकी कई शताब्दियों बाद आने वाले हम, जब काल ने बहुत से पुरावों को और भी ढँक लिया है, अशोक की सम्पत्ति के ही साम्रीदार क्यों न बन जायें ? यहाँ कुछ भय नहीं है। अभी तक हमने संस्कृत के आधार पर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। उसके तार्त्विक दर्शन के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रभावशाली सम्पर्क से तो हम अभी तक प्रायः वञ्चित ही रहे हैं। आज, हमने महिन्द्र (महेन्द्र) के द्वारा सिंहल को जो दिया था, सिंहल उसका प्रतिदान करने को प्रस्तुत है। उसने बड़े प्रयत्न और गौरव से हमारे दान को सुरक्षित रखा है। आज उसकी धाती हमारे लिये खुली हुई है। यहाँ हम बुद्ध और उनके पाद-मूल में बैठने वाले शिष्यों के साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उनके उपदेश सुन सकते हैं, जिस प्रकार के देश-काल में वे विचरते थे उसका दिग्दर्शन कर सकते हैं। बुद्ध-वचनों की स्मृतियों के साथ यद्यपि यहाँ बहुत-कुछ और भी अंकित है, और कहीं कहीं कुछ बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद का भी काफी है, किन्तु उन सब का उपयोग बुद्ध-वचनों के लिये ही है जो स्वयं वहाँ अपनी पूर्ण विभूति और मौलिक गौरव में उपस्थित हैं। पालि-त्रिपिटक के इस

गौरवमय अंश के कारण ही हम उसके सारे रूप को भी 'बुद्ध-वचन' कहते हैं, जो यद्यपि अक्षरशः सत्य नहीं, किन्तु सत्य की महिमा और अनुभूति से व्याप्त अवश्य है।

सुत्त-पिटक का विषय, शैली और महत्त्व

पालि-त्रिपिटक का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग सुत्त-पिटक ही है। बुद्ध के धम्म का वाचातम्य रूप में परिचय कराना ही सुत्त-पिटक का एक मात्र विषय है। हम जानते हैं कि बुद्ध के परिनिर्वाण तक धम्म और विनय अथवा अधिक ठीक कहे तो सामासिक 'धम्म-विनय' की ही प्रचलनता थी। उसी की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था। 'बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने बुद्ध-वचनों के नाम से जिसका संग्रहण किया वह धम्म और विनय ही थे। "धम्मं च विनयं च संग्रायेय्याम"। अतः पालि-त्रिपिटक में अधिक महत्त्वपूर्ण तो धम्म और विनय ही हैं। इनमें भी संघ-अनुशासन की दृष्टि से विनय मुख्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त-पिटक का ही महत्त्व अधिक मानना पड़ेगा। पालि-साहित्य के कुछ विवेचकों ने विनय-पिटक को ही अपने अध्ययन के लिये पहले चुना है।^१ यह भिक्षु-संघ की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। किन्तु हम यहाँ सुत्त-पिटक के विवेचन को पहले ले रहे हैं। इसका कारण उसका साहित्यिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी दृष्टियों से प्रभूत महत्त्व ही है। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया है उनमें मिनयेफ, बार्ब, स्मिथ और कीथ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।^२ इनमें भी मिनयेफ सब से अधिक उप है। उन्होंने दीघ और मज्झिम जैसे

१. "आनन्द ! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रसूत किये हैं, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे" महापरिनिर्वाण-सुत्त(दीघ-२।३)
२. गायगर, विटरनित्त, और लाहा ने विनय-पिटक को ही पहले लिया है। पूज्य भदन्त आनन्द जी के आदेशानुसार मैंने यहाँ सुत्त-पिटक को पहले लिया है, जो साहित्यिक दृष्टि से अधिक समुचित भी है।
३. इनके ग्रन्थ-संकेतों के लिये देखिये विटरनित्तः हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १, पद-संकेत १; गायगरः पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २

निकायों को भी एक-एक रचयिता की रचना बता कर उनके बुद्ध-व्रजमत्त्व और बौद्ध संगीतियों की सारी परम्परा को एक साथ ही फूट मार कर उड़ाने की कोशिश की थी। किन्तु इतने सन्देहवाद तक यूरोपीय विद्वान् भी जाने को तैयार नहीं थे। अतः उनमें से बहुत ने मिनयेफकी गलत धारणा का कड़ा प्रतिवाद किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं मिनयेफ को भी अन्त में अपना मत कुछ हद तक बदलना पड़ा। हमें इन यूरोपीय विद्वानों के मतों या उनके प्रतिवादों के संग्रह करने का यहाँ प्रलोभन नहीं है। हमें केवल यह देखना है कि अन्ततः किन कारणों के आधार पर इन्होंने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया या और वे कारण किस हद तक उस परिणाम पर पहुँचने में सही या गलत हैं। ये कारण अपने संगृहीत रूप में इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं (१) अशोक के काल के बाद भी त्रिपिटक में संशोधन और परिवर्तन होते रहे (२) अतः पालि-त्रिपिटक में प्राचीन और अर्वाचीन काल की परम्पराएँ मिल गई हैं (३) पालि-त्रिपिटक के वर्णनों में अनेक विरोध हैं, जैसे संयुक्त-निकाय के बुद्ध-मुत्त में भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र का परिनिर्वाण होता दिखा-लाया गया है, किन्तु दीघ-निकाय के महापरिनिब्बान-मुत्त में भगवान् के महा-परिनिर्वाण के ठीक पहले वे उनके शिष्य में उद्गार करते दिखाये गये हैं। यदि पहला वर्णन ठीक है तो दूसरे अवसर पर सारिपुत्र जीवित नहीं हो सकते थे। अतः दोनों वर्णनों में स्पष्ट विरोध है। (४) एक जगह जो उपदेश बुद्ध-मुत्त से दिलवाया गया है, वही उपदेश दूसरी जगह उनके किसी शिष्य के मुख से दिलवा दिया गया है। अथवा एक जगह जिस उपदेश को किसी एक ग्राम, नगर या आवास में दिया गया दिखाया गया है, दूसरी जगह उसी उपदेश को किसी दूसरे ग्राम, नगर या आवास में दिया हुआ दिखा दिया गया है। इस प्रकार त्रिपिटक के वर्णनों में सामंजस्य का अभाव दिखाया गया है। जहाँ तक प्रथम आपत्ति का प्रश्न है वह सर्वथा निराधार है। मुख्य रूप से त्रिपिटक के स्वरूप में अशोक के काल के बाद कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ है। इस पर हम भाषा और इतिहास आदि के साक्ष्य से इतना जोर दे चुके हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक निरूपण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। महेश्वर और उनके साथी भिक्षु जिस रूप में त्रिपिटक को लंका में ले गये उसको उसी रूप में संरक्षित रखना वहाँ के भिक्षु-संघ ने सदा अपना कर्तव्य और गौरव माना है। लंका के देश-काल का बोझ सा भी प्रभाव त्रिपिटक पर उपलक्षित नहीं है, यह एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि थोड़े-

बहुत परिवर्तन कही हुए भी हों तो वे इतने महत्वपूर्ण कभी नहीं कहे जा सकते कि उसके प्राचीन रूप को ही ढँकलें। पालि-त्रिपिटक में अबोध से पहले की परम्पराओं का तारतम्य तो हो सकता है, किन्तु उसके बाद की परम्पराओं का भी उसके अन्दर समावेश हो, यह तो पहले आक्षेप का निराकरण हो जाने के बाद ही नहीं माना जा सकता। तृतीय संगीति के समय ही हमें पालि-त्रिपिटक के स्वरूप को अन्तिम रूप से निश्चित और पूर्ण समझ लेना चाहिये, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। अस्तु, सुत्त-पिटक में भगवान् के उपदेश निहित हैं। 'सुत्त-पिटक' शब्द का क्या अर्थ है, यह भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिये। सुत्त का अर्थ है सूत या धागा और पिटक का अर्थ है पिटारी^१ या परम्परा^२। चूँकि पिटारी का प्रयोग लिखित ग्रन्थों को रखने के लिये ही हो सकता है और बुद्ध-वचन ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले लिखे नहीं गये थे, अतः इस समय से पहले उनके लिये 'पिटारी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता था।^३ मौलिक रूप में इस अर्थ में बुद्ध-वचनों के विशिष्ट ग्रन्थों के लिये 'पिटक' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता था। पूर्वकाल में लाक्षणिक अर्थ में 'पिटक' शब्द का प्रयोग परम्परा के लिये होता था। जैसे पिटारी में रत्नकर कोई वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचाई जाती है, उसी प्रकार पहले धार्मिक सम्प्रदाय अपने विचार और सिद्धान्तों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया करते थे। मज्झिम-निकाय के चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम-२।५।५) में वैदिक परम्परा के लिये इसी अर्थ में 'पिटक-सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पिटक' शब्द का अर्थ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने वेद की 'परम्परा' या 'वचन-समूह' किया है। अतः 'सुत्त-पिटक' शब्द का अर्थ, इस लाक्षणिक प्रयोग के अनुसार होगा, धागे रूपी (बुद्ध-वचनों की) परम्परा। जिस प्रकार सूत के मोले को फँक देने पर वह झुलता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक में प्रकाशित होते हैं।

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८४६

२. श्रीमती रायस डेविड्स: शाक्य और बुद्धिस्ट औरीजिन्स, परिशिष्ट १, पृष्ठ ४३१; प्रो० टी० डबल्यू रायस डेविड्स: सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ २८ का पद-संकेत; जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ ११४

३. मिलाइये कीच: बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ २४, पद-संकेत २

अतः उसकी 'सूत-पिटक' संज्ञा सार्थक ही है। पालि 'सूत' का संस्कृत अनुरूप 'सूत्र' है। वैदिक साहित्य की परम्परा में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य ऐसे स्वल्पाक्षर कथन से होता है जिसमें से सूत के धागे की तरह महान् अर्थ की परम्परा निकलती चली जाय। इस प्रकार के सूत्र-साहित्य का उद्भावन वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम युग की घटना है, जब कि बढ़ते हुए विशाल वैदिक वाङ्मय को संक्षिप्त रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः प्रत्येक ज्ञान-शाखापर सूत्र-साहित्य की रचना हुई। श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरण-सूत्र, नाट्य-सूत्र, अलंकार-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, गान्धर्व-सूत्र, योग-सूत्र, मीमांसा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र आदि इस विशाल सूत्र-साहित्य के कुछ उदाहरण हैं। संस्कृत का सूत्र-साहित्य विश्व-साहित्य के इतिहास में निश्चय ही एक विस्मयकारी वस्तु है। शब्द-संक्षेप किस हद तक जा सकता है, यह उसमें देखा जा सकता है। संस्कृत-भाषा की अपूर्व शक्ति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। 'सूत्र' की परिभाषा संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार की गई है "सूत्रज्ञ पुरुष, उस स्वल्पाक्षर कथन को, जो असंदिग्ध, महत्वपूर्ण अर्थ का प्रस्थापक, विद्वज्जनीन उपयोग वाला और विस्तार और व्याकरण की अशुद्धि से रहित हो, सूत्र कहते हैं।" पालि के 'सूत' इस अर्थ में सूत्र कभी नहीं कहे जा सकते। वे विस्तार में काफी लम्बे हैं। कुछ तो छोटी छोटी पुस्तकों के समान ही हैं। उनके पुनरावृत्तिमय विस्तारों को देखकर कौन उन्हें 'सूत्र' कहेगा? पालि के सूत्रों से भी अधिक लम्बे महायानी संस्कृत साहित्य के सूत्र हैं। वहाँ जिन्हें 'सूत्र' कहा गया है वे तो अनावश्यक विस्तार-पूर्ण सहस्रों पृष्ठों के विशालकाय ग्रन्थ हैं। अतः बौद्ध और वैदिक परम्परा के इस 'सूत्र' सम्बन्धी अर्थ-विभेद को हमें समझ लेना चाहिये।

सूत-पिटक का विषय, जैसा अभी कहा गया, भगवान् बुद्ध के उपदेश ही हैं। साथ ही भगवान् के कुछ प्रधान शिष्यों के उपदेश भी सूत-पिटक में सम्मिलित हैं, जिनके आधार भी स्वयं बुद्ध-वचन ही हैं। अक्सर ऐसा होता था कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट किसी विषय को लेकर भिक्षुओं में संलाप हो उठता था। बाद में वे अपने संलाप की सूचना भगवान् को देते थे। यदि उनको कोई तथ्य स्पष्ट नहीं

१. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विषयतोमुखम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ शब्दकल्पद्रुम

होता था तो भगवान् उसे स्पष्ट करते थे। कभी-कभी उनमें से किसी महाप्राज्ञ भिक्षु के कथन का अनुमोदन कर भगवान् उसे साधुवाद देते थे। विरोधी सम्प्रदाय वालों के साथ भी भिक्षुओं के इस प्रकार के संलाप अक्सर चला करते थे। उनकी भी सूचना अक्सर भिक्षु भगवान् को देते थे। भगवान् या तो उनका अनुमोदन करते थे या उन्हें समझाते थे। कभी-कभी (भगवान् के जीवन के अन्तिम काल में) ऐसा होता था कि लम्बे समय तक उपदेश देते देते भगवान् की पीठ पीड़ित हो उठती थी (कठिन तपस्या के कारण भगवान् को वृद्धावस्था में वातरोग हो गया था)। उस समय उपदेश के बीच में ही भगवान् सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश को पूरा कर देने का आदेश देते थे। बाद में वे इस प्रकार दिये हुए उपदेश का अनुमोदन भी कर देते थे। स्वतन्त्र रूप से भी अनेक भिक्षुओं ने एक दूसरे के प्रति या गृहस्थ शिष्यों के प्रति अनेक उपदेश दिये हैं। इस प्रकार बुद्ध-उपदेशों के साथ-साथ उनके शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सम्मिलित हैं। भगवान् ने अपने मुख से जो-जो उपदेश दिये, अपने जीवन और अनुभवों के विषय में उन्होंने जो-जो कहा, जिन जिन व्यक्तियों से उनका या उनके शिष्यों का सम्पर्क या संलाप हुआ, जिन जिन प्रवेशों में उन्होंने भ्रमण किया, संक्षेप में बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के अपने ४५ वर्षों में भगवान् की जो-जो भी जीवन-चर्या रही, उसी का यथावत् चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेशों के अतिरिक्त हमें आकस्मिक रूप से छठी और पाँचवीं सताब्दी ईसवी पूर्व के भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय भी सुत्त-पिटक में मिलता है। बुद्ध के समकालीन धर्मों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के जीवन और सिद्धान्तों के विवरण, सोतम बुद्ध के विषय में उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण जनता में प्रचलित उद्योग और व्यवसाय, मनोरञ्जन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और राजन्य-गण, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जाति-वाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ यथा ग्राम, निगम, नगर, जनपद आदि के विवरण और उनके जीवन की साधारण अवस्था, नदी, पर्वत आदि के विवरण, साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियों, दास-दासियों और भूत्यों की अवस्था, आदि के विवरण सुत्त-पिटक में भरे पड़े हैं, जो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों के साथ-साथ तत्कालीन

भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति आदि का भी अच्छा दिग्दर्शन करते हैं।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में प्रायः कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें कई बहुत छोटे भी हैं और कई बहुत बड़े भी। इसी प्रकार गद्य-मय या पद्य-मय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ बिलकुल गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित भी, कुछ थोड़े से बिलकुल पद्य में भी हैं, बीच-बीच में कहीं कहीं गद्य के छिटके के साथ^१। प्रत्येक सुत्त अपने आप में पूर्ण है और वह बुद्ध-उपदेश या बुद्ध-जीवन सम्बन्धी किसी घटना का पूरा परिचय देता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त के प्रारम्भ में उसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रहती है। यह भूमिका हमें बतला देती है कि जिस उपदेश का विवरण दिया जा रहा है, वह भगवान् ने कहाँ दिया। उदाहरणतः 'एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के आराम जेतवन में विहार करते थे' 'एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकुट पर्वत पर विहार करते थे' जैसे वाक्य प्रायः प्रत्येक सुत्त के आदि में आते हैं। सुत्तों की अनेक छोटी-मोटी विवेकताएँ और भी देखी जा सकती हैं। उदाहरणतः भगवान् के उपदेश के बाद प्रायः (सदा नहीं) उपदेश सुनने वालों का इस प्रकार का कृतज्ञतापूर्ण उद्गार देखा जाता है "आश्चर्य है गोतम ! अद्भुत है गोतम ! जैसे आँखें की सीधा कर दे, डँके को उधाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे, जिससे कि आँख वाले रूप को देखें, ऐसे ही आप गोतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया। यह मैं भगवान् गोतम की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की भी शरण जाता हूँ। आप गोतम आज से मुझे अजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें" कहीं कहीं सुत्तों के अन्त में भिक्षुओं की कृतज्ञता केवल इन शब्दों से भी व्यक्त कर दी जाती है "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो भिक्षुओं ने भगवान् के उस कथन का अनुमोदन किया।" मिलने-जुलने, विदा लेने, कृतज्ञता प्रकाशित करने, कुशल-अंगल पूछने आदि साधारण अवसरों पर जिस प्रकार का चिष्टाचार उस समय प्रचलित था, उसका वर्णन प्रायः समान शब्दों में सुत्त-पिटक में अनेक स्थलों पर किया गया है। ऐसे स्थल बार-बार आने के कारण स्वयं कंठस्थ हो जाते हैं। अब कोई भिक्षु भगवान् के दर्शनार्थ दूर से आता था, तो भगवान् उससे अक्सर पूछा करते थे 'कहो भिक्षु ! कुशल से तो हो ? रास्ते में कोई बड़ी हैरानी-परेशानी

१. जैसे दीध-निकाय के महासमय-सुत्त, लक्षण-सुत्त, आदानाटिय-सुत्त आदि

तो नहीं हुई ? भिक्षा के लिये कष्ट तो नहीं उठाना पड़ा ? आदि । भगवान् को जब कोई व्यक्ति निमंत्रण देने आता है तो प्रायः यही वाक्य रहता है "भन्ते ! भिक्षु-संघ सहित आप कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार करें" । उसके बाद "भगवान् ने मौन से स्वीकार किया ।" भगवान् के भिक्षाचर्या के लिये जाने का प्रायः इन शब्दों में वर्णन रहता है "तब भगवान् पूर्वाह्न समय चौबेर पहन, भिक्षा-पात्र ले, जहाँ था, वहाँ गये । जाकर भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर बैठे । ने अपने हाथ से वृद्ध-ग्रन्थ भिक्षु-संघ को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तुष्ट किया । खाकर पात्र से हाथ हटा लेने पर, एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया । भगवान् ने उपदेश से समुत्तेजित, सम्प्रहृष्ट किया । धर्म-उपदेश कर भगवान् आसन से उठकर चल दिये।" जब कोई महाप्रभावशाली व्यक्ति भगवान् के दर्शनार्थ जाता है तो "जितनी यान की भूमि थी, उतनी यान से जा कर, यान से उतर, पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे को भगवान् ने धर्म-सम्बन्धी कथा से समुत्तेजित किया" आदि । इस प्रकार बुद्धकालीन भारतीय समाज का पूरा चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है ।

भगवान् बुद्ध के उपदेश करने का क्या ढंग था, यह भी सुत्तों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है । पहले भगवान् दान, शील, सदाचार-प्रशंसा, दुराचार-निन्दा आदि सम्बन्धी साधारण प्रवचन देते थे । फिर 'बुद्धों की उठाने वाली आदेशना' (बुद्धानं सामुक्कसिका धम्मदेसना) आरम्भ होती थी, जिसमें चार आर्य सत्यों आदि का संक्षिप्त धर्मोपदेश होता था । दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, कूटदन्त-सुत्त आदि में इसी तरह उपदेश का विधान किया गया है । भगवान् एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश करते थे । पहले वे देख लेते थे कि जो व्यक्ति उनके पास दर्शनार्थ आया है वह किसान है, या सिपाही है, या राजा है या परिव्राजक है । फिर उससे परिचित जीवन से ही उपमाएँ आदि लेकर वे उसे धर्म का स्वरूप समझाते थे । परिव्राजकों या अन्य मतावलम्बी साधुओं के साथ वार्तालाप करते समय वे उनके मान्य सिद्धान्तों से ही प्रारम्भ करते थे और उत्तरोत्तर विचार पर उसे अप्रसर करते हुए अपने मन्तव्य तक लाते थे । दीघ-निकाय के सामञ्जाफल-सुत्त, सोपपद-सुत्त, पोद्ठ-पाद-सुत्त और तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के वेस्सणस-सुत्त, सुभ-सुत्त, च्चिकि-सुत्त आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं । भगवान् बुद्ध के उपदेश करने के ढंग या उनकी आदेशना-विधि का बड़ा अच्छा विश्लेषण 'पेटकोपदेस' नामक ग्रन्थ में

क्रिया गया है, जो त्रिपिटक के संकलन के बाद किन्तु बृद्धघोष के काल से पहले, लिखा गया था। छठे अध्याय में हम उसका विवरण देते समय इस विषय का भी कुछ दिग्दर्शन करेंगे।

सूक्तों की सूची की ये विशेषताएँ और द्रष्टव्य हैं (१) पुनरुक्तियों की अति-शयता (२) संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग (३) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता (४) संवादों का प्रयोग (५) इतिहास और आख्यानों का उप-देशों के बीच में समावेश और (६) सूक्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्यक्ति। चूँकि सूक्तों का संकलन विभिन्न स्रोतों से, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा और विभिन्न कालों में हुआ, अतः उनमें पुनरुक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। भिक्षुओं के निरन्तर अभ्यास के लिये स्वयं भगवान् का भी एक ही उपदेश को बार बार देना, कहीं संक्षिप्त रूप से, कहीं विस्तृत रूप से, उसे दुहराना, आसानी से समझा जा सकता है। फिर अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा के कारण इस पुनरुक्तिमय वर्णन-प्रणाली को और भी अधिक प्रथम मिला है। अतः सूक्तों में पुनरुक्तियों का होना एक तथ्य है और वह उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का ही सूचक है, अप्रामाणिकता या अर्वाचीनता का नहीं। सूक्तों में इतनी पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि उनका सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। सूक्तों का 'पेय्याल' अति प्रसिद्ध है।^१ वाक्यांशों के वाक्यांशों की पुनरावृत्ति केवल एक-दो शब्दों के हेर-फेर के साथ अनेक सूक्तों में पाई जाती है। सोण-दंड-सूक्त का अन्तिम भाग बृहद् कूटदन्त-सूक्त में रक्खा हुआ है। चार ध्यानों का वर्णन बिल्कुल समान शब्दों में अनेक सूक्तों में रक्खा हुआ है, यथा सामञ्जसल-सूक्त (दीघ-१।२) अम्बुदत्त-सूक्त (दीघ-१।३) सोणदंड-सूक्त (दीघ-१।४) कूटदन्त सूक्त (दीघ-१।५) महालि-

१. चूँकि पालि-त्रिपिटक में, विशेषतः सूक्त-पिटक में, पुनरुक्तियाँ अधिक हैं, अतः जहाँ कहीं एक पूरे वाक्य 'या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे पूरा न लिख कर केवल एक-दो आरम्भ के शब्द लिख दिये जाते हैं और फिर उसके बाद लिख दिया जाता है 'पेय्याल' जिसका अर्थ यह है कि इतने संकेत से ही पूर्वागत वाक्य को समझा जा सकता है। 'पेय्याल' शब्द का अर्थ ही है 'पातुंअल' अर्थात् इतने से वाक्य समझ लिया जा सकता है और यह पाठ को बचाये रखने के लिये पर्याप्त है। देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैतालीस (वस्तुकथा)

सुक्त (दीघ-१।५) पोट्टपाद-सुक्त (दीघ-१।१९) केवट्ट-सुक्त (दीघ-१।११) सुन्न-सुक्त (दीघ-१।१२) चक्कवत्ति सीहनाद-सुक्त (दीघ-३।३), संगीति-परियाय-सुक्त (दीघ-३।१०), भयमेरव-सुक्त (मज्झिम-१।१।४) द्वेषावितक्क-सुक्त (मज्झिम-१।२।९) महाअस्सपुर-सुक्त (मज्झिम-१।४।९) चूलहत्थिपदोपम-सुक्त (मज्झिम-१।३।७) देवदहसुक्त (मज्झिम-३।१।१) वेरंजक-ब्राह्मण-सुक्त (अंगुत्तर) भान-संयुत (संयुत-निकाय) आदि, आदि। चार आर्य सत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि के विषय में भी इसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। संयुत-निकाय के सल्लायतन-संयुत में कनुरादि इन्द्रियों, उनके विषयों और विज्ञानों आदि को लेकर विस्तृत पुनरुक्तियाँ की गई हैं। अतः पुनरुक्तियों की अतिशयता सुक्तों की शैली की एक प्रधान विशेषता है और जिस कारण वह उत्पन्न हुई है उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग भी बुद्ध-वचनों के मौखिक रूप से प्राप्त होने की परम्परा पर आधारित है। केवल स्मृति की सहायता के लिये ही भगवान् बुद्ध भी इसका प्रयोग करते थे। पूरा का पूरा अंगुत्तर-निकाय इसी संख्यात्मक प्रणाली पर संकलित किया गया है। अन्य निकायों में भी चार आर्य सत्य, पाँच नीवरण, ३२ महापुरुष-लक्षण, ६२ मिथ्या-दृष्टियों आदि के संख्यात्मक निरूपण भरे पड़े हैं। सांख्य दर्शन और जैन-दर्शन तथा महाभारत आदि में भी संख्यात्मक वर्गीकरणों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।^१ पालि सुक्तों में इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है, किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। पालि सुक्तों की उपमाएँ बड़ी समरूपता की हुई हैं। जीवन के अनेक क्षेत्रों से ये उपमाएँ ली गई हैं और उनकी स्वाभाविकता और सरलता बड़ी आकर्षक है। दीघ और मज्झिम निकायों के हिन्दी-अनुवाद में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन निकायों में आई हुई उपमाओं की सूची दी है। उनसे सुत्त-पिटक में आई हुई उपमाओं का कुछ अनुमान हो सकता है। जहाँ भी सुक्तों में कोई जटिल प्रश्न आया हम यह वचन देखते हैं 'ओपम्मं ते करिस्समि, उपमाय हि इधेकच्चे पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति' अर्थात् 'मे तुम्हें एक उपमा कहूँगा। उपमा से भी कुछ एक मनुष्य कहे हुए का अर्थ समझजाते हैं। उपमाओं की प्रणाली का अनुपिटक साहित्य पर भी इतना प्रभाव पड़ा है कि हम 'मिलिन्दपञ्च'

१. देखिये बिट्टरनित्रः हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६५, पद संकेत १

और 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रन्थों तथा बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं में भी उनका बहुल प्रयोग देखते हैं। निश्चय ही पालि साहित्य अपनी उपमाओं के लिये विशेष गौरव कर सकता है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से ही भगवान् स्वयं उपमाएँ दिया करते थे। दीघ-निकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में अनपद-कल्याणी की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है^१। इसी प्रकार स्वानुभव-सुन्य पंडितों की पंक्ति-बद्ध अन्धों से उपमा^२, अतिप्रश्न करने वाले की उस वाण-विद्ध व्यक्ति से उपमा जो वाण को निकलवाने का प्रयत्न न कर वाण मारने वाले के विषय में असंगत प्रश्न कर रहा है^३, विषय भोगों के दुष्परिणामों को दिखाने वाली उपमाएँ^४, विमुक्ति-सुख को दिखाने वाली उपमाएँ^५, आदि अनेक प्रकार की उपमाएँ भगवान् बुद्ध के मुख से निकली हैं, जो काव्य की वस्तु नहीं किन्तु उनके अन्तर्गत से निकली हुई अनुभव सिद्ध वाणिवाँ हैं। संवादों के रूप में सुत्तों के उदाहरण के लिये दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, सौणदण्ड-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त आदि विशेष द्रष्टव्य हैं। अन्य निकायों में भी संवाद भरे पड़े हैं। पौराणिक आख्यान भी सुत्तों में कहीं कहीं समाविष्ट हैं, जैसे महाविजित का आख्यान दीघ-निकाय के कटदत्त-सुत्त में, आदि, आदि। उपनिषदों और महाभारत में भी ऐसे अख्यान पाये जाते हैं।^६ संयुक्त-निकाय के भिक्षुनी-संयुक्त में भिक्षुणियों के आख्यान बड़े ही मार्मिक हैं। सुत्तों की एक बड़ी विशेषता उनकी नाटकीय द्रुतगति एवं किरा-शीलता भी है। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के महापरिनिव्याण-सुत्त और संयुक्त-निकाय के भिक्षुनी-संयुक्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परिप्रश्नात्मक शैली का जैसा पूर्ण परिपाक सुत्तों में हुआ है, वंसा भारतीय साहित्य में अन्य कहीं पाना असम्भव है। बाद में उनका विकसित रूप ही 'मिलिन्द-पञ्च' में प्रस्फुटित हुआ है, जिसके संवादों को देख कर ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ऊपर ग्रीक प्रभाव की

१. देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. अन्यत्रेण परम्परा (अन्धों की लकड़ी का ताँता) चर्क-सुत्तन्त (मज्झिम. २।५।५)।

३. बल मालुङ्क्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३)।

४. पोतलिय-सुत्त (मज्झिम. २।१।४)।

५. सामञ्जसल सुत्त (दीघ. १।२) में

६. देखिये विटरनित्तः हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्ह बूसरो, पृष्ठ ३४

कल्पना कर ली है, जिसका निराकरण हम छोटे अध्याय में उस सम्बन्धी विवरण पर आते समय करेंगे। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों में संवादात्मक शैली का जो परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है, उसी के आधार पर बाद में 'मिलिन्द-पञ्च' में इस कला में पूर्णता प्राप्त की गई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सुत्त-पिटक बुद्ध-वचनों का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग है। न केवल बुद्ध-उपदेशों की जानने के लिये ही बल्कि छोटी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारत के सब प्रकार के ऐतिहासिक, सामाजिक और भौगोलिक ज्ञान का वह एक अपूर्व भंडार है। इतिहास और साहित्य के विद्यार्थी के लिये भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिये। गम्भीर विचारों की दृष्टि से उसका स्थान केवल उपनिषदों के साथ है। उपनिषदों से भी उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उपनिषदों में जब कि विशुद्ध, निर्व्यक्तिक ज्ञान है, सुत्त-पिटक में उसके साथ साथ जीवन भी है। उपनिषदों में बुद्ध के समान ज्ञानी की जीवन-वर्षा कहाँ है? सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-वचनों की गम्भीरता की तुलना रायस डेविड्सने अफलातून के संवादों से की है^१। अफलातून के ज्ञान-गौरव की रक्षा करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तथागत की साधना-मयी वाणी का तो शतांश गौरव भी उसके अन्दर नहीं है। बुद्ध-वचन अपनी गम्भीरता में सर्वथा निरुपमेय है। जब सम्यक् सम्बुद्ध जैसा वरदान ही प्रकृति ने मानव को नहीं दिया, तो उनके जैसे वचन भी कहाँ से हों? अतः धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन, इतिहास, प्राचीन भूगोल आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुत्त-पिटक, जैसा पहले भी दिखाया जा चुका है, पाँच भागों में विभक्त है (१) दीघ-निकाय (२) मज्झिम-निकाय (३) संयुत्त-निकाय (४) अंगुत्तर-निकाय और (५) खुट्ठक-निकाय। इनमें प्रथम चार निकाय संग्रह-शैली की दृष्टि से समान हैं। पाँचवाँ निकाय छोटे छोटे (जिनमें कुछ बड़े भी हैं) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। विषय तो सब का बुद्ध-वचनों का प्रकाशन ही है। केवल सुत्तों के आकारों या विषय के विन्यास में कहीं कुछ अन्तर है। प्रत्येक निकाय की विषय-वस्तु का अब हम संक्षिप्त परिचय देंगे और साथ ही उनके साहित्यिक

१. इसके दर्शन के लिये देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. दि डायलॉग्स ऑव दि बुद्ध, जित्व पहली, पृष्ठ २०६

और ऐतिहासिक महत्व का भी अनुमापन करना हमारे अध्ययन का एक अंग होगा।

अ—दीघ-निकाय^१

दीघ-निकाय दीर्घ आकार के सुत्तों का संग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सुत्त या बुद्ध-उपदेश बड़े हैं, वे इस निकाय में संगृहीत हैं। दीघ-निकाय तीन भागों में विभक्त है (१) सीलक्खन्ध (२) महावग्ग (३) पाथेय या पाटिक-वग्ग। इनमें कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं, जिनमें सीलक्खन्ध में १-१२, महावग्ग में १४-२३ और पाथेय या पाटिकवग्ग में २४-३४ सुत्त हैं। जिस क्रम से इन सुत्तों का विन्यास किया गया है, वह काल-क्रम के अनुसार पूर्वापरता का सूचक नहीं है। कुछ घटनाएँ या उपदेश जो कालक्रमानुसार बाद के हैं पहले रख दिये गये हैं और इसी प्रकार जिन्हें पहले होना चाहिये वे बाद में रखे हुए हैं। इसका कारण यही है कि काल-क्रम के अनुसार सुत्तों को यहाँ विन्यस्त न कर आकार आदि की दृष्टि से किया गया है। पिटक और अनुपिटक (विशेषतः अष्टकथा) साहित्य के साक्ष्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने दीघ-निकाय के कुछ सुत्तों के काल-नुक्रम का निश्चय कर उन्हें उस ढंग से अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' में अनुदित किया है। यह एक स्तुत्य कार्य है। पश्चिमी विद्वान् अष्टकथाओं के साक्ष्य पर इतना अधिक विश्वास न कर केवल डॉली और भाषा आदि के साक्ष्य से ही दीघ-निकाय या पूरे सुत्त-पिटक के विभिन्न अंशों की पूर्वापरता निश्चित करना चाहते हैं, जो अन्त में केवल उनकी कल्पना का विलास मात्र रह जाता है। फ्रेंक नामक विद्वान् ने तो इसी आधार पर अपने विचित्र मत भी पूरे त्रिपिटक और दीघ-निकाय के सम्बन्ध में प्रकाशित कर दिये हैं। उन्होंने दीघ-निकाय के विषय में कहा है कि यह किसी एक लेखक या साहित्यकार का काम है। चूंकि ओल्डनबर्ग,^२ रायस डेविड्स,^३ विटरनित्ज^४, गायगर^५ आदि विद्वानों द्वारा

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७

२. ३. ४. ५. देखिये विशेषतः विटरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४४-४५; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेखेज, पृष्ठ १७, पद-संकेत ४; रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के ग्रन्थों के संकेत भी यहाँ दोनों जगह दिये हुए हैं।

उनके मत का पर्याप्त निराकरण कर दिया गया है, अतः उनके अ-महत्त्वपूर्ण कल्पना-विलास को, जिसे उन्होंने दीघनिकाय की प्रामाणिकता के विरुद्ध रक्खा था, यहाँ उद्धृत और फिर से निराकृत कर, उसे अनावश्यक महत्त्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दीघ-निकाय के सुत्त कलात्मक एकात्म-कता के अनुसार विन्यस्त होने पर भी बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिक हैं। यदि उन सब का आधारभूत विचार एक ही है, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे किसी एक ही लेखक की कृतियाँ हैं। बुद्ध के उपदेशों के रूप में भी उनमें एकात्मता तो होनी ही चाहिये। पालि दीघ-निकाय के ३४ सुत्तों में से २७ चीनी दीर्घायम में मिलते हैं। शेष सात में से ३ मध्यमागम में मिलते हैं और ४ का पता नहीं लगा है^१। विषय का विन्यास यहाँ भिन्न होते हुए भी विषय-वस्तु तो प्रायः समान ही है। दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक इन सब सुत्तों का अनुवाद चीनी भाषा में हो गया था। चूँकि इसके पूर्व प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के 'मिलिन्दपञ्च' में भी इनमें से अनेक का नामतः उल्लेख है, अतः इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। बाहरी आकार की दृष्टि से दीघ-निकाय के सब सुत्तों में समानता नहीं है। सीलक्खन्ध के सब सुत्त प्रायः गद्य में हैं, केवल कुछ पंक्तियाँ मात्र गद्यांशों के रूप में हैं। महावग्ग और पाथेय या पाटिक-वग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। पाथेय या पाटिक-वग्ग के महासमय-सुत्त और आटानाटिय सुत्त तो बिलकुल पद्य में ही हैं। सील-क्खन्ध के सूत्रों की यह प्रधान विशेषता है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी बुद्ध-उपदेशों का विवरण देते हैं और उनमें बुद्धकालीन भारतीय समाज का भी पर्याप्त शील-निरूपण मिलता है, उसके सामाजिक और धार्मिक जीवन का पुराचित्र, आदि। यही उसके 'सीलक्खन्ध' नामकरण का भी कारण है। 'महावग्ग' के प्रत्येक सुत्त के नाम का आरम्भ 'महा' शब्द से होता है। विहरनिब्व ने इस 'महा' शब्द में क्षेपकों का रहस्य निहित माना है। उनका कहना है कि पहले इस वर्ग के उपदेश संक्षिप्त आकार के रहे होंगे और बाद में उन्हें बड़ा-कर 'महा' कर दिया गया है^२। चूँकि स्वयं भगवान् बुद्ध भी एक ही विषय पर

१. पूरे विवरण के लिये देखिये दीघ-निकाय (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) का प्राक्कथन

२. विशेषतः 'महापरिनिब्बान-सुत्त' में इस प्रकार के उत्तरकालीन परिवर्तनों

अक्सर और पात्रों के अनुसार संक्षिप्त और दीर्घ उपदेश दे सकते थे और संकलन के समय भिन्न भिन्न व्यक्तियों और स्रोतों से आने के कारण उन्हें वैसा ही संकलित कर दिया गया है, अतः एकही विषय-सम्बन्धी दो अल्प और बड़े आकार वाले सुत्तों को देखकर बड़े आकार वाले सुत्तों को बाद के परिवर्द्धन ही नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश में हम 'महावग्ग' के सब सुत्तों को मौलिक बृद्ध-वचन ही मानने के पक्षपाती हैं। 'पाथेय' या 'पाटिक वग्ग' का यह नामकरण इसलिये है कि इस वग्ग के सुत्तों के आदि में 'पाटिक-सुत्त' नामक सुत्त है। दीघ-निकाय का अधिक साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिये पहले हम उसके सुत्तों को विषय-वस्तु का अलग-अलग संक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

सीलक्खन्ध-वग्ग

ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १।१)

ब्रह्मजाल-सुत्त दीघ-निकाय का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। प्राग्वृद्धकालीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का एक अच्छा चित्र यहाँ मिलता है। विशेषतः उस धार्मिक विचिकित्सा का, जो उस समय भारतीय वायुमंडल में सर्वत्र फैली हुई थी, और उसके सम्पूर्ण अतिवादों का, एक अच्छा विश्लेषण यहाँ मिलता है। ब्रह्मजाल-सुत्त का अर्थ है श्रेष्ठ (ब्रह्म) जाल रूपी बृद्ध-उपदेश। बृद्ध-उपदेश को यहाँ श्रेष्ठजाल कहा गया है। किसे पकड़ने के लिये? फिसलकर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ने के लिये। इस सुत्त के उपदेश के अन्तमें आनन्द ने, जो पीछे से भगवान् को पंखा भल रहे थे, पूछा "भन्ते! इस उपदेश को क्या कह कर पुकारा जाय?" "आनन्द! तुम इस धर्म-उपदेश को 'अर्य-जाल' भी कह सकते हो, धर्म-जाल भी, ब्रह्म-जाल भी,

का विवेचन डा० चिट्टरनिस्स ने किया है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जित्व दूसरी, पृष्ठ ३८-४२

१. दीघ-निकाय के १-२३ सुत्त दो भागों में देव-नागरी लिपि में बम्बई विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित कर दिये गये हैं। प्रथम भाग, सुत्त १-१३; द्वितीय भाग सुत्त १४-२३; दीघ-निकाय का महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप कृत हिन्दी अनुवाद (महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७) तो प्रसिद्ध ही है।

दृष्टि-जाल भी, लोकोत्तर संग्राम-विजय भी।" १ मिथ्या-दृष्टियों को पकड़ने के लिये भगवान् ने ब्रह्मजाल-सुत्त का उपदेश दिया।

जिन मिथ्या दृष्टियों का विवरण ब्रह्म जाल सुत्त में दिया गया है, उनकी संख्या ६२ है। इनमें १८ मिथ्या धारणाएँ जीवन और जगत् के आदि सम्बन्धी हैं और ४४ अन्त सम्बन्धी। इनमें पहली १८ मिथ्या धारणाओं को पाँच भागों में बाँटा गया है यथा (१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यतावाद (३) सान्त-अनन्तवाद (४) अमराविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद। इनमें से प्रथम चार की सिद्धि में प्रत्येक में चार चार हेतु दिये गये हैं और अन्तिम सिद्धान्त (अकारणवाद) की सिद्धि में दो। इस प्रकार १८ हेतुओं से नानाश्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक प्राग्वृद्धकालीन भारत में आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी, (पूर्वान्त कल्पित) उपर्युक्त पाँच मतों का प्रस्थापन किया करते थे। इन्हीं को यहाँ मिथ्या दृष्टियाँ कहा गया है। आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी (अपरान्त-कल्पित) ४४ मिथ्या-धारणाएँ थीं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक १६ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद भी आत्मा संजी (होश वाजा) रहता है, कुछ ८ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा असंजी हो जाता है' (अर्थात् वह होश वाला नहीं रहता) कुछ ३ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'आत्मा का पूर्ण उच्छेद ही हो जाता है'। ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इस प्रकार इन परस्पर विरोधी ४४ हेतुओं से आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी सिद्धान्त कल्पित किये जाते थे। यही ४४ अपरान्तकल्पित मिथ्या दृष्टियाँ थी। इस प्रकार कुछ मिलकर ६२ परस्पर-विरोधी, मानसिक आयासों से पूर्ण, मिथ्या-दृष्टियाँ भारतीय वायुमंडल में भगवान् बुद्ध के उदय से पूर्व प्रचलित थीं, जिनका निदर्शन इस सुत्त में किया गया है।

ब्रह्मजाल सुत्त की मुख्य विषय-वस्तु उपर्युक्त ६२ मिथ्यादृष्टियों का विवरण ही है, किन्तु उसमें प्रसंगवश और भी बहुत सी बातें आ गई हैं। आरम्भ ही में हम

१. "को नामो अयं भस्से धम्म परिपायायोति" "तस्माति ह त्वं आनन्द इमं धम्म-परिपायं अत्वजालं ति पि न धारेहि, धम्मजालं ति पि न धारेहि, ब्रह्मजालं ति पि न धारेहि, विट्ठ जालं ति पि न धारेहि, अनुत्तरो संगम-विजयो ति पि न धारेहि।"

भगवान् को भिक्षुओं के सहित राजगृह और नालन्दा के बीच के रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। वे भिक्षुओं को निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश करते हैं। उसके बाद मूल (आरम्भिक) मज्झिम (मध्यम) और महा के रूप में शील की तीन भूमियों का विवरण है। यहीं प्रसंगवश उन अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों तथा मनुष्यों के रहन-सहन सम्बन्धी वृत्तों का विवरण मिलता है जिनसे विरत रहने का भिक्षुओं को उपदेश दिया गया है। उस समय के समाज के जीवन की दशा का इससे बड़ा अच्छा पता लगता है। उस समय के मनोरंजन के साधनों को लीजिये तो नृत्य, गीत, वाजे, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, पड़े पर तबला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बौस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सैन्य-प्रदर्शन आदि के विवरण मिलते हैं। मनुष्यों के आमोद-प्रमोद के साधनों को देखें तो दीर्घ आसन, पलंग, बड़े बड़े रोयें वाले आसन चित्रित आसन फूलदार बिछावन सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाले आसन, भालरदार आसन आदि के विवरण, वर्षण, अंजन, मोला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन, हाथ के आमूषण, छड़ी, तलवार, छाता, सुन्दर जूता, टोपी, मणि, चँवर आदि के विवरण पाते हैं। अनेक प्रकार के कपड़े जैसे राजकथा, चोदकथा, घाम, तिगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट और भूत-प्रेत आदि की कपड़े, अनेक प्रकार के फलित ज्योतिष के विधान, अनेक प्रकार के मिथ्या सामाजिक विश्वास और माध्यम-जीवन-निर्वाह के ढंग भी विवृत किये गये हैं। यज्ञयागादि की परम्परा कितनी विकृत हो चली थी, इसका एक संकेत अनेक प्रकार के होमों की इस सूची में ही देखिये 'अग्नि-होम, दर्वी होम, तुप-होम, कण-होम, तंडुल होम, धूत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर होम' आदि। अनेक प्रकार की विद्याओं यथा वास्तु विद्या, क्षेत्र विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि के विवरण यहाँ दिये गये हैं। सारांश यह कि प्राम्बुद्ध-कालीन भारत का सारा सामाजिक और धार्मिक जीवन यहाँ चित्रित हो उठा है। दार्शनिक दृष्टि से इस सृष्टि का यह महत्व है कि वह भगवान् बुद्ध के ज्ञान के उस स्वरूप की ओर इंगित करता है जो मध्यमा-प्रतिपदा पर आधारित है और जिसमें जीवन के सत्य का साक्षात्कार (सच्छिकिरिया) ही मुख्य है, साश्वतवाद या अशाश्वत-वाद आदि के पक्षों में पड़ना नहीं। अतः प्राम्बुद्धकालीन भारतीय विचार की विचिकित्साओं और उनकी पृष्ठभूमि में बुद्ध-ज्ञान का सन्देश तथा प्रसंगवश

तत्कालीन भारतीय समाज के उद्योग-व्यवसायों आदि के चित्रण की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सामञ्जसफल-सुत्त (दीघ. १।२)

सामञ्जसफल-सुत्त (श्रामण्य फल सम्बन्धी बुद्ध-उपदेश) में हम पितृ-वध के पद्मासाप से संतप्त मगध-राज अजातशत्रु को चित्त-शान्ति प्राप्त करने के हेतु भगवान् के पास आता देखते हैं। पहले वह अन्य आचार्यों के पास भी जा चुका है, किन्तु शान्ति नहीं मिली। इसी कारण यहाँ प्रसंगवश बुद्धकालीन उन छह प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का भी निदर्शन कर दिया गया है, जिनका आनना बौद्ध धर्म के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इन छह आचार्यों के नाम थे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केश कम्बलि, प्रकृष कात्यायन, निगण्टु ज्ञातपुत्र और संजय वेलट्ठि पुत्त। मक्खलि गोसाल का मत अक्रियावाद था। उनके मत में पाप-पुण्य कुछ नहीं था। 'छूरे के समान तेज चक्र से कोई इस पृथिवी के प्राणियों के मांस का एक खलियान, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी इसके कारण उसे पाप नहीं लगेगा'। दान, दम, संयम, तप में कोई पुण्य नहीं है, हिंसा, चोरी आदि में कोई पाप नहीं है, यही इनका मत था। मक्खलि गोसाल पुरे दैववादी थे। वे कहते थे। 'सत्त्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्त्व शुद्ध होते हैं। पुरुष कुछ नहीं कर सकता है। बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी अपने वश में नहीं हैं। निर्वल, निर्बीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से इधर-उधर उत्पन्न हो दुःख भोगते हैं।' अजित केश कम्बलि का मत था जड़वाद या उच्छेदवाद। वह कहता था 'न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप या अच्छा बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है' आदि, आदि। प्रकृष कात्यायन का मत था अकृततावाद। वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सूख, दुःख और जीवन, इन सब को अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ, और अचल मानता था। 'यहाँ न हल्ता है, न घातपिता, न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला'। निगण्टु-ज्ञातपुत्र (निर्घन्य ज्ञातपुत्र, भगवान् महावीर, जैन-तीर्थङ्कर) के मत में चार प्रकार के संयमों का विवरण दिया गया है "निर्घन्य ज्ञातपुत्र किस प्रकार के संयमों से संयत रहते हैं? (१) निर्घन्य ज्ञातपुत्र जल का वारण करते हैं (जिसमें जल के

जीव न मारे जायें) (२) सभी पापों का वारण करते हैं (३) सभी पापों के वारण करने से पाप-रहित होते हैं (४) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं।" संजय वेलट्टिष्ठपुत्र का मत अनिश्चिततावाद था। उनका कहना था "मैं यह भी नहीं कहता, मैं वह भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता 'यह है'। मैं यह भी नहीं कहता 'यह नहीं है, मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता'। बृद्धकालीन धार्मिक वातावरण को जानने के लिये इन छह आचार्यों के मतों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने अज्ञातवास को श्रमणता (श्रमण्य) या प्रव्रज्या का फल नैतिक मूल्यों के द्वारा बतलाया है। संसार के मूल्यों में उसे नहीं तौला जा सकता। पहले यहाँ भी शील का प्रारम्भिक, मध्यम और महा इन तीन भूमियों में विवरण है, फिर इन्द्रिय-संयम, स्मृति-सम्प्रजग्य, सन्तोष आदि के अभ्यास का विवरण है। अन्त में पञ्चास्ताप से अभिभूत राजा कहता है "भन्ते ! मैंने धार्मिक, घमंराज पिता की हत्या की ! भन्ते ! भविष्य में सँभल कर रहने के लिये मुझ अपराधी पापी को आप क्षमा करें"। जिन दृष्टियों से ब्रह्मजाल सुत्त का महत्व है, उन्हीं 'दृष्टियों' से यह सुत्त भी महत्वपूर्ण है। वास्तव में कुछ हद तक यह उसका पूरक ही है।

अम्बट्ट-सुत्त (दीघ. १।३)

पीष्करसाति नामक ब्राह्मण के अम्बट्ट (अम्बट्ट) नामक शिष्य के साथ भगवान् बृद्ध का संवाद है। अम्बट्ट अपने उच्च वर्ण के घमंड के कारण भगवान् के पास जाकर अशिष्टतापूर्वक बातें करता है। शाक्यों पर अनुचित आरोप भी करता है। जब भगवान् उसके अशिष्ट व्यवहार का उसे स्मरण दिलते हैं तो वह कहता है "हे गोतम ! जो मृदक, श्रमण, इभ्य (नीच) काले, ब्रह्मा के पैर की सन्तान, हैं उनके साथ ऐसे ही कथा संलाप किया जाता है, जैसा मेरा आप गोतम के साथ।" भगवान् उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को छोड़ देने को कहते हैं। "अम्बट्ट ! जहाँ आवाह-विवाह होता है वहीं यह कहा जाता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नहीं है'। वहीं यह जातिवाद, गोत्रवाद, मानवाद भी चलता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नहीं है'। अम्बट्ट ! जो कोई जातिवाद में फँसे है, गोत्रवाद में फँसे है, अनिमानवाद में फँसे है, आवाह-विवाह में फँसे है, वे अनुपम विद्या और आचरण को सम्पदा से दूर हैं। अम्बट्ट ! जातिवाद के बंधन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन और आवाह-विवाह-बन्धन

छोड़कर ही अनुपम विला और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।" इस प्रकार इस सुत को जातिवाद के विरुद्ध भगवान् का सहनाद ही समझना चाहिये। इस सुत का एक ऐतिहासिक महत्व यह है कि यहाँ कृष्ण को एक प्राचीन ऋषि के रूप में स्मरण किया गया है "वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होंने दक्षिण देश में जाकर ब्रह्ममन्त्र पढ़ कर, राजा इक्ष्वाकु के पास जा उसकी क्षुद्ररूपी कन्या को माँगा। तब राजा इक्ष्वाकु ने 'जरे यह मेरी दासी का पुत्र होकर मेरी कन्या को माँगता है, क्रुपित हो असन्तुष्ट हो, बाण चढ़ाया।'..... इक्ष्वाकु ने ऋषि को कन्या प्रदान की। वह कृष्ण महान् ऋषि थे।" शास्त्रों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ वर्णन किया गया है।

सोणदण्ड-सुत. (दीप १४)

सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। विषय यही पूर्ववत् जातिवाद का खंडन। ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों अर्थात् सदाचार और ज्ञान का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, न कि केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न। इस सुत में अङ्ग की राजधानी चम्पा (वर्तमान चम्पा नगर और चम्पापुर, भागलपुर के समीप) का उल्लेख है। राजा धिम्बसार द्वारा प्रदत्त चम्पा नगर की आय का उपभोग सोणदण्ड ब्राह्मण करता था।

कूटदन्त-सुत (दीप. १५)

कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। बड़ी सामग्रियों वाले एवं हिंसामय यज्ञ के स्थान पर यहाँ ज्ञान-यज्ञ का आदर्श रखा गया है। कूटदन्त ब्राह्मण एक महायज्ञ करना चाहता था। उसने भगवान् से जाकर पूछा, "भन्ते ! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। मेने सुना है आप सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते हैं। कृपाकर आप मुझे उसे बतावें।" भगवान् ने पूर्वकाल में महाविजित के आश्वान को कह कर उसे यह तत्त्व बताया है। वास्तव में महाविजित का यह आश्वान एक प्रकार का जातक-कथानक ही है। महाविजित नामक राजा ने भी प्राचीन युग में एक यज्ञ किया था। "ब्राह्मण ! उस यज्ञ में गार्ग्य नहीं मारी गई, वक्रे-भेड़े नहीं मारी गई, मृग-सुअर नहीं मारे गये। न यज्ञ-स्तम्भ के लिये वृक्ष काटे गये, न पर-हिंसा के लिये कुश काटे गये। जो भी उसके दास और नौकर थे, उन्होंने भी दण्ड के भय से रहित होकर, जिन्होंने चाहा किया, जिन्होंने

नहीं चाहा, नहीं किया। अन्न, मूत्र, रोंते हुए, उन्हें सेवा नहीं करनी पड़ी। जिसे चाहा उसे किया, जिसे नहीं चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और खांड से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।" इस प्रकार दिव्य-यज्ञ में भी भगवान् सेवकों से बेगार न लेने के विशेषतः पक्षपाती है। किन्तु जिस यज्ञ का उन्होंने विधान किया है वह तो इससे भी बहुत बढ़कर है। वह यज्ञ है ज्ञान-यज्ञ, भिराट्-यज्ञ, शिष्यापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। तथागत इसी यज्ञ के पक्षपाती है।

महालि सुत्त (दीघ. १६)

सुनक्षत्र नामक लिच्छवि-पुत्र भगवान् के शिष्यत्व को छोड़कर चला गया है। उसे आशा थी कि भगवान् के पास रहते मैं दिव्य शब्द सुनूँगा, योग की विभूतियों को प्राप्त करूँगा, आदि। जब ऐसा न हुआ तो उसने उन्हें छोड़ दिया। इसी के बारे में प्रश्न करने के लिये महालि नामक एक अन्य लिच्छवि सरदार भगवान् के पास आया है "भन्ते! क्या सुनक्षत्र लिच्छवि-पुत्र ने विद्यमान ही दिव्य-शब्द नहीं सुने या अविद्यमान।" भगवान् उसे समझाते हैं कि ब्रह्मचर्य का उद्देश्य दिव्य शब्द सुनना या योगकी विभूतियोंको प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उसका एक मात्र उद्देश्य तो सदाचार के जीवन के अभ्यास के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करना है। निर्वाण के साक्षात्कार के लिये ही ब्रह्मचर्य का ग्रहण किया जाता है और उसी के द्वारा दुःख का अन्त होता है। "यही मैं महालि! अधिक उत्तम धर्म जिसके साक्षात्कार करने के लिये भिक्षु मेरे पास आकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।" आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास एवं सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के जीवन से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह भी अन्त में अन्य सत्तों की तरह उपदिष्ट किया गया है।

जालिय-सुत्त (दीघ. १७)

जालिय नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। यह परिव्राजक भगवान् के पास आकर उनसे पूछता है "आवुस?। मोतम! जीव और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं या एक ही?" भगवान् उसे समझाते हैं कि जीव और शरीर का भेद-अभेद कथन ही व्यर्थ है। जीवन का तत्त्व साक्षात्कार में है। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

१. जैसे कि मानो मोतम उससे छोटे हों। संभवतः परिव्राजक की आयु भगवान् से अधिक थी और इस सुत्त का सम्बन्ध भगवान् की तृण अवस्था से है।

कस्सप सीहनाद-सुत्त (दीघ. १।८)

काश्यप (कस्सप) नामक अचेल (नग्न) साधु के साथ भगवान् का संवाद । अचेल काश्यप ने कहीं से सुन लिया है कि भगवान् बुद्ध सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करते हैं । वह अपनी शंका लेकर भगवान् के पास आता है । भगवान् उसे कहते हैं कि सब प्रकार की तपस्याओं का निन्दा करने वाला उन्हें कहना तो उनकी असत्य से निन्दा करना है । “काश्यप ! मैं सब तपस्वरणों की निन्दा कैसे कहूँगा ?” सच्ची धर्मचर्या में भगवान् का अन्य साधु-सम्प्रदायों से कोई वैमत्य नहीं है । किन्तु सभी आचार-विचार छोड़ देना या अन्य सैकड़ों प्रकार के कायिक क्लेश देना जिनका विस्तृत विवरण इस सुत्त में है और जो उस समय की भारतीय साधना का अच्छा परिचय देते हैं, उनसे भगवान् की सहमति नहीं है । “काश्यप । जो आचार-विचार को छोड़ देता है, वह शील-सम्पत्ति, समाधि-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति की भावना नहीं कर सकता और न उनका साक्षात्कार ही कर पाता है । अतः वह भ्रामण्य और ब्राह्मण्य से बिल-कुल दूर है । काश्यप ! जब भिक्षु वैर और द्वेष से रहित होकर मैत्री-भावना करता है और चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है, तो वही यथार्थतः श्रमण कहलाता है और वही ब्राह्मण भी” । वास्तव में उसी की तपस्या भी सच्ची है । शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा अतिवाद पर आश्रित कायक्लेशमयी तपस्याओं को छोड़कर मध्यम-मार्ग रूपी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास का भी उपदेश यहाँ दिया गया है ।

पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९)

पोट्ठपाद नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद । आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाना ब्रह्मचर्य के लिये सहायक नहीं, यही यहाँ पोट्ठपाद परिव्राजक को भगवान् ने बताया है और शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करने का उपदेश दिया है । क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आदि प्रश्नों को भगवान् ने क्यों अव्याकृत अर्थात् अनिवचनीय या अकथनीय कह कर छोड़ दिया है, इसका भी समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है “पोट्ठपाद ! न मे अयं-युक्त, न धर्म-युक्त, न ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद के लिये, न विराग के लिये, न निरोध के लिये, न ज्ञान

के लिये, न संबोधि के लिये, न निर्वाण के लिये हैं, इसलिये मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है।”

सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद यह प्रवचन उनके उपस्थाक शिष्य आनन्द के द्वारा दिया गया। सुभ नामक माणवक को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्द बताते हैं कि भगवान् बुद्ध शील, समाधि और प्रज्ञा, इन तीन धर्म-स्कन्धों के बड़े प्रशंसक थे और इन्हें ही वे जनता को सिखाते थे। आनन्द द्वारा इन तीनों धर्मों का बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार यहाँ विवरण दिया गया है।

केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११)

केवट्ट नामक गृहपति-पुत्र के साथ भगवान् का संवाद। ऋद्धियों का दिखाना भगवान् ने निषिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार सब से बड़ा चमत्कार तो उप-देश का ही चमत्कार है, आदेशना-प्रातिहार्य या अनुशासनी-प्रातिहार्य (अनुशासन रूपी चमत्कार) ही है। देवताओं और ब्रह्मा को भी यहाँ उस तत्त्व के विषय में जहाँ पृथ्वी, जल, तेज और वायु का निरोध हो जाता है, अनभिज्ञ बताया गया है, जब कि बुद्ध उसमें अभिज्ञ हैं।

लोहिच्छ-सुत्त (दीघ. १।१२)

लोहिच्छ (लोहित्य) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। भूटे और सच्चे शास्त्राओं के विषय में भगवान् ने लोहिच्छ को उपदेश दिया है।

तेविज्ज-सुत्त (दीघ. १।१३)

वाशिष्ट और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों के साथ भगवान् का संवाद। अपरोक्ष-अनुभूति और सत्य-साक्षात्कार के बिना तीनों वेदों का ज्ञान व्यर्थ है, यह इस सुत्त की मूल भावना है। इस सुत्त में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, इन ग्रन्थों या परम्पराओं का उल्लेख हुआ है जो सम्भवतः उस नाम की उपनिषदों की ओर संकेत करते हैं। अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वाशिष्ट, कश्यप और भृगु, इन दस ऋषियों को यहाँ मन्त्रों का कर्ता या वेदों का रचयिता बताया गया है^१। तीनों

१. ये कितन कितन मन्त्रों के ऋषि या रचयिता हैं, इसके लिये देखिये राहुल सांकृत्यायन: दर्शन-विश्लेष, पृष्ठ ५२७-५२८

वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग का उपदेश करते हैं, किन्तु ब्रह्मा को अपने अनुभव से, अपने साक्षात्कार से, जानते कोई नहीं। भगवान् बुढ़ एक मधुर व्यंग्यमयी उपमा करते हैं "वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मण जिसे न जानते हैं, जिसे न देखते हैं, उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं। जैसे कि वाशिष्ट पुरुष ऐसा कहे—इस जनपद की ओ सुन्दरतम स्त्री (जनपद कल्याणी) हैं मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उससे यदि छोग पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद कल्याणी को तू चाहता है, तू क्या जानता है कि वह क्षत्राणी है या ब्राह्मणी है या वैश्य स्त्री है या शूद्र स्त्री है ?' ऐसा पूछने पर वह नहीं कहे। तब उससे पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है वह किस नाम वाली, किस गोत्र वाली, लम्बी, छोटी या मझोली है ? काली, श्यामा, किस ग्राम या नगर में रहती है ? वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मणों ने ब्रह्मा को अपनी आँखों से नहीं देखा उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं !" उपास्य और उपासक के गुणों के भेद की ओर भी भगवान् ने संकेत किया है। उपास्य (ब्रह्मा) अ-परिग्रही, उपासक (ब्राह्मण) परिग्रही; उपास्य अवैर-चित्त, उपासक वैरवृद्ध, उपास्य ब्रह्मचर्य, उपासक अवश्रवर्ती। "वाशिष्ट ! अपरिग्रह त्रैविद्य ब्राह्मण काया छोड़ मरने के बाद परिग्रह-रहित ब्रह्मा के साथ सलोकता को प्राप्त कर सकेंगे, यह सम्भव नहीं।" मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक तथागत-प्रवेदित मार्ग का साक्षात्कार कर ब्रह्म-विहार में स्थित हो जाय, तो फिर "वह अपरिग्रह भिक्षु काया छोड़ मरने के बाद अपरिग्रह ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।" आचरण की सभ्यता को यहाँ भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दों में रख दिया है।

महावग्ग

महापदान-सुत्त (दीघ. २।१)

भगवान् के पूर्ववर्ती छह बुढ़ों, यथा विपस्सी (विपश्यो) सिखी (शिखी) बेस्सभू (विश्वभू) भद्रकल्प, ककुसन्ध (ककुच्छन्द) और कोणा-गमन की जीवनियों का वर्णन। मोक्षम बुढ़ की जीवनी के आधार पर ही ये गढ़ लिये गये हैं, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ नहीं।

महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२)

प्रतीत्यसमुत्पाद का इस सुत्त में विस्तृततम विवरण है। सुत्त के प्रारम्भ में आनन्द यह कहते दिखाई पड़ते हैं "आश्चर्य है भन्ते ! अद्भुत है भन्ते ! कितना गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है यह प्रतीत्यसमुत्पाद, किन्तु मुझे यह साफ साफ दिखाई पड़ता है"। भगवान् उन्हें समझाते हैं "ऐसा मत कहो आनन्द ! यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखाई भी देता है। आनन्द ! इस धर्म के जानने से ही यह प्रजा उलझे सुत सी, गाँठें पड़ी रस्सी सी, मूँज कल्पज सी, अपाय, दुर्गति और पतन को प्राप्त होती है और संसार से पार नहीं हो सकती।" इसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवरण है, उसके विभिन्न १२ अंगों की व्याख्या के साथ।

महापरिनिब्बान-सुत्त (दीघ. २।३)

महापरिनिब्बान-सुत्त दीघ-निकाय का सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुत्त है। यहाँ हम भगवान् के अन्तिम जीवन का बड़ा मार्मिक और सच्चा चित्र पाते हैं। इस सुत्त में प्रधानतः इतनी घटनाओं की सूचना हम पाते हैं (१) वज्रियों के विरुद्ध अजातशत्रु के अभियान का इरादा (२) बुद्ध की अन्तिम यात्रा (३) अम्बपाली गणिका का भोजन (४) भगवान् को कड़ी बीमारी (५) बुद्ध का दिया अन्तिम भोजन (६) जीवन का अन्तिम समय (७) स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं के कर्तव्य (८) चक्रवर्ती की दाह-क्रिया (९) सुभद्र की प्रव्रज्या (१०) अन्तिम उपदेश (११) भगवान् का परिनिर्वाण (१२) दाह-क्रिया (१३) स्तूप-निर्माण। इन सब घटनाओं का संक्षिप्त निदर्शन भी यहाँ सही किया जा सकता। केवल एक-दो प्रसंग लेख बद्ध किये जा सकते हैं। परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द ने भगवान् से पूछा "भन्ते ! तयागत के शरीर को हम कैसे करेंगे ?" भगवान् ने उत्तर दिया "आनन्द ! तयागत की शरीर-पूजा से तुम बेपर्वाह रहो। तुम तो आनन्द सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्न करना, सच्चे पदार्थ के लिये ही उद्योग करना। सच्चे अर्थ के लिये ही अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विहरना।" आनन्द ने पूछा "भन्ते ! स्त्रियों के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे ?" "अ-दर्शन, आनन्द !" वास्तव में बुद्ध के अन्तिम जीवन से परिचित होने के लिये और उनके सेवक शिष्य आनन्द के साथ उनकी इस समय की चारिकाओं के लिये इस सुत्त का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। महा-परिनिर्वाण प्राप्त करने से पूर्व भगवान् ने भिक्षुओं को

आपसित किया "आनन्द ! शायद तुम को ऐसा हो—हमारे शास्ता चले गये, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द ! ऐसा मत समझना । मैंने जो धर्म और विनय तुम्हें उपदेश किये हैं, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे ।" अनुकम्पक शास्ता ने अन्तिम बार भिक्षुओं को सम्बोधित किया "हन्त ! भिक्षुओ, अब तुम्हें कहता हूँ—सभी संस्कार (कृत वस्तुएँ) व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो"—यही तथागत का अन्तिम वचन था । राजगृह से लेकर कुसिनारा तक की बुद्ध-यात्रा का वर्णन, जहाँ-जहाँ भगवान् उनके उनके पूर्ण विवरण के साथ, हमें यहाँ मिलता है । इस प्रकार अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली, भंडगाम, हत्थिग्राम, और पावा आदि स्थानों का वर्णन आया है । वैशाली गणतंत्र के सात गुणों की प्रशंसा भी भगवान् ने इस सूत्र में की है ।

महासुदस्सन-सुत्त (दीघ. २।४)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे । उसी समय की उनकी जीवनी का विस्तृत विवरण है । 'महासुदस्सन जातक' के कथानक से यहाँ समानता और असमानता दोनों ही हैं ।

जनवसभ-सुत्त (दीघ. २।५)

विम्बिसार मरने के बाद जनवसभ नामक यक्ष के रूप में स्वर्ग-लोक में उत्पन्न हुआ । उसने इस सुत्त में अपने गुरु से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा की है । देवेन्द्र शक और सनत्कुमार ब्रह्मा भी इस सुत्त में बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं । इस सूत्र में काशी, कोजल, वज्जि, मल्ल, चेति (चेदि) कुर, पंचाल, मञ्ज (मत्स्य) और शूरसेन जनपदों का उल्लेख है ।

महागोविन्दसुत्त (दीघ. २।६)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महागोविन्द नामक ब्राह्मण थे । उसी का यहाँ प्रधानतः वर्णन है । अतः इस अंश को एक जातक ही समझना चाहिये । वैसे इस सुत्त में भी पूर्व सुत्त (जनवसभ सुत्त) की तरह देवराज इन्द्र और सनत्कुमार ब्रह्मा द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करवाई गई है । बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का वर्णन इस सुत्त की एक प्रधान विशेषता है । यहाँ काशी-कोसल और अंग-मगध आदि राज्यों का विवरण दिया गया है । अशोक राज्य के पोतन नामक नगर का भी निर्देश है ।

महासमय-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में बुद्ध के दर्शनार्थं देवताओं का आगमन दिखाया गया है।

सक्कपव्ह-सुत्त (दीघ. २।९)

शक्र (इन्द्र) द्वारा छह प्रश्नों का पूछा जाना। उसके द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा।

महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ. २।९)

इस सुत्त में चार स्मृति-प्रस्थानों यथा कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विषद विवरण किया गया है। ये चार स्मृति-प्रस्थान 'सत्त्वों की विशुद्धि के लिये, शोक के निवारण के लिये, दुःख और दीर्घमनस्य का अतिक्रमण करने के लिये, सत्य की प्राप्ति के लिये और निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात्कार के लिये एकाग्र (सर्वोत्तम, अकेले) मार्ग है' ऐसा भगवान् ने यहाँ कहा है।

पायासि राजज्ज-सुत्त (दीघ. २।१०)

पायासि राजज्ज के साथ भगवान् बुद्ध के शिष्य कुमार काश्यप के संवाद का वर्णन है। पायासि राजज्ज परलोक में विश्वास नहीं करता। वह यह मानता है कि मरने के साथ जीवन उच्छिन्न हो जाता है। उसका तर्क स्पष्ट है। (१) मरे हुएों को किसी ने लौट कर आते नहीं देखा। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। (३) जीव के निकल जाने पर मृत शरीर का न तो वजन ही कम होता है और न जीव को कहीं से निकलते जाते देखा जाता। भौतिकवादी पायासि का कुमार काश्यप ने समाधान करने का प्रयत्न किया है। पायासि के मतानुसार "यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। जीव मरने के बाद फिर नहीं पैदा होते और अच्छे बुरे कर्मों का कोई फल भी नहीं होता।" इस मत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अभ्यास ही व्यर्थ है। बुद्ध का मन्तव्य अनात्मवाद होते हुए भी पायासि के भौतिकवाद से तो फिर भी ठीक विपरीत है।

पाथिक वग्ग**पाथिक-सुत्त (दीघ. ३।१)**

सुनसत्र लिच्छविपुत्र के बौद्ध धर्म-त्याग की बात फिर इस सुत्त में आई है। वह इसलिये रुष्ट होकर भिल्लु-संघ को छोड़ कर चला गया था कि भगवान् ने उसे

ऋद्धिबल नहीं दिखाया। "सुनवसन्त ! क्या मनें तुमसे कभी कहा था— सुनवसन्त ! आ मेरे धर्म को स्वीकार कर। मैं तुम्हें अलौकिक ऋद्धि-बल दिखाऊंगा ?" "नहीं भन्ते !" "मूर्ख ! यह तेरा ही अपराध है"। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का भी इस सुत्त में खंडन किया गया है।

उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त (दीघ. ३।२)

उदुम्बरिक नामक परिव्राजक-आराम में भगवान् ने यह सिहनाद किया, अतः इसका यह नाम है। यह सिहनाद भगवान् ने व्यघ्रोष नामक परिव्राजक के प्रति किया। यहाँ भगवान् ने भूटी और सच्ची तपस्याओं विषयक उपदेश दिया है और बूढ़-धर्म की साधना से इसी जन्म में शान्ति की प्राप्ति को दिखाया है।

चक्रवर्त्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३)

स्वावलम्बन, व्रत-पालन एवं चार स्मृति-प्रस्थानों के अभ्यास का उपदेश। मिश्रुओं के कर्तव्यों सम्बन्धी उपदेश भी।

अग्गाव्य-सुत्त (दीघ. ३।४)

इस सुत्त में वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया गया है। जन्म की अपेक्षा यहाँ कर्म को ही प्रधान माना गया है।

सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५)

परम ज्ञान में बूढ़ के समान आज तक कोई नहीं हुआ। बूढ़ अत्यन्त विनम्र और निरहंकार है। बूढ़ के उपदेशों की विशेषताओं का विवरण भी।

पासदिक-सुत्त (दीघ. ३।६)

निग्रन्थ ज्ञातुपुत्र (तीर्थङ्कर भगवान् महावीर) के पावा में कैवल्य-प्राप्ति की इस सुत्त में सूचना है। बूढ़ के उपदिष्ट धर्म, अव्याकृत और व्याकृत बातें, पूर्वान्त और अपरान्त दर्शन, चार स्मृति-प्रस्थान आदि विषय जो पूर्व के सुत्तों में आ चुके हैं, यहाँ फिर विवृत किये गये हैं। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि बूढ़-धर्म चित्त की शुद्धि के लिये है और यही उसका प्रमुख उद्देश्य और उपयोग है।

लक्खण-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में ३२ महापुरुष-लक्षणों का विवरण है। साथ ही किस किस कर्म-विपाक से किस किस शुभ लक्षण की प्राप्ति होती है, यह भी दिखाया गया है। इस प्रकार नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है।

सिगालोवाद-सुत्त (दीघ. ३१८)

सिगाल (शुगाल) नामक गृहपति-पुत्र (वैश्य-पुत्र) को भगवान् द्वारा पूरे गृहस्थ-धर्म का उपदेश। चार पाप के स्थान, छह संसृति-नाश के कारण, मित्र और अभिन्न की पहचान तथा छह दिशाओं को पूजा करने का बौद्ध विधान, आदि बातों का विवरण है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्यों में कोई ऐसा नहीं है जो यहाँ छोड़ दिया गया हो। यह सुत्त बौद्ध धर्म में गृहस्थ धर्म के स्वरूप और महत्व को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अलोक ने इन सुत्त की भावना को अपने अभिलेखों में बार-बार ग्रहण किया है।

आटानाटिय-सुत्त (दीघ. ३१९)

बौद्ध रत्ना-मन्त्र। सात बुद्धों को नमस्कार आदि और इत प्रकार भूत-यक्षों से रक्षा करने का उपाय। यह सुत्त बुद्ध की शिक्षाओं से भेद नहीं खाता। यह साद का परिवर्द्धन ही जान पड़ता है, जैसा अन्य अनेक विद्वानों का भी विचार है।

संगीति परियाय-सुत्त (दीघ. ३१९०)

एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में बुद्ध-मन्त्रियों की सूची।

दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३१११)

एक से लेकर दस संख्या तक के धर्मों में कौन कौन से उपकारक, भावनीय, परिशेष (त्याग्य) प्रहातव्य, हानभागीय (पतनकारक), विशेष भागीय, दुष्प्रति-वेध्य, उत्पादनीय, अभिज्ञेय, या साक्षात्करणीय हैं, इसका विवरण।

आ—मज्झिम-निकाय^१

मज्झिम-निकाय में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसलिये इसका यह नाम पड़ा है। सुत्त-पिटक में इस निकाय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस निकाय को 'बुद्धचर्यामृत' कहा है जो इसमें निहित बुद्ध-वचनों की सर्वोत्तम महत्ता को देखते हुए बिल्कुल ठीक ही है। फ्रैंक जैसे सन्देहवादी विद्वान् को भी मज्झिम-निकाय की मौलिक सुगन्ध के सामने

१. केवल मज्झिम-पण्णासक अर्थात् सुत्त ५१-१०० देवनागरी लिपि से दो भागों में बम्बई विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित, भाग प्रथम सुत्त ५१-७०; भाग द्वितीय सुत्त ७१-१०० (डा० भागवत द्वारा संपादित) हिन्दी में महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसे अनुवादित किया है। यह अनुवाद महा-बोधि सभा, सारनाथ, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया है।

मत-मस्तक होता पड़ा है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि मज्झिम-निकाय में हम निश्चय ही धर्म-स्वामी के कुछ महत्त्वपूर्ण उद्गार पाते हैं। जर्मन विद्वान् डा० वाल्फे ने मुख्यतः इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने गम्भीर बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धों की रचना की है। मज्झिम-निकाय का वर्गीकरण १५ वर्गों में है, जिनमें कुल मिला कर १५२ सुत्त हैं। हम इस वर्गीकरण की स्पष्टरेखा पहले दिखा चुके हैं। अतः यहाँ अति संक्षिप्त रूप में केवल मज्झिम-निकाय के सुत्तों के विषय की ओर इंगित मात्र करेंगे।

(१) मूल परिचाय वमा

१. मूल परिचाय-सुत्त—सारे धर्मों का मूल नामक उपदेश—न में, न मेरा, न मेरा आत्मा—अनात्मवाद-अनाद्यतितवाद।
२. संवत्साव-सुत्त—“भिक्षुओं ! सारे जित्त-मलों के संवर (रोक) नामक उपदेश को मैं तुम्हें देता हूँ, ध्यान से सुनो।”
३. धम्म दायाद-सुत्त—“भिक्षुओं ! तुम मेरे धर्म के वारिस बनो, धनादि भोगों (आमिष) के दायाद नहीं। भिक्षुओं ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है।”
४. भय-भेरव-सुत्त—वन-खंड और सूनी कुटियों में रहने वाले अशुद्ध कामिक कर्म संयुक्त भिक्षुओं को कभी-कभी भय हो उठता है। इसे कैसे दूर किया जाय, इसका जानुस्सोणि नामक ब्राह्मण को भगवान् का उपदेश है, स्वकीय पूर्व अनुभव के आधार पर। “ब्राह्मण ! शायद तेरे मन में ऐसा हो—जैसे भी श्रमण गौतम अन्वीतराग अन्वीत द्वेष, अन्वीत मोह है, इसीलिये अरण्य, वन-खंड तथा सूनी कुटिया का सेवन करता है। ब्राह्मण ! मैं दो बातों के लिये आज भी अरण्य सेवन करता हूँ—(१) इसी शरीर में अपने मुक्त-विहार के विचार से (२) आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा करने के लिये, ताकि मेरा अनुगमन कर वह भी सुफल की भागी हो।”
५. अनंगम-सुत्त—राग, द्वेष और मोह से रहित (अनंगम) और उनसे युक्त व्यक्तियों के चार प्रकार—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और अग्न भिक्षुओं के धार्मिक संलाप।
६. आकंसेय-सुत्त—“भिक्षुओं ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विहरो, ध्यान और विपश्यना से युक्त हो सुनें परों की शरण लो।”

७. वस्त्र-सूत—मैले वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। किन्तु साफ वस्त्र पर चढ़ जाता है। चित्त के निर्मल होने पर सुगति भी अनिवार्य है। वह नदियों के स्नानादि से प्राप्त नहीं होती। 'ब्राह्मण! तू यदि झूठ नहीं बोलता, प्राणिमों को नहीं मारता, बिना दिया लेता नहीं, तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिये गया है।"
८. सल्लेख-सूत—तप-विहार का उपदेश।
९. सम्मादिदिट्ठ-सूत—सम्यक् दृष्टि पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।
१०. सति पट्ठान-सूत—चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश। यही विषय दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सूत का भी है। केवल कुछ अंश वहाँ अधिक है।

(२) सीहनाद वग्ग

११. बूल सीहनाद-सूत—चार बातों में बौद्ध भिक्षुओं की अत्य धर्मावलम्बियों से विशेषता।
१२. महासीहनाद-सूत—सुनवस्तु लिल्लविपुत्त यह कह कर भिक्षु-संघ को छोड़कर चला गया है। "धम्मण गौतम के पास आर्य ज्ञान-दर्शन की परा-काष्ठता नहीं है, उत्तर-मनुष्य धर्म नहीं है। वह केवल अपने ही चिन्तन से सोचि, अपनी प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करते हैं।" इसी प्रसंग को लेकर भगवान् बुद्ध और धर्मसेनापति सारिपुत्र में संलाप। तथागत के दस बल तथा चार वैशारद्यों का वर्णन। इसी प्रसंग में भगवान् ने अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन भी किया है "सारिपुत्र! यह भिरा रुधा-चार था। पपड़ी पड़े अनेक वर्ष के मैल को शरीर में संचित किये रहता था। भीषण वन-सड में प्रवेश कर विहरता था—मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बना श्मशान में शयन करता था—सारिपुत्र! जब मैं पेट के चमड़े को पकड़ता तो पीठ के काँटे को ही पकड़ लेता था, पीठ के काँटे को पकड़ते समय पेट के चमड़े को ही पकड़ लेता था—इस दुष्कर तपस्या से भी मैं उत्तर मनुष्य-धर्म नहीं पा सका..... आज सारिपुत्र! मेरी आयु अस्सी की पहुँच गई है..... सारिपुत्र! अशन, पान, शयन को छोड़, मल-मूत्र-त्याग के समय को छोड़, तथागत की धर्म-वेदाना सदा अलंब ही चलती रहेगी।" बुद्ध-जीवनी की दृष्टि से यह सूत अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

१३. महादुस्खल्लन्ध-सुत्त—दुःख, उसका हेतु और निरोध ।
१४. चूल दुस्खल्लन्ध-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही विषय ।
१५. अनुमान-सुत्त—महामौद्गल्यायन का प्रवचन । सावधानी पूर्वक आत्म-प्रत्यवेक्षण करते हुए सदाचारी जीवन बिताने का उपदेश ।
१६. चेतोखिल-सुत्त—चित्त के पाँच काँटों का भगवान् के द्वारा वर्णन ।
१७. वनपत्थ-सुत्त—वनप्रस्थ में विहरने का उपदेश ।
१८. मधुपिडिक-सुत्त—भगवान् के द्वारा धर्म की रूपरेखा का वर्णन । कच्चान (कात्यायन) द्वारा उसकी विस्तार से व्याख्या ।
१९. द्वेधावितक-सुत्त—भगवान् द्वारा अपने पूर्व अनुभवों का वर्णन । चित्तमलों का शमन, ध्यान, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन ।
२०. वितक सण्ठान-सुत्त—वितकों को बश में करने का उपाय ।

(३) ओपम्म वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त—आरे से चोरे जाने पर भी जो चित्त को बिना दूषित किये शान्त न रह सके, वह ब्रुद्ध का शिष्य नहीं है ।
२२. अलगदुदूपम-सुत्त—धर्म के विषय में मिथ्या धारणायें रखना सर्प को पूँछ से पकड़ना है ।
२३. बम्मिक-सुत्त—नर-देह की असारता एवं निर्वाण-प्राप्ति की बाधाएँ ।
२४. रघविनीत-सुत्त—ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और विशुद्धियाँ ।
२५. निवाप-सुत्त—मार से कैसे बचें ?
२६. अरियपरिवेसन-सुत्त—ब्रुद्ध के द्वारा अपने महाभिनिक्रमण एवं (पासरसि-सुत्त)—अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन । धर्म-चक्र-प्रवर्तन का भी वर्णन ।
२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त—सत्य-प्राप्त मुनि के आचर्य ।
२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त—उपादान-स्कन्धों से विमुक्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद । सभी कुशल धर्म बार आर्य सत्त्वों में निहित हैं ।
२९. महासारोपम-सुत्त—देवदत्त के संघ को छोड़ जाने के बाद भगवान् का भिक्षु जीवन के उद्देश्यों पर उपदेश ।
३०. चूलसारोपम-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही । इस सुत्त में छह तथिकों या तत्कालीन आचार्यों का वर्णन भी है ।

(४) महायमक-वग्ग

३१. चूल गोसिग-सुत्त—अनिरुद्ध, किंविद्ध और नन्दिय की प्रव्रज्या एवं सिद्धि-प्राप्ति ।
३२. महागोसिग-सुत्त—गोसिग बालवन किस प्रकार के भिक्षु से मृशोभित होगा ?
३३. महागोपालक-सुत्त—भिक्षु के लिये आवश्यक ग्यारह बातें ।
३४. चूल गोपालक-सुत्त—अच्छे और बुरे शास्ताओं के अनुयायियों की वंशा ।
३५. चूल सच्चक-सुत्त—सच्चक नामक आजीविक को पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद का उपदेश ।
३६. महासच्चक-सुत्त—भगवान् बुद्ध का अभिसम्बोधि और समाधि पर प्रवचन । काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना ।
३७. चूलतण्हासंख्य-सुत्त—तृष्णा का क्षय कैसे हो ?
३८. महातण्हा संख्य-सुत्त—अनात्मवाद का तृष्णा-क्षय के रूप में उपदेश । धर्म में भी अनासक्ति आवश्यक ।
३९. महा-अस्सपुर-सुत्त—
४०. चूल अस्सपुर-सुत्त—
- } भिक्षुओं के कर्तव्यों का वर्णन ।

(५) चूल यमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त—कुछ प्राणी क्यों सुगति और कुछ क्यों दुर्गति प्राप्त करते हैं ?
४२. वेरंजक-सुत्त—उपर्युक्त के समान विषय ।
४३. महावेदल्ल-सुत्त—वेदना, संज्ञा, शील, समाधि, प्रज्ञा, आयु, उष्मा और विज्ञान पर धर्मसेनापति सात्थिपुत्र का प्रवचन ।
४४. चूलवेदल्ल-सुत्त—आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, संज्ञावेदयित-निरोध, स्पर्श, वेदना तथा अनुशयों पर भिक्षुणी धम्मदिक्षा का प्रवचन ।
४५. चूल धम्मसमादान-सुत्त—धर्मानुयायियों के चार प्रकार ।
४६. महाधम्मसमादान-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही ।
४७. बीमंसक-सुत्त—ठीक विमर्श कैसे हो ?

४८. कोसम्बिय-सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं की मेलजोल के लिये उपयोगी छह बातों का उपदेश ।

४९. ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त—ब्रह्मा की सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं ।

५०. मार-तज्जनिय-सुत्त—महामौद्गल्यायन का मार को तर्जनी ।

(६) गृहपति-वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त—आत्म-निर्वातन के विरुद्ध प्रवचन ।

५२. अट्ठक नागर-सुत्त—ग्यारह अमृत द्वार (ध्यान) । आनन्द निर्वाण-मार्ग पर स्थित ।

५३. सेक्ख-सुत्त—सौख्य जनों के कर्तव्यों पर आनन्द का प्रवचन ।

५४. पोतलिय-सुत्त—आर्य-मार्ग क्या है ?

५५. जीवक-सुत्त—मांस-भक्षण पर बुद्ध-मत ।

५६. उपालि-सुत्त—दीर्घ तपस्वी नियन्त्र के साथ भगवान् का संवाद ।

५७. कुक्कुत्तवतिक-सुत्त—निरर्थक व्रत । कर्म पर भी प्रवचन ।

५८. अभयराजकुमार-सुत्त—उपकारी अप्रिय सत्य को भी चोल्ना कर्तव्य है । यदि वह उपकारी हो है । राजगृह के वेणुवन में इस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अभयराजकुमार को दिया ।

५९. वहुवेदनिय-सुत्त—वेदनाओं का वर्गीकरण ।

६०. अपण्णक-सुत्त—द्विविधा-रहित (अपण्णक) धर्म का उपदेश ।

(७) भिक्षु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठक-राहुलोवाद-सुत्त—“राहुल ! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म का परिशोधन करूँगा ।” अम्बलट्ठका (वेणुवन के किनारे वासरधान) में राहुल के प्रति भगवान् का उपदेश ।

६२. महाराहुलोवाद-सुत्त—राहुल को प्रधानतः आनापानसति (प्राणायाम) के अभ्यास का उपदेश । “राहुल ! पृथ्वी-समान ध्यान की भावना कर । जैसे राहुल ! पृथ्वी में शूचि वस्तु भी फेंकते हैं, अशूचि वस्तु भी फेंकते हैं उससे पृथ्वी दुःखी नहीं होती, ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती । इसी प्रकार राहुल ! पृथ्वी-समान भावना करते तेरे चित्त को अच्छे लगने वाले स्पर्श न चिपटेंगे । राहुल ! मैत्री-भावना

का अभ्यास कर। जो द्वेष है, उससे छूट जायेगा। राहुल ! करुणा-भावना का अभ्यास कर। जो तेरी पर-पीड़ा-करण इच्छा है, वह हट जायगी। राहुल ! उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर ! जो तेरी प्रतिहिंसा है, वह हट जायगी। राहुल अशुभ-भावना का अभ्यास कर। जो तेरा राग है, वह चला जायगा' आदि।

६३. चूल-मालुक्प-सुत्त—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, आदि दस प्रश्न चूल-मालुक्प पृथ ने भगवान् से किये। भगवान् ने उन्हें अव्याकृत (अव्याकृत-अकथनीय) करार दे दिया, क्योंकि इनका उत्तर या कथन सार्थक नहीं, ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं और न वह वैराग्य, निरोध, शान्ति, उत्तम, परम, ज्ञान एवं निर्वाण के लिये ही आवश्यक है।

६४. महा-मालुक्प-सुत्त—पाँच संयोजनों (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शील-वत परामर्श, काम-राग, व्यापाद) के प्रह्राण का मार्ग।

६५. भद्दालि-सुत्त—भद्दालि नामक भिक्षु को आचार-मार्ग का उपदेश।

६६. लकुटिकोपम-सुत्त—स्वविर उदायी को भगवान् का धर्मोपदेश। "उदायी ! कोई कोई मूर्ख पुरुष मेरे 'यह छोड़ो' कहने पर ऐसा कहते हैं "क्या इस छोटी बात के लिये, तुच्छ बात के लिये, यह ध्रमण जिद कर रहा है" और वह उसे नहीं छोड़ते। किन्तु जो भिक्षु सीखने वाले होते हैं, उन्हें यह होता है 'यह बलवान् बन्धन है, पृष्ठ बन्धन है, स्थिर बन्धन है, स्थूल कालिगर (पशुओं के गले में बाँधने का काष्ठ) है। जैसे उदायी ! पोय-लता के बन्धन से बंधी लकुटिका (गौरैया) पक्षी वही वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा करती है। उदायी ! जो आदमी यह कहे 'चूँकि यह लकुटिका पक्षी पोय-लता के बन्धन से बंधा है, वह वही वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा कर रहा है, किन्तु उसका वह निबल बन्धन है, सड़ा बन्धन है, कमजोर बन्धन है'। क्या उदायी ! ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है ?" "नहीं भन्ते ! वह लकुटिका पक्षी जिस पोयलता के बन्धन से बंधा है, वह उसके लिये बलवान् बन्धन है, स्थूल कालिगर (पशु के गले में बाँधने का काष्ठ) है" आदि।

६७. चातुम-सुत्त—चातुमा के भिक्षुओं को आचार-तत्त्व का उपदेश।

६८. नलक-पान-सुत्त—नलक-पान-के पलास-वन में भगवान् का भिक्षु अनिरुद्ध से धर्म-संलाप।

६९. गुलिस्सानि-सुत्त—गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु को लक्ष्य कर धर्म-सेनापति सारिपुत्र का भिक्षुओं को उपदेश ।
 ७०. कीटागिरि-सुत्त—भिक्षु-नियमों सम्बन्धी उपदेश, विशेषतः एक समय भोजन करने के प्रसंग को लेकर ।

(८) परिव्राजक—वग्ग

७१. तैविज्जवच्छगोत्त-सुत्त—भगवान् बुद्ध त्रैविध्य हैं ।
 ७२. अगिवच्छगोत्त-सुत्त—अगिवच्छगोत्त नामक परिव्राजक को भगवान् की शिष्यत्व-प्राप्ति ।
 ७३. महावच्छगोत्त-सुत्त—उपासकों और भिक्षुओं के कर्तव्य ।
 ७४. दीघनख-सुत्त—दीघनख परिव्राजक से भगवान् का संलाप ।
 ७५. मागन्दिय-सुत्त—मागन्दिय नामक परिव्राजक को कामनाओं के त्याग का उपदेश ।
 ७६. सन्दक-सुत्त—सन्दक नामक परिव्राजक को आनन्द का उपदेश ।
 ७७. महासकुलुदायि-सुत्त—महासकुलुदायि परिव्राजक को उपदेश ।
 ७८. समणमंडिका-सुत्त—शुद्ध आचरण पर भगवान् बुद्ध का उपदेश ।
 ७९. बूलसकुलुदायि-सुत्त—निगण्ठ नाथपुत्र और उनका चातुर्याम संवर ।
 ८०. वेखनस-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही विषय-वस्तु ।

(९) राजवग्ग

८१. घाटिकार-सुत्त—भगवान् बुद्ध के एक पूर्वजन्म का विवरण ।
 ८२. रट्ठपाल-सुत्त—राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या का विवरण । कुरुदेश की राजधानी पुल्लकोटिष्ठ का उल्लेख है । राष्ट्रपाल यहीं के निवासी थे ।
 ८३. मत्तादेव-सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व जन्म की कथा ।
 ८४. माधुरिय-सुत्त—चारों वर्णों की समता का उपदेश आयुष्मान् काल्याणन द्वारा । बुद्ध-निर्वाण के बाद आयुष्मान् काल्याणन का मधुरा के राजा अवन्तिपुत्र से मधुरा के गुन्दावन में संवाद ।
 ८५. बोधिराजकुमार-सुत्त—भगवान् बुद्ध की जीवनी, स्वयं उनके शब्दों में, गृहत्याग से बुद्धत्व-प्राप्ति तक ।
 ८६. अंगुलिमाल-सुत्त—डाकू अंगुलिमाल का जीवन-परिवर्तन ।
 ८७. पियजातिक-सुत्त—सम्पूर्ण दुःख प्रेम से उत्पन्न होने वाले हैं ।

८८. बाह्यिक-सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण । बुद्ध अशुभ आचरण नहीं कर सकते । आनन्द का प्रश्नतजित् को उपदेश ।
 ८९. धम्मचेतिय-सुत्त—भोगों के दुष्परिणाम एवं बुद्ध की प्रज्ञा का दर्शन ।
 ९०. कण्णकत्थल-सुत्त—क्या बुद्ध सर्वज्ञ हैं ?

(१०) ब्राह्मण—वग्ग

९१. ब्रह्माप्प-सुत्त—३२ महापुरुष-लक्षण । तथामत के ईश्वरिण का विवरण । ब्राह्मण, वेदगू आदि शब्दों की बुद्धमतानुसार व्याख्या ।
 ९२. सेल-सुत्त—सेल ब्राह्मण की प्रवचन ।
 ९३. अस्सलायन-सुत्त—जातिवाद का खंडन । ध्यावस्ती-निवासी आश्वलायन ब्राह्मण का यहाँ वर्णन है, जिसे विद्वानों ने प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया है ।
 ९४. षोट्ठसुत्त—आत्म-पीड़ा की निन्दा ।
 ९५. चंकि-सुत्त—बुद्ध के गुणों का वर्णन । सत्य की रक्षा और प्राप्ति के उपाय ।
 ९६. फासुकारि-सुत्त—जातिवाद की निन्दा ।
 ९७. धानंजानि-सुत्त—गृहस्थ-बन्धन अशुभ कर्म करने का बहाना नहीं ।
 ९८. वासेट्ठ-सुत्त—वास्तविक ब्राह्मण कौन ?
 ९९. सुन्न-सुत्त—गृहस्थ और संन्यास की तुलना ।
 १००. संगारव-सुत्त—बुद्ध-जीवनी का विवरण । बुद्ध द्वारा देवताओं के अस्तित्व की स्वीकृति ।

(११) देवदह वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त—निर्गठों के मत का विवरण ।
 १०२. पञ्चत्तय-सुत्त—आत्मवाद आदि नाना मतवादों का खंडन ।
 १०३. किन्ति-सुत्त—मिलुओं की एकता का उपदेश ।
 १०४. सामगाम-सुत्त—बुद्ध के मूल उपदेश । संघ में प्राप्ति सम्बन्धी उपदेश । इस सुत्त में जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति की सूचना है ।
 १०५. सुनक्खत-सुत्त—ध्यान और चित्त-संयम पर प्रवचन ।
 १०६. आनंजसप्पाय-सुत्त—भोगों की निम्नरास्ता ।
 १०७. गणकमोग्गल्लान-सुत्त—आचरण की शिक्षा का क्रमिक विकास ।

१०८. गोपकमोग्गल्लान-सुत्त—बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का एक मात्र प्रतिधारण। गोपक ब्राह्मण के साथ आनन्द का संलाप। इस सुत्त से हमें यह सूचना मिलती है कि राजा प्रद्योत के भय से मगधराज अजातशत्रु नगर सुरक्षित करवा रहा था।

१०९. महापुण्यम-सुत्त—पञ्चस्कन्ध एवं अतात्मवाद सम्बन्धी उपदेश।

११०. चूलपुण्यम-सुत्त—अच्छे और बुरे मनुष्य।

(१२) अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त—भगवान् बुद्ध द्वारा सारिपुत्र के शील, समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा।

११२. छव्विसोधन-सुत्त—अहंत् की पहचान क्या है?

११३. सत्पुरिस-सुत्त—सत्पुरुष और असत्पुरुष की पहचान।

११४. सेवितव्व-असेवितव्व-सुत्त—क्या सेवनीय और क्या असेवनीय है?

११५. बद्धधातुक-सुत्त—धातुओं का निरूपण।

११६. इसिगिलि-सुत्त—प्रत्येक-बुद्ध-सम्बन्धी उपदेश।

११७. महावत्तारीसक-सुत्त—सम्यक् समाधि सम्बन्धी प्रवचन।

११८. आनापानसति-सुत्त—प्राणायाम और ध्यान सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन।

११९. कामगतासति-सुत्त—काये कायानुपपत्ति क्या है?

१२०. संसारुप्पत्ति-सुत्त—संस्कारों की उत्पत्ति कैसे?

(१३) सुञ्जता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्जता-सुत्त—चित्त की शून्यता का योग।

१२२. महानुञ्जता-सुत्त—उत्पन्न-वस्तु का विस्तृत विवरण।

१२३. अचरियम्मसुतधम्म-सुत्त—आश्चर्य-पुरुष भगवान् बुद्ध का जन्म कहाँ व कैसे?

१२४. वक्कुल-सुत्त—स्वधिर वक्कुल की जीवन-वर्षा।

१२५. दत्तभूमि-सुत्त—संयम का उपदेश।

१२६. भूमिज-सुत्त—कौन सा यज्ञार्च्य सफल है?

१२७. अनुसङ्ग-सुत्त—भिक्षु अनिरुद्ध द्वारा अ-प्रमाणा चेतो-विमुक्ति पर उपदेश।

१२८. उपविकलेश-सुत्त—कलह रोकने के उपाय। योग-साधन।

१२९. बाल पंडित-सुत्त—जीवन के बाद कल?

१३०. देवदत्त-सुत्त—यम का भय?

(१४) विभंग-वग्ग

१३१. भदेकरत्त-सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान में कर्म करना ही सर्वोत्तम मंगल है।
१३२. आनन्द भदेकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३३. महाकच्चान भदेकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त का ही अधिक विस्तृत वर्णन।
१३४. लोमसकमिय-भदेकरत्त-सुत्त। उपर्युक्त के समान ही।
१३५. चूल कम्मविभंग-सुत्त—संसार में असमानता क्यों? कर्म-फल।
१३६. महाकम्मविभंग-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३७. सल्लायतन-सुत्त—छह आयतनों एवं चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन।
१३८. उद्देस विभंग-सुत्त—इन्द्रिय संगम, ध्यान और अपरिग्रह का उपदेश।
१३९. अरण-विभंग-सुत्त—शान्ति का रहस्य?
१४०. धातु विभंग-सुत्त—छह धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चित्त) का निरूपण।
१४१. सच्चविभंग-सुत्त—चार आर्य सत्त्यों का विवरण।
१४२. दक्षिणा-विभंग-सुत्त—संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति को दिये हुए दान से बढ़कर है।

(१५) सल्लायतन-वग्ग

१४३. अनाद्यपिण्डकोवाद-सुत्त—अनार्यापिण्डिक की बीमारी और मृत्यु का वर्णन। अन्तिम समय में धर्मसेनापति सारिपुत्र का उसको उपदेश।
१४४. छल्लोवाद-सुत्त—छल्ल की आत्महत्या।
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त—स्वविर पूर्ण की सहिष्णुता।
१४६. नन्दकोवाद-सुत्त—अनात्मवाद एवं सात बोध्यज्ञों का वर्णन।
१४७. चूलराहुलोवाद-सुत्त—अनात्मवाद-सम्बन्धी उपदेश।
१४८. छल्लक-सुत्त—अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।
१४९. महामल्लायतनिक-सुत्त—तृष्णा और दुःख का निरूपण।
१५०. नगर विन्देय-सुत्त—आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन है?
१५१. पिडपात-पारिसुद्धि-सुत्त—भिक्षा की शुद्धि कैसे? स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना का उपदेश।
१५२. इन्द्रिय-भावना-सुत्त—इन्द्रिय-संगम कैसे हो?

दीर्घ-निकाय के समान मज्झिम-निकाय में भी छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का अच्छा पता चलता है। उसके अनेक वर्णनों में तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों की महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। मज्झिम-निकाय में वर्णित भगवान् के उपदेश जिन जिन प्रदेशों, नगरों, निगमों (कस्बों) ग्रामों या वन-प्रदेशों में हुए उनकी एक सूची बनाई जाय तो उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों को समझने में हमारी बड़ी सहायक होगी। अंग, वंग, वीनकम्बोज, भग्ग, काशी, कुरु, कोशल जैसे प्रदेश, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, धावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे नगर, शाक्यों के मेदलुम्प, कोलियों के हलिहवस्त, कुरुओं के थुल्लकोट्ठित आदि कस्बे तथा वण्डकारण्य, कलिङ्गारण्य जैसे वन-प्रदेश, जो बृद्ध-चरणों की रज से अंकित हुए थे, हमारे लिये एक गौरवमयी स्मृति का सन्देश देते हैं। कोशल-प्रदेश के दो मुख्य नगरों धावस्ती और साकेत के बीच डाक (रथ विनीत) का सम्बन्ध था, यह हम रथ विनीत-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।४) से जानते हैं। बृद्धकालीन भारत का पूरा धार्मिक वातावरण मज्झिम-निकाय में उपस्थित है। ब्राह्मणों के जीवन, कर्मकांड और सिद्धान्त, उनके मन्त्रकर्ता ऋषि, वाद-परम्परा और पौरोहित्य, सभी का मूर्तिमान् चित्र हमें यहाँ मिलता है। इस दृष्टि से पूरा ब्राह्मण-वर्ग अर्थात् ९१वें सुत्त से लेकर १०० वे सुत्त तक का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ब्रह्मायु, शैल, आश्वलायन, घोटमुल्ल, चंकि, एसुकारी, धानंजानि, वासेट्ठ, भारद्वाज, सुभ, संगारव, मामन्दिय आदि तत्कालीन ब्राह्मण-दार्शनिकों का पूरा व्यक्तित्व, उनके मत और बृद्ध-धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का पूरा चित्र हमें इन सुत्तों में मिल जाता है। इसी प्रकार तत्कालीन परित्राजकों का चित्र हमें अग्निवच्छगोत्त सुत्त जैसे सुत्तों में मिल जाता है। दीपनख, सन्दक, सकुलादायि, वेत्तनस आदि परित्राजकों के साथ भगवान् के संवाद जो मज्झिम-निकाय में दिये हुए हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तत्कालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों (पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि आदि) तथा अन्य सम्प्रदायों के मतों को जानने की दृष्टि से अपण्णक-सुत्त, तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त, तथा महा-वच्छगोत्त-सुत्त आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कन्दरक-सुत्त, उपालि-सुत्त तथा अभयराजकुमार सुत्त में निर्ग्रन्थ ज्ञापपुत्र (भगवान् महावीर) के मत के सम्बन्ध में भी कुछ सूचना मिलती है। तत्कालीन साधकों में जो नाना प्रकार की

पौडाजनक तापश्चर्यायें प्रचलित थीं और जिनका अभ्यास गौतम ने भी अपने ज्ञान की खोज में किया था, महासीहनाद-सुत्त, कुक्कुरवतिक-सुत्त, बौध-राज-कुमार-सुत्त और कन्दरक-सुत्त में वर्णित हैं। पासरसि-सुत्त, बौध-राजकुमार-सुत्त और महासच्चक-सुत्त में भगवान् बुद्ध की आत्मकथा है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। ब्रह्मायु-सुत्त में उनके ईश्यापय का वर्णन है जो उनकी दैनिक चर्या तथा साधारण शारीरिक चाल-ढाल को समझने के लिये बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार महाराहुलोवाद-सुत्त, महावच्छगोत्त-सुत्त तथा महासकुलुदायि-सुत्त में संघ के नियम और जीवन सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री है। कन्दरक-सुत्त और धानजानि-सुत्त भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पियजातिक-सुत्त, सम्म-चेतिय-सुत्त, तथा कण्णत्थलक-सुत्त में तत्कालीन राजाओं का कुछ विवरण है। मागन्धिय सुत्त में तत्कालीन आयुर्वेद की अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। यहाँ ऊर्ध्व विरेचन, अधो विरेचन आदि का वर्णन है। बाहीतिप-सुत्त में महीन कपड़े के बनने का वर्णन है और उपालि-सुत्त में रंगने की कला का निर्देश आया है। सारांश यह कि मज्झिम निकाय में तत्कालीन समाज, धर्म, कला-कौशल आदि का एक अच्छा चित्र हमें मिलता है।

इ—संयुत-निकाय

संयुत-निकाय (संयुक्त-निकाय) छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है। इसीलिये इसका यह नाम पड़ा है।^१ विशेषतः संयुत-निकाय में छोटे आकार के सुत्त ही अधिक हैं। संयुत निकाय के सुत्तों की कुल संख्या २८८९ है। प्रायः प्रत्येक सुत्त संक्षिप्त गद्यात्मक बुद्ध-प्रवचन के रूप में ही है। बुद्धकालीन

१. लियोन फियर द्वारा पाँच जिल्लों में रोमन-लिपि में सम्पादित एवं पालि-टैक्सट सोसायटी, लन्दन, १८८४-९८, द्वारा प्रकाशित। अमरसिंह का सिंहली संस्करण बल्लोतारा, १८९८, प्रसिद्ध है। इस निकाय का हिन्दी-अनुवाद भिन्न जगदीश काश्यप ने किया है, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।
२. 'बोध,' 'मज्झिम' और 'बुद्धक' शब्दों की पृष्ठभूमि में तो 'संयुत' (संयुक्त, मिश्रित) शब्द का यही अर्थ हो सकता है। बौद्ध परम्परा को भी प्रधानतः यही अर्थ मान्य है। नायगर ने अवश्य 'संयुत' शब्द की सार्थकता को उस निकाय में विषय बार सुत्तों के संयुक्त या वर्गीकृत करने के कारण माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ १८

भारतीय ग्रामीण जीवन का इस निकाय में बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। साथ में काव्यात्मक अंश भी हैं और लोक-आख्यान भी कहीं कहीं समाविष्ट हैं। यक्ष, यक्षिणी, देवता और गन्धर्वों का इस निकाय में कुछ अधिक निर्देश मिलता है। किन्तु इससे पृष्ठ भूमि की स्वाभाविकता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की विशेषताएं, उनकी गम्भीरता, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी करुणा, इसी कारण मनुष्य-समाज के अज्ञानों पर उनके मृदुल व्यङ्ग्य, उनकी विनम्रता, मानवीयता, सभी इस निकाय में उसी प्रकार प्रस्फुटित होती हैं जैसे पूर्व के दो निकायों में। शैली की दृष्टि से भी इस निकाय की दीर्घ और मञ्जिम की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं। पुनरुक्तियाँ वही दोनों निकायों की सी हैं। 'सङ्घास्तन वग्ग', इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि संयुक्त-निकाय का अधिकांश भाग गद्य में है, किन्तु प्रथम वर्ग 'संगाथ वग्ग' (गाथा-सुक्त वर्ग) में बड़ी सुन्दर, भावात्मक गाथाएँ भी मिलती हैं। मार-संयुक्त और भिक्खुनी-संयुक्त, आख्यानात्मक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। गद्य और पद्य दोनों में ही यह आख्यान-साहित्य संयुक्त-निकाय में मिलता है। 'भिक्खुनी-संयुक्त' जैसे आख्यानों में नाटकीय तत्त्व भी अपनी विशेषता लिये हुए हैं, जो इन रचनाओं को एक विशेष गति और क्रियाशीलता प्रदान करता है।

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, संयुक्त-निकाय पाँच वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ११, १०, १३, १० और १२ अर्थात् कुल मिला कर ५६ संयुक्त हैं। यह विभाजन पूर्णतया विषय की दृष्टि से नहीं है। जैसा विटरनिज ने कहा है, संयुक्त-निकाय के वर्गीकरण में तीन सिद्धान्तों का अनुवर्तन किया गया मालूम होता है (१) बुद्ध-अमं के किसी मुख्य पहलू का विवेचन करने वाले सुत्तों को एक संयुक्त में वर्गीकृत कर दिया गया है, जैसे वोस्मङ्ग-संयुक्त आदि। (२) मनुष्य, देवता या यक्ष आदि के निर्देश के आधार पर उनका अलग-अलग वर्गों में विभाजन कर दिया गया है, जैसे देवता-संयुक्त आदि (३) वक्ता या उपदेष्टा के रूप में जो प्रधान व्यक्ति अनेक सुत्तों में दृष्टिगोचर होता है, उस सम्बन्धी उपदेशों को एक संयुक्त में सम्मिलित कर दिया गया है, जैसे सारिपुत्त-संयुक्त आदि।^१ वर्ग चार इन सुत्तों को विषय-वस्तु का यहाँ कुछ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा।

१. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५६; मिलाइये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १८

१- सगाथ-वग्ग

१. देवता-संयुत—देवताओं ने भगवान् से कुछ प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। काम-वासना, पुनर्जन्म, मिथ्या मतवाद और अविद्याश्रित इच्छाओं का किस प्रकार भगवान् ने दमन किया है, यह यहाँ बताया गया है। पाप और आसक्ति मुक्ति पाने का मार्ग भी भगवान् ने यहाँ बताया है।

२. देवदत्त-संयुत—देव-पुत्रों के कुछ प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने दिया है। उन्होंने कहा है कि सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय क्रोध-त्याग और सत्संगति ही है।

३. कोसल-संयुत—यह सम्पूर्ण संयुत कोशलराज प्रसेनजित् (पसेनदि) के विषय में है। प्रसेनजित् पहले वाबिर नामक ब्राह्मण का शिष्य था। बाद में वह बुद्ध-धर्म में गृहस्थ-शिष्य (उपासक) के रूप में प्रविष्ट हो गया। मगधराज अजातशत्रु (अजातसत्तु) और प्रसेनजित् के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख इस संयुत में मिलता है। यह युद्ध काशी-प्रदेश के ऊपर हुआ। प्राथमिक विजय अजातशत्रु की हुई, किन्तु बाद में वह पराजित किया गया और प्रसेनजित् उसे बन्दी बनाकर कोशल ले गया। वहाँ उसने अपनी पुत्री वज्जा (वजिरा) का उसके साथ पाणि-ग्रहण कर काशी-प्रदेश उसे भेंट-स्वरूप प्रदान किया।

४. मार-संयुत—बुद्ध और उनके शिष्यों की मार-विजय का वर्णन है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भी मार ने बुद्ध को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित करने के लिये प्रभूत प्रयत्न किया। डेले बरसाये, पत्थर फेंके, अनेक प्रकार के भय दिखावाये, यहाँ तक कि 'पंचशाल' नामक गाँव के गृहस्थों को कहा कि इस महाश्रमण को भोजन मत दो। एक दिन भगवान् को भिक्षा भी नहीं मिली। घुला-घुलाया रोता पात्र लेकर लौट आये। किन्तु मार के ये सब प्रयत्न विफल हुए और वह बुद्ध और उनके शिष्यों को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित नहीं कर सका।

५. भिक्षुनी-संयुत—यस भिक्षुणियों के सुन्दर काव्य-मय आख्यान है। किस प्रकार गोतमी, उत्पलवर्णा (उत्पलवण्णा) वज्जा (वजिरा) आदि भिक्षु-णियाँ बुद्ध-मार्ग का अनुगमन करती हुई मार पर विजय प्राप्त करती हैं, इसी का सुन्दर काव्य-मय वर्णन है।

६. ब्रह्मा-संयुत—बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई। सृष्ट्या-विनाश का यह स्वाभाविक परिणाम था। विमुक्ति-सुख का

अनुभव करते हुए सप्ताहों तक समाधि में बैठे रहे। ब्रह्मा को चिन्ता हुई, इस प्रकार तो लोक नष्ट हो जायगा। जाकर भगवान् से प्रार्थना की—भन्ते ! लोक के हित के लिये धर्मोपदेश करें। भगवान् ने कहा कि जनता काम-वासनाओं में लिप्त है। वह उनके गम्भीर उपदेश को नहीं समझेगी। ब्रह्मा ने भगवान् से अनुनय की कि संसार में कुछ अल्प-मल प्राणी भी हैं और उनको भगवान् के उपदेश से अवश्य लाभ होगा। तत्पश्चात् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद भगवान् ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के लिये वाराणसी की ओर प्रस्थान किया।

७. ब्राह्मण-संयुक्त—एक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की प्रव्रज्या का वर्णन है। अपनी पत्नी के मूल से बुद्ध-प्रशंसा सुन कर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिये गया। वहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने त्रिशरण (बुद्ध, धम्म और संघ की शरण) ली और प्रव्रजित हो गया।

८. बंगीस-संयुक्त—बंगीस नामक भिक्षु की काम-वासना पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। एक बार बिहार में आई हुई कुछ सुन्दर, आभूषित स्त्रियों को देख कर उनके मन में काम उत्पन्न हो गया। काम-दुष्परिणाम का पर्यवेक्षण कर किस प्रकार इस भिक्षु ने काम-वासना से विमुक्ति पाई, इसका सुन्दर भावना-मय वर्णन है।

९. वन-संयुक्त—किस प्रकार वन-देवता भी पय-भ्रष्ट भिक्षुओं को सम्यक् मार्ग पर लगा देते हैं, इसका कुछ भिक्षुओं के उदाहरणों के साथ वर्णन है।

१०. यक्ष-संयुक्त—इन्द्रकूट और गृध्रकूट पर्वतों पर विचरते हुए भगवान् से कुछ यक्षों ने प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। अनेक प्रश्नों में एक यह भी है “भन्ते ! बताइये कहीं से काम-वासना, द्वेष, असन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते हैं ?” भगवान् कहते हैं “हे यक्ष ! कहता हूँ। ध्यान से सुन। जो आत्मा और उसकी उत्पत्ति को जानते हैं वे इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाते हैं, वे फिर इस संसार में जन्म प्राप्त नहीं करते।” इसी प्रकार वर से कौन मुक्त है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं “जिसका चित्त दिन-रात वर-साधन में लगा है, वह वर से मूत नहीं होता। किन्तु जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा और मैत्री-भावना का आचरण करता है, वह वर से विमुक्त हो जाता है। इसी संयुक्त में एक यक्षिणी को अपने प्रिय पुत्र को यह कह कर चुप करते हुए हम देखते हैं “चुप हो जा प्रियकर ! प्रिय वत्स चुप हो जा ! देख यह

भिक्षु कुछ कह रहा है। मुझे इसके वचन सुन लेने दे। यह मेरे लिये हितकर होगा।" इसी प्रकार एक और यक्षिणी कहती है "बुध हो जा उत्तरा ! पुनर्वसु ! शोर मच कर दे ! देख, मुझे इन शास्ता के वचन सुन लेने दे।" यक्ष और यक्षिणियों के रूप में यहाँ उस प्रभाव को ही अंकित किया गया है जो न केवल बुद्ध बल्कि तत्कालीन भिक्षु-भिक्षुणियों के भी पवित्र जीवन ने साधारण जनता के हृदय पर डाला था। साधारण गृहिणियाँ भी उनके वचन को सुनने के लिये कितना उत्सुक रहती थीं और उसे अपने लिये कितना कल्याणकारी मानती थीं, यह इस सुक्त में द्रष्टव्य है। इसी संयुक्त के अन्त में एक यक्ष आकर भगवान् से कहता है "भिक्षु ! मैं तुम्हें एक प्रश्न पूछता हूँ। तू इसका उत्तर दे। यदि न दे सका तो मैं या तो तेरी खोपड़ी को फोड़ दूंगा या तुझे पकड़ कर गंगा में फेंक दूंगा।" भगवान् कहते हैं "मेरी खोपड़ी को फोड़ने वाला या मुझे पकड़ कर गंगा में फेंकने वाला इस संसार में कोई नहीं है। हाँ, तू इच्छानुसार प्रश्न पूछ सकता है।" यक्ष भगवान् के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाता है और अन्त में बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में जाता है। इतना ही नहीं वह कृतज्ञतापूर्वक कहता है "अब मैं गाँव से गाँव, कस्बे (निगम) से कस्बे, और नगर से नगर जाकर बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का जनताओं के कल्याण के लिये प्रचार करूँगा।" यक्ष और बुद्ध के उपर्युक्त संवाद की तुलना विटरनित्ज ने महाभारत के यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से की है।^१ किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। महाभारत में आरम्भ से लेकर अन्त तक युधिष्ठिर यक्ष की कृपा के भिक्षुक हैं और अपने उत्तरों द्वारा उसे प्रसन्न कर के ही वे अपनी विमुक्ति प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत यहाँ यक्ष पहले ही बुद्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असफल हो जाता है। बुद्ध-गौरव से पराजित होकर ही वह प्रश्न पूछता है और अन्त में तो वह उनका अंजलिबद्ध शिष्य ही हो जाता है।

११. सक्क-संयुक्त—देवराज शक्र की बुद्ध द्वारा प्रशंसा है। ऋग्वेद का वज्र धारी इन्द्र बौद्ध प्रभाव में आकर क्षमाशील बन गया है। वह वैसा असंयमी भी नहीं रहा। भगवान् ने इस प्रशंसा में इन्द्र की क्षमाशीलता और उसकी समय-परायणता का ही विशेष वर्णन किया है। अपने इन्हीं गुणों के कारण

उसने ३३ देवताओं के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है। इसी प्रसंग में देवासुर-संग्राम का भी इस संयुक्त में वर्णन आया है।

२—निदान-वग्ग

१. निदान-संयुक्त—प्रतीत्य समुत्पाद का विशद वर्णन है। किस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से स्रष्टा-यतन, स्रष्टायतन से स्पर्श और इस प्रकार क्रमशः वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है और किस प्रकार इनका क्रमशः निरोध होता है, इसी का उपदेश यहाँ भगवान् ने भिक्षुओं को दिया है। विषय-निरूपण प्रायः महानिदान-सुत्त (दीघ-२१२) के समान ही है।

२. अभिसमय-संयुक्त—अणुमात्र भी चित्त-मलिनता रहते निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः भिक्षु को उत्तरोत्तर अनवरत अध्यवसाय करते हुए अ-ग्रहीण चित्त-मलों को नष्ट करना चाहिये और सदाचरण की वृद्धि करनी चाहिये।

३. धातु-संयुक्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, आदि इन्द्रियों, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म उनके विषयों एवं चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान एवं मनोविज्ञान उनके विज्ञानों, इस प्रकार इन अठारह धातुओं का यहाँ विवरण दिया गया है।

४. अनमतग्ग-संयुक्त—“भिक्षुओ ! इस संसार का आविर्पूर्णतः अज्ञात (अनमतग्ग) है। तृष्णा और अविद्या से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ का पता नहीं चलता।” यही इस संयुक्त की मूल भावना है।

५. कस्सप-संयुक्त—भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप की सन्तोष-वृत्ति की प्रशंसा की है। महाकाश्यप यथा-प्राप्त भोजन, यथा-प्राप्त वस्त्र, यथा-प्राप्त शयनासन (निवास-स्थान) और यथा-प्राप्त पथ्य-औषध आदि की सामग्री से सन्तुष्ट हो जाने वाले हैं। भगवान् ने दूसरे भिक्षुओं को भी ऐसा ही होने का उपदेश दिया है।

६. लाभ-सक्कार-संयुक्त—लाभ और सक्कार से विरत रहने का भिक्षुओं को भगवान् के द्वारा उपदेश दिया गया है। उन्होंने कहा है कि लाभ और

संस्कार को चाहने वाले भिक्षु का पतन हो जाता है और उसकी वही गति होती है जो अंकुश को निगलने वाली मछली की।

७. राहुल संयुक्त—राहुल को संयम का उपदेश। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, सभी अनित्य और दुःख-रूप हैं। उनमें 'मे' या 'मेरा' की भावना करने से दुःख ही हो सकता है। उनमें से किसी के विषय में 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा आत्मा है' ऐसी भावना करना उपयुक्त नहीं।

८. लक्ष्मण-संयुक्त—एक दिन धर्मसेनापति सारिपुत्र और एक अन्य भिक्षु जिसका नाम लक्ष्मण (लक्षण) था साथ साथ भिक्षा-चर्या को जा रहे थे। अचानक सारिपुत्र को हँसी आ गई। भिक्षा से लौट आने के बाद लक्ष्मण ने उनकी इस हँसी का कारण पूछा। धर्म सेनापति ने भगवान् बुद्ध और अन्य भिक्षुओं की उपस्थिति में उसका कारण बताया।

९. ओपम्म-संयुक्त—भगवान् ने भिक्षुओं को सचेत और जागरूक रहने का उपदेश दिया है। यहाँ उन्होंने उपमा (ओपम्म) की है। जिस प्रकार यदि लिच्छवि गणतन्त्र के लोग सतत जागरूक और सचेत नहीं रहेंगे तो अजातशत्रु (मगधराज) उन्हें दबा लेगा, पराजित कर देगा, इसी प्रकार यदि भिक्षु अपने आचरण में थोड़ा भी प्रमाद करेंगे, तो उन्हें मार अपने फन्दे में दबा लेगा।

१०. भिक्षु-संयुक्त—महामौगल्लान (महामौद्गल्यायन) का भिक्षुओं को 'आर्य-मौन' पर उपदेश। उन्होंने बताया है कि 'आर्य-मौन' का वास्तविक आचरण द्वितीय ध्यान की अवस्था में होता है। भगवान् बुद्ध नन्द और तिष्य (तिस्स) नामक भिक्षुओं को भिक्षु-नियमों का पूरा पालन करने को कहते हैं।

३—सन्धवग्ग

१. सन्ध-संयुक्त—पञ्चस्कन्धों का वर्णन है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और चिन्तन अनित्य, परिवर्तन-शील और दुःख-रूप हैं। इनमें 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' या 'यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार की भावना साधक को नहीं करनी चाहिये। बल्कि इनके उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये और इनमें मन को आसक्त नहीं करना चाहिये। पञ्चस्कन्धों की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करने पर काम-वासना रह ही नहीं सकती, और पुनर्जन्म, अविद्या, आत्माभिनिवेश, सभी नष्ट हो जाते हैं।

२. राक्ष-संयुक्त—स्वविर राक्ष ने भगवान् से मार, तुष्णा, अनित्यता आदि पर प्रश्न पूछे हैं। भगवान् के उत्तर बड़े मार्मिक हैं।

३. दिट्ठ-संयुक्त—मिथ्या मतवादों की उत्पत्ति का कारण भगवान् ने बताया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में 'मे' या 'मेरा' की भावना करना, इस प्रकार के चिन्तनों में लगे रहना जैसे कि क्या यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, क्या जीव और शरीर दो अलग अलग हैं या एक हैं, आदि, इस प्रकार के विचारों की आसक्ति ही मिथ्या मतवादों का कारण है।

४. ओक्कन्तिक-संयुक्त—बद्ध, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन, ये सभी अनित्य, परिवर्तशील और दुःख रूप हैं, इनमें 'आत्मा' (अत्ता) की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है वही धर्म-मार्ग में विचरण करने वाला भिक्षु है।

५. उप्पाद-संयुक्त—बद्ध, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन का उत्पन्न होना ही जन्म, जरा, मरण, दुःख और शोक का उत्पन्न होना है—बुद्ध-उपदेश।

६. किलेस-संयुक्त—क्लेश या चित्त-मलों का विवरण है। बद्ध और दृश्य पदार्थ में, श्रोत्र और शब्द में, घ्राण और गन्ध में, जिह्वा और रस में, काय और स्पृष्टव्य में, मन और धर्मों (पदार्थों) में इच्छा और आसक्ति का होना ही चित्त का मल है।

७. सारिपुत्त-संयुक्त—आनन्द ने धर्मसेनापति सारिपुत्त से पूछा है कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को किस प्रकार शमित किया है ? धर्मसेनापति ने उत्तर-स्वरूप कहा है "एकान्त-वास (प्रतिवेक) से उत्पन्न, सुख और सौमनस्य से युक्त, प्रथम ध्यान में स्थित रह कर, विषयों से दूर रह कर, 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।"

८. नाग-संयुक्त—नागों की चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, जैसे कि अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, माता-पिता से उत्पत्ति।

९. सुपण्ण-संयुक्त—सुपणं नामक पक्षियों की भी चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, बिना माता-पिता के उत्पत्ति।

१०. गन्धर्व-काय-संयुक्त—गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन है।

११. बलाह-संयुत—'बलाहक कायिक' अर्थात् बादल रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है।

१२. वच्छगोत-संयुत—वच्छगोत नामक परिव्राजक की मिथ्या-धारणाओं का भगवान् के द्वारा निवारण। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, जीव और शरीर एक ही हैं या अलग अलग हैं, आदि मिथ्या धारणाओं का कारण भगवान् ने पंच स्वत्थों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) के वास्तविक स्वरूप (अनित्य, दुःख, अनात्म) का अज्ञान ही बताया है। वच्छगोत परिव्राजक का भगवान् से संवाद-मन्त्रिम-निकाय के तेलिस्त्र वच्छगोत-सूत' (१।३।१) में भी हुआ है।

१३. भान (या समाधि) संयुत—ध्यान या समाधि का विवरण है। भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष ध्यान और उसकी प्राप्ति की रक्षा करने में कुशल है, वही सर्वोत्तम ध्यानी है।

४—संज्ञायतन-वग्ग

१. संज्ञायतन-संयुत—चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, काया और स्पर्श, मन और धर्म, सभी अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। इन सब में 'मे' और 'मेरा' की भावना करना उपयुक्त नहीं। इनमें जब आसक्ति को मनुष्य नष्ट कर देता है, तो वह बन्धन से छूट जाता है। उच्चतम संयम भी यही है।

२. वेदना-संयुत—सुखा, दुःखा और न-सुख-न-दुःखा, ये तीन वेदनाएँ हैं। इनमें सुख की वेदना को दुःख के रूप में देखना चाहिये, दुःख की वेदना को शूल के रूप में देखना चाहिये और न-सुख-न-दुःख की वेदना को अनित्य के रूप में देखना चाहिये। वेदनाओं को छोड़ देने वाला अनासक्त भिक्षु ही 'सम्यक् दृष्टि' सम्पन्न कहलाता है।

३. मातृगाम-संयुत—स्त्रियों-सम्बन्धी बृद्ध-प्रवचन है। भगवान् ने स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक दुःखभागिनी माना है। अतः ब्रह्मचर्य-जीवन की उनके लिये उतनी ही अधिक आवश्यकता भी। स्त्रियों को पाँच विशेष काट हैं—बाल्य काल में माता-पिता का घर छोड़ना पड़ता है, उसे छोड़ कर दूमरे (पति) के घर जाना पड़ता है, गर्भ धारण करना पड़ता है, प्रसव करना पड़ता है, पुरुष की सेवा करनी पड़ती है। संसार में रूप, धन, चरित्र और परिश्रमी स्वभाव

वाली एवं सन्तान प्रसविनी स्त्री का आदर होता है। यदि स्त्री पतिव्रता, विनीत, लज्जाशील और ज्ञानवती हो तो वह मरने के बाद सद्गति प्राप्त करती है। पुरा-चारिणी, मुखी और निलज्जा होने पर वह मरने के बाद दुर्गंतियों में पड़ती है।

४. जम्बुत्वादक-संयुत—जम्बुत्वादक नामक परिव्राजक के प्रति धर्म-सेनापति सारिपुत्र का ब्रुड-धर्म पर उपदेश है। निर्वणि और अहंस्व का अर्थ सारिपुत्र ने राग, द्वेष और मोह से विमुक्ति कहा है। इसे प्राप्त करने का उपाय आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही है। जिसने राग-द्वेष को छोड़ दिया, वही मनुष्य सुखी है। आसुवों (चित्त-मलों) से विमुक्ति पाने का आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग से अति-रिक्त और कोई उपाय नहीं है।

५. सामंडक-संयुत—सामंडक नामक परिव्राजक के प्रति सारिपुत्र का 'निव्वान' (निर्वणि) पर उपदेश है। विषय-वस्तु उपर्युक्त संयुत के समान ही है।

६. मोग्गल्लान-संयुत—महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) द्वारा भिक्षुओं को चार ध्यानों का उपदेश है। दीघ और मज्झिम निकायों के इस सम्बन्धी वर्णन से यहाँ कोई विशेषता नहीं है। बिल्कुल उन्हीं शब्दों में यहाँ भी चार ध्यानों का विवरण दिया गया है। अरूपावचर भूमि के आकाशानन्त्या-यतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिचन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्थाओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है।

७. चित्त-संयुत—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, काय और मन रूपी इन्द्रियाँ बन्धन की कारण नहीं हैं। रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और मानसिक धर्म भी बन्धन के कारण नहीं हैं। बन्धन की कारण तो वह वासना है, तृष्णा है, जो चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न होती है, श्रोत्र और शब्द के संयोग से पैदा होती है, घ्राण और गन्ध के संयोग से पैदा होती है, काय और स्पर्श के संयोग से पैदा होती है, मन और धर्मों के संयोग से पैदा होती है। अतः इस वासना या तृष्णा का निरोध ही बन्धन-विमुक्ति का कारण है।

८. गामणि-संयुत—भोगवाद और तपस्वरण की अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश गामणि को दिया गया है। क्रोध को छोड़कर जमाशील होने का भी यहाँ उपदेश दिया गया है।

९. असंखत-संयुत—निर्वणि असंस्कृत अर्थात् अकृत है। राग, द्वेष और मोह का सम्पूर्ण निरोध ही 'निर्वणि' कहा जाता है, कायिक-मानसिक आमस्कता

(स्मृति-सम्प्रजन्य) चित्त-शान्ति (शमथ), आन्तरिक ज्ञान-दर्शन (विपश्यना) चार स्मृति-प्रस्थान और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, यही उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।

१०. अव्याकृत-संयुक्त—कोशलराज प्रसेनजित् ने क्षेमा (क्षेमा) नाम की भिक्षुणी से पूछा है “क्या मृत्यु के बाद तत्थागत रहते हैं या नहीं रहते? या रहते भी हैं और नहीं भी रहते?”। क्षेमा ने इसके उत्तर स्वरूप केवल यह कहा है कि तत्थागत ने इसे अव्याकृत कर दिया है अर्थात् उन्होंने इसे ब्रह्मचर्य के लिये आवश्यक न समझकर अकचनीय कर दिया है। साथ में वह यह भी कहती है कि तत्थागत का ज्ञान गम्भीर समुद्र के समान है, जिसकी बाह नहीं ली जा सकती। जब अनिरुद्ध, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे बुद्ध के अन्य शिष्यों से यह प्रश्न पूछा जाता है तो वे भी उसका उसी प्रकार उत्तर देते हैं जैसे क्षेमा भिक्षुणी ने दिया है। दीर्घ और मज्झिम निकायों के ‘दस अव्याकृत’ (अकचनीय) धर्मों के समान यहाँ भी बुद्ध-मन्तव्य विमल जल के समान स्वच्छ दिखालाई पड़ता है। पासादिक-सुत्त (दीर्घ. ३।६) और बल मालुक्क-सुत्त (मज्झिम. २।२।३) के समान ही इस संयुक्त की विषय-वस्तु है।

५—महावग्ग

१. मग्ग-संयुक्त—आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का पूरे विवरण के साथ वर्णन किया गया है।

२. बोद्धमंग-संयुक्त—परम ज्ञान (बोधि) के सात अङ्गों यथा स्मृति, धर्म-नवेवणा (धम्मविचय) वीर्य, प्रीति, प्रव्रत्ति (चित्त-प्रसाद) समाधि और उपेक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

३. सतिपट्ठान-संयुक्त—काया में कायानुपश्यी होना, वेदनाओं में वेदमानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों (पदार्थों) में धर्मानुपश्यी होना, इन चार स्मृति-प्रस्थानों (सतिपट्ठान) का यहाँ दीर्घ^१ और मज्झिम^२ निकायों के समान शब्दों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

१. देखिये महानतिपट्ठान-सुत्त (दीर्घ. २।९)

२. सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०)

४. इन्द्रिय-संयुक्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच इन्द्रियों अथवा ज्ञान-शक्तियों का वर्णन है।

५. सम्मन्वय-संयुक्त—जो चित्त-मल अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनकी उत्पत्ति को रोकना, जो चित्त-मल उत्पन्न हो चुके हैं उनको नष्ट करना, जो शुभ कर्म अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न करना, जो उत्पन्न हो चुके हैं उनको बढ़ाना, इन चार सम्यक्-प्रधानों या शुभ प्रयत्नों का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

६. बल-संयुक्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच बलों का वर्णन है।

७. इन्द्रियाद-संयुक्त—इच्छा-शक्ति (छन्द), वीर्य, चित्त और मीमांसा (वीमंसा) इन चार ऋद्धिपादों या योग-सम्बन्धी विभूतियों का वर्णन है।

८. अनुरुद्ध-संयुक्त—शरीर, वेदना, मन और मानसिक धर्म, इन सब पर अद्भुत संयम प्राप्त कर किस प्रकार स्पष्टिर अनिरुद्ध ने योग की विभूतियों को प्राप्त किया है, इसका वर्णन है।

९. ज्ञान-संयुक्त—ध्यान की चार अवस्थाओं का वर्णन है। वर्णन की भाषा बिलकुल वही है जो प्रथम दो निकायों में। किस प्रकार शील और सदाचार में प्रतिष्ठित होकर, एकान्त-वास का सेवन कर, साधक कमशः ध्यान की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को प्राप्त करता है, इसका विपिटक में प्रायः समान शब्दों में अनेक बार वर्णन किया गया है।^१ संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि प्रथम ध्यान की अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय ध्यान की अवस्था में वितर्क और विचार का प्रहाण हो जाता है और केवल समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख रहते हैं। तृतीय ध्यान की अवस्था में प्रीति और सुख से भी उपेक्षा हो जाती है और साधक उपेक्षा और स्मृति के साथ ध्यान करने लगता है। चतुर्थ ध्यान में चूँकि सुख-दुःख, सोमनस्य, दोर्मनस्य पहले से ही अस्त हुए रहते हैं, अतः साधक न दुःख और न सुख वाले तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध, इस ध्यान को प्राप्त करता है।

१०. आनापान-संयुत—भगवान् ने प्राणायाम या श्वास-अश्वास को नियमित करने का उपदेश दिया है और उसे मार्ग-प्राप्ति का सहायक माना है।^२

स्रोतापत्ति-संयुत—स्रोतापत्ति अवस्था अर्थात् धर्म सग्री नदी की धारा में पड़ना, इसका वर्णन किया गया है। बुद्ध-धर्म और संघ में जिसकी श्रद्धा और निष्ठा है वह सांसारिक लाभों की चिन्ता नहीं करता। वह इच्छा और द्वेष को छोड़कर फिर इस लोक में नहीं आता।

सच्च-संयुत—चार आर्य सत्त्यों का वर्णन है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-नामिनी प्रतिपद्, इन चार आर्य सत्त्यों का उपदेश बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा है। प्रायः समान शब्दों में इन सम्बन्धी उपदेश का वर्णन त्रिपिटक में अनेक बार आया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में यद्यपि वर्गों और संयुक्तों के काम से उनकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है, किन्तु उनके असंख्य सुक्तों की वह सामग्री अभी बाकी ही बच रहती है जो उन्होंने बुद्ध, उनके जीवन, उनके उपदेश, इसी प्रकार बुद्ध-शिष्यों के जीवन और उपदेश, तत्कालीन धर्मोप-देष्टाओं और धार्मिक विचारों के साथ बुद्ध और उनके धम्म का सम्बन्ध, तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति, एवं इसी प्रकार के अन्य महत्व-पूर्ण विषयों के सम्बन्ध में दी हैं। इन सम्बन्धी स्मृतियों का कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा। संयुत-निकाय के 'धम्म चक्क पवतन-सुत्त' में (जो विनय-पिटक—महाधम्म के इस सम्बन्धी वर्णन की पुनरुक्ति ही है) हम वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश करते देखते हैं। काम-वासनाओं में काम-लिप्त होना और काम-क्लेश में लगना, इन दो अतियों के त्याग एवं आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग

२. मिलाइये विशेषतः भयभेरव-सुत्त (मज्झिम. १।१।४); द्वेषा वितक्क सुत्त (मज्झिम. १।२।९) महाअस्तपुर-सुत्त (मज्झिम. १।४।९); चूलहत्थिप-दोपम सुत्त (मज्झिम. १।३।७); सामञ्जाकल सुत्त (दीघ. १।२); अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३); सोणदंड सुत्त (दीघ. १।४); कूटबन्त सुत्त (दीघ. १।५); महालिसुत्त (दीघ. १।५) पोठ्ठपाव-सुत्त (दीघ. १।९) केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११) सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०); चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३); संगीतिपरिवायसुत्त (दीघ. ३।१०) आदि, आदि।

रूपी मध्यम-मार्ग के आचरण तथा चार आर्य सत्तों का उपदेश देते यहाँ हम प्रथम बार भगवान् को देखते हैं। सत्तापदान-संयुक्त में (यहाँ भी विनय-पिटक-महावग्ग के समान ही) हम तथागत को भिक्षुओं को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए देखते हैं "भिक्षुओ ! जितने भी मानुष और दिव्य पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ ! भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ ! भिक्षुओ ! आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी धर्म का उसके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ उपदेश करते हुए सम्पूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। संसार में अल्प बोध वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी। सुनने से वे धर्म के जानने वाले होंगे। भिक्षुओं ! मैं भी जहाँ उरवेला और सेनावी गाँव हैं, वहाँ धर्म-देशना के लिये जाऊँगा।" सत्तिपट्ठान-संयुक्त के जरा-सुत्त में भगवान् की वृद्धा-वस्था का सजीव चित्र है। भगवान् अपराह्न में ध्यान से उठ कर धूप में बैठे हैं। आनन्द भगवान् को देखकर कहते हैं "आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! भगवान् के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। अंग भी सिधिल हो गये हैं। पूरी काया में झुरियाँ पड़ी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों में भी विपरिणाम दिखाई पड़ता है।" "आनन्द ! यह ऐसा ही होता है ! मौन में जरा-धर्म है, आरोग्य में व्याधि-धर्म है। जीवन में मरण-धर्म है।" हम भगवान् और उनके उपस्थाक शिष्य के विमल मनुष्य-रूप को यहाँ देखते हैं। इसी निकाय के सकलिक-सुत्त में हम सूचना पाते हैं कि भगवान् का पैर पत्थर के टुकड़े से विशद हो गया है और वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसको सहन कर रहे हैं। इसी प्रकार सक्क-संयुक्त में अनार्यापिटिक की दीक्षा एवं जेतवन-दान का वर्णन है। विनय-पिटक के चूल्लवग्ग में भी यही वर्णन आया है। संयुक्त-निकाय के भिक्षु-संयुक्त में हम सूचना पाते हैं कि कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् पाश-चीवर ले बिना किसी भिक्षु को कहे अकेले ही पारिलेय्यक (पारिलेय्यक भी) नामक स्थान में एकान्त-वास के लिये चले गये हैं। संयुक्त-निकाय के 'उदायि-सुत्त' में हम भगवान् और स्थविर उदायी का

संवाद देखते हैं जो शास्ता और शिष्य के सम्बन्ध के अलावा बृद्ध-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। "भन्ते ! पहले गृहस्थ रहते मुझे धर्म से बहुत लाभ न मिला था। किन्तु भन्ते ! आज मैंने धर्म को जान लिया। मुझे वह मार्ग मिल गया।" "साधु उदायी ! तुम्हें वह मार्ग मिल गया। जैसे जैसे तू इसकी भावना करेगा, वृद्धि करेगा, यह तुम्हें वैसे ही भाव को ले जायगा जिससे कि तू जानेगा "आवागमन क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ करने को बाकी नहीं है।" भगवान् का अपने शिष्य भिक्षुओं के साथ कैसा अनुकम्पायमय सम्बन्ध था, इसका एक और उदाहरण इसी निकाय में देखिये। मग्न-संयुक्त के चन्द्र-सुत्त में हम चन्द्र समणुद्देश को भगवान् के पास धर्मसेनापति के परिनिर्वाण का संदेश लाते देखते हैं। इसे सुनते ही आनन्द की क्या हालत होती है, यह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए "आद्युष्मान् सारिपुत्र परिनिवृत्त हो गये, यह सुन कर मेरा शरीर ढीला पड़ गया है, मुझे दिखाएँ नहीं सूभती, बात भी नहीं सूझ पड़ती।" भगवान् सचेत करते हैं "क्यों आनन्द ! क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों से जुदाई होती है। इसलिये आनन्द ! आत्म-दीप, आत्म-शरण, अपरालम्बी होकर बिहरो ! धम्मदीप, धम्म-शरण, अपरालम्बी होकर बिहरो।" इसी संयुक्त के उक्काचेल-सुत्त में सारिपुत्र के परिनिर्वाण के थोड़े दिन बाद ही भगवान् को अपने द्वितीय प्रधान शिष्य महासौदगल्यायन के भी परिनिर्वाण की सूचना मिलती है। सभी शिष्य अपने शास्ता के सहित स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ इस दुःख को सहते हैं। एक दिन भगवान् गंगा की रेती में उक्काचेल नामक स्थान पर बिहरे रहे हैं। भिक्षु-परिषद को विज्ञापित करने के लिये बैठते हैं किन्तु सर्व प्रथम ध्यान आता है अपने सद्यः परिनिवृत्त शिष्य सारिपुत्र और सौदगल्यायन का। बृद्ध का मानवीय रूप फूट पड़ता है "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और सौदगल्यायन के बिना मुझे यह परिषद शून्य सी जान पड़ती है। जिस दिशा में सारिपुत्र-सौदगल्यायन बिहरते थे, वह दिशा किसी और की न चाहने वाली होती थी" इतना ही कह पाते हैं कि भगवान् का मानवीय रूप उनके बृद्ध-रूप में परिवर्तित हो जाता है और "भिक्षुओ ! आश्चर्य है तथागत को ! अद्भुत है तथागत को ! इस प्रकार के शिष्यों की जोड़ी के परिनिवृत्त हो जाने पर भी तथागत को शोक-परिदेव नहीं है।... भिक्षुओ ! जैसे महान् वृक्ष के सड़े रहते भी उसकी सारवाली

शास्त्राएँ टूट जायें, उसी प्रकार भिक्षुओं ! तत्पागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सार वाले सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का परि-निर्वाण है । सो वह भिक्षुओं ! कहाँ से मिले । जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, सब नष्ट होने वाला है । इसलिये भिक्षुओं ! आत्म-दीप, आत्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो, धर्म-दीप, धर्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो ।" शास्ता का मानवीय रूप और साथ साथ उनका बुद्धत्व यहाँ स्पष्टतम रूप में दिखाई पड़ता है । बुद्ध-धर्म की साधना इसी जन्म की साक्षात् अनुभूति के लिये है, यह तथ्य इस निकाय के संवहुल-सुत्त से भली प्रकार हृदयम किया जा सकता है । एक ब्राह्मण आकर भिक्षुओं से कहता है "आप लोग वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की ओर दौड़ रहे हैं । इस से तो यही अच्छा हो कि आप मानुष कामों का भोग करें ।" भिक्षु उत्तर देते हैं "ब्राह्मण ! हम वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की चीज के पीछे नहीं दौड़ रहे । बल्कि कालान्तर की चीज को छोड़कर ब्राह्मण ! हम वर्तमान के पीछे दौड़ रहे हैं । ब्राह्मण ! भगवान् ने कामों को बहुत दुःख वाले, बहुत प्रयास वाले, बहुत दुष्परिणाम वाले, कालिक (कालान्तर) कहा है । किन्तु यह धर्म तो सांद्ष्टिक के (वर्तमान में फल देने वाला) अ-कालिक, यही साक्षात्कार किया जाने वाला, तह तक पहुँचाने वाला और प्रत्येक शरीर में अनुभव करने योग्य है ।" अत-दीप सुत्त में हम आत्म-निर्भर होने का उपदेश पाते हैं, जिसकी पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेक स्थलों पर की है और जो उनके धर्म के स्वरूप को समझने के लिये अति आवश्यक है । भगवान् सब को प्रव्रज्या का ही उपदेश नहीं देते थे । बल्कि गृहस्थाश्रम में रह कर भी वे प्रमाद-रहित जीवन की सम्भावना मानते थे । ऐसा ही उन्होंने राजों (मकान बनाने वाले मजदूरों) से इसी निकाय के थर्पति-सुत्त में कहा भी है "स्थपतियो ! गृहवास बाधापूर्ण है, मल का आगमन-मार्ग है । प्रव्रज्या खुली जगह है । किन्तु स्थपतियो ! तुम्हारे लिये अप्रमाद से रहना ही उप-युक्त है ।" ऐसा मालूम पड़ता है भगवान् के इस अप्रमाद-उपदेश को स्मरण कर के ही अशोक अपनी प्रजाओं को इतनी पुनरावृत्ति के साथ अप्रमाद, का जीवन बिताने को कहता है ।^१ संयुक्त-निकाय में बुद्धकालीन भारत में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और उनके प्रधान आचार्यों एवं बुद्ध और

१. देखिये आगे दसवें अध्याय में अशोक के अभिलेखों का विवरण ।

उनके धर्म के साथ उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालने वाले काफी वर्णन हैं। इस प्रकार संयुक्त-निकाय के सन्ध-संयुक्त में हम उस काल के छः प्रसिद्ध आचार्यों यथा पूर्ण कादम्प, मन्त्राली (मस्करी) गोशाल, संजय वेलिदिठपुत्त, प्रबुध-कात्पायन^१ आदि का वर्णन पाते हैं। इसी प्रकार मोग्गल्लान-संयुक्त के अस्मिन्धकपुत्त-सुत्त और निगण्ठ-सुत्त से हमें बृद्ध-धर्म और तत्कालीन जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। तत्कालीन याज्ञिक ब्राह्मणों के यज्ञवाद और बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, और किस प्रकार एक के सामने दूसरे को झुकना पड़ा, यह देखने के लिये संयुक्त-निकाय का सुन्दरिका-भारद्वाज सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोशल-देश में सुन्दरिका नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहा है। भगवान् भी उधर चारिका करते हुए निकल पड़ते हैं। वह उन्हें देख कर यज्ञ से बचा हुआ अन्न देना चाहता है, किन्तु पहले पूछता है "आप कौन जाति हैं?" भगवान् का ज्ञान उभाड़ पाता है "जाति मत पूछ। आचरण पूछ। काष्ठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान्, ज्ञानी, पाप-रहित मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करने वाला, जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुँचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्य-वास समाप्त कर लिया है, वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है, वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है।" भारद्वाज को ऐसे उदारचित्तिय वचन सुन कर श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह कहता है "निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सुदृढ़ है जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त (वेदगू) पुरुष को मने देखा। तुम्हारे जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य-श्लेष खाते हैं। हे गौतम! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।" भारद्वाज ब्राह्मण की यह बुद्ध-प्रशंसा दिसलाती है कि यज्ञवादी होते हुए भी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचरण की प्रतिष्ठा को समझते थे और उसे देखकर उसके सामने नतमस्तक होना भी जानते थे। भारद्वाज ब्राह्मण का बुद्ध को ब्राह्मण तक मानने को उद्यत हो जाना और उनकी प्रशंसा करना उसकी उदारता का सूचक है। कुछ भी हो, यज्ञ को ही सर्वस्व मानने वाले

१. सुत्त-पिटक के प्रबुध कात्पायन को डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने उप-निषद् के कवन्धी कात्पायन से मिलाया है। देखिये उनका पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन्टायेन्ट इन्डिया, पृष्ठ २१ (तृतीय संस्करण, १९३२)

ब्राह्मणों को भी बुद्ध के ज्ञान-व्यस का लोहा अवश्य मानना पड़ा। मारद्वाज को उद्बोधित करते हुए भगवान् उसे कहते हैं "ब्राह्मण ! लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पड़िल लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण ! मैं दास-दाह छोड़ भीतर की ज्योति जलता हूँ। नित्य आम वाला, नित्य एकान्त-चित्त वाला हूँ, मैं ब्रह्मचर्य-पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान स्त्रिया का भार है, शोध ध्रुवा है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा लूबा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के इमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! शील तीर्थ वाला, सन्तजनों से प्रशंसित, निर्मल धर्म रूपी सरोवर है। इसी में वेद को जानने वाले (वेदगु) पुरुष नहाकर विना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति, सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। तु ऐसे हवन किये हुआँ को नमस्कार कर। मैं उनको पुण्यो को संयमी बनाने के लिये सारथी-स्वरूप कहता हूँ।" इस प्रकार इस निकाय में हमें बुद्ध-जीवन, बुद्ध और उनके शिष्य, एवं बुद्ध-धर्म और तत्कालीन अन्य धार्मिक साधनाओं के साथ उसके सम्बन्ध आदि के विषय में प्रभूत जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इस निकाय में प्रथम दो निकायों की तरह काफी परिचय मिलता है। जहाँ तक राजनैतिक इति-हास का सम्बन्ध है, इस निकाय में कोशलराज प्रसेनजित् का वर्णन आया है और मगध-राज अजातशत्रु के साथ उसके युद्ध, अजातशत्रु की पराजय और बाद में प्रसेनजित् की पुत्री वज्जा (वजिरा) का उससे विवाह और भेंट-स्वहृष्य काशी-प्रदेश की प्राप्ति इन घटनाओं का विवरण पहले किया ही जा चुका है। कोशाम्बी-नरेश उदयन (उदेन) का भी यहीं वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि क्षत्रिय राजाओं के जहाँ-तहाँ वर्णन भरे पड़े हैं। भौगोलिक दृष्टि से राजगृह में वेलुवन, सुसुमार गिरि में भेसकलावन, वैशाली में महावन आदि वनों, मेरंजरा, गंगा, यमुना आदि नदियों, मगध में गिरिश्रज और अबन्ती में कुररघर आदि पर्वतों, न्यसोन्नाराम (कपिलवस्तु) कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि आरामों (भिक्षु-निवासों), नालक (मगध) नाल (कोसल) वेलुवार (कोसल) आदि ग्रामों, मगध, वज्जि, कोसल आदि प्रदेशों, और देवदह, कपिलवस्तु, साकेत आदि नगरों तथा अनेक कस्बों (नगरों) के वर्णन भरे पड़े हैं, जो तत्कालीन भारतीय प्रदेशों और

उनके निवासियों के जीवन सम्बन्धी काफी महत्वपूर्ण ज्ञान को हमें प्रदान करते हैं।

ई—अंगुत्तर-निकाय

अंगुत्तर-निकाय सुत्त-पिटक का चौथा बड़ा भाग है। बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें प्रथम तीन निकायों में मिलता है, वही अंगुत्तर-निकाय का भी विषय है। केवल अंगुत्तर-निकाय की शैली में कुछ भिन्नता है। संख्याबद्ध शैली इस निकाय की सब से बड़ी विशेषता है। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सम्पूर्ण निकाय ग्यारह निपातों में विभक्त है, यथा एक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात, चतुक्क-निपात, पञ्चक-निपात, छक्क-निपात, सत्तक-निपात, अट्ठक-निपात, नवक-निपात, दसक-निपात तथा एकादसक-निपात। प्रत्येक निपात वर्गों में विभक्त है। ग्यारह निपातों की वर्ग-संख्या क्रमशः इस प्रकार है (१) २१ वर्ग (२) १६ वर्ग (३) १६ वर्ग (४) २६ वर्ग (५) २६ वर्ग (६) १२ वर्ग (७) ९ वर्ग (८) ९ वर्ग (९) ९ वर्ग (१०) २२ वर्ग (११) ३ वर्ग। इस प्रकार ग्यारह निपात कुल १६९ वर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में अनेक सुत्त हैं, जिनकी कम से कम संख्या ७ और अधिक से अधिक २६२ हैं। कुल मिलाकर अंगुत्तर-निकाय में २३०८ सुत्त हैं। आकार में प्रायः संयुक्त-निकाय के सुत्तों के समान ही छोटे हैं और उन्हीं के समान उनका विषय भी कोई बुद्ध-प्रवचन या किसी के साथ हुआ बुद्ध-संवाद है। अंगुत्तर-निकाय के प्रत्येक निपात में ऐसी संख्याओं से सम्बद्ध उप-देशों का संग्रह किया गया है जिनकी समता उक्त निपात की संख्या से है। इस प्रकार एकक-निपात में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दुक-नियत में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या दो से है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यह संख्या

१. मॉरिस तथा हाडॉ द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादित, पालि-टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८८५-१९००। छठी जिल्द में मेबिल हन्ट ने अनुक्रमणियाँ दी हैं। सिंहली लिपि में देवमिस्र का संस्करण, कोलम्बो १८९३, प्रसिद्ध है। बरमी और अन्य सिंहली संस्करण भी उपलब्ध हैं। हिन्दी में अभी कोई संस्करण या अनुवाद नहीं निकला।

एकादसक-निपात तक पहुँच जाती है, जिसमें भगवान् बृद्धदेव के उन उपदेशों का संग्रह है जिनके विषय का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार संख्या ग्यारह से है। यही कारण इस निकाय के अंगुत्तर-निकाय (अंकोत्तर-निकाय) नाम-करण का भी है। 'मिलिन्दपञ्च' में इसी निकाय का नाम 'एकुत्तर-निकाय' (एकोत्तर-निकाय) भी कहा गया है।^१ उसका भी यही अर्थ है। सर्वोक्तिवादी सम्प्रदाय के संस्कृत-त्रिपिटक में भी यह निकाय 'एकोत्तरागम' के नाम से ही प्रसिद्ध था, यह उसके चीनी अनुवाद से विदित होता है। अंगुत्तर-निकाय की संख्या-बद्ध शैली उस के लिये कोई नहीं है। थोड़ी बहुत यह प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। अतः उसके आधार पर इस संग्रह को प्रथम तीन निकायों की ओला काल-क्रम में बाद का ठहराना ठीक नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो प्रत्येक निकाय में ही, बल्कि कहीं कहीं प्रत्येक सूत्र में ही, पूर्व और उत्तर-कालीन परम्पराओं के साक्ष्य साथ साथ दिखाई पड़ते हैं। यही बात अंगुत्तर-निकाय में भी है। अतः गणनात्मक शैली की बहुलता होने के कारण ही अंगुत्तर-निकाय को बाद का संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा अभी कहा गया, गण-नात्मक प्रणाली थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। दीर्घ-निकाय के संगीति-नारियाम-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त एवं सुद्धक-निकाय के सुद्धक-पाठ (कुमारपञ्च) धेरगाथा, वेंरीगाथा, इतिवृत्त आदि में वस्तु-विन्यास संख्यात्मक वर्गीकरण को के शैली आधार पर ही किया गया है। बाद में चल कर अभिधम्म-पिटक में तो यह प्रणाली पूरे सात महाधर्मों का ही आधार बन जाती है। चूँकि अंगुत्तर-निकाय की अभिधम्म-पिटक से इस विषय में सब से अधिक समानता है, बल्कि उसके ग्यारह निपातों से अभिधम्म-पिटक के एक द्रव्य (पुगल पञ्जात्ति) की तो सारी विषय-वस्तु ही निकाली जा सकती है, अंगुत्तर-निकाय के इस प्रकार वर्गीकृत बृद्ध-वचनों को उत्तरकालीन संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं, बृद्ध-वचनों का संरक्षण, उस युग में, सुनने वालों की स्मृति में ही किया जाने के कारण, उसकी सहा-यतायें संख्यात्मक संविज्ञान की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये कभी कभी स्वयं शास्ता भी अपने उपदेशों में इस प्रकार के तत्त्व का संमिश्रण कर देते थे।

यह हम अंगुत्तर-निकाय के एक-निपात के 'कज्जगला-सुत्त' में अच्छी प्रकार देख सकते हैं। कुछ उपासक कज्जगला नामक भिक्षुणी के पास जाकर पूछते हैं 'अध्या ! भगवान् ने यह कहा है 'महा प्रश्नों में एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश, दो उत्तर दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर ! भगवान् के इस संक्षिप्त कथन का उत्तर किस प्रकार समझना चाहिये ? ' कज्जगला भिक्षुणी ने कहा 'एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर ! यह जो भगवान् ने कहा, वह इस कारण कहा। आवसो ! एक वस्तु में भिक्षु भली प्रकार निर्वेद को प्राप्त हो, भली प्रकार विराग को प्राप्त हो, भली प्रकार विरक्त हो, अच्छी प्रकार अन्तर्दशी हो, इसी जन्म में दुःख का अन्त करने वाला हो। किस एक धर्म में ? 'सभी सत्त्व आहार पर निर्भर है'। आवसो ! भगवान् ने जो यह कहा 'एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर ! वह इसी कारण कहा !' इसी प्रकार उत्तरीतर क्रम से बढ़ती हुई कज्जगला भिक्षुणी दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर (स्वा-करण) तक की व्याख्या करती है। गणनात्मक विधान होते हुए भी स्वयं उप-देश की गम्भीरता में कोई अन्तर यहाँ नहीं आता। यही बात विस्तार में हम अंगुत्तर-निकाय में भी देखते हैं। चार आर्य सत्य, आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार सम्मक् प्रधान, पाँच इन्द्रिय आदि सभी मौलिक बुद्ध-उपदेश इसी संख्यात्मक तत्व की सूचना देने हैं। अंगुत्तर-निकाय में केवल इसे उनके वर्ग-बद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने का आधार मान लिया गया है। अतः निश्चित है कि इसके अनेक सुत्त या अंश जो पिछले निकायों में अनेक प्रसंगों में आ चुके हैं, यहाँ संख्यात्मक प्रणाली को पूर्णता देने के लिये फिर रख दिये गये हैं।^१ उदाहरणतः चार आर्य सत्त्यों और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश विनय-पिटक के महावग्ग तथा संघुत्त-निकाय के 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' में स्वभावतः वाराणसी में दिये हुए उपदेश के रूप में अंकित हैं, किन्तु अंगुत्तर-निकाय में चार आर्य सत्त्यों सम्बन्धी उपदेश चतुक्क-निपात और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश अट्ठक-निपात में संगृहीत हैं। अतः यह बहुत सम्भव है कि कुछ स्थलों में अंगुत्तर-निकाय के सुत्त दीर्घ और मज्झिम निकायों के परिचित, विभक्त अथवा संक्षिप्त स्वरूप ही हों। किन्तु अधिकतर स्थलों में वे मौलिक ही हैं और

१. इनकी सूची के लिये देखिये फाल टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)

उनकी उपयुक्तता उनके सत्वात्मक स्वरूप में बड़ा असंदिग्ध भी है। अंगुत्तर-निकाय, जैसा हम अभी देखेंगे, बुद्ध और उनके धम्म और विनय के सम्बन्ध में कुछ ऐसी भी सूचना देता है जो प्राचीन भी है और साथ ही साथ अन्य निकायों में भी नहीं मिलती। पुनरुक्तियाँ और सत्वात्मक विवरण विशेषतः पादस्तव्य विद्वानों को बड़े आश्चर्यकर प्रवीत हुए हैं, अतः उन्होंने अंगुत्तर-निकाय के वास्तविक मूल्यांकन करने में बड़ी कृपणता दिखाई है। साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से अंगुत्तर-निकाय का स्थान दीर्घ, मज्झिम और सङ्ग निकायों के साथ ही है और उसमें भी, केवल कुछ कुचिम वर्गीकरण में, बुद्ध के जीवन और उपदेशों की बही साक्ष्यात् सम्पर्क में प्राप्त स्मृतियाँ उपलब्ध होती हैं, वैसे प्रथम तीन निकायों में। यह हम उसकी विषय-वस्तु के विवरण में अभी देखेंगे।

अंगुत्तर-निकाय की विषय-वस्तु का चाहे जितना विस्तृत विवरण दिया जाय वह उसकी वास्तविक विभूति को नहीं दिखा सकता। इसका कारण यह है कि केवल सत्वात्मक सूत्रियों का संकलन ही अंगुत्तर-निकाय नहीं है। अंगुत्तर-निकाय को केवल संगीति-परियाय-सुत्त (दीर्घ. ३।१०) या दमस्तर-सुत्त (दीर्घ. ३।११) का ही विस्तृत रूप समझ लेना एक भारी भ्रम होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अंगुत्तर-निकाय के एक से लेकर ग्यारह निपातों की विषय-वस्तु का स्वरूप वहाँ किसी न किसी प्रकार उनके अनुरूप संख्या से सम्बन्धित है, जैसे कि

१. एकक-निपात—एक धर्म क्या है? इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर के अनेक रूप।

२. दुक-निपात—दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिपक्वता, दो प्रकार की इच्छाएँ, आदि, आदि।

३. त्रिक-निपात—तीन प्रकार के वृष्टकृत्य (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार की वेदनाएँ (सुखा दुःखा, त-सुखा-न-दुःखा), आदि, आदि।

४. चतुक्क-निपात—चार आर्यसाध्य, चार ज्ञान, चार आसम्प्य-फल, चार समाधि, चार योग, चार आहार, आदि, आदि।

५. पञ्चक-निपात—पाँच अङ्गों वाली समाधि, पाँच उपादान-स्कन्ध, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच निस्सरणीय धातु, पाँच अर्धसाध्य, पाँच विभक्ति-आगतन आदि आदि।

६. छक्क-निपात—छः अनुस्मृति-स्थान, छः आध्यात्मिक प्रायतन, छः अभिज्ञेय आदि, आदि ।

७. सत्तक-निपात—सात सम्बोध्यज्ञ, सात अनुसय, सात सधर्म, सात संज्ञाएँ, सात सत्पुरुष-धर्म आदि, आदि ।

८. अट्ठक-निपात—आठ अष्टाङ्गिक-भाग, आठ आरव्य वस्तु, आठ अभिभू-आयतन, आठ विमोक्ष, आदि, आदि ।

९. नवक-निपात—नव तूष्णामूलक, नव सत्त्वावास, आदि, आदि ।

१०. दसक-निपात—दस तयागत-बल, दस आर्य-वास आदि, आदि ।

११. एकादसक-निपात—निर्वाण-प्राप्ति के ग्यारह उपाय, आदि, आदि ।

किन्तु इस उपर्युक्त सूची मात्र से अंगुत्तर-निकाय के विषय या उसके महत्त्व को नहीं समझा जा सकता। उसके लिये हमें उद्धरणों से उसके विषय की मूल बृद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिकता और बृद्ध-कालीन इतिहास के लिये उसके महत्त्व को हृदयङ्गम करना होगा। पहले एकक-निपात को ही लीजिये। धम्म-विनय की दृष्टि से ही अंगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात में उद्धृत इस बृद्ध-वचन को देखिये "नाहं भिक्खवे ! अञ्जं एक धम्मपि समनूपस्सामि यो एवं महेतो अनत्थाय संवत्तति, यदिदं भिक्खवे पापमित्ता । पापमित्ता भिक्खवे महतो अनत्थाय संवत्तति । " इसका अर्थ है "भिक्षुओ ! मैं किसी भी दूसरी चीज को नहीं देखता जो इतनी अधिक अनर्थकर, हो, जितनी पाप-मित्रता। भिक्षुओ ! पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है ।" जो दीप, मज्झिम और संयुक्त निकायों में निहित बृद्ध-वचनों की आत्मा और बाह्याभिव्यक्ति से परिचित है वे यहाँ उनकी अपेक्षा कुछ विभिन्नता नहीं देख सकते। अतः केवल इसीलिये कि संगीतिकारों ने कुछ बृद्ध-वचनों को संख्याबद्ध वर्गीकरण में बाँधकर रख दिया है, उनकी मौलिकता या महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। अंगुत्तर-निकाय को सब सामग्री अन्य निकायों से भी ली हुई नहीं है, बल्कि उसमें बहुत सी ऐसी भी सूचना है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसका भी एक उदाहरण एकक-निपात के ही 'एतदग्गधम्म' के उस महत्त्वपूर्ण विवरण में पाते हैं, जिसमें बताया गया है कि भगवान् बृद्ध के किस-किस भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, या उपासिका, ने साधना के किस-किस विभाग में दक्षता या विशेषता प्राप्त की थी। महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित इस अंश को,

उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण, यहाँ पूर्णतः उद्धृत करना ही उपयुक्त होगा, "ऐसा माने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, (१) भिक्षुओ ! मेरे रक्तज्ञ (अनुरक्त) भिक्षु श्रावकों में यह आज्ञा-कौण्डिन्य अग्र (श्रेष्ठ) है। (२) महाप्रज्ञों में यह सारिपुत्र अग्र है (३) श्रद्धिमानों में यह महामौद्गल्यायन अग्र है (४) धृतवादियों (अवधूत-व्रतों का का अभ्यास करने वालों) में यह महाकाश्यप अग्र है (५) दिव्यचक्षुओं में यह अनिरुद्ध अग्र है। (६) उच्चकुलीनों में यह भद्रिय कालिगोषा-पुत्र अग्र है। (७) मनुस्वर से धर्म उपदेश करने वालों में यह मकुटिक-भद्रिय अग्र है। (८) सिंहनाद करने वालों में यह पिंडोल भारद्वाज अग्र है (९) धर्म-उपदेश करने वालों में यह पूर्ण मैत्रायणी पुत्र अग्र है (१०) संश्लिप्त धर्मोपदेश को विस्तृत रूप में समझाने वालों में यह महाकात्यायन अग्र है। (११) मनो-मय काव्य निर्माण करने वालों में यह चुल्ल पथक अग्र है। (१२) सत्ता-विवर्त-चतुरों में यह महापथक अग्र है। (१३) अरण्य विहारियों में यह सुभूति अग्र है; दान-पात्रों में भी यह सुभूति अग्र है। (१४) आरण्यकों में यह रेवत खदिर वनिय अग्र है। (१५) ध्यानियों में यह कला-रेवत अग्र है। (१६) आरब्ध-धीरों में यह सोण कोटिबोस (शोणकोटिविश) अग्र है। (१७) सुवक्ताओं में यह सोण कुट्टिकण अग्र है। (१८) लाभ पाने वालों में यह सोवली अग्र है। (१९) श्रद्धावानों में यह वक्कली अग्र है। (२०) भिक्षा-कायों (भिक्षु-नियम के पाबन्दों में) यह राहुल अग्र है। (२१) श्रद्धा से प्रवर्जितों में यह राष्ट्रपाल अग्र है। (२२) प्रथम शालाका ग्रहण करने वालों में यह कुंडधान अग्र है। (२३) प्रतिभा वालों में यह वंगीश अग्र है। (२४) समस्त ग्रामादिकों (सब ओर से सुन्दरों) में यह उपसेन वंगन्तपुत्र अग्र है। (२५) शयनासन-प्रज्ञापकों (गृह-प्रबन्धकों) में यह दन्व मल्लपुत्र अग्र है। (२६) देवताओं के प्रियों में यह पिलिन्द वात्स्य-पुत्र अग्र है। (२७) क्षिप्रभिज्ञों (प्रखर बुद्धियों) में यह बाहिय दाक्षीरिय अग्र है। (२८) चित्रकवियों (विचित्र चित्राओं) में यह कुमार काश्यप अग्र है। (२९) प्रति-संवित्-प्राप्तों में यह महाकोटित्त (महाकोष्ठित) अग्र है। (३०) बहुभुक्तों में, प्रतिमानों में, स्वित्तमानों में, यह आनन्द अग्र है। (३१) महापरिपद् वालों में यह उक्केल-काश्यप अग्र है। (३२) कुल-प्रसादकों (कुलों को प्रसन्न

करने वालों में यह काल-उदायी अग्र है । (३३) अल्पावालों (निर्गोत्रों) में यह वक्कुल अग्र है । (३४) पूर्व-जन्म स्मरण करने वालों में यह शोभित अग्र है । (३५) विनय-धरों में यह उग्रालि अग्र है । (३६) भिक्षुणियों के उपदेशकों में यह नन्दक अग्र है । (३७) जितेन्द्रियों में यह नन्द अग्र है । (३८) भिक्षुओं के उपदेशकों में यह महाकपिन अग्र है । (३९) तेज-धातु-कुसुमों में यह स्वागत अग्र है । (४०) प्रतिभाशालियों में यह रात्र अग्र है । (४१) रत्न जीवरधारियों में यह मोघरात्र अग्र है । (४२) भिक्षुओं ! मेरी रक्तज्ञ भिक्षुणी-श्राविकाओं में महाप्रजापति गौतमी अग्र है । (४३) महाप्राज्ञाओं में लेमा अग्र है । (४४) ऋद्धिमतियों में उत्पलवर्णा अग्र है । (४५) विनय धारण करने वालियों में पटाचारा अग्र है । (४६) धर्मकविकाओं में धम्मदित्रा अग्र है । (४७) ध्यानिधियों में तन्दा अग्र है । (४८) आरब्धवीर्याधियों में सोणा अग्र है । (४९) भिक्षुप्रजाओं में भद्रा कुंडल केशा अग्र है । (५०) पूर्व जन्म की अनुस्मृति करने वालियों में भद्रा कापिलायिनी अग्र है । (५१) महा-अभिज्ञा-प्राप्तों में भद्रा कात्यायनी । (५२) रत्न जीवरधारिणियों में कृपा गौतमी । (५३) अर्द्धा-भूत भिक्षुणियों में शृगाल-माता । (५४-५६) भिक्षुओं ! मेरे उपासक श्रावकों में प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु और भस्सुक वणिक अग्र है । (५७) दायकों में अनाथ-पिटिक-सूदत्त गृहपति अग्र है । (५८) धर्मकविकों (धर्मोपदेष्टाओं) में मच्छिकाण्डवासी निच गृहपति अग्र है । (५९) चार संप्रह-वस्तुओं से परिपक्व को मिलाकर रखने वालों में हस्तक आल-षक अग्र है । (६०) उत्तम दायकों में महानाम दातव्य अग्र है । (६१) प्रिय-दायकों में वैशाली का निवासी उग्र गृहपति अग्र है । (६२) संप-सेवकों में उद्गत (उन्नत) गृहपति अग्र है । (६३) अत्यन्त प्रसधों में दूर अम्बष्ठ अग्र है । (६४) व्यक्तिगत प्रसधों में जीवक कौमार भूत्य अग्र है । (६५) विश्वासकों में नकुल-पिता गृहपति अग्र है । (६६) भिक्षुओं ! मेरी उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण आने वालियों में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र है । (६७) दायिकाओं में विशाखा मृगारमाता अग्र है । (६८) ब्रह्मभूताओं में क्षुब्धुत्तरा (कुम्भा उत्तरा) अग्र है । (६९) मैत्री विहार प्राप्त करने वालियों में सामावती (श्यामावती) अग्र है । (७०) ध्यानिधियों में उत्तरा नन्द-माता अग्र है । (७१) प्रणीत दायिकाओं में सुप्रभासा कोलिय-दुहिता अग्र है । (७२) रोगी की सेवा करने वालियों में सुप्रिया उपासिका अग्र है । (७३)

अतीव प्रसन्नो में कात्यायनी अग्र है। (७४) विद्वान्शिक्षाओं में सकल-माता गृहपत्नी अग्र है। (७५) अनुश्रव प्रसन्नो में कुरुर घर में व्याही काशी उपासिका अग्र है।^१ भगवान् बुद्ध-देव के प्रधान शिष्य-शिष्याओं का यह विवरण, जिसमें उनके भित्तु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका सभी कोटि के पुरुष और स्त्री साधक-साधिकाओं के नाम हैं, बुद्ध-धर्म और संघ के इतिहास की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म, साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रकार की प्रभूत सामग्री अंगुत्तर-निकाय में भरी पड़ी है। दुर्क-निपात के इस सुन्दर भाव-पूर्ण बुद्ध-वचन की लीजिये, "हे मे भिक्षुवे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे ? भिक्षु च क्षीणानवो, सीलोन भिगराजा। इमे स्त्री भिक्षुवे द्वे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्तीति।" अर्थात् "भिक्षुओ ! बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी नहीं चौंक पड़ते हैं। कौन से दो ? क्षीणाश्व भिक्षु और भृगराज सिंह। भिक्षुओ ! यही दो बिजली कड़कने पर चौंक नहीं पड़ते।"^२ इस प्रकार के अर्थ-मार्भित उपदेश जिनकी मौलिकता और स्वभाविकता में उनका संभाव्य बुद्धिमान कोई शक्ति नहीं पहुँचाता, अंगुत्तर-निकाय में भरे पड़े हैं। तिक-निपात के भरहुत्त में हम भगवान् को, बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद अपने पन्त्रहवें वर्षा-वास में, कापिल वस्तु में विचरते देखते हैं। महानाम शायद उनका साकार करता है। भगवान् नगर से बाहर भरुड-कालाम नामक अपने पूर्व स-ब्रह्मचारी के आश्रम में एक रात भर ठहरते हैं। रात के बीतने पर महानाम शायद फिर उनकी सेवा में उपस्थित होता है। भगवान् उसे उपदेश देते हैं "महानाम ! लोक में तीन प्रकार के त्याग विद्यमान हैं। कौन से तीन ? (१) यहाँ एक त्याग महानाम ! कामों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु रूपों और वेदनाओं के त्याग को प्रजापित नहीं करते (२) कामों और रूपों के त्याग का उपदेश

१. बुद्ध चर्या, पृष्ठ ४६७-४७२ (कुछ अल्प शाब्दिक परिवर्तनों के साथ)

२. "क्षीणाश्व भिक्षु नहीं चौंक पड़ता है क्योंकि उसका 'अहंभाव' बिल्कुल निरुद्ध हुआ रहता है। भृगराज सिंह नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' अत्यन्त प्रबल होता है; चौंकने के बदले वह और गरज उठता है कि कौन दूसरा उसकी बराबरी करमे आ रहा है।" भिक्षु जगदीश कादयपः पालि महासंघाकरण, पृष्ठ चवालीस (वस्तुतः) में।

करते हैं किन्तु वेदनाओं के त्याग को प्रजापित नहीं करते (३) कामों के त्याग को भी, कर्मा के त्याग को भी और वेदनाओं के त्याग को भी प्रजापित करते हैं। महानाम ! लोक में यही तीन प्रकार के शास्ता हैं।" अंगुस्तर-निकाय के चतुष्क-निपात के केस-मुत्तिव-मुत्त में हम बुद्ध के बुद्धिवादी दृष्टिकोण को स्पष्टतः देखते हैं। कोसल-प्रदेश में चारिका करते करते भगवान् केसपुत्त नामक निगम (कस्ये) में, जो कालाम नामक क्षत्रियों का निवास-स्थान था, पहुँचते हैं। कालाम क्षत्रिय भगवान् को हाथ जोड़-जोड़ कर एक ओर चुपचाप बैठ जाते हैं। वे भगवान् से चिन्मत्ता के साथ पूछते हैं "भन्ते ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं। वे अपने ही मत की प्रशंसा करते हैं, दूसरे के मत की निन्दा करते हैं, उसे छुड़वाते हैं। भन्ते ! दूसरे भी कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं और वे भी वैसा ही करते हैं। तब भन्ते ! हमको संशय अवश्य होता है, कौन इन आप श्रमण-ब्राह्मणों में सच कहता है, कौन झूठ ?" कालामों का प्रश्न ऐसा है जो दुनिया के धार्मिक इतिहास में हर युग में और हर व्यक्ति के हृदय में आता है। अतः कालामों के प्रश्न का महत्त्व सब काल के समुच्च के लिये समान रूप से है। भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह उससे भी अधिक विश्व-जनीन महत्ता लिये दूण है। भगवान् कहते हैं "कालामो ! तुम्हारा संशय ठीक है। संशय-योग्य स्थान में ही तुम्हें संशय उत्पन्न हुआ है। आजो कालामो ! मत तुम अनुश्रव से विश्वास करो, मत परम्परा से विश्वास करो। 'यह ऐसा ही है' इस से भी तुम मत विश्वास करो। कालामो ! मान्य शास्त्र की अनुकूलता (पिटक-सम्प्रदाय) से भी तुम विश्वास मत करो। मत तर्क से, मत न्याय-हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चित्र-धारित विचार के होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस भावना से, कालामो ! मत इन सब कारणों से तुम विश्वास करो ! बल्कि कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकृशाल हैं, ये धर्म सर्वोप हैं, ये धर्म विज्ञ-निन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर अहित, दुःख के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें छोड़ देना। इसी प्रकार कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म कृशाल हैं, ये धर्म निर्दोष हैं, ये धर्म विज्ञ-प्रशंसित हैं, ये ग्रहण कर लेने पर सुख और कल्याण के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें प्राप्त कर बिहरो।" इस प्रकार पावता की उपयुक्त भूमि तैयार कर बाद में तथामत कालामों को विज्ञापित करते हैं "तो क्या मानते हो कालामो ! पुरुष के भीतर

उत्पन्न हुआ लोभ (राग) हित के लिये होता है या अहित के लिये ? " "अहित के लिये, भन्ते ।" "गुरुप के भीतर उत्पन्न हुआ द्वेष . . . हित के लिये या अहित के लिये ? " "अहित के लिये, भन्ते ।" "मोह ? " "अहित के लिये, भन्ते ।" "तो क्या मानते हो कालामो ! ये धर्म (राग, द्वेष, मोह) सदोष हैं या निर्दोष ? " "सदोष, भन्ते ।" "प्राप्त करने पर अहित के लिये, दुःख के लिये हैं या नहीं ? " "ग्रहण करने पर भन्ते ! अहित के लिये हैं, ऐसा हमें लगता है ।" बृद्ध की उठाने वाली आदेश ना होती है "तो कालामो ! तुम इन्हें छोड़ दो ।" इसी प्रकार अ-लोभ, अद्वेष, अमोह को हित, दुःख का कारण समझा कर भगवान् कालामों को उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं । किसी भी विश्वास को मानने या न मानने की अपेक्षा के बिना ही स्वयं सदाचार का जीवन सम्पूर्ण आश्वसनों से किस प्रकार आश्वस्त है, इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं, "कालामो ! जो आर्य साधक (श्रावक) अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त (विशुद्धि-चित्त) है, उसको इसी जन्म में चार आश्वसन (आश्वसन) मिले रहते हैं, (१) यदि परलोक है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल है, तो निश्चय ही मैं काय-छोड़, मरने के बाद, सुगति, स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होऊँगा, यह उसे प्रथम आश्वसन प्राप्त रहता है । (२) यदि परलोक नहीं है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है, तो इसी जन्म में, इसी समय, अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त, अपने को रखता है, यह उसको द्वितीय आश्वसन प्राप्त रहता है । (३) यदि काम करते पाप किया जाये, तो भी मैं किसी का घुरा नहीं चाहता, बिना किये फिर पाप-कर्म मुझे क्यों दुःख पहुँचायेगा । यह उसे तीसरा आश्वसन प्राप्त रहता है । (४) याद करते हुए पाप न किया जाय, तो इस समय में दोनों से ही मुक्त अपने को देखता है । यह उसे चौथा आश्वसन प्राप्त हुआ रहता है ।" यह उपदेश न केवल बड़ के नैतिक आदर्शवाद और विचार-स्वातन्त्र्य का चित्त भगवान् की उपदेश-प्रणाली का भी अच्छा सूचक है । अंगुत्तर-निकाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ भिक्षु-धर्म (भिक्षु-विनय) के साथ-साथ गृहस्थ-धर्म (गृहि-विनय) का भी उपदेश दिया गया है । चतुक्क-निपात के वैरजक-ब्राह्मण-मुत्त में भगवान् मधुरा और वैरज के बीच के रास्ते में गृहस्थों को विज्ञापित करते हुए दिखाई देते हैं, "गृहपतियो ! चार प्रकार के संवास होते हैं । कौन से चार ? (१) शव शव के साथ संवास करता है (२) शव देवी के साथ संवास करता है (३) देव शव के साथ संवास करता है (४)

देव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है ? यहाँ गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी, भूटा, नशावाज, दुःशील, पाप-धर्मी, कंजूसी की गन्दगी से लिलित चित्तवाला, धर्मण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, इस प्रकार गृह में वास करता हो और उसकी भार्या भी उसी के समान हिंसक, चोर, दुराचारिणी — धर्मण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाली हो। उस समय गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी — धर्मण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, मित्तु उसकी भार्या - अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी, सचवी, नशा-विरत, मृगी-श, वात्स्यायन-धर्म-युक्त, मल-मात्सर्य-रहित, धर्मण-ब्राह्मणों को दुर्वचन न कहने वाली हो, तो गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हो अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी — उसकी भार्या हो हिंसा-रत चोर, दुराचारिणी — गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी — उसकी भार्या भी अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी — गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है।" इसी प्रकार एकादश-निपात के महानाम-सूक्त में हम भगवान् को महानाम शायब के प्रति, जो गृहस्थ, ब्रा, बृद्ध, धर्म, संघ आदि की अनुस्मृति करने का उपदेश देते हुए देखते हैं "महानाम ।" तुम चलते भी भावना करो, खड़े भी, लेटे भी, कर्मांतक (खेती आदि) का अधिष्ठान (प्रबंध) करते भी, पुरुषों से विरोध शय्या पर भी ।" बृद्ध ने गृहस्थ, भिक्षु, सब के लिये अ-प्रमाद या सतत पुनराय पर कितना अधिक जोर दिया, यह हमने दीप, मणिभ्रम और संयुक्त निकायों के विवरण में देखा है। अंतर्गत-निकाय के छत्तक-निपात के पधानीय-सूक्त में भी हम भगवान् को भिक्षुओं के प्रति वही उपदेश करते देखते हैं। आवस्ती में अनाथपिटिक के जेतवन-आराम में कुछ मग्रे प्रविष्ट भिक्षु सूर्योदय तक खरौटे के सो रहे हैं। भगवान् भिक्षुओं को विज्ञापित करते हैं, "भिक्षुओ ! सूर्योदय तक खरौटे मार कर सोते हो। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा या सुना है, नृबांभिषिक्त (अभिषेक-प्राप्त) लज्जि राजा को इच्छानुसार शयन-मुख, सर्व-नृत, अलक्ष्म-नृत के साथ विहार करते और जीवन-मयंत राज्य करते या

देस का भला होते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओं ! मेने भी नहीं देखा । तो क्या मातते हो भिक्षुओं ! क्या तुमने देखा है या सुना है, अन्न-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख से युक्त, इन्द्रियों के द्वारों को सुरक्षित न रखने वाले, भोजन की माया को न जानने वाले, जागरण में अतत्पर, कुशल धर्मों की विपश्यना (साक्षात्कार) न करने वाले, रात के पहले और पिछले पहर में जगकर बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना न करने वाले, किसी भी श्रमण या ब्राह्मण को चित्त-मलों के क्षय से प्राप्त निर्मल चित्त की विमुक्ति या प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं साक्षात्कार कर, स्वयं जान कर, स्वयं प्राप्त कर बिहरते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओं ! मेने भी नहीं देखा । तो भिक्षुओं ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—इन्द्रिय-द्वार को सुरक्षित रखूँगा । भोजन की माया को जानने वाला होऊँगा । जागने वाला, कुशल धर्मों की विपश्यना करने वाला, रात के पहले और पिछले पहरों में बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने वाला, इस प्रकार मैं साधना में लग्न रह कर बिहलूँगा । भिक्षुओं ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये ।" अंगुत्तर-निकाय के अट्ठक-निपात के प्रजापती-प्रवज्जा-सुत्त में महा-प्रजापती गौतमी की प्रवज्जा का बिल्कुल उन्ही शब्दों में वर्णन है, जैसा विनय-पिटक के चूलवग्ग में । कपिलवस्तु के लघ्वाधाराम में भगवान् के बिहार करते समय महाप्रजापती गौतमी भगवान् के पास जाकर उनसे प्रार्थना करती है, "भन्ते ! अच्छा हो, यदि मातृगाम (मातृ-समूह—स्त्रियाँ) भी तत्थागत-प्रवेदित धर्म-विनय से प्रवज्जा पावें ।" भगवान् ने उत्तर दिया, "गौतमी ! मत तुझे यह रुचे कि स्त्रियाँ तत्थागत-प्रवेदित धर्म-विनय से प्रवज्जा पावें ।" महाप्रजापती दुःखी, दुर्मना, अध्रमुषी होकर चली गई । बाद में वह वैशाली में भगवान् के पास पहुँची । वहाँ आनन्द ने स्त्री-जाति की ओर बोलते हुए भगवान् से निवेदन किया, "भन्ते ! महाप्रजापती गौतमी फूले पैरों, धूल भरे शरीर से, दुःखी, दुर्मना, अध्रमुषी रोती हुई द्वार-कोष्ठक के बाहर खड़ी है । भन्ते ! स्त्रियों को प्रवज्जा की आज्ञा मिले ।" "आनन्द ! मत तुझे यह रुचे ।" आनन्द ने तत्थागत-प्रवेदित धर्म की मूल आत्मा को लेकर ही कहा, "भन्ते ! क्या तत्थागत-प्रवेदित धर्म में घर से वे घर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सहदागामि-फल, अनागामि-फल, अहंत्व-फल की साक्षात् कर सकती हैं ?" भगवान् को कहते देर न लगी, "साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द ।" उस प्रजापती गौतमी और आनन्द की इच्छा को पूरी होते देर न लगी । भगवान् ने आठ गुरु-धर्मों

(जिनके कारण ही इस प्रसंग को यहाँ अंगुत्तर-निकाय के इस निपात में स्थान मिला है) के पालन करने की जतन लेकर महाप्रजापती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय से अन्य भी स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ हुईं और बाद में एक अलग भिक्षुणी-संघ ही बन गया। किन्तु स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति देते समय भगवान् ने चेतावनी भी दी, जिसे बृद्ध-धर्म के बाद के इतिहास ने सम्भवतः सच्चा भी प्रमाणित कर दिया है "आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित-धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सदर्म सहस्र वर्ष ठहरता। किन्तु चूँकि आनन्द! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अब सदर्म चिरस्थायी न होगा, सदर्म अब पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा। आनन्द! जैसे आदमी पानी की रोक-थाम के लिये, बड़े तालाब को रोकने के लिये, मंड बांधे, उसी प्रकार आनन्द! मैंने रोक-थाम के लिये भिक्षुणियों को जीवन-भर अनुत्सर्गनीय आठ गुरु-धर्मों में प्रतिष्ठापित किया।" इसी प्रसंग में यहाँ यह भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि आनन्द किस प्रकार स्त्री-जाति के समर्थन में अपने युग से बहुत आगे थे, इसकी भी सूचना हमें इस निकाय में मिलती है। स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाने में उन्होंने महाप्रजापती गौतमी की किस कुशलता के साथ सहायता की, यह हम अभी देना ही चुके हैं। हम एक बार उन्हें (चतुष्क-निपात में) भगवान् से यह तक पूछते देखते हैं, "भन्ते! क्या कारण है कि स्त्रियाँ परिषदों में स्थान नहीं पाती, स्वतन्त्र उद्योग नहीं करती, स्वावलम्बन का जीवन नहीं बिताती?" हम जानते हैं कि आनन्द को अपने इन सब विचारों के कारण ही प्रथम संगीति में अमा-याचना करनी पड़ी। मनुष्यता के नाते आज आनन्द इसीलिये हमारे लिये अधिक प्रिय बन गये हैं, उस समय के लोगों ने चाहें जो सोचा हो। अंगुत्तर-निकाय में इस प्रकार बृद्ध के शिष्यों के स्वभाव और जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रभुत सामग्री मिलती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद प्रजापती गौतमी इसी निकाय (अट्ठक-निपात) में भगवान् से पूछती है "भन्ते! अच्छा हो यदि भगवान् संशय से मुझे धर्म का उपदेश करें, ताकि मैं उसे सुन कर, प्रमाद-रहित हो, आत्म-संयम कर जीवन में बिचढ़ूँ।" भगवान् का उत्तर बृद्ध-धर्म के उदार मन्तव्य को समझने के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। "गौतमी! जिन बातों को तू जाने कि ये बाने सराग के लिये हैं, विराग के लिये नहीं, संयोग के लिये हैं, वियोग के लिये नहीं, संग्रह के लिये हैं, असंग्रह के लिये नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने

के लिये है, घटाने के लिये नहीं, अमन्तोष के लिये है, सन्तोष के लिये नहीं, भीड़ के लिये है, एकान्त के लिये नहीं, अनुद्योगिता के लिये है, उद्योगिता के लिये नहीं, कठिनाई के लिये है, सुगमता के लिये नहीं, तो तू गोतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है। किन्तु गोतमी ! जिन बातों को तू जाने कि वे विराग के लिये है, सराग के लिये नहीं, इच्छाओं को घटाने के लिये है, बढ़ाने के लिये नहीं, सुगमता के लिये है कठिनाई के लिये नहीं, तो गोतमी ! तू सोलहो आने जानना वहीं विनय है, वहीं शास्ता का शासन है।”

सूक्त-निपात में भगवान् बुद्ध का ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश है जो अपनी सूक्ष्मता और मार्मिकता में अद्वितीय है। उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी सिद्ध होगा। “ब्राह्मण ! यहाँ कोई एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, किन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-वर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है। वह उसमें रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूटना है, छिद्रयुक्त होना है, चितकबरा होना है, ध्वंसेदार होना है। ब्राह्मण ! इस पुरुष के लिये कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहा है। वह मनुष्य जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता, नहीं छूटता दुःख से भी—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन आदि किये जाने को ही स्वीकार करता है, किन्तु वह स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, लीड़ा करता है, खेलता है, वह उसमें रस लेता है, दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी मजाक भी नहीं करता, किन्तु वह स्त्री को आँख गड़ाकर देखता है, नजर भर कर देखता है, वह उसमें रस लेता है, दुःख से नहीं छूटता—

में कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्पक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न प्रत्यक्ष स्त्री के साथ सहवास करता, न उससे उबटन आदि लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसे आँख मड़ाकर देखता, किन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्दों को सुनता है, जब कि वह हँस रही हो, या बात कर रही हो, या गा रही हो, या रो रही हो, वह उसमें रस लेता है..... दुःख में नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्पक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको मजूर भर कर देखता है जब कि वह गा रही हो या रो रही हो, किन्तु वह अपने उन हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और श्लोकाओं को स्मरण करता है जो उसने पहले स्त्री के साथ की थीं, वह उनमें रस लेता है..... दुःख में नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्पक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख मड़ाकर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और श्लोकाओं आदि को ही स्मरण करता है, किन्तु वह किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पुरी तरह पाँच प्रकार के (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सम्बन्धी) विषयों से समर्पित, संयुक्त हो, विलास करते देखता है, वह उसमें रस लेता है..... दुःख में नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्पक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख मड़ाकर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों को स्मरण करता, न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को कामायकत होकर सुख-विहार करते देख कर प्रसन्न होता, किन्तु वह किसी देव-योनि में जन्म लेने की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य का आचरण करता है और सोचता है कि इस प्रकार के शील, तप, व्रत या ब्रह्मचर्य से मैं देव हो जाऊँगा या देवोंमें कोई, वह इसमें रस लेता है, इसकी इच्छा करता है, इसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का संज्ञित

ही जाना है, दूट जाना है, छिड़-बुझ ही जाना है, नितकबरा ही जाना है, धन्वे-दार ही जाना है। इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला पुरुष मलिन मैथुन के संयोग से युक्त ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता, नहीं छूटता दुःख से—में कहना है।" साधना के इतिहास में इससे सम्भीर प्रवचन ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया।

तवागत-प्रवेदित धर्म-विनय के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये कितनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री हमें अंगुत्तर-निकाय में मिलती है, इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा चुका है। तत्कालीन इतिहास की झलक भी उसमें कितनी मिलती है, यह अब हमें देखना है। सिंह सेनापति (लिच्छवि सरदार) बुद्ध-युग का एक आकर्षक व्यक्ति है।^१ अटुठक-निपात में हम सिंह सेनापति को भगवान् से भेंट करते हुए देखते हैं। सिंह पहले निगण्ठों (निर्ग्रन्थों-जैन साधुओं) का शिष्य रहा है वह अपनी कुछ आपत्तियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आता है। वह उन्हें पूछता है कि वे कहाँ तक अक्रियावादी, उच्छेदवादी हैं या नहीं। भगवान् एक-एक कर उसको बतला देते हैं कि कितन-कितन अर्थों में उनको ऐसा (अक्रियावादी, उच्छेदवादी आदि) कहा भी जा सकता है। सिंह सेनापति संतुष्ट होकर उपासक बनना चाहता है। भगवान् उसे कहते हैं "सिंह! सोच-समझ कर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त मनष्यों का सोच-समझ कर निश्चय करना ही अच्छा है।" सिंह सेनापति जब अपनी बृद्ध श्रद्धा दिखाता है तो भगवान् उसे उपासक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु चूँकि वह पहले निर्ग्रन्थों का शिष्य रहा है और वे उससे दान पाते रहे हैं, इसलिये उद्धार शास्त्रा सिंह को यह भी आदेश देना नहीं भूलते, "सिंह ! तुम्हारा कुल दीर्घ-काल से निगण्ठों के लिये प्योज की तरह रहा है। उनके आने पर उन्हें पहले की ही तरह तुम्हारे घर से दान मिलता रहना चाहिये।" बुद्ध के विरुद्ध किस प्रकार मिथ्या प्रचार किया जाता था इसका विवरण हम इसी निकाय के वेरंजक-सुत्त में पाते हैं। वेरंजक नामक ब्राह्मण भगवान् के पास जाकर कहता है, "हे गौतम ! मैंने सुना है कि आप गौतम अरस

१. देखिये महाप्रवृत्ति राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' शोधक उपन्यास।

रूप है.....आप गौतम निर्भोग हैं.....आप गौतम अक्रियावादी हैंआप गौतम उच्छेदवादी हैं.....आप गौतम जुगुप्सु (घुणा करने वाले) हैं.....आप गौतम वैयर्थिक (हटाने वाले) हैं.....आप गौतम तपस्वी हैं.....आप गौतम अपगम हैं। भगवान् उसे बताते हैं कि उन्हें किस-किस अर्थ में ऐसा कहा भी जा सकता है।" उदाहरणतः "ब्राह्मण ! मैं काया के दुराचार, वाणी के दुराचार, मन के दुराचार को अक्रिया कहता हूँ। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों को मैं अक्रिया कहता हूँ। यही कारण है ब्राह्मण ! जिससे 'श्रमण गौतम अक्रियावादी हैं'। ऐसा कहा जा सकता है।.....ब्राह्मण ! मैं राग, द्वेष, मोह के उच्छेद का उपदेश करता हूँ। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उच्छेद कहता हूँ। 'श्रमण गौतम उच्छेदवादी हैं' ऐसा कहा जा सकता है। ब्राह्मण ! जिसका भविष्य का गर्भ-वायन, आवागमन नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया, उसको मैं अपगम करता हूँ। ब्राह्मण ! तयागत का गर्भ-वायन, आवागमन, नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया। 'श्रमण गौतम अपगम हैं', ऐसा कहा जा सकता है," आदि, आदि। यही भगवान् अपनी जीवनी का भी कुछ वर्णन करने लगते हैं, "ब्राह्मण ! इस अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अँडे से जकड़ी प्रजा में, मैं अकेला ही अविद्या रूपी अँडे को फोड़ कर, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, अग्र हूँ। मैंने न दबने वाला वीर्यारम्भ किया था, विस्मरण-रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, जल और शान्ति मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था।ब्राह्मण ! उस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर, आत्म-संयम-युक्त होकर विहरते हुए, मुझे रात के पहले याम में, पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अँडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई। फिर ब्राह्मण ! रात के बीच के याम में द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई.....रात के पिछले याम में तृतीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अँडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई।"

कौशल-रात्र प्रसेनजित् बृद्ध का अँडावान् उपागम था, यह हम संवत्त निकाय में देख चुके हैं। मग्गिम-निकाय (बाहीतिक-सूत्त) में हमने प्रसेन-

जित् और आनन्द का संवाद भी देखा है। अंगुत्तर-निकाय के कोसल-सुत्त में हम उसे युद्ध के प्रति अजीब श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं। श्रावस्ती में भगवान् के दर्शनार्थ वह जाता है। जेतवन-आराम के द्वार पर ही वह भिक्षुओं से भगवान् के दर्शन-विषयक अपनी इच्छा को प्रकट करता है। "महाराज ! वह द्वार-बन्द कोठरी है, चुपके से धीरे धीरे वहाँ जाकर बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटा देना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" भगवान् ने द्वार खोल दिया। "विहार में प्रविष्ट हो प्रसेनजित् भगवान् के पैरों में गिरकर, भगवान् के पैरों को मुल से चूमता था, हाथ से पैरों को दबाता था और अपना नाम सुनाता था 'भन्ते ! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ।'" "महाराज ! तुम किस बात को देखकर इस शरीर में इतनी मैत्री का उपहार दिखाते हो ?" "भन्ते ! कृतज्ञता, कृतवेदिता को देखते हुए मैं भगवान् की इस प्रकार की परम सेवा करता हूँ, मैत्री उपहार दिखाता हूँ। भन्ते ! भगवान् बहुत जनों के हित, बहुत जनों के सुख के लिये हैं।" अंगुत्तर-निकाय में हम देखते हैं कि मगध-राज अजातशत्रु वज्जियों के गण-सन्ध के विरुद्ध अभियान करना चाहता है। भगवान् जिस समय राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत (गिज्झकूट पर्वत) पर विहर रहे थे, उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) नामक ब्राह्मण को उनसे इस सम्बन्ध में पूछने के लिये भेजा था। सोलह महाजन-पदों का इस निकाय में विशेष वर्णन है।^१ इन सोलह महाजन पदों के नाम हैं अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेत्ति, वस, कुह, पंचाल (पांचाल), मच्छ (मत्स्य), सूरसेन (शूरसेन), अस्मक (अश्वक-अश्मक), अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। ये सभी नाम उन प्रदेशों के निवासियों (जनों) के सूचक हैं। गणतन्त्र-प्रणाली की यह मुख्य विशेषता थी। भौगोलिक दृष्टि से भी इस निकाय के अनेक वर्णन बड़े महत्त्व के हैं। सदाहरणतः यहाँ गंगा, यमुना, अजिरवती, सरयू (सरयु) और मही इन पाँच बड़ी नदियों का वर्णन है। इसी प्रकार भडगाम (वज्जि-प्रदेश) इच्छा-मंगल (कोसल) आदि ग्रामों, केसपुत्त (कालाम नामक क्षत्रियों का कस्बा)

१. अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पहली, पृष्ठ २१३, जिल्द चौथी, पृष्ठ २५२, २५६, २६०, आदि (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

कुसीनारा (मल्ल-प्रदेश में), नलकपान (कोशल), कम्मासदम्म (कुरु-प्रदेश) आदि कस्बों और थावस्ती, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि अनेक नगरों के वर्णन हैं जो बृद्ध-कालीन भारत के वातावरण को आज भी हमारे लिये सजीव बनाते हैं।

उ—खुद्क-निकाय

खुद्क-निकाय के स्वरूप की अनिश्चितता।

खुद्क-निकाय सूत्त-पिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। पहले चार निकायों की सी एकरूपता यहाँ नहीं मिलती। खुद्क-निकाय छोटे-छोटे (खुद्क) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह (निकाय) है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं। कुछ तो (जैसे जातक आदि) काफी बड़े भी हैं। भाषा-शैली में भी समानता नहीं है। कुछ विशुद्ध पद्यात्मक और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। काव्य, आख्यान, गीत, यही खुद्क-निकाय के विषय हैं। निश्चयतः खुद्क-निकाय के विषय और शैली की सब से बड़ी विशेषता उसकी विविधरूपता ही है। जैसा अंशतः दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, वर्गीकरण के भेद से खुद्क-निकाय की ग्रन्थ-संख्या में भी पर्वोक्त भेद पाया जाता है।

सूत्त-पिटक के अङ्ग के रूप में

सामान्यतः खुद्क-निकाय सूत्त-पिटक का एक अङ्ग है। इस रूप में खुद्क-निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जिनकी गणना नीचे लिखे क्रम से आचार्य बुद्धघोष ने की है^१—

१ खुद्क-पाठ	६ विमानवत्थु
२ धम्मपद	७ पेतवत्थु
३ उदात्त	८ धेरमाथा
४ इतिवृत्तक	९ चेंरी गाथा
५ सूत्त-निपात	१० जातक

१. सुभंगल विलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ १७ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण)

११ निद्देस	१४ बुद्धवंस
१२ पटिसम्भिमदा मग्ग	१५ चरियापिटक
१३ अपदान्	

निद्देस के दो भाग बुलनिद्देस और महानिद्देस हैं। उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मान कर गिनने से उपर्युक्त ग्रन्थ-संख्या १६ हो जाती है। किन्तु स्थविर-वादी बौद्ध परम्परा १५ ही ग्रन्थ मानती है। "पण्णरसभेदो खुद्दक-निकायो"। आचार्य बुद्धघोष ने हमें सूचना दी है कि प्रथम संगीति के अवसर पर मज्झिम-निकाय का संगायन करने वाले (मज्झिम-भाणक) भिक्षु उपर्युक्त १५ ग्रन्थों को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत खुद्दक-निकाय में सम्मिलित मानते थे।^१

खुद्दक-निकाय अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत भी

किन्तु एक दूसरी परम्परा उसी समय से खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत मानने के विपक्ष में थी। यह दीप-निकाय का संगायन करने वाले (दीप-भाणक) भिक्षुओं की परम्परा थी। ये भिक्षु खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मान कर उसे अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत मानते थे। ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी मतभेद था। इन्हें खुद्दक-निकाय के सिर्फ निम्न-लिखित ११ ग्रन्थ, जिन्हें वे खुद्दक-ग्रन्थ कहते थे मान्य थे। आचार्य बुद्धघोष ने इन ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है—

१ जातक	७ इतिवृत्तक
२ निद्देस	८ विमानवत्थु
३ पटिसम्भिमदा मग्ग	९ पेतवत्थु
४ सुत्त-निपात्	१० धेरगाथा
५ धम्मपद	११ धेरीगाथा
६ उदान	

१. मज्झिमभाणका पत्तं सर्वेषां तं खुद्दक-ग्रन्थं सुत्तपिटके परिगण्यति वदन्ति। सुमंगलविलासिनी को निबानकथा।

२. ततो परं जातकं धेर-धेरी गाथाति इमं तन्ति संगायित्वा 'खुद्दक-

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि चरित्रापिटक, अपदान, बुद्धवंस और खुदक-पाठ, ये चार ग्रन्थ खुदक-निकाय के ग्रन्थों के रूप में दीघ-भागक भिक्षुओं को मान्य नहीं थे। वास्तव में खुदक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मानना दीघ-भागक भिक्षुओं का इतना साहसिक कृत्य नहीं था जितना वह हमें आज लगता है। प्रथम संगीति के अवसर पर ही हम आर्य महाकाश्यप को आनन्द से पूछते हुए देखते हैं "सुत्त-पिटक में चार संगीतियाँ (संग्रह) हैं। इनमें से पहले किसका संगायन करता होगा?"^१ इससे स्पष्ट है कि पहले सुत्त-पिटक को चार भागों में ही विभाजित करने की प्रणाली थी। बाद में स्वतन्त्र ग्रन्थों का एक अलग संग्रह कर दिया गया, जिसकी न तो ग्रन्थ-संख्या का ही टीका निश्चय हो सका और न जिसे निश्चयपूर्वक सुत्त-पिटक या अभिधम्म-पिटक में ही रखा जा सका। खुदक-निकाय के अनिश्चित स्वरूप का यही कारण है।

अभिधम्म-पिटक खुदक-निकाय के अन्तर्गत भी

किन्तु इस अनिश्चितता का यही अन्त नहीं है। समग्र बुद्ध-वचनों का जब पाँच निकायों में वर्गीकरण किया जाता है, तो वहाँ भी खुदक-निकाय पाँचवाँ भाग है।—किन्तु वहाँ इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीघ, मज्झिम, संबुत्त और अंगुत्तर निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन जिनमें पूरे विनय और अभिधम्म पिटक भी सम्मिलित हैं, वहाँ खुदक-निकाय के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं। खुदक-निकाय के इस विस्तृत विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में 'सुमंगल-विलासिनी' की निदान-कथा में कहा गया है "क्या है खुदक-निकाय? सम्पूर्ण विनय-पिटक, सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक, खुदक-पाठ आदि १५ ग्रन्थ। सारांश यह कि चार निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन खुदक-निकाय हैं।"^२

ग्रन्थो' नाम अयं ति च वत्था अभिधम्मपिटकस्मिं येव संगहं आरोपयिस्सूति दीघभागका वदन्ति । अट्ठसालिनी की निदान-कथा ।

१. सुत्तन्त-पिटके चतस्सो संगीतियो, तासु पठमं कतरं संगीतिन्ति । अट्ठसालिनी की निदान-कथा ।

२. कतमो खुदक-निकायो ? सकलं विनय-पिटकं अभिधम्म-पिटकं खुदक-

निकाय की दृष्टि से यही अभिघम्म-पिटक को खुदक-निकाय में ही सम्मिलित कर दिया गया है, केवल पिटक के रूप में उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य स्वीकार की गई है।^१

इसका अभिप्राय

उपर्युक्त वर्गीकरणों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि उनमें खुदक-निकाय और अभिघम्म-पिटक को एक दूसरे में मिला दिया गया है। इसका अभिप्राय क्या है ? ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य बड़े महत्व का है। 'अभिघम्म' धम्म का, सूत-पिटक का, परिशिष्ट है। 'अभिघम्म' में 'अभि' शब्द यही रहस्य लिखे बैठा है, यह हम आगे देखेंगे। प्रथम चार निकायों के अतिरिक्त जो कुछ भी खुद-वचन है, वे इस विस्तृत अर्थ में सभी अभिघम्म हैं, 'अतिरिक्त' धम्म हैं। खुदक-निकाय के ग्रन्थ इसी प्रकार के अतिरिक्त धम्म हैं। अतः उन्हें 'अभिघम्म' के साथ उपर्युक्त अर्थ में मिला दिया गया है। इस तथ्य से खुदक-निकाय के ग्रन्थों के संकलन-काल पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सिंहल, वरमा और स्याम में खुदक-निकाय की ग्रन्थ-संस्था के विषय में विभिन्न मत

सिंहलदेशीय परम्परा खुदक-निकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों को (जो तिहुस को दो ग्रन्थ मान कर १६ हो जाते हैं) मानती है। वरमा में इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थ भी खुदक-निकाय में सम्मिलित माने जाते हैं। इनके नाम हैं, मिलिन्द-पञ्च, सूत-संगह, पेटकोपदेस और नेत्ति या नेत्ति-पकरण^२। सिंहली परम्परा इन्हें खुदक-निकाय के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करती। १८९४ ई० में

पाठादयो च पुब्बे निवस्सितपंचदसभेदा, ठापेत्वा चत्तारो निकाये अवसेसं बुद्ध-वचनं ति । सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २३ (पालि-ट० १००); मिलाइये अट्ठसालिनी, पृष्ठ २८ (पालि० ट० १००); गन्धर्वस, पृष्ठ ५७ (जर्नेल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी, १८८६)

१. अर्थ अभिघम्मो पिटकतो अभिघम्मपिटकं, निकायतो खुदक-निकायो ।

अट्ठसालिनी की निदान-कथा ।

२. मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव वरमा, पृष्ठ ४

प्रकाशित त्रिपिटक के स्यामी संस्करण में ये आठ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं—विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धेरीमाथा, धेरीमाथा, जातक, अपदान, बुद्धवंस और चरिया-पिटक। विटरनित्त ने कहा है कि यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती।^१ इससे उनका तात्पर्य यह है कि स्याम में ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं माने जाते। कम से कम उनका अलग महत्त्व तो निश्चित है ही।

सुद्धक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सुद्धक-निकाय पहले चार निकायों के बाद का संकलन है। बुद्ध-वचन के रूप में उसका महत्त्व भी उनके बाद ही मानना चाहिये। चीनी आगमों में तो उसे एक प्रकार स्वतन्त्र निकाय का स्थान ही नहीं मिला। केवल कुछ स्फुट ग्रन्थों के पावे जाने के कारण ही वहाँ 'क्षुद्र-कागम' के अस्तित्व का अनुमान कर लिया गया है^२। ये ग्रन्थ भी वहाँ कभी कभी अन्य निकायों में ही सम्मिलित कर दिये जाते हैं^३। अतः स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी दोनों ही परम्पराओं में प्रथम चार निकायों की प्रधानता, पालि-त्रिपिटक में उसके स्वरूप की बहुत-कुछ अनिश्चितता, सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में उसके स्वतन्त्र रूप की अ-प्राप्ति अथवा आंशिक प्राप्ति, एवं सब से बड़ कर स्थविरवादी परम्परा में भी उसके कुछ ग्रन्थों को बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक न मानने की ओर प्रवृत्ति, ये सब तथ्य इसी बात के सूचक हैं कि सुद्धक-निकाय प्रथम चार निकायों के बाद का संकलन है। विचारों के विकास की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है। प्रथम चार निकायों में विवेकवाद की प्रधानता है। सुद्धक-निकाय में काव्यात्मक तत्त्व का आधार लेकर भावुकता भी काफी प्रधानता लिये हुए है। स्थविरवादी परम्परा बुद्ध-वचनों की सम्भी-

१. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्व दूसरी, पृष्ठ ७७ पद-संकेत ३
२. देखिये पहले इसी अध्याय में 'पालि-त्रिपिटक' कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं? इसका विवेचन।
३. देखिये ट्रांज़ैक्शन्स ऑफ़ वि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ जापान, जिल्व ३५, भाग ३, पृष्ठ ९ में प्रो० एम० अनेसाकि का लेख, विटरनित्त, : हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, जिल्व दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत २ में उद्धृत।

रता को काव्योचित भावनाओं और कल्पनाओं में खो देना पसन्द नहीं करती थी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में बुद्ध-उपदेशों को गीतों की तरह माना स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है और उसे अपराध बतलाया गया है। सम्भीर अनात्मदर्शन पर प्रतिष्ठित बुद्ध-वचनों को भावात्मक कविताओं में गाना स्वविरवादी परम्परा संघ के लिये एक आगे वाली विपत्ति समझती थी।^१ खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में इसी विपत्ति के दर्शन हुए हैं, विटरनित्ज का यह समझना^२ यद्यपि ठीक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसके अपेक्षाकृत उत्तरकालीन होने का सूचक तो है ही। खुद्दक-निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी उसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है। बल्कि उसकी गाथाओं में अनेक तो पिटक-संकलन के प्राचीनतम युग की सूचक भी हैं। उनके सर्वांश में बुद्ध-वचन होने का दावा तो स्वयं खुद्दक-निकाय में भी नहीं किया गया, क्योंकि धेर-धेरी गाथाओं जैसी रचनाओं को वहाँ स्पष्टतः भिक्षु-भिक्षु-णियों की कृतियाँ कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि तत्कालीन लोक-साहित्य और भावनाओं का प्रभाव खुद्दक-निकाय के कुछ ग्रन्थों (विशेषतः विमान-वत्थु, पेतवत्थु, जातक, चरियापिटक आदि) में अधिक परिलक्षित होता है, जो उनकी आंग्रेषिक अर्वाचीनता का सूचक अवश्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास के विद्यार्थी के लिये इसी दृष्टि से उसका महत्त्व भी बढ़ गया है। पालि के सर्वोत्तम काव्य-उद्गार खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में ही सन्निहित हैं और उनका प्रणयन मानवीय तत्त्वों के आधार पर निश्चय ही चार निकायों के बाद हुआ है, यद्यपि उनमें से अनेक अत्यन्त प्राचीन युग के भी हैं, यह भी उतना ही सुनिश्चित तथ्य है। इसका एक स्पष्टतम प्रमाण तो यही है कि 'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनय-पिटक—चुल्लवग्ग से आरम्भ होकर, भारहुत और सौची के स्तूपों (तृतीय शताब्दी या कम से कम २५० वर्ष ईसवी पूर्व) में

१. देखिये ओपम्म-संयुत (संयुत-निकाय) एवं अंगुत्तर-निकाय के अनागत-अय-सूत्र

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ७७

अंकित होती हुई^१, अवच्छिद्य रूप से मिलिन्दपञ्च^२ (प्रथम शताब्दी ई० पू०) तक दृष्टिगोचर होती है। 'पंचम' निकाय के अस्तित्व के बिना यह असम्भव है। अतः यह निश्चित है कि प्रथम संगीति के समय से ही, जब कि दीघ-भाणक और मग्गिम-भाणक भिक्षुओं में खुदक-निकाय के विषय में मत-भेद प्रारम्भ हुआ, खुदक-निकाय का संकलन होने लगा था, किन्तु प्रथम चार निकायों में इसका अन्तर केवल इतना था कि जब कि उनका स्वल्प उसी समय स्थिर हो गया था, खुदक-निकाय में तृतीय संगीति तक परिवर्द्धन होते गये। अतः प्रथम और तृतीय संगीतियों उसके प्रणयन या संकलन काल की क्रमशः उपरवी और निचली काल-सीमाएँ हैं।

इस सामान्य कथन के बाद अब हमें खुदक-निकाय के १५ ग्रन्थों की पूर्वापरता पर विचार करना है। बाह्य माध्य के आधार पर हम किन ग्रन्थों को कम या अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं, इसका दिग्दर्शन करने के लिये हमें उन परम्पराओं को देखना है, जो खुदक-निकाय की प्रामाणिकता के विषय में पालि-साहित्य के इतिहास में चल पड़ी हैं। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(१) प्रथम संगीति के अवसर पर दीघ-भाणक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) बुद्धवंस (२) चरियापिटक (३) अपदान।

(२) द्वितीय संगीति के अवसर पर महासंगीतिक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) पटिसम्भिवामग्ग (२) निदेस (३) जातक के कुछ अंश

(३) त्रयोविंशत संगीति के अवसर पर बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं समझती—(१) विमानवत्थु (२) पेतवत्थु (३) खेरीगाथा (४) खेरीगाथा (५) जातक (६) अपदान (७) बुद्धवंस (८) चरियापिटक।

जिन ग्रन्थों को दीघ-भाणक भिक्षुओं ने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया वे सभी त्रयोविंशत संगीति द्वारा बहिष्कृत ग्रन्थों की सूची में भी सम्मिलित हैं। महा-संगीतिक भिक्षुओं ने जातक के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं समझा और

१. देखिये राबर्ट डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९

२. पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

स्यामी परम्परा भी इसमें उसके समान ही है। पटिसम्भिदामसा और निहेस को महासंगीतिक भिक्षुओं ने अवश्य प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जब कि स्यामी परम्परा में उन्हें प्रामाणिक मान लिया गया है। यदि हम सम्पूर्ण उपर्युक्त बहिष्कृत ग्रन्थों को मिलाकर गिनें तो अप्रामाणिक ग्रन्थों की यह सूची इस प्रकार होगी (१) विमानवस्तु (२) गेत्वस्तु (३) धेरमाथा (४) धेरीमाथा (५) ज्ञातक (६) अपदान (७) बुद्धवस (८) चरियापिटक (९) पटिसम्भिदामसा और (१०) निहेस। बुद्ध-निकाय के १५ ग्रन्थों में से इन्हें निकाल दें तो बाकी ये वचन रहते हैं (१) बुद्ध-पाठ (२) धम्मपद (३) सुत्त-निपात (४) उदान और (५) इतिवृत्तक। अतः बाह्य साधय के आधार पर उपर्युक्त पाँच ग्रन्थ ही अन्य १० की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बुद्ध-वचन ठहरते हैं। बुद्ध-पाठ को छोड़कर दोष चार ग्रन्थ चीनी अनुवाद में भी उपलब्ध हैं।

आन्तरिक साधय भी इसी निष्कर्ष का अधिकतर समर्थन करता है। भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवृत्तक प्राचीनतम युग के सूचक हैं। इनकी विषय-वस्तु का जो विवेचन आगे किया जायगा, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। बुद्ध-पाठ अवश्य बाद का संकलन जान पड़ता है। उसमें कुछ सामग्री सुत्त-निपात से ली गई है और कुछ विपिटक के अन्य अंशों से। शरण-त्रय और शरीर के ३२ अङ्गों के विवरण जो इस संकलन में हैं, चार निकायों में प्राप्त विवरणों से कुछ अधिक विकसित अवस्था के सूचक हैं। अतः बुद्ध-पाठ का स्वान भी काल-यम की दृष्टि से

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५; वास्तव में शरण-त्रय के सम्बन्ध में तो ऐसा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'बुद्ध' शरण गच्छामि आदि के बाद वहाँ केवल 'इतिपस्मि' (दूसरी बार भी) 'सत्तिपस्मि' (तीसरी बार भी) अधिक है। हाँ शरीर के ३२ अंगों के कथन में 'मत्थके मत्थलुंगति' (मस्तक का गुदा) पद अवश्य अधिक है। प्रथम चार निकायों में केवल ३१ अंगों का ही वर्णन है।

योग १० ग्रन्थों के साथ है। इन सब ग्रन्थों के संकलन की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें जो अधिक उत्तरकालीन हैं वे भी अशोक के काल से बाद के नहीं हैं। धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवृत्त के बाद काल-क्रम की दृष्टि से जातक और धेर-धेरी गाथाओं का स्थान कहा जा सकता है। 'जातक' में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएँ हैं। मूल जातक में ऐसी केवल ५०० कहानियाँ थीं। चुल्ल-निर्देश में ५०० जातक-कहानियों का ही निर्देश हुआ है।^१ फाह्यान ने भी सिंहल में ५०० जातक-कहानियों के चित्र अंकित देखे थे।^२ बाद में जातक-कहानियों की संख्या बढ़कर ५४७ हो गई। मूल जातक की प्राचीनता इस बात से प्रकट होती है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के साँची और भारहुत के स्तूपों में उसकी अनेक कहानियों के दृश्य अंकित किये गये हैं।^३ अतः जातकों का काल उस में काफी पहले का होना चाहिये। धेर-और धेरी-गाथाओं में बुद्ध-कालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियों की गाथाएँ हैं। केवल धेरगाथा की कुछ गाथाएँ अशोक के समय के भिक्षुओं की बताई जाती हैं।^४ अतः सम्भव है धेरगाथा ने भी अपना अन्तिम स्वरूप अशोक के काल में ही प्राप्त किया हो और तृतीय संगीति के अवसर पर उसका संगायन हुआ हो। जातकों के बोधिसत्व-आदर्श पर ही आधारित बुद्धवंश और चरिया-

१. पृष्ठ ८०

२. रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम, ऑक्सफर्ड १८८६, पृष्ठ १०६ (जे० लेग का अनुवाद)

३. रायल डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९; हल्वा : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृष्ठ ४०६; इस सम्बन्धी अधिक साहित्य के परिचय के लिये देखिये विटरनि-ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिम्ब दूसरी, पृष्ठ १६, पदसंकेत ३; पृष्ठ ११३ पद संकेत ३

४. गाथाएँ १६९-७० अशोक के कनिष्ठ भ्राता वीतसोक की रचनाएँ हैं। मिलाइये "इमस्मिं बुद्धप्पादे अट्ठारस वत्साधिकानं दिन्नं वत्स सत्तानं मत्थके धम्मासोकरज्जो कणिठ्ठ भ्राता हुत्वा निव्वत्ति। तस्स वीत-सोकोति नामं अहोसि।" (वीतसोकअेरस्स गाथा, वण्णना।)

पिटक है। बुद्धवंस में भोतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है, जब कि प्रथम चार निकायों (विशेषतः महत्पदानसुत्त-दीप. २।३) में केवल ६ पूर्ववर्ती बुद्धों का ही वर्णन मिलता है। चरियापिटक में बोधिसत्त्वों की जीवन-चर्या का वर्णन मिलता है। यही पर सर्व प्रथम दस पारमिताओं का भी वर्णन मिलता है। जातक की कहानियों से इन सब की बड़ी समानता है। बल्कि कहना चाहिये एक प्रकार से चरियापिटक २६ पद्य-बद्ध जातकों का संग्रह ही है। जिस प्रकार बुद्धवंस और चरियापिटक जातक के उत्तरवर्ती हैं, उसी प्रकार निद्देस भी जातक के बाद का संकलन है। जैसा अभी कहा जा चुका है, चुल्ल-निद्देस में जातक का निर्देश मिलता है। निद्देस (जिसमें चुल्ल-निद्देस और महानिद्देस दोनों सम्मिलित हैं) सुत्त-निपात से बाद का संकलन है। एक प्रकार से निद्देस सुत्त-निपात के कुछ अंशों की व्याख्या ही है। चुल्ल-निद्देस खम्माविसाणसुत्त और पारायणवग्ग की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में अट्ठकवग्ग की व्याख्या की गई है। अतः निद्देस-सुत्त-निपात से बाद की रचना ही मानी जा सकती है। डा० लाहा का मत-इससे भिन्न है। उनका कहना है कि निद्देस सुत्त-निपात से पहले की रचना होनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं, (१) महानिद्देस में सुत्त-निपात के अट्ठकवग्ग की व्याख्या उस युग की सूत्रक है जब अट्ठकवग्ग एक अलग वर्ग की अवस्था में था, (२) सुत्त-निपात के पारायणवग्ग के आरम्भ में एक प्रस्तावना है जो चुल्ल-निद्देस की व्याख्या में लुप्त है। यदि चुल्ल-निद्देस सुत्त-निपात के बाद का संकलन होता तो इस प्रस्तावना की भी व्याख्या वहाँ अवश्य होती।^१ डा० लाहा न जो कारण दिये हैं वे निर्बंधात्मक ढंग के हैं। निद्देस के रचयिता या संकलनकर्ता को सुत्त-निपात के सम्पूर्ण अंशों की जानकारी होते हुए भी वह उसके कुछ अंशों को ही व्याख्या के लिये चुन सकता था। इसी प्रकार प्रस्तावना की भी व्याख्या करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। सब से बड़ी बात तो यह है कि निद्देस में सुत्त-निपात की कतिपय भाषाओं की व्याख्या की गई है, अतः वह उसके बाद की रचना ही हो सकती है। जिस प्रकार बुद्धवंस, चरियापिटक और निद्देस जातक के बाद की रचनाएँ हैं उसी प्रकार धेर-

थेरी—गाथाओं के बाद अपदान का भी प्रणयन निश्चित है। अपदान के दो भाग हैं, धेर अपदान और थेरी अपदान। इन दोनों भागों में क्रमशः भिक्षु और भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथाएँ हैं। इस प्रकार यह पुरा ग्रंथ धेर और थेरी गाथाओं का पूरक ही कहा जा सकता है। अपदान निश्चयतः अशोककालीन रचना है। इसका कारण यह है कि उसमें ऋषावस्तु का निर्देश हुआ है, जो निश्चयतः तृतीय संगीति के समय लिखी गई। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इनमें क्रमशः देव-लोकों और प्रेतों के वर्णन हैं, जो स्थविरवादी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत दूर हैं। विमानवत्थु में तो एक ऐसी घटना का भी वर्णन है जो उसी के वर्णन के अनुसार पायामि राजन्य के १०० साल बाद हुई।^१ पायामि की मृत्यु भगवान् बुद्ध से कुछ साल बाद हुई थी, अतः जिस घटना का विमानवत्थु में वर्णन है वह बुद्ध-निर्वाण के सौ से कुछ अधिक साल बाद ही हुई होगी। इस प्रकार विमानवत्थु की रचना तृतीय संगीति के कुछ पहले की ही अधिक से अधिक हो सकती है। इसी प्रकार पेतवत्थु भी अशोककालीन रचना है। उसमें 'मौर्य-अधिपति' का निर्देश हुआ है^२ जिसका अभिप्राय 'अट्ठकथा' के अनुसार धम्मशोक से है।^३ 'पटिसम्भिता-संग' की रचना अभिधम्म-पिटक की शैली में हुई है, अतः वह भी इसी युग की रचना है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन के आधार पर खुदक-निकाय के ग्रन्थों का काष्ठ-कम तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जो इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१ धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान, इतिवृत्तक।

२ जातक, धेरगाथा, थेरीगाथा।

१. मानुस्सकं वस्ससत्तं अतीतं यदस्मिं कायमिह् इधूपपन्नो । पृष्ठ ८१ (पालि-टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

२. राजा पिगलको नाम सुरद्वानं अधिपतिं अहुमोरियानं उपद्वानं गन्त्वा सुरद्वं पुनरागमा ।

३. मोरियानंति मोरियराजानं धम्मसोके सन्धाय वदन्ति । पृष्ठ ९८ (पालि-टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

३ बुद्धवंस, चरियापिटक, निहेस, अपदान, पटिसम्भिमदासमा, विमानवत्थु, पेतवत्थु, खुदक-पाठ ।

प्रत्येक श्रेणी के ग्रन्थों में भी कौन किस से पहले या पीछे का है, इसका सम्यक् निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके लिये उतने स्पष्ट बाह्य और आन्तरिक साध्य उपलब्ध नहीं हैं। निश्चित तिथियों के अभावे में इस प्रकार के निर्णय का कोई अधिक महत्व भी नहीं हो सकता। अब हम खुदक-निकाय के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

खुदक-पाठ^१

खुदक-पाठ छोटे छोटे नौ पाठों या सुत्तों का संग्रह है। ये सभी पाठ विशेषतः सुत्त-पिटक और विनय-पिटक से संगृहीत हैं। पहले चार पाठ पिछले पाँच को अपेक्षा अधिक संक्षिप्त हैं। इनका संकलन प्रारम्भिक विद्याधियों की शिक्षा के लिये अथवा बौद्ध गृहस्थों के दैनिक पाठ के लिये किया गया है। अतः सिंहल में खुदक-पाठ का बड़ा आदर है। खुदक-पाठ के नौ पाठों या सुत्तों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. सरणत्तयं (तीन शरण) —में बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता है। दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—में बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता है।

२. दस सिक्खापद—(दस शिक्षापद या सदाचार-सम्बन्धी नियम)
(१) ओर्वहिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) असत्य-भाषण (५) मद्य-पान (६) असमय-भोजन (७) मृत्यु-गीत (८) माला-गन्ध-विलेपन (९) ऊँची और बड़ी शय्या (१०) सोने और चांदी का ग्रहण, इन दस बातों से विरत रहने का व्रत लेता है।

१. राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कीसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित तथा भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित (बुद्धाब्द २४८१, १९३७ ई०) नागरी संस्करण उपलब्ध है। भिक्षु धर्मेन्द्र एम० ए० का मूल-पालि-सहित हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ (१९४५) ने प्रकाशित किया है।

३. द्वितिसाकारं (शरीर के ३२ अङ्ग) — शरीर के ये ३२ (गन्धग्राहियों से भरे) अङ्ग हैं, जैसे कि केश, रोम, तल, दाँत आदि।

४. कुमारपञ्च (कुमार विद्यार्थियों के लिये प्रश्न)

एक क्या है ?	सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।
दो क्या है ?	नाम और रूप।
तीन क्या है ?	तीन वेदनाएँ।
चार क्या है ?	चार आर्य-सत्य।
पाँच क्या है ?	पाँच उपादान-स्कन्ध।
छः क्या है ?	छः आन्तरिक आयतन।
सात क्या है ?	बोधि के सात अङ्ग।
आठ क्या है ?	आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग।
नौ क्या है ?	प्राणियों के नौ आवास।
दस क्या है ?	दस बातें, जिनसे मुक्त होने पर मनुष्य अर्हत् बनता है।

५. मङ्गल सुत (मङ्गल-सूत्र) — प्राणी नाना प्रकार के मङ्गल-कार्य करते हैं। किन्तु सर्वोत्तम मङ्गल क्या है ?

“माता-पिता की सेवा, पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण, शान्ति से अपना काम करना—यही सर्वोत्तम मङ्गल है।

“दान देना, धर्म का जीवन, जाति-बन्धुओं की सहायता करना, कर्म निर्दोष रखना—यही सर्वोत्तम मङ्गल है।

“पाप और मद्य-पान से अलग रहना, संयमी जीवन, धर्म के कार्यों में आलस्य न करना—यही सर्वोत्तम मङ्गल है !

“गुरुजनों का आदर, विनम्रता, सन्तोष-वृत्ति, कृतज्ञता, समय पर धर्म की श्रवण करना—यही सर्वोत्तम मङ्गल है !

“क्षमा, ब्रह्मचर्य, ज्ञानी भिक्षुओं का दर्शन, समय पर धर्म का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मङ्गल है !

“तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यों का दर्शन अन्त में निर्वाण का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मङ्गल है !”

३. रत्न सूक्त (रत्नसूत्र)—१७ गाथाओं में बुद्ध, धम्म और संघ, इन तीन रत्नों की महिमा वर्णन की गई है और उसी से लोक-कल्याण की कामना की गई है। आरम्भ की दो और अन्त की तीन गाथाएँ तो बड़ी ही मार्मिक हैं। बौद्ध परम्परा इन्हें मौलिक गाथाएँ मानती है। बुद्ध, धर्म और संघ की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्येक के विषय में कहा गया है 'इदं पि बुद्धं रत्नं पर्णीतं' (यह बुद्ध रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) 'इदं पि धम्मं रत्नं पर्णीतं' (यह धम्म रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) और 'इदं पि संघं रत्नं पर्णीतं' (यह संघ रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है)। इस सत्य रूपी वाणी से लोक-कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—एतैन सच्चेन सुवर्त्ति होतु (इस सत्य से लोक का कल्याण हो)

७. तिरोकुड्ड-सूक्त—मृत आत्माएँ अपने छोड़े हुए घरों के दरवाजों पर और उनकी देहलियों पर आकर खड़ी हो जाती हैं। वे अपने सम्बन्धियों से भोजन और पान की इच्छा रखती हैं। प्रेतों के लोक में खेतों और वाणिज्य नहीं होते। उन्हें जो कुछ इस लोक से मिलता है, उसी पर वे गुजारा करते हैं। सद्गृहस्थ प्रेतों के कल्याण की कामना से भोजन और जल का दान करते हैं। सुप्रतिष्ठित भिक्षु-संघ को जो कुछ दान किया जाता है, वह प्रेतों के चिर सुख और कल्याण के लिये होता है। यह सूक्त भारतीय समाज में प्रचलित श्राद्ध-विधान और पितर-पूजा का बौद्ध संस्करण ही है। दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न रखते हुए भी बौद्ध जनता किस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित व्यवहारों और सामान्य विश्वासों से अपने को विमुक्त नहीं कर सकी, यह सूक्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस सूक्त की कुछ गाथाओं का पाठ आज भी सिंहाल और स्याम देशों में मृदों को जलाते समय किया जाता है।

८. निधिकड सूक्त (निधि सम्बन्धी सूत्र)—सर्वोत्तम निधि क्या है? दान, शील, संयम, इन्द्रिय-विजय, संक्षेप में पुण्य कर्मों का करना ही सर्वोत्तम निधि है। अन्य सब निधियाँ तो नष्ट हो जाने वाली हैं, किन्तु किया हुआ शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यही वह निधि है जो मनुष्य के पीछे जाने वाली है—यो निधि अनुगामिको।

९. मेत्त-सूक्त (मैत्री-सूत्र)—ऊपर, नीचे, चारों ओर, लोक की मित्रता की भावना से भर दो। किसी का दुःख-चिन्तन मत करो। भावना करो कि

सभी प्राणी सुखी हों—सर्वे सत्ता भवन्तु सुखितता । ब्रह्मविहार भी तो यही है—ब्रह्ममेतं विहारं इक्षामाहु !

सुद्धक-पाठ के उपर्युक्त ९ सुक्तों में से मंगल-सुक्त, रतन-सुक्त, और मेत-सुक्त सुक्त-निपात में भी है । सुक्त-निपात में मंगल-सुक्त का नाम महा-मंगलसुक्त अवश्य है । इसी प्रकार त्रिकुण्ड-सुक्त पेतवत्पु में भी है । तीन शरण और दस शिक्षापदों के विवरण विनय-पिटक के आधार पर संकलित हैं । कुमारपञ्च सुक्त को भी विनय-पिटक या दीघ-निकाय के संगीति-परिचाय और दसुत्तर जैसे सुक्तों अथवा अंगुत्तर निकाय के विशाल तत्सम्बन्धी भांडार में से संकलित कर लिया गया है । 'कायगतासति' के रूप में शरीर के ३२ आकारों का वर्णन दीघ और मज्झिम-निकायों के क्रमशः महासतिपट्ठान और सति-पट्ठान सुक्तों के वर्णनों की अनुलिपि है । केवल अन्तर इतना है कि वहाँ ३३ अङ्गों का वर्णन है जब कि यहाँ एक और (मत्त्वके मत्त्वलुनं—माघे का मूढ) बढ़ा दिया गया है । कायगता-सति (शरीर की गन्दगियों और अनित्यता पर विचार) का विधान बौद्ध योग में प्रारम्भ से ही है । दीघ और मज्झिम निकायों के उपर्युक्त सुक्तों के अतिरिक्त संवृत्त-निकाय के कस्सप-सुक्त में भी भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप को 'कायगता सति' का ध्यान करने का उपदेश दिया है । धम्मपद २१।१० में भी भिक्षुओं को 'कायगतासतिपरायण' होने को कहा गया है । 'उद्दान' में भगवान् बुद्ध के योग्य शिष्य महामौद्गल्यायन और महाकात्यायन को काय-गता-सति की भावना करते दिखलाया गया है । 'विमुद्धि-मग्ग' (पाँचवीं शताब्दी) में इस सम्बन्धी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है^१ ।

सुद्धक-पाठ के समान, किन्तु आकार में उससे बड़ा, एक और संग्रह पालि साहित्य में प्रसिद्ध है । इसका नाम 'परित्त' या 'महापरित्त' है । 'परित्त' शब्द का अर्थ है 'परित्राण' या 'रक्षा' । भिक्षुओं और गृहस्थों की रक्षा के उद्देश्य

१. क्रमशः पृष्ठ ३८ एवं १०५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. विमुद्धिमग्ग ८।४२-१४४; देखिये ११।४८-८१ भी (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

से सुत्त-पिटक से लगभग ३० सुत्तों का संग्रह कर लिया गया है, जिनका पाठ, बौद्धों के विश्वास के अनुसार, रोग, दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों को शान्त करने वाला और सामान्यतः मङ्गलकारी होता है। लंका और बरमा में परित्त-पाठ की प्रथा अधिक प्रचलित है।^१ मेविल बोड ने हमें बतलाया है कि बरमा में तो इसके समान लोक-प्रिय पुस्तक ही पालि-साहित्य की दूसरी नहीं है।^२ खुद्रक-पाठ के ऊपर निर्दिष्ट ९ सुत्तों में से सात 'परित्त' में भी सम्मिलित हैं। 'परित्त' में विशेषतः निम्नलिखित सुत्त सम्मिलित हैं—

- १ दस धम्म-सुत्त
- २ महामङ्गल सुत्त
- ३ करणीय मेत्त सुत्त
- ४ चन्दपरित्त सुत्त
- ५ मेत्त सुत्त
- ६ मेत्तानिसंस सुत्त
- ७ मोरपत्ति सुत्त
- ८ चन्दपरित्त सुत्त
- ९ सुरिय परित्त सुत्त
- १० धज्जग सुत्त
- ११ महाकत्तापघेर बोज्झंग सुत्त
- १२ महामोम्मल्लानघेर बोज्झंग सुत्त
- १३ महाचन्दत्तघेर बोज्झंग सुत्त
- १४ गिरिमानन्द सुत्त
- १५ इमिगिलि सुत्त
- १६ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त

१. लंका में यह 'परित्त' कहलाता है। लंका में परित्त-पाठ की सांगोपांग विधि के विवरण के लिये देखिये त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित का "परित्त-पाठ और लंका" शीर्षक लेख "धर्मवृत्त" फरवरी-मार्च १९४८ पृष्ठ, १६३-६७ में;

२. वि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३-४

१७ आलवक-सूत

१८ कसिभान्द्राज-सूत

१९ पराभव-सूत

२० वसल-सूत

२१ सक्तविभंग-सूत

२२ आटानाटिख-सूत

इनके अतिरिक्त परित-पाठ से 'अनुलोम-पटिलोम-पटिच्छसम्पादसूत' आदि कुछ सूत्रों का भी पाठ किया जाता है। परित-पाठ की प्रथा बुद्ध-कालमें भी प्रचलित थी, ऐसा बौद्धों का विश्वास है। कहा जाता है कि एक बार लिच्छवियों के नगर वंशाली में दुर्मिन्न पड़ा था। भगवान् के आदेशानुसार उन्होंने परित-पाठ किया था, जिसके परिणामस्वरूप वर्षों हुई थी। परित-पाठ से बीमारी की शान्ति हुई, इसके तो उदाहरण विपिदक में काफी मिलते हैं। दोषे लम्बक वाम के किसी ब्राह्मण का पुत्र परित-पाठ से रोग-विमुक्त हो गया। इसी प्रकार आर्य महाकाश्यप की बीमारी के समय स्वयं भगवान् ने बोज्झग-सूत का पाठ किया और महाकाश्यप उसी समय रोग-मुक्त हो गये। स्वयं भगवान् बुद्ध ने एक बार अपनी बीमारी की शान्ति के लिये महाचुन्द स्थविर से बोज्झग-सूत का पाठ करवाया। गिरिमानन्द नामक भिक्षुकी रोग-शान्ति के लिये विद्यान बतलाते हुए भगवान् ने स्वयं आनन्द से कहा "आनन्द! यदि तুম गिरिमानन्द भिक्षुके पास जाकर 'दश-संज्ञा-सूत्र' का पाठ करी, तो उसे सुनकर अवश्य ही उसका रोग शान्त हो जायगा।"^१ 'मिलिन्द-प्रश्न' में 'परित' की भगवान् बुद्ध का ही उपदेश बतलाया गया है।^२ अतः परित-पाठ का महत्त्व स्थविरवादी परम्परा में सुप्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं।

परित के संकलन का ठीक काल निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें

१. सचे लो त्वे आनन्द ! गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो उपसंक्रमित्वा उस सञ्जा भासेध्यासि, ठानं सो पनेतं विज्जति यं गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो वससञ्जा सुत्था सो आवापो ठानसो पटिप्पस्सभ्येय्य ।

२. परित्ता च भगवता उद्दिठाति । मिलिन्दपञ्च, पृष्ठ १५३ (बम्बई विद्वत्-विद्यालय का संस्करण)

सन्देह नहीं कि वह काफ़ी बात का है। स्वधिरवाद-परम्परा के पूर्वतम स्वरूप में भूत-प्रेत आदि की बातें अथवा उनसे बचने के लिये जादू के से प्रयोग बिल्कुल नहीं है। ये सब बातें सामान्य अंध विश्वासों के आधार पर उसमें प्रवेश कर गईं। इस दृष्टि से दीध-निकाय के आदानाटीय-सुत्त जैसे अंध भी उत्तरकालीन हो कहे जा सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने योग की विभूतियों के भी प्रदर्शन की निन्दा की^१। फिर जादू के प्रयोगों की तो बात ही क्या ? प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर सृष्टि के व्यापारों की ध्याख्या करने वाला मन्त्रों के जप से बीमारी से विमुक्ति दिलाने नहीं आया था। जहाँ तक 'परित्त' के सुत्तों का सम्बन्ध है, वे अपने आप में नैतिक भावना से श्रोतप्रोत हैं। उनके अन्दर स्वयं कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उस उदात्त सम्भीरता से रहित हो जो सामान्यतः बौद्ध साहित्य की विशेषता है। उनका पाठ निश्चय ही मनको ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में ले जाने वाला है। अतः उनका संग्राह्य करना प्रत्येक अवस्था में संग्रह का मूल ही हो सकता है। बीमारी की अवस्था में वह मानसोपचार का अङ्ग भी हो सकता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे रामनाम के स्मरण को गांधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा का एक अङ्ग बना दिया। यदि परित्त पाठ में अन्ध-विश्वास है तो उसी हद तक जितना गांधीजी की उपर्युक्त उपचार-विधि में। फिर हम इसे अन्ध-विश्वास भी क्यों कहे ? जिससे मत ऊँची अवस्था में जा सकता है, उससे शरीर पर भी स्वस्थ प्रभाव क्यों न पड़ेगा ? इस दृष्टि से परित्त-पाठ का उपदेश स्वयं बुद्ध भगवान् का भी दिया हुआ हो सकता है, हाँ वहाँ कर्मकांड अवश्य नहीं है। भगवान् ने सपं को अपनी मैत्री-भावना से आच्छादित कर देने का आदेश दिया।^२ सापं के भय से बचने का यही

१. विनय-पिटक, चुल्लवग्ग में विभूति-प्रदर्शन को 'बुध्कत' अपराध बतलाया गया है; मिलाइये ; धम्मपदट्टकपा ४।२, बुद्धचर्या, पृष्ठ ८२-८३ में अनु-बाधित। देखिये केवट्ट-सुत्त (दीघ १।११) तथा सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५) महालि-सुत्त (दीघ ३।६), आदि।
२. सेत्तेन चित्तेन परित्तं (मित्रतापूर्ण चित्त से आच्छादित कर देने के लिये) — विनय-पिटक। साधारण अर्थ में इसे मान्य कहना तो बुद्धि का उपहास हो होगा।

एक 'मन्त्र' है। शेष जीव-जगत् के साथ मैत्री स्थापित कर इस 'मन्त्र' की सत्यता देखी जा सकती है। 'परित्त' में संगृहीत सुत्तों की भावनाएँ बड़ी मङ्गलमय और उदात्त हैं। उनमें चित्त को डुबो देने पर शरीर और मन प्रसन्नता से न भर जायें, यह असम्भव है। प्रसन्नता (चित्त-प्रसाद) ही तो स्वास्थ्य और मङ्गलों की जननी है। भिक्षु-गण परित्त पाठ के अन्त में ठीक ही संगायन करते हैं—सब्बीतियो विवज्जन्तु सव्वरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्तन्तरायो सुखी दीघायुको भव ॥ तेरी सारी आपदाएँ दूर हों, सब रोग नष्ट हो जायें, तुझे विघ्न न हो, तू सुखी और दीर्घायु हो।

धम्मपद^१

बौद्ध साहित्य का सम्भवतः सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। एक प्रकार से बौद्धों की गीता ही कहना चाहिये। सिंहल में बिना धम्मपद का पाठायन किये किसी भिक्षु की उपसम्पदा नहीं होती। बुद्ध-उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालि-साहित्य में नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है। धम्मपद में कुल मिलाकर ४२३ गाथाएँ हैं, जो २६ वर्गों में बँटी हुई हैं। प्रत्येक वर्ग में गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—

वर्ग	गाथाओं की संख्या
१ यमक वर्ग	२०
२ अप्रमाद वर्ग	१२

यह तो एक गम्भीर नैतिक उपदेश है। अधिकतर बुद्ध-वचनों का यही हाल है, फिर चाहे उनका उपयोग उत्तरकालीन बौद्ध जनता किसी प्रकार करने लगी हो।

१. धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं। महापरिनिर्वाण राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कोसल्यायन के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

३ चित्त वग्ग	११
४ पुष्प वग्ग	१६
५ बाल वग्ग	१६
६ पंडित वग्ग	१४
७ अरहन्त वग्ग	१०
८ सहस्र वग्ग	१६
९ पाप वग्ग	१३
१० दंड वग्ग	१७
११ जरावग्ग	११
१२ अत्त वग्ग	१०
१३ लोकवग्ग	१२
१४ बुद्धवग्ग	१८
१५ सुखवग्ग	१२
१६ पियवग्ग	१२
१७ कोधवग्ग	१४
१८ मलवग्ग	२१
१९ घम्मदूठवग्ग	१७
२० मग्गवग्ग	१७
२१ पकिण्णकवग्ग	१६
२२ निरयवग्ग	१४
२३ नागवग्ग	१४
२४ तण्हावग्ग	२६
२५ भिक्खुवग्ग	२३
२६ बाह्मणवग्ग	४१

 ४२३

'यमकवग्ग' (वग्ग १) में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो दो बातें जोड़े के रूप में आती हैं। " 'मुझे गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हरा दिया',

मुझे लूट लिया, ऐसा जो मन में बाँधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ।"^१ अहिंसा का यह सनातन सन्देश भी कितना मार्मिक है "यहाँ वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता । अवैर से ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है ।"^२ बड़ी बड़ी संहिताओं का भण्डित करने वाले किन्तु उनके अनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति को 'धम्मपद' में उस स्वार्थ के समान कहा गया है जिसका काम केवल दूसरों की गायों को गिनना है ।^३ बौद्ध चिन्तकों ने शारीरिक संयम की मूल को सदा मन के अन्दर देखा था, इसीलिए धम्मपद की प्रथम गाथा 'मन की महिमा' का वर्णन करती हुई कहती है "मन ही सब धर्मों (कायिक, वाचिक मानसिक कर्मों) का अग्रगामी है मन ही उनका प्रधान है । सभी कर्म मनोमय हैं ।" आत्म-संयम वास्तविक श्रामण्य और सत्संकल्प के स्वर्ण और महत्त्व के वर्णन इस वर्ग के अन्य विषय हैं । 'अप्रमाद-वग्ग' में प्रमाद की निन्दा और अ-प्रमाद की प्रशंसा की गई है । अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग-श्रेम रूपी निर्वाण को प्राप्त किया जाता है ।^४ अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना है ।^५ अप्रमाद में रत भिक्षुओं को ही यहाँ 'निर्वाण के समीप' (निव्वानस्सेव सन्तिके) कहा गया है ।^६ 'चित्तवग्ग' (वर्ग ३) में चित्त-संयम का वर्णन है । "जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है ।" 'पुण्यवग्ग' (वर्ग ४) में पुण्य को आलम्बन मानकर नैतिक उपदेश दिया गया है । सदाचार रूपी गन्ध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है "तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है । किन्तु यह जो सदाचारियों की गन्ध है वह देवताओं में फैलती है ।" 'वालवग्ग'

१. ११४

२. ११५

३. १११९

४. २१३

५. २११०

६. २११२

(वर्ग ५) में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिये संसार (आवागमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सांसारिक उन्नति और परमावर्ण के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है "लाम का रास्ता दूसरा है और निर्वाण को ले जाने वाला रास्ता दूसरा है। इसे जानकर बद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन नहीं करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है।" 'पंडितवग्ग' (वर्ग ६) में वास्तविक पंडित पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं। "जो अपने लिये या दूसरों के लिये पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहते हैं, वही सदाचारी पुरुष, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।" अर्हन्त वर्ग (वर्ग ७) में बड़ी सुन्दर काव्य-मय भाषा में अर्हत्तों के लक्षण कहे गये हैं। "जिसका मार्ग-गमन समाप्त हो चुका है। जो शोक-रहित तथा सर्वथा मुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियाँ शीण हो गई हैं, उसके लिये सन्ताप नहीं है।" "सचेत हो वह उद्योग करते हैं। गृह-मूल में रमण नहीं करते। हंस जैसे बुद्ध जलधारा को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही अर्हत् गृह को छोड़ चले जाते हैं।" "जो वस्तुओं का संचय नहीं करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारण-रहित मोक्ष-जिनको दिखाई पड़ता है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की भाँति अज्ञेय है।" "गाँव में या जंगल में, नीचे या ऊँचे स्थल में, जहाँ कहीं अर्हत् लोग विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।" सहस्सवग्ग (वर्ग ८) की मूल भावना यह है कि सहस्रों गावाओं के मुनने से एक शब्द का सुनना अच्छा है, यदि उससे शान्ति मिले। सिद्धान्त के मन भर से अभ्यास का कण भर अच्छा है। सहस्रों वज्रों से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। पापवग्ग (वर्ग ९) में पाप न करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि "न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई स्थान नहीं है जहाँ रह कर, पाप कर्मों के फल से प्राणी बच सके।" वंडवग्ग (वर्ग १०) में कहा गया है कि जो सारे प्राणियों के प्रति दंष्ट्याणी हैं, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।" 'जरावग्ग' (वर्ग ११) में वृद्धावस्था के दुःखों का दर्शन है। इसी वर्ग में संसार की अनित्यता की याद दिलाते हुए यह मार्मिक उपदेश दिया गया है "जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द मनाना है ! अग्धकार में घिरे हुए तुम दीपक को क्यों नहीं बुझते हो ?" इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्गार भी संनिहित हैं जो उन्होंने सम्यक्

सम्बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ही किये थे, "अनेक जन्मों तक बिना रुके हुए में संसार में दौड़ता रहा। इस (काया-रूपी) कौठरी को बनाने वाले (गृहकारक) को खोजते खोजते पुनः पुनः मुझे दुःख-मय जन्मों में गिरना पड़ा। आज हे गृहकारक ! मैंने तुझे पहचान लिया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सारी कहियाँ भग्न कर दी गईं। गृह का शिखर भी निर्वल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से आज तृष्णा का क्षय हो गया।" अत्तवग्ग (वर्ग १२) में आत्मो-प्रति का मार्ग दिखाया गया है। इसी वर्ग की प्रसिद्ध गाथा है "पुरष आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है ? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को पाता है।" लोक-वग्ग (वर्ग १३) में लोक सम्बन्धी उपदेश हैं। बुद्ध-वग्ग (वर्ग १४) में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का यह सर्वोत्तम सार दिया हुआ है "सारे पापों का न करना, पुण्यों का संवय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्ध का शासन है। निन्दा न करना, धात न करना, भिक्षु-नियमों द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकांत में सोना-सँठना, चित्त को योग में लगाना—यही बुद्धों का शासन है।" "सुण-वग्ग" (वर्ग १५) में उस सुख की महिमा गाई गई है जो धन-सम्पत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी और अकिंचनता मय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। भिक्षु कहते हैं "बैर-वृद्ध प्राणियों के बीच अवैरी होकर बिहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं। बैर-वृद्ध मानवों में हम अवैरी होकर बिहरते हैं ! भयभीत प्राणियों के बीच में अभय होकर बिहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! भयभीत मानवों में हम अभय होकर बिहरते हैं। आसक्ति-युक्त प्राणियों के बीच में अनासक्त होकर बिहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! आसक्ति-युक्त मानवों में हम अनासक्त होकर बिहरते हैं।" "पियवग्ग" (वर्ग १६) में यह कहा गया है कि जिसके जितने अधिक प्रिय हैं उसको उतने ही अधिक दुःख हैं। "प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त को कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से ?" "अक्रोधवग्ग" (वर्ग १७) की मुख्य भावना है "अक्रोध से क्रोध की जीतो, असाधु को साधुता से जीतो, कृपण को दान से जीतो, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।" "मल्लवग्ग" (वर्ग १८) में भगवान् ने कहा है कि अविद्या ही सब से बड़ा मल है

“भिक्षुओ ! इस मल को त्याग कर निमल बनो ।” “धम्मट्ठवग्ग” (वर्ग १९) में वास्तविक धर्मात्मा पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं । “बहुत बोलने से धर्मात्मा नहीं होता । जो थोड़ा भी सुन कर शरीर से धर्म का आचरण करता है और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वही वास्तव में धर्मधर है ।” इसी प्रकार “मौन होने से मुनि नहीं होता । वह तो मूढ़ और अविद्वान् भी हो सकता है । जो पापों का परित्याग करता है, वही मुनि है । चूँकि वह दोनों लोकों का भजन करता है, इसीलिये वह मुनि कहलाता है ।” इसी वर्ग में भगवान् का यह उत्साहकारी मार्मिक उपदेश भी है, “भिक्षुओ ! जब तक चित्त-मलों का विनाश न कर दो तब मत लो”—भिक्षु ! विस्तार मापादि अप्रप्तो आसवक्खयं । “मग्गवग्ग” (वर्ग २०) में निर्वाण-गामी विद्युद्धि-मार्ग का वर्णन है । सभी संस्कारों को अमित्र, दुःख और अनात्म समझते हुए मनुष्य को चाहिये कि “वाणी की रक्षा करने वाला और मन से संयमी रहे तथा क्रया से पाप न करे । इन तीनों कर्म-पथों की शुद्धि करे और ऋषि (बुद्ध) के बताये धर्म का श्रवण करे ।” ‘पकिण्णक-वग्ग’ (वर्ग २१) में अहिंसा, और शरीर के दुःखदोषानुचिन्तन आदि का वर्णन है । “निरय-वग्ग” (वर्ग २२) में बतलाया गया है कि कैसे पुरुष नरक-गामी होते हैं । “नाग-वग्ग” (वर्ग २३) में नाग (हाथी) के समान अडिग रहने का उपदेश दिया गया है । “जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे बाण को सहन करता है, वैसे ही वाक्कों को सहन करना । संसार में तो दुःखील आदमी ही अधिक हैं ।” “तण्हा वग्ग” (वर्ग २४) में तृष्णा को खोद डालने का उपदेश है । अपने पास दर्शनार्थ आये हुए आदिमियों को सम्बोधन करते हुए भगवान् कहते हैं, “इसलिए तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सब का मंगल हो । जैसे शस्त्र के लिए लोग उपीर को खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ को खोदो ।” “मिवखु वग्ग” (वर्ग २५) में भिक्षुओं के लिए लोमहर्षक उपदेश है । “हे भिक्षु ! इस साप को उलीचो । उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी । राग और द्वेष को छोड़कर फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे ।” पुनः “हे भिक्षु ! ध्यान में लगे । मत असावधानी करो । मत तुम्हारा चित्त-भोगों के चक्कर में पड़े । प्रमत्त हो कर मत लोहों के गोले को निगलो । ‘हाय दुःख !’ कह कर दग्ध होते हुए मत तुम्हें पीछे प्रन्दन करना पड़े ।” “भिक्षुओ ! जैसे जूही कुम्हलामे हुए फूलों को

छोड़ देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।" "ब्राह्मण-धर्म" (धर्म २६) में ब्राह्मणों के लक्षण गिनाये गए हैं। २६।१३-४१ गाथाएँ तो बड़ी ही काव्य-मय हैं। भगवान् की दृष्टि में वास्तविक ब्राह्मण कौन है, इस पर कुछ गाथाएँ देखिए—

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। वह तो 'भोवादी' ('भो' 'भो' कहने वाला, जैसा ब्राह्मण उस समय एक दूसरे को सम्बोधन करते समय करते थे) हैं और संघर्षी हैं। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।

"जो बिना दूषित नित्त किये गाली, वध और वन्दन को सहन करता है, शमा बल ही जिसकी सेना का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"कमल के पत्र पर जल और आर के नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो विरोधियों के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दंडधारियों के बीच दंड-रहित रहता है, संग्रह करने वालों में जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसने यहाँ पुष्प और पाप दोनों की आवृत्ति को छोड़ दिया, जो शोक-रहित, निर्मल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसके आगे, पीछे और मध्य में कुछ नहीं है, जो सर्वत्र परिग्रह रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" आदि।

ऊपर धम्म-पद की विषय-वस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमें नीति के वे सभी आदर्श संगृहीत हैं जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति हैं।^१ धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएँ विपिटक

१. डा० धिमलावरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर' जिल्द पहली पृष्ठ २००-२१४ के अनेक पद-संकेतों में उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से उद्धरण देकर धम्मपद की गाथाओं से उनकी समानता दिखाई है। इस विषय का अधिक तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

के अन्य भागों में भी मिलती है। धम्मपद के पालि संस्करण के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्करण भी मिलते हैं। उनका भी उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। इस प्रकार के मूल्यतः चार संस्करण उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम प्राकृत धम्मपद है। खोतान में खडित खरोष्ट्री लिपि में यह प्राप्त हुआ है। यह बिल्कुल अपूर्ण अवस्था में है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मौलिक स्वरूप क्या था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले कौच विद्वान् सेना ने किया था। बाद में इसका सम्पादन डा० वेणीमाधव वाड्डा और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं, जिनकी अनुरूपता पालि-धम्मपद के साथ इस प्रकार है—

प्राकृत धम्मपद		पालि धम्मपद	
वर्ग-कम	वर्ग-नाम और गाथाओं की संख्या	इनके अनुरूप कम,	
		नाम और गाथाओं की	
		संख्या जो पालि धम्म-	
		पद में पाई जाती है	
१	मगवग ३०	२० मग वग्ग १७	
२	अप्रसाद वग २५	२ अप्रसाद वग्ग १२	
३	चित्तवग ५ (अपूर्ण)	३ चित्त वग्ग ११	
४	पुण वग १५	४ पुण्ण वग्ग १६	
५	सहस वग १७	८ सहस्स वग्ग १६	
६	पणित वग या धम्मठ वग १०	६ पणित वग्ग १४	
		१९ धम्मट्ठ वग्ग १७	
७	वाल वग ७ (अपूर्ण)	५ वाल वग्ग १६	
८	जरा वग २५	११ जरावग्ग ११	
९	सुह वग २०	१५ सुग्ग वग्ग १२	
१०	तण वग ७ (अपूर्ण)	२४ तण्हा वग्ग २६	
११	मिस्स वग ४०	२५ मिस्स वग्ग २३	
१२	ब्राह्मण वग ५०	२६ ब्राह्मण वग्ग ४१	

१. देखिये वाड्डा और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ८ (शुद्धिका)

चूँकि प्राकृत धम्म पद की अभी कोई पूर्ण प्रति नहीं मिल सकी है, अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिन वर्गों के नामों में समानता है उनके भी क्रमों और गाथाओं की संख्या के सम्बन्ध में काफी असमानता है। अधिकतर पालि धम्मपद की अपेक्षा प्राकृत-धम्मपद के वर्गों में ही गाथाएँ अधिक हैं। इस गाथा-वृद्धि का कारण यही जान पड़ता है कि चूँकि धम्मपद की गाथाओं का संग्रह पूरे सूत-पिटक के ग्रन्थों से ही किया गया है, अतः उनके चुनते में विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में विभिन्नता आ गई है।^१ अन्य संस्करणों के बारे में भी यही बात है। धम्मपद का दूसरा संस्करण, जिसका भी स्वरूप अभी अनिश्चित ही है उसका गाथा-संस्कृत या मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ रूप है। इसका साक्ष्य हमें 'महावस्तु' से मिलता है जो स्वयं गाथा-संस्कृत में लिखी हुई रचना है और जिसने 'धर्मपद' का एक अंग मानते हुए 'सहस्र वर्ग' (धर्मपदेणु सहस्रवर्गः) नामक २४ गाथाओं के समूह को उद्धृत किया है।^२ 'सहस्राग' नामक धम्मपद का भी आठवाँ 'वर्ग' है, यह हम पहले देख चुके हैं। किन्तु वहाँकेवल १६ गाथाएँ हैं। 'महावस्तु' में उद्धृत 'सहस्र वर्ग' के अतिरिक्त प्राकृत धम्मपद के पूरे स्वरूप के बारे में हमें कुछ अधिक ज्ञान नहीं है। धम्मपद के 'चुह-सि-उ-विड' नामक चीनी अनुवाद से जो २२३ ई० में किया गया था, यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसका मूल प्राकृत धम्मपद था, किन्तु उसके भी आज अनुपलब्ध होने के कारण प्राकृत-धम्मपद के वास्तविक स्वरूप की समस्या उलझी हो रह जाती है। धम्मपद का तीसरा रूप विजुड संस्कृत में है जो अपने खंडित रूप में तुर्फान में पाया गया है। इस ग्रन्थ में २३ अध्याय हैं, अर्थात् पालि धम्म पद से ६ अधिक। इसी संस्करण का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी मिलता है जो ८१७-८४२ ईसवी में किया गया था। रोंकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है और उसे संस्कृत-धर्मपद का प्रतिरूप

१. गाथा-वृद्धि के उदाहरणों और उनके कारणों के अधिक विस्तृत विवेचन के के लिये देखिये बाटुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

२. तथा भगवान् जटिलानां धर्मपदेणु सहस्रवर्गं भासति 'सहस्रमपि वाचानां अन्तर्धर्मसंहितानां, एकाध्वती श्रेया यं भूत्वा उपताम्यति'।

माना है। धम्मपद का चीनी रूप फ-ह्यू-किङ् नामक चीनी अनुवाद में पाया जाता है। यह अनुवाद मूल संस्कृत धम्मपद से २२३ ई० में किया गया। मूल आज अनुपलब्ध है। अतः पालि धम्मपद से उसकी तुलना तो नहीं की जा सकती, किन्तु चीनी अनुवाद के आधार पर कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य जानी जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि चीनी अनुवाद मात्र अनुवाद ही नहीं है। उसे या तो एक अर्थ-कथा ही कहा जा सकता है, या वह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें वास्तविक धर्मपद का काफी परिवर्द्धन किया गया है। इस चीनी अनुवाद में पालि धम्मपद के २६ वर्गों या अध्यायों की जगह ३९ तो अध्याय हैं और ४२३ गाथाओं की जगह ७५२ गाथाएँ हैं। इनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

चीनी धम्मपद (फ-ह्यू-किङ्)

पालि धम्मपद

१. अनित्यता (२१)
२. ज्ञान-दर्शन (२९)
३. श्रावक (१९)
४. श्रद्धा (१८)
५. कर्तव्य-पालन (१६)
६. विचार (१२)
७. मैत्री भावना (१९)
८. संलाप (१२)
९. यमक वग्ग (२२)
१०. अग्रमाद वग्ग (२०)
११. चित्त वग्ग (१२)
१२. पुष्प वग्ग (१७)
१३. बाल वग्ग (२१)
१४. पंडित वग्ग (१७)
१५. अर्हन्त वग्ग (१०)
१६. सहस्र वग्ग (१६)
१७. पाप वग्ग (२२)
१८. दंड वग्ग (१४)

अनुपलब्ध

१. यमक वग्ग (२०)
२. अग्रमाद वग्ग (१२)
३. चित्त वग्ग (११)
४. पुष्प वग्ग (१६)
५. बाल वग्ग (१६)
६. पंडित वग्ग (१४)
७. अर्हन्त वग्ग (१०)
८. सहस्र वग्ग (१६)
९. पाप वग्ग (१३)
१०. दंड वग्ग (१७)

१९. जरा वग्ग (१४)	११. जरा वग्ग (११)
२०. अल वग्ग (१४)	१२. अल वग्ग (१०)
२१. लोक वग्ग (१४)	१३. लोक वग्ग (१३)
२२. बुद्ध वग्ग (२१)	१४. बुद्ध वग्ग (१८)
२३. सुल वग्ग (१४)	१५. सुल वग्ग (१२)
२४. पिय वग्ग (१२)	१६. पिय वग्ग (१२)
२५. कोध वग्ग (२६)	१७. कोध वग्ग (१४)
२६. मल वग्ग (१९)	१८. मल वग्ग (२१)
२७. धम्मट्ठ वग्ग (१७)	१९. धम्मट्ठ वग्ग (१७)
२८. मग्ग वग्ग (२८)	२०. मग्ग वग्ग (१७)
२९. पकिण्ण वग्ग (१४)	२१. पकिण्ण वग्ग (१६)
३०. निरय वग्ग (१६)	२२. निरय वग्ग (१४)
३१. नाग वग्ग (१८)	२३. नाग वग्ग (१४)
३२. तण्हा वग्ग (३२)	२४. तण्हा वग्ग (२६)
३३. सेवा (२०)	—
३४. भिक्खु वग्ग (३२)	२५. भिक्खु वग्ग (२३)
३५. ब्राह्मण वग्ग (४०)	२६. ब्राह्मण वग्ग (४१)
३६. निर्वाण (३६)	—
३७. जन्म और मृत्यु (१८)	—
३८. धर्म-लाभ (१९)	—
३९. महामंगल (१९)	—

ऊपर चीनी अनुवाद के वर्गों के नाम जहाँ उनकी पालि धम्मपद के साथ समता है, पालि में सुविधा के विचार से दे दिये गए हैं। चीनी अनुवादों में तो उनके स्वभावतः चीनी भाषा में ही शीर्षक हैं। ऊपर की तुलना से स्पष्ट है कि पालि धम्मपद की गाथाओं की संख्या को चीनी अनुवाद में बढ़ा दिया गया है। वास्तव में ऊपर, जिनने संस्करणों का विवरण दिया है उनमें यही घटा-बढ़ी की गई है। वास्तव में सब का मूलाधार तो पालि धम्मपद ही है जिसकी गाथाओं को अक्सर बढ़ा कर और कहीं कहीं घटा कर भी भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों

ने अपने अलग अलग संग्रह बना लिए जिनके कुछ उदाहरण हम धम्मपद के अपर निर्दिष्ट स्वरूपों में देख सकते हैं। अब हम बुद्ध-वचनों के एक दूसरे संग्रह पर आते हैं।

उदान^१

'उदान' भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यों का एक संग्रह है। "भाषातिरेक से कभी कभी सन्तो के मुख से जो प्रीति-वाक्य निकला करते हैं, उन्हें 'उदान' कहते हैं।" "उदान" में भगवान् बुद्ध के ऐसे गम्भीर और उनकी समाधि-अवस्था के सूक्ष्म शब्द संगृहीत हैं जो उन्होंने विशेष अवसरों पर उच्चरित किये। भगवान् द्वारा उच्चरित वचन अधिकतर गाथाओं के रूप में हैं और जिन अवसरों पर वे उच्चरित किये गये, उनका वर्णन गद्य में है। गद्य-भाग निश्चयतः संगीतिकारों की रचना है जिसे उन्होंने बुद्ध-जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ग्रहित किया है। उसकी प्रामाणिकता के विषय में यही कहा जा सकता है कि वित्तप-पिटक के चुल्लवग्ग और महावग्ग में तथा महापरिनिध्वाण-सूत्त जैसे सूत्त-पिटक के अंशों में बुद्ध-जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है उसकी वह अनुरूपता में ही है। गद्य-भाग के अन्त में आने वाले 'उदानों' में तो वास्तविक बुद्ध-वचन होने की सुगन्ध जानी ही है। उनमें जैसे शास्ता ने अपने आपको अनुप्राणित कर दिया है, अपनी प्राण-व्यति ही फूँक दी है, ऐसा मालूम पड़ता है। वास्तव में 'उदान' का अर्थ भी यही है। 'उदान' की सब से बड़ी विशेषता है बौद्ध जीवन-दर्शन का उसके अन्दर स्पष्टतम प्रस्फुटित स्वरूप। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसंगों के अतिरिक्त चित्त की परम यान्ति, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म और आचार-तत्त्व सम्बन्धी गम्भीर उपदेश 'उदान' में निहित हैं।

'उदान' में ८ वर्ग (वग्ग) हैं और प्रत्येक वर्ग में प्रायः दस सूत्त हैं। केवल सातवें वर्ग में ९ सूत्त हैं। ८ वर्गों के नाम इस प्रकार हैं (१) बोधि वर्ग (बोधि-

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कीसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देव-नागरी लिपि में सम्पादित, तथा उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, सारनाथ १९३७ ई०। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द. २४८२।

वर्ग), (२) मृत्तल्लिन्द वर्ग (मृत्तल्लिन्द वर्ग), (३) मन्द वर्ग (मन्द वर्ग), (४) मेघिय वर्ग (मेघिय वर्ग), (५) शोण-स्वविर-संबंधी वर्ग (शोणस्वविरस वर्ग), (६) आत्यन्ध वर्ग (अत्यन्ध वर्ग), (७) चूल वर्ग (चूल वर्ग), और (८) पाटलिग्राम वर्ग (पाटलिग्राम वर्ग) । प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक सूत्र में भगवान् का गाथा-बद्ध उदान है। शैली सरल है और सब जगह प्रायः एक सी ही है। उदाहरण के लिए पान्चम वर्ग के इस सातवें सूत्र को उद्धृत किया जाता है— "ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन-आराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् के पास ही आयुष्मान् कांधारेवत आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किए, कांधाओं से झुड़ हो गये अपने चित्त का अनुभव करते बैठे थे। भगवान् ने पास ही में आयुष्मान् कांधारेवत को आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किये, कांधाओं से झुड़ हो गए अपने चित्त का अनुभव करने देखा। इस ज्ञान, उस समय भगवान् के मुह से उदान के य शब्द निकल पड़े—

"लोक या परलोक में, अपनी या परायी,
(संसार सम्बन्धी) जितनी कांक्षाएं हैं,
ध्यानी उन सभी को छोड़ देते हैं,
तपस्वी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं।"

सब सूत्रों की यही शैली है। पहले कहानी या पृष्ठभूमि आती है, फिर बुद्ध का भावातिरेकमय वचन। कहीं कहीं कहानी अपनी प्रभावशीलता और मौलिकता भी लिये हुए है जैसे ३१२ में मन्द की कहानी, या २१८ में सुप्रवासा की कथा। कहीं कहीं, जैसा विटरनिन्द ने दिखाया है, उदानों के लिए उपर्युक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए संगीतिकारों ने कथाओं को अपनी तरफ से गढ़ा भी है जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है। विटरनिन्द के इस कथन से सर्वांग में सहमत होना अशक्य है। उदाहरणतः ८१९ में आयुष्मान् दम्ब जो एक महान् साधक और भगवान् बुद्ध के शिष्य थे, की निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भगवान् ने यह उदान किया "शरीर को छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई, सारी वेदनाओं को भी विलकुल

जला दिया। संस्कार शान्त हो गए, विज्ञान अस्त हो गया।" विद्वानित्त का कहना है कि ऐसे सम्भीर प्रवचन के लिए उपर्युक्त अवसर ठीक नहीं था। कम ही लोग इस विद्वानित्त के इस मत से सहमत हो सकते हैं। जित-जित अवसरों पर या जिस-जिस पृष्ठभूमि में बुद्ध के उद्गारों का 'उदान' में निकलना दिखलाया गया है, उन्हें हम ऐतिहासिक रूप से अधिकतर ठीक ही मानने के पक्षपाती हैं। अब हम प्रत्येक वर्ग को विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

"बोधि वर्ग" (वर्ग १) में भगवान् बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद के कुछ सप्ताहों के जीवन का वर्णन है। उस समय भगवान् विमृषित-सुख का अनुभव करने हुए बिहर रहे थे। इसी समय उन्होंने अनुलोम और प्रतिलोम प्रतीत्य-समुत्पाद का चिन्तन किया था। कुछ ब्राह्मणों को देख कर उन्होंने वास्तविक ब्राह्मण पर उद्गार किये। स्नान और होम में रत कुछ व्यक्तियों को देख कर भगवान् ने यह उद्गार भी किया, "स्नान तो सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई बुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही बुद्ध है, वही ब्राह्मण है।" "मूचलिन्द वर्ग" (वर्ग २) में भी भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के कुछ सप्ताहों बाद तक की जीवनी का वर्णन है, किन्तु यहां कुछ अलौकिकता से अधिक काम लिया गया है। मूचलिन्द नामक सर्पराज समाधिस्थ भगवान् बुद्ध के शरीर की वर्षा से रक्षा करने के लिए जो उस समय होने लगी थी, उनके शरीर को सात बार छपेट कर उनके ऊपर अपना फन फैला कर खड़ा हो गया, ताकि भगवान् की वर्षा का कष्ट न होने पावे। जिन घटनाओं का प्रथम और इस दूसरे वर्ग में वर्णन है, उनमें काल-क्रम का कोई तारतम्य नहीं है, क्योंकि प्रथम वर्ग के कुछ सूत्र भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति की बाद की अवस्था का वर्णन करते हैं और उसके बाद ही कुछ सूत्र सूचना देते हैं "एक समय भगवान् आवस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में बिहार करते थे"। (१।५; १।८; १।१०)। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में भी प्रथम सूत्र में तो भगवान् उदुबेला में तेरजना नदी के तीर पर ही बिहार करते हैं, किन्तु दूसरे सूत्र में वे आवस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में बिहार कर रहे हैं। बुद्धत्व के तीसरे वर्ष जेतवन-आराम का दान किया गया था। अतः ये घटनाएँ काफी बाद की हैं। इसी प्रकार भगवान् अन्य स्थानों में भी बिहार

करते दिखाये गए हैं, जैसे भृगुारमाता के पूर्वाराम प्रासाद में (२१५) या कुंडिया नगर के कुंडिधान वन में (२१८)। दूसरे वर्ग में हम भिक्षुओं को इस निरर्थक बात पर विवाद करते हुए पाते हैं कि "भगधराज बिम्बिसार और कोशलराज प्रसेनजित् में कौन अधिक धनी, सम्पत्तिशाली या अधिक सेनाओं वाला है।" भगवान् इसे सुन कर उन्हें कहते हैं "भिक्षुओं! तुम श्रद्धापूर्वक धर से बेघर होकर प्रवाजित हुए हो। तुम कुलपुत्रों के लिए यह अनुचित है कि तुम ऐसी चर्चा में पड़ो। भिक्षुओं! इकट्ठे हो कर तुम्हें दो ही काम करने चाहिए, या तो धार्मिक कथा या उत्तम मौन भाव।" इसी वर्ग में सुप्रवासा की कथा भी है। यह स्त्री गर्भ की असह्य पीड़ा में पड़ी थी। प्रसव न होता था। उसने सुन रक्खा था भगवान् दुःखों के प्रहाण के लिये धर्मोपदेश करते हैं। पति से कहा—भगवान् के चरणों में मेरा धिर से प्रणाम कहना, उनका कुशल-मंगल पूछना और मेरी दशा से अवगत कराना। उसके पति ने ऐसा किया। भगवान् ने अनुकम्पा-पूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय, बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" पति घर लौटा तो सुप्रवासा को सुखी और चंगी पाया, जिसने बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव कर दिया था। सारा घर सन्तोष और प्रमोद से भर गया। कृतज्ञता से भर कर सुप्रवासा ने एक सप्ताह भर तक बुद्ध-प्रभुसं भिक्षु-संघ को भोजन के लिये आमन्त्रित किया। भगवान् शिष्यों सहित उपस्थित हुए। सात दिन बीत जाने पर भगवान् ने सुप्रवासा से कहा, "सुप्रवासे! ऐसा ही एक और भी पुत्र लेना चाहती है?" सुप्रवासा ने प्रमोद में भर कर कहा "भगवन्! मैं ऐसे सात पुत्रों को लेना चाहूँगी।" भगवान् के मुह से उस समय उदान के ये शब्द निकल पड़े, "बुरे को अच्छे के रूप में, अप्रिय को प्रिय के रूप में, दुःख को सुख के रूप में प्रमत्त लोग समझा करते हैं।" बुद्ध के जीवन-दर्शन को समझने के लिये यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। बिट्ठरनिष्ठ ने कहा है कि यह कहानी यह भी दिखाती है कि बुद्ध-काल में ही बुद्ध-भक्ति के द्वारा लोग अपने कल्याण की कामना करने लगे थे। महारमाओं के वचनों और आशीर्वादों में मज्जल प्रसविनी शक्ति होती है, ऐसा विश्वास भारतीय जनता में प्रायः सदा से हो रहा है। अतः इसमें कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। विशेषता उस बात में है जो भगवान् ने बाद में सुप्रवासा की सात पुत्रों

वाली कामना को सुनकर कही। यह बात बुद्ध के मुख से ही निकल सकती थी। बुद्ध, जिसने अपने एकमात्र पुत्र का जन्म होते समय उसे अपने उदीयमान विचार-चन्द्र को प्रसने के लिये राहु समझ कर 'राहुल' नाम दिया, "राहु पैदा हुआ, वनघन उदा हुआ।" या तो 'प्रजया किं करिष्यामः' (हम सन्तान से क्या करेंगे) कहने वाले उपनिषदों के ऋषि या सम्बन्ध सम्बद्ध ही इतना ज्ञाता और निवृत्ति-परायण दृष्टिकोण ले सकते थे। १।८ में वर्णित आर्य संगम जी की कथा और २।७ में प्रेम को छोड़ देने का उपदेश, ऐसे ही निवृत्ति-परायण उपदेश हैं। नन्द-वर्ग (वर्ग ३) में विशेषतः भगवान् बुद्ध के मौमरे भाई नन्द की कथा है। जिस प्रकार यह विलासी युवक भगवान् के उपदेश से विरक्त बन गया, यही उसमें वर्णन किया गया है। यहाँ भी निवृत्ति का आदर्श ही सामने रखा गया है। नन्द पहले भगवान् की जामिनी पर अन्तराओं के लिये ब्रह्मवर्ग का पालन करता है। किन्तु ब्रह्मवर्ग का पालन करते-करते उसकी अन्तराओं सम्बन्धी इच्छा प्रहीण हो जाती है। भगवान् कहते हैं "नन्द ! जिस समय तुम्हारी सांसारिक आसक्ति से मुक्ति हो गई उसी समय में जामिनी से छूट गया।" कुछ अन्य कथाएँ और उद्गार भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं। ३।५ में मेहामौद्गल्यायन की कायगतासक्ति-भावना का वर्णन है। ३।१० में भगवान् ने कहा है कि अनासक्ति ही मुक्ति-मार्ग है। मेधिय-वर्ग (वर्ग ४) में मेधिय नामक भिक्षु की कथा है। यह भिक्षु भगवान् की सेवा में नियत था। एक दिन एक रमणीय आसन्न-वन देख कर इसने वहाँ जाकर योग-साधन करने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कहा "मेधिय ! दहरो, अभी मैं अकेला हूँ, किसी दूसरे भिक्षु को आ जाते दो।" मेधिय ने भगवान् के आदेश को न माना और ध्यान करने चला गया। किन्तु वहाँ जाकर जैसे ही ध्यान के लिये बैठा उसके मन में पाप-वितर्क उठने लगे। शाम को फिर भगवान् के पास लौटकर आया। भगवान् ने उसे ध्यान-सम्बन्धी उपदेश दिया। इसी वर्ग में भिक्षुओं पर अभिचार के मिथ्यारोप का वर्णन है (४।८)। इस अवस्था में भी वे शान्त रहते हैं और वाद में उनकी निष्ठापता सिद्ध हो जाती है। भगवान् का एक ग्वाले ने मत्तान और खीर से आतिथ्य किया, उसका भी वर्णन इस वर्ग में आता है (४।३)। आदिमियों की भीड़ से तंग आकर भगवान् को पालिलेन्यक के रक्षितवन में एकान्त-वास करते भी इस वर्ग में हम देखते

है (४१५) । भव-वृणा मिट जाने से ही मुक्ति होती है, इस अर्थ का एक उदाहरण भगवान् ने यहीं किया है (४११०) । पाँचवें वर्ग (शोण स्थविर सम्बन्धी वर्ग) में शोण नामक भिक्षु के संघ-प्रवेश, अर्हत्व-प्राप्ति आदि का वर्णन है । इसी वर्ग में कोशलराज प्रसेनजित् का बुद्ध के दर्शनार्थ जेतवन-आराम में जाना (५१२) तथा सुप्रबुद्ध नामक कोटी की उपासक (गृहस्थ-शिष्य) के रूप में दीक्षा (५१३) का भी वर्णन है । छठे वर्ग (जात्यन्ध-वर्ग) में जात्यन्ध पुरुषों को हाथी दिखाये जाने की कथा है । इस कथा का प्रवचन भगवान् ने धावस्ती के जेतवन-आराम में दिया । अनेक अन्धे हाथी को देखते हैं, किन्तु उसके पूरे स्वरूप को कोई नहीं देख पाता । जो जिस अंग को देखता है वह उसका वंसा ही रूप बताता है । "भिक्षुओ ! जिन जात्यन्धों ने हाथी के शिर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई बड़ा घड़ा' । जिन्होंने उसके कान को पकड़ा था उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूँप' । जिन्होंने उसके दाँत को पकड़ा था, उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूँटा' । जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई कोठी' आदि । इस प्रकार अन्धे आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और कहने लगे हाथी ऐसा है, वंसा नहीं, वंसा है, ऐसा नहीं । यही हालत मिथ्यामतवादों में फसे हुए लोगों की है । कोई कहते हैं 'लोक शादक्त है, यही सत्य है, दूसरा बिलकुल भ्रूट' कोई कहते हैं 'लोक अशादक्त है, यही सत्य है दूसरा बिलकुल भ्रूट' आदि ।" कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जुझे रहते हैं । (धर्म के केवल) एक अङ्ग को देख कर वे आपस में बिबाद करते हैं । "उपर्युक्त दृष्टान्त बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं । संस्कृत में भी 'अन्धगजव्याय' प्रसिद्ध है । जैन-साहित्य में भी यह सिद्धान्त विदित है । मानवीय बुद्धि की अल्पता और सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि से यह दृष्टान्त इतना महत्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसका उद्धरण अपने 'अखरावट' में दिया है "सुनि हाथी कर नाँव अंधन टोआ धायकै । जो देखा जेहि ठाँव मुहम्मद सो तैसेहि कहा ।" विश्व का धार्मिक साहित्य इस बहुमूल्य दृष्टान्त के लिये अपने मूल रूप में बौद्ध साहित्य का ही ऋणी है, इसमें बिलकुल भी सन्देह नहीं । सातवें वर्ग (चुलवर्ग) में अनेक स्फुट बातों का वर्णन है, यथा संकुटक भद्रिय नामक भिक्षु को सारिपुत्र का उपदेश (५१२) और

उसकी समाधि-प्राप्ति (७१५), महाकात्यायन की कायगता-मति की भावना (७१७) तथा कौशाम्बी के राजा उदयन के अन्तःपुर में अग्निकाण्ड की सूचना जिसमें रानी श्यामावती (सामावती) के साथ ५०० स्त्रियाँ जल मरीं (७१९) । आठवें वर्ग (पाटलि ग्राम-वर्ग) में निर्वाण-सम्बन्धी गम्भीर प्रवचन हैं । केवल एक को यहाँ उद्धृत किया जाता है "भिक्षुओ ! वह एक आयतन है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यापतन, न विज्ञानानन्त्यापतन, न आकिञ्चन्यापतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञापतन है । वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है । न तो में उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'मति' । न में उसे स्थिति और न व्युत्ति कहता हूँ । में उसे उत्पत्ति भी नहीं मानता । वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है । यही बुद्धों का अन्त है" (८११) आमुष्मान् द्रव्य के निर्वाण पर भगवान् ने जो उद्गार किया उसे हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं । बौद्ध निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिये 'उदान' का आठवाँ वर्ग भूरि भूरि पढ़ने और मनन करने योग्य है । भगवान् के जून्द सोनार के यहाँ अन्तिम भोजन करने का भी इस वर्ग में वर्णन है, जो महापरिनिर्वाण-सूत (दीप० २।३) के समान ही है ।

इतिवृत्तक^१

'इतिवृत्तक' लुहक-निकाय का चौथा ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में है । 'इतिवृत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा' । 'इतिवृत्तक' में भगवान् बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है । ये सभी प्रवचन अत्यन्त लघु आकार के और तैत्तिक विषयों पर हैं । 'इतिवृत्तक' का प्रायः प्रत्येक सूत्र इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है—"भगवान् (बुद्ध) ने यह कहा, पूर्ण

-
१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौस्तुभायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित । उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई० । इस ग्रन्थ के गद्य-भाग का अनुवाद प्रस्तुत लेखक ने 'ऐसा तथागत ने कहा' शीर्षक से किया है ।

पुरुष (तथागत) ने यह कहा, ऐसा मैंने सुना।" केवल ८१-८८, ९१-९८, और १००-१०१ संख्याओं के सूत्र इसके अपवाद हैं। बुद्ध-वचनों के उद्धरण की यह विशिष्ट शैली ही इस संप्रदाय के "इतिवृत्तक" (ऐसा तथागत ने कहा) नामकरण का आधार है।

'इतिवृत्तक' के विषय-संकलन और शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। 'इतिवृत्तक' के ११२ सूत्र चार बड़े बड़े वर्गों या निपातों में विभक्त हैं। पहले निपात में उन उपदेशों का संकलन है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे निपातों में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः दो, तीन और चार संख्याओं से है। इसीलिये इनके नाम भी क्रमशः एकक-निपात, द्वक-निपात, त्रिक-निपात और चतुष्क-निपात हैं। पहले निपात में २७ सूत्र हैं, दूसरे में २२, तीसरे में ५० और चौथे में १३। इस प्रकार सूत्रों की कुल संख्या मिलाकर ११२ है। विषय-संकलन की यह शैली आज क्रिश्चियन धर्म पड़ती है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के उस युग में जब सारा काम मौखिक रूप से (मुखपाठवसेन) ही चलता था, गणनात्मक संकलन और वर्गीकरण की यह पद्धति स्मृति के लिये बड़ी सहायक सिद्ध होती थी। फलतः बौद्धों और जैनों का अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी शैली में लिखा गया है। संस्कृत के सूत्र-साहित्य का भी उद्भावन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। 'इतिवृत्तक' की संख्याबद्ध शैली का ही विकसित रूप हमें अंगुत्तर-निकाय और बाद में अभिघम्म-पिटक में मिलता है। 'इतिवृत्तक' के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस गणनात्मक विधान ने उसके विषय-स्वरूप की स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचाई है। उसका अलंकार-विहीन सौन्दर्य हमें बुद्ध-वचनों को उनके उस नैसर्गिक रूप में, जिसमें वे उच्चरित किये गये थे, ठीक प्रकार देखने में सहायता देता है।

'इतिवृत्तक' की एक बड़ी विशेषता उसके अन्दर गद्य और पद्य दोनों का होना है। प्रत्येक सूत्र के आदि में पहले "ऐसा भगवान् ने कहा, ऐसा पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने कहा, ऐसा मैंने सुना" आता है। फिर गद्य में बुद्ध-वचन का उद्धरण होता है। फिर उसके बाद "भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है" इस प्रस्तावना के साथ कोई गाथा या गाथाएँ आती हैं, जिनका या तो बिल-

कुल वही अभिप्राय होता है जो गद्य-भाग का अथवा जो उसकी पूरक-स्वरूप होती है। शब्दों में भी बहुत थोड़ा ही हेर-फेर होता है, अक्सर गद्य-भाग को गाथा-बद्ध कर के रखा दिया जाता है। इस गाथा-भाग को भी बुद्ध-वचन की सी प्रामाणिकता देने के लिये उसका उपसंहार करते हुए अन्त में लिख दिया जाता है, 'यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।' इस प्रकार गद्य-भाग और गाथा-भाग दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। 'इतिवृत्तक' के धर्म्यक सूत्र की यही सीली है। इसका दिग्दर्शन करने के लिये एक पूरे सूत्र को उद्धृत कर देना आवश्यक होगा। एकक-निपात के इस तीसरे सूत्र को लीजिये—“ऐसा मैंने सुना—

भगवान् ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत) ने यह कहा, “मिश्रजो ! एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा। किस एक वस्तु को ? मिश्रजो ! मोह ही एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा।”

भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

जिस मोह के कारण मूढ़ बन कर प्राणी बुरी गतियों में पड़ते हैं, उसी मोह को तत्त्वदर्शी मनुष्य सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये छोड़ देते हैं, छोड़ कर, वे इस लोक में फिर नहीं आते।

यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।”

विद्वानों में इस बारे में कुछ मत-भेद है कि 'इतिवृत्तक' के गद्य और पद्य भाग में कौन अधिक प्राचीन या प्रामाणिक है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि संकलनकर्ता ने भी गद्य-भाग में रखे हुए अंश को ही बुद्ध-वचन के रूप में उद्धृत किया है और फिर उसकी व्याख्या-स्वरूप गाथा-भाग को जोड़ दिया है, जिसकी प्रशंसा माव करने के लिये ही उसने अन्त में यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना, जोड़ दिया है। वास्तव में, जैसा संकलनकर्ता ने स्वयं कहा है, गाथा-भाग वास्तविक बुद्ध-वचन का, जो गद्य में है, अर्थ (अर्थो) ही है। मूल-बुद्ध-वचन के साथ इस प्रकार उसकी अर्थ-कथा देने की प्रवृत्ति त्रिपिटक के कुछ अन्य अंशों में भी देखी जाती है। 'इतिवृत्तक' में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया जान पड़ता है। अतः 'इतिवृत्तक' के गाथा-भाग का उसके गद्य-भाग से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा 'उदान' के गद्य-भाग का उसके गाथा-भाग

के साथ । 'उद्दान' में गाथा-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है । उसकी पुच्छभूमि के रूप में ही वहाँ के गद्य-भाग का उपयोग है । कुछ कुछ इसी प्रकार 'इतिवृत्तक' में गद्य-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, जिसकी व्याख्या स्वयं ही गाथा-भाग की अवतारणा की गई है । अतः 'इतिवृत्तक' के पद्य-भाग की अपेक्षा उसके गद्य-भाग की ही प्रमाणवत्ता और प्राचीनता हमें अधिक मान्य होगी । शैली की दृष्टि से भी यही निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है । 'इतिवृत्तक' का गद्य सरल, स्वाभाविक और आलङ्कारिक कृत्रिमताओं से रहित है । अतः उसको मूल बुद्ध-वचन मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है । निःसन्देह यह भाग शास्ता के मुख से ही निकला हुआ है । एक एक शब्द वहाँ 'धर्म-मेघ' (धर्म की मेघ-बुद्ध) की वर्षा से अभी तक आद्र है । ए० जे० ए० मंडन के इस कथन से हम अधरशः सहमत हैं कि "यदि 'इतिवृत्तक' बुद्ध-वचन न हो तो और कुछ भी बुद्ध-वचन नहीं है ।" हमें 'इतिवृत्तक' को इसी गौरव-दृष्टि से देखना है ।

'इतिवृत्तक' के पहले निपात में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उन सुतों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध एक संस्था वाली वस्तुओं से है । इसी निपात में से एक पूरे सुत का उद्धरण पहले दिया भी जा चुका है । इसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या आदि पर भी सुत्र हैं । यह निपात तीन वर्गों में विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः १०, १० और ७ सूत्र हैं । इस निपात का मेलभाव-सुत (मैत्री-भाव सूत्र—१।३।७) तो भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है । उसके गद्य-भाग को उद्धृत करना यहाँ उपयुक्त होगा । भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ ! पुत्रजन्म के आधारभूत सब पुण्यकर्म मिलकर भी उस मैत्री भावना के जो चित्त की विमुक्ति है, सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होते । भिक्षुओ ! मैत्री भावना ही सब पुण्यकारी कर्मों से अधिक चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है । भिक्षुओ ! जैसे तारागणों का सारा प्रकाश मिलाकर भी एक चन्द्रमा के प्रकाश के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होता, ... —जैसे वर्षा के अल में शरद् ऋतु में जब अकाश साफ और मेघों से रहित होता है तो सूर्य वहाँ आरोहण कर अन्धकार-समूह को विच्छिन्न कर चमकता है, ... —जैसे भिक्षुओ ! रात के पिछले पहर में, प्रत्यक्ष काल के समय, शुक-

तारा चमकती है, ... भिक्षुओ ! यैसी भावना भी सब पृण्यकारी कर्मों के ऊपर चमकती है, प्रभासित होनी है, क्योंकि वह चित्त की विमृक्ति ही है ।”

सुत्त-निपात^१

सुत्त-निपात भी खुदक-निकाय का धम्मपद के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि हिन्दी में वह अभी इतना लोक-प्रिय नहीं हुआ जितना धम्मपद । फिर भी मौलिक बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ-रत्न का अत्यन्त ऊँचा स्थान है । अशोक ने भाव शिला लेख में जिन सात बुद्धो-पदेशों के नाम दिये हैं उनमें से तीन अकेले सुत्त-निपात में हैं, यथा मोनेय्य सुत्ते=नालक सुत्त; मनि गाथा=मनि सुत्त एवं उपतिसपसने=सारिपुत्त-सुत्त । सुत्त-निपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत अधिक समीप है । वैदिक भाषा की विविधरूपता और उसके अनेक प्रकार के व्यत्ययों का विवरण हम पहले दे चुके हैं ।^२ जिन अनेक प्रयोगों को बाद में चल कर संस्कृत ने छोड़ दिया, सुत्त-निपात में हमें ज्यों के त्यों मिलते हैं । संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है, पर चूँकि पालि विशेषतः जन-भाषा थी उसने

१. नागरी लिपि में डा० बापट द्वारा सम्पादित, पूना १९२४ । पर यह संस्करण आज कल अप्राप्य है । सन् १९३७ (बुद्धाब्द २४८१) में खुदक-निकाय के अन्य इस ग्रन्थों के साथ-साथ सुत्त-निपात का भी नागरी लिपि में सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भवन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जग-वीश काश्यप ने किया है । बर्मी बिहार सारनाथ (बनारस) द्वारा प्रकाशित । पर यह संस्करण भी अब नहीं मिलता । सुत्त-निपात के पाँच वर्गों में से प्रथम वर्ग (उरण वर्ग) का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है । साथ में मूल पालि भी दी है । प्रकाशक भिक्षु महानाम, मूलगन्धकुटी बिहार, सारनाथ (बनारस), बुद्धाब्द २४८८ (१९४४ ई०) । सुत्त-निपात के शेष भाग का भी अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है, और इस समय प्रेस में है । बंगला में पूरे सुत्त-निपात का अनुवाद भिक्षु शीलभद्र ने किया है, जो कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है ।

२. देखिए प्रथम परिच्छेद में पालि और वैदिक भाषा की तुलना ।

ऋग्वेद की भाषा के उन अनेक प्रादेशिक प्रयोगों को ले लिया है जो वहाँ विद्यमान हैं। अतः उसकी भाषा में पर्याप्त प्राचीनता है। अनेक भाषाओं में हमें इस प्रकार वैदिक भाषा के प्रभाव के लक्षण मिलते हैं। उदाहरणतः समूहतासे (गाथा १४) पञ्चायामे (१५), चरामसे, भवामसे (३२), आनुमान, सुवानि, सुवाना (२०१), अवीवदाता (३८४) जैसे प्राचीन वैदिक प्रयोग हमें मृत-निपात की भाषा में, विशेषतः उसकी भाषाओं की भाषा में, मिलते हैं। इसी प्रकार 'जनेत्वा' के स्थान पर 'जनेत्व' (६९५) और कुण्टिच्चस्सन्ति (३८४) जैसे प्रयोग भी बिल्कुल ऋग्वेद की भाषा के प्रयोग हैं। मृत-निपात की भाषाओं के छन्द भी प्रायः वैदिक हैं। अनाष्टुभ, त्रिष्टुभ, और जगती छन्दों की वहाँ अधिकता है और वैदिक छन्दों के समान गण का बन्धन भी नहीं है। भाषा के समान विचार के माध्यम से भी मृत-निपात की प्राचीनता सिद्ध है। वैदिक युग के देवपूजनवाद का पूरा चित्र हमें यहाँ मिलता है। उसका वर्णन इतना समीप है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही लिखा हुआ हो सकता है। भाषा और विचारों में सभी जगह एक निसर्गगत स्वाभाविकता और सरलता मिलती है जो बौद्धधर्म के विकास के प्रथम स्तर का पर्याप्त रूप से परिचय देती है। उसकी प्रभावशीलता भी इसीलिए अत्यन्त उच्चकोटि की है। बुद्धधर्म के नैतिक रूप का बड़ा सुन्दर चित्र हमें मृत-निपात में मिलता है। उरग-मुस में निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है :

यो उप्पत्तिं विनेति कोधं, विसत्तं सप्पविमं य ओसधेहि ।

सो भिक्खु जहाति औरपारं, उरगो विण्णमिव तच्च पुराणं ॥

जो भिक्षु बड़े क्रोध को, सप-विष को औषध की तरह, शान्त कर देता है, वह इस पार (अपने प्रति आसक्ति) और उस पार (दूसरे के प्रति आसक्ति) को छोड़ता है, साँप जैसे अपनी पुरानी कँचुली को। 'साँप जैसे अपनी पुरानी कँचुली को' कैसी सुन्दर उपमा है !

१. देखिये मृत-निपात (भिक्षु धर्मरत्न-कृत हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग) की वस्तुकथा में भिक्षु जगदीश काश्यप का 'मृतनिपात की प्राचीनता' सम्बन्धी विवेचन, पृष्ठ ३-५

धनिय-सुत में गृहस्थ-सुख और ध्यान-सुख की तुलना की गई है, जिसके उद्धारण का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। धनिय गीण पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि में समृद्ध है। वह एक सुखी गृहस्थ किसान है। वर्षा-काल में वह उद्गार कर रहा है :—

भात मेरा पक चुका। दूध दूह लिया। मही (मंडक) नदी के तीर पर स्वजनो के साथ बास करता हूँ। कुटी छा ली है। आम सुलमा ली है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

सखी मच्छर यहाँ पर नहीं है। कछार में उगी घास को गीबें चरती हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है। वह चिरकाल की प्रिय संगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मैं आप अपना ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उनके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गामिन गायें हैं और तरुण गायें भी, और सब के बीच वृषभराज भी है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मूँटे मजबूत गड़े हैं, मूज के पगड़े नये और अच्छी तरह बटे हैं, बैल-भी उन्हें नहीं तोड़ सकते। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के मगध-कोसल के किसान के सुखी जीवन का कसा सुन्दर चित्रण है, उसकी आवा-आकाआओं का कसा सुन्दर निरूपण है ! सामाजिक जीवन का यह चित्र, उसके सूत्र का यह आदर्श, आज भी उतना ही सत्य है जितना बृद्ध-काल में।

शेद की एक प्रार्थना में राष्ट्र की विभूति का चित्र खींचा गया है।^१ पर उसके रंग इतने गहरे नहीं हैं, उसकी रेखाएं इतनी और स्पष्ट नहीं हैं, जितनी सृत्त-निपात के वर्णन की। इतना होते हुए भी सूखी कृषक के जीवन का वर्णन सृत्त-निपात में केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में है, वह स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। उसका वर्णन यहाँ उससे बड़े एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है। उस सुख का उपभोग भगवान् बुढ़ कर रहे हैं। उनके उद्गारों को कृषक के उद्गारों से पंक्तिगत मिलाइये। मही नदी के तट पर खुले आकाश में बैठे हुए भगवान् उमड़ते हुए वादलों को देख कर प्रसन्न उद्गार कर रहे हैं :—

मे कोष और राग से रहित हूँ। एक रात के लिए मही नदी के तीर पर ठहरा हूँ। मेरी कुटी खुली है। अग्नि (रागाग्नि, द्वेषाग्नि, मोहाग्नि) बुझ चुकी है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मैंने एक अच्छी तरणी बना ली है। भव सागर को तर कर पार चला आया। अब तरणी की आवश्यकता नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मेरा मन वर्षाभूत और विमुक्त है, चिर काल से परिभावित और दान्त है। मुझ में कोई पाप नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मैं किसी का आकर नहीं। स्वच्छन्द सारे संसार में विचरण करता हूँ। मुझे चाकरी से मतलब नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

१. "आ ब्रह्मन्वाहूणो ब्रह्मवचंसो जायताम् बौगधो धेनुर्वोहाज्ज
इवान्ताशुः सन्तिः पुरन्धर्योषा निकामे-निकामे नः पञ्चन्यो वयंतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो नः कल्पताम्" । यजुर्वेद
२२।२२

मेरे न तरुण बँल हूँ और न बछड़े, न गाभित गाये हूँ और न तरुण गाये और सज के बीच यूपभराज भी नहीं । हे देव ! चाहो तो खुब बरसों ।^१

सांसारिक सुख और ध्यान-सुख को आमने-सामने रख कर कितनी सुन्दर तुलना है । सांसारिक मनुष्य कहता है 'उपधी हि नरस्म नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरुपधि' अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द के कारण है । जिन्हें विषय-भोग नहीं, उन्हें आनन्द भी नहीं । पर राग-विमुक्त महात्मा कहता है "उपधी हि नरस्म मोचना न हि सो मोचति यो निरुपधि" अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य की चिन्ता के कारण है । जो विषय-रहित है, वे चिन्तित भी नहीं । दोनों आदर्शों का इससे अधिक सुन्दर निरूपण, इस नाटकीय गति और संवाद-शैली के साथ, सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में नहीं मिल सकता । बौद्ध धर्म के आचार-तत्त्व के रूप की समझने के लिए भी यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार 'खग्गविसाण सुत्त' में एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है । 'एको चरे खग्गविसाण कप्पो' (अकेला बिचरे गेड़े के सींग की तरह) से अन्त होने वाली इन गाथाओं का सौन्दर्य भी अपना है ।

कसी भारद्वाज सुत्त में हम ५०० हल लेकर जोताई के काम में लगे हुए कृषि भारद्वाज नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् के प्रसिद्ध काव्यात्मक संवाद को देखते हैं । भिक्षा के लिए मौन खड़े हुए भगवान् को देख कर कृषि भारद्वाज कहता है "श्रमण ! मैं जोतता हूँ, बोता हूँ । श्रमण ! तुम भी जोतो, बोओ । जोताई-बोआई कर खाओ ।" भगवान् कहते हैं "ब्राह्मण ! मैं भी जोताई बोआई करता हूँ, जोताई बोआई कर खाता हूँ ।" (अहमिं खो ब्राह्मण कसामि च वपामि च कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि) आगे भगवान् ने अपने इस कथन की व्याख्या की है, जो बड़ी सुन्दर है । चन्द-सूत्त में भगवान् ने मग्गजिन (मार्ग जिन) आदि चार प्रकार के श्रमणों की व्याख्या की है । पराभव-सूत्त में पतन के कारणों

-
१. भिक्खु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ) ; भगवान् के इन उद्गारों के साथ मिलाइये 'शेरगाथा' में प्राप्त भिक्षुओं के इस प्रकार के उद्गार भी (आगे 'शेरगाथा' के विवेचन में)

को बतलाया गया है। वसल सूक्त में हम अग्नि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण को भगवान् के प्रति यह कहते सुनते हैं "मुण्डक ! वही ठहर ! अमण वही ठहर ! वृषल वही ठहर ! (तत्रैव मुण्डक, तत्रैव अमणक, तत्रैव वसलक निदृशाहीति)। भगवान् ने बिना क्रोध किए उस अग्निहोत्री ब्राह्मण को बतलाया कि वृषल किसे कहते हैं। लज्जित होकर ब्राह्मण भगवान् बुद्ध का जीवन-पर्यन्त उपासक (गृहस्थ-शिष्य) बना। हेमवत सूक्त में भगवान् बुद्ध के स्वभाष का वर्णन है। अन्य अनेक बातों के साथ कहा गया है कि उनका ध्यान कभी रिक्त नहीं होता—बुद्धों भानं न रिञ्चति। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है :

"उनका चित्त समाविस्थ है। सब प्राणियों के प्रति वे एक समान हैं। इष्ट और अतिष्ट विषयक संकल्प उनके मन में हैं।" आलवक सूक्त आलवक यक्ष के साथ भगवान् का संवाद है, जिसकी तुलना महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद से की जा सकती है। यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में कि सब रसों में कौन सा रस उत्तम है (कि सु हवे सादुतरं रसानं) भगवान् ने कहा है 'सर्वं हवे सादुतरं रसानं' अर्थात् सत्य ही सब रसों में उत्तम है।

ब्राह्मण वावरि और उनके शिष्यों के भगवान् से संवाद तो विश्व के दार्शनिक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार पञ्चज्या, पद्मान और नालक सूक्त भी अपनी आस्थानात्मक गीतात्मकता के साथ साथ दार्शनिक सम्भोरता में अपनी तुलना नहीं रखते। सूक्त-निपात की विषय-वस्तु पाँच वर्गों में विभक्त हैं (१) उरगवग्ग (२) वृल वग्ग (३) महावग्ग (४) अट्ठक-वग्ग और (५) पारायण वग्ग। प्रथम वग्ग में १२ सूक्त हैं, यथा (१) उरग (२) धनिय (३) खगविसाण (४) कसि भारद्वाज (५) सुन्द (६) परामव (७) वसल (८) मेत्त (९) हेमवत (१०) आलवक (११) विजय और (१२) मुनि। द्वितीय वर्ग में १४ सूक्त हैं, यथा (१) रसन (२) आमगन्ध (३) हिरि (४) महामंगल (५) सुखिलोम (६) धम्मचरिय (७) ब्राह्मण-भम्मिय, (८) जावा (९) किंसील (१०) उट्टान (११) राहुल (१२) वंगीस (१३) सम्मापरिचिञ्चाजिनिय और (१४) धम्मिक। तीसरे वर्ग में १२ सूक्त हैं, यथा (१) पञ्चज्या (२) पद्मान (३) सुभामित (४) सुन्दरिक भारद्वाज (५) माघ (६) समिय (७) सेल, (८) सल्ल

(९) वसिष्ठ (१०) कोकालिय (११) नालक और (१२) दामतानु-
पसता । चौथे वर्ग में १६ सूक्त हैं, यथा (१) काम (२) गृह्ठक (३)
हुट्टक (४) सूड्डक (५) परमट्टक (६) जरा (७) तिस्समे-
नेय्य, (८) पसूर (९) मागन्दिस्स, (१०) पुरामेद (११) कलहविवाद
(१२) चूल विपुह (१३) महाविपुह (१४) तुवट्ठक (१५) अत्तवच्च और
(१६) मारिपुत्त । पाँचवें वर्ग में ये १७ सूक्त हैं, (१) जल्लुगावा (२)
अजितमाणवपुच्छा (३) तिस्समेत्तेयमाणवपुच्छा (४) पुण्णकमाणवपुच्छा
(५) मेत्तमाणवपुच्छा (६) धोतकमाणवपुच्छा (७) उपसीवमाणव-
पुच्छा (८) नन्दमाणवपुच्छा (९) हेमकमाणवपुच्छा (१०) तोदथ्यमाणव-
पुच्छा (११) कणमाणवपुच्छा (१२) जतुकण्णिमाणवपुच्छा (१३) भद्रा-
वुत्तमाणवपुच्छा (१४) उदयमाणवपुच्छा (१५) पोसालमाणवपुच्छा (१६)
मोघराजमाणवपुच्छा और (१७) पिणियमाणवपुच्छा ।

यद्यपि सूक्त-निपात की साधकों के अनेक अंश, जिनमें आख्यान भी कहीं
कहीं कलात्मक सुन्दरता के साथ अनुविद्ध है, उद्धरण की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु
विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया जा सकता । वास्तव में सूक्त-निपात में सभी
कुछ इतना महत्त्वपूर्ण, सभी कुछ इतना आकर्षक है कि कुछ समझ में नहीं आता
कि उसकी सुन्दरता का क्या नमूना सामने रखा जाय । वह सत्र का सब बौद्ध-
साहित्य में जो कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसका नमूना
है । फिर भी पाँचवें वर्ग (पारायण वर्ग) में बृद्ध के समकालिक गोदावरी-
तटवासी प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण चावरि के १६ शिष्यों के भगवान् बृद्ध के साथ जो
उद्दान्त-सम्भोर संलाप हुए, उसका कुछ दिग्दर्शन तो आवश्यक ही है । यहाँ हम
देखेंगे कि वैदिक परम्परा के सच्चे साधकों ने भी बृद्ध को कितनी जल्दी पहचान
लिया था और उन्हें कितना ऊँचा स्थान दिया था ।

अजित-माणव-पुच्छा

(अजित) "लोक किससे उँका है ? किससे प्रकाशित नहीं होता ? किसे
इसका अभिलेखन कहते हो ? क्या इसका महाभय है ?"

(भगवान्) "अविद्या से लोक उँका है, प्रमाद से प्रकाशित नहीं होता ।

तृष्णा को अभिलेपन कहता हूँ। जन्मादि दुःख इसके महाभय हैं।"

(अजित) "चारों ओर सोते बह रहे हैं। सोतों का क्या निवारण है? सोतों का ढँकना बतलाओ, किससे ये सोते ढाँके जा सकते हैं?"

(भगवान्) "जितने लोक में सोते हैं, स्मृति उनका निवारण है। सोतों की की रोक प्रज्ञा है, प्रज्ञा से ये रोके जा सकते हैं।"

(अजित) "हे मार्प! प्रज्ञा और स्मृति नाम-रूप ही हैं। यह पूछता हूँ, बतलाओ, कहीं यह नाम-रूप निरुद्ध होता है?"

(भगवान्) "अजित! जो तूने यह प्रश्न पूछा, उसे तुझे बतलाता हूँ, जहाँ पर कि सारा नाम-रूप निरुद्ध होता है। विज्ञान के निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।"

पुण्यक-माणव-पुच्छा

(पुण्यक) "हे तृष्णा-रहित मूल-दर्शों! मैं आपके पास प्रश्न के सहित आया हूँ.....जिन ऋषियों ने यज्ञ कल्पित किये, क्या वे यज्ञ-यय में अ-प्रमादी थे? हे मार्प! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवान्! तुम्हें यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।"

(भगवान्) "वे जो हवन करते हैं, लाभ के लिए ही कामों को जपते हैं। वे यज्ञ को योग से भद्र के राग से रपत हो, जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।"

(पुण्यक) "हे मार्प! यदि योग के योग (आसक्ति) से यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए तो हे मार्प! फिर लोक में कौन देव-मनुष्य जन्म-जरा को पार हुए, तुम्हें हे भगवन्! मैं पूछता हूँ। मुझे बतलाओ?"

(भगवान्) "लोक में बार-बार को जात कर, जिसको लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं, जो शान्त, धूम-रहित, रागादि-विरत और आशा-रहित है वह जन्म-जरा को पार हो गया—मैं कहता हूँ।"

मेत्तगू-माणव पुच्छा

- (मेत्तगू) "हे भगवान् ! मैं तुम्हें पूछता हूँ, मुझे यह बतलाओ, तुम्हें मे जानी (वेदगू-वेदज्ञ) और भावितात्मा समझता हूँ। जो भी लोक में अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे कहाँ से आये हैं ?"
- (भगवान्) "दुःख की इस उत्पत्ति को पूछते हो। प्रज्ञानुसार में उसे तुम्हें कहता हूँ। तृष्णा के कारण ही लोक में अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं।"

धोतक माणव पुच्छा

- (धोतक) "हे भगवान् ! तुम्हें यह पूछता हूँ, महर्षि ! तुम्हारा वचन सुनना चाहता हूँ। तुम्हारे निर्वाण को सुन कर मैं अपने निर्वाण को सीखूँगा।"
- (भगवान्) "तो तत्पर हो... स्मृतिमान् हो, यहाँ से वचन सुन तुम अपने निर्वाण को सीखो।"
- (धोतक) "मैं तुम्हें देव-मनुष्य-लोक में मिलाभ होकर बिहरने वाला ब्राह्मण देखता हूँ। हे समन्तचक्षु ! (चारों ओर आँखें घाटे) तुम्हें मैं ममस्कार करता हूँ। हे शक ! मुझे वाद-विवाद से छुड़ाओ।"
- (भगवान्) "हे धोतक ! लोक में मैं किसी वाद-विवाद-परायण (कर्त्रकधी) को छुड़ाने नहीं जाऊँगा। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जान कर तुम इस ओघ (भव-सागर) को तर जाओगे।"
- (धोतक) "हे ब्रह्म ! कष्टना कर विवेक-धर्म को मुझे उपदेश करो, जिसके अनुसार मैं यहीं शान्त और विमुक्त हो कर बिचरूँ।"
- (भगवान्) "धोतक ! इसी शरीर में प्रत्यक्ष धर्म को बतलाता हूँ, जिसे जान कर, स्मरण कर, आचरण कर, तू लोक में अशान्ति से तर जायगा।"

कप्प-माणव पुच्छा

- (कप्प) "बड़ी भगवत्क बाढ़ में सरोवर के बीच में खड़े, मुझे तुम द्वीप (शरण-स्वान) बतलाओ, जिससे वह संसार फिर न हो।"

(भगवान्) "हे कण्व । तुझे द्वीप बतलाता हूँ । अकिंचनता ही सर्वोत्तम द्वीप है । इसे मैं जरा-मृत्यु-विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ ।" आदि, आदि ।

विमानवत्सु और पेतवत्सु

विमानवत्सु (विमानवस्तु) का अर्थ है विमानों या देव-आवासों की कथाएँ । इसी प्रकार पेतवत्सु का अर्थ है प्रेतों की कथाएँ । विमानवत्सु और पेतवत्सु में क्रमशः देवताओं और प्रेतों की कथानियों के द्वारा कर्म-फल के सिद्धान्त का प्राकृत-जनोपयोगी दिग्दर्शन कराया गया है । देवता प्रकाश-रूप हैं । वे सुन्दर आवासों में रहते हैं । स्वर्ग-लोक नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से पुरित है । इसके विपरीत प्रेत-योनि दुःखमय है । प्रेतों को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं । इस जन्म में जो नाना प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप मृत्यु के उपरान्त क्रमशः देवताओं या प्रेतों की गतियाँ प्राप्त होती हैं । यह दिखाने के लिए ही विमानवत्सु और पेतवत्सु की रचना की गई है । इस प्रकार बौद्ध नैतिक-वाद ने यहाँ पौराणिक परिधान ग्रहण कर लिया है । ऐसा लगता है नैतिक प्रबोधन के लिए बौद्धों ने स्वर्ग-नरक मय प्राचीन पौराणिकवाद को स्वीकार कर लिया है । किन्तु स्वर्ग का लक्ष्य उन्होंने गृहस्थ-जनों के लिए ही रखा है । भिक्षु का पद इससे बहुत अधिक ऊँचा है । वह तो निर्वाणका अभिलाषी है । स्वर्ग-लोक भी उसके लिए एक बन्धन है, कामनाओं की तृप्ति का ही एक साधन है । वह तो कामनाओं से ऊपर उठ कर, मनुष्य और देवता सब का ही अनुशासक है । अतः यह ठीक ही है कि किसी भी भिक्षु को शुभ कर्म के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते 'विमानवत्सु' में नहीं दिखाया गया । केवल सद्गृहस्थ ही शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं और वहाँ नाना प्रकार के रमण, जीड़ा दिव्य माल्य-धारण आदि का उपभोग करते हैं । 'विमानवत्सु' में ८५ देव-आवासों

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बृद्धचर्या, पृष्ठ ३७३-३८४ में अनुवादित ।
२. देवनागरी लिपि में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कोसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०))

(विमानों) का वर्णन है, जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग का नाम 'पीठ वर्ग' है। इसमें १७ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शेष ६ वर्गों में जिनके नाम क्रमशः 'चित्तलता वर्ग', 'पारिच्छलक वर्ग', 'मज्जेद्वय वर्ग', 'महारथ वर्ग', 'पायासि वर्ग' और 'सुनिविलस वर्ग' हैं, क्रमशः ११, १०, १२, १४, १० और ११ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। केवल नाम और पीठों से आमोद-प्रमोदों को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक देव-आवास के वर्णन की शैली और मूल भावना एक ही है। कोई देवता किसी आवास-विशेष में आमोद-प्रमोद करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसे देख कर कोई भिक्षु (सोगल्लान) उससे पूछता है "हे देवते ! तू सुन्दर वर्ण से युक्त है। अपने शुभ वर्ण से तू शुक-तारा के समान सारी दिशाओं को आलोकित कर रहा है। मनुष्यों को प्रिय लगने वाले सारे भोग तुझे प्राप्त हैं। हे महानुभाव देवते ! मैं तुझसे पूछता हूँ—मनुष्य होते हुए तूने क्या पुण्य किया था जिसके फलस्वरूप तुझे ये सब भोग मिले—“पुच्छामि ते देवि महानुभावे मनुस्सभुता किमकामि पुञ्ञं.....यस्स कम्मस्सिदं फलं।” देवता प्रसन्न हो कर अपने मनुष्य रूप में किए हुए पुण्यादि का वर्णन करता है—“महानुभाव भिक्षु ! मनु, मैं तुझे अपने मनुष्य-रूप में किए हुए पुण्य को बतलाता हूँ। प्राण-हिंसा से विरत, मृषावाद से विरत, संयत, सदा शील से संवृत हो कर मैं चक्षुष्मान्, यशस्वी, मोक्षम का उपामक भूँ..... इसी कारण मेरा यह शुभ वर्ण है। इसी कारण मैं दिशाओं को आलोकित कर रहा हूँ।” सब वर्णनों की प्रायः यही बातगी है। बौद्ध धर्म में जन-साधारण के लिए जिस नीति-विधान का आदर्श रक्खा गया है उसी का दिव्यदर्शन ये करते हैं। अधिक काव्यमय नवीनता इनमें न होते हुए भी वे केवल उस नैतिक गुणों को जिन्हें बौद्ध धर्म में सद्गुहस्थों के लिए साधारणतः आदरणीय माना गया है, बार बार हमारी स्मृति में अङ्कित करने का प्रयत्न करते हैं। आज इससे अधिक विज्ञानवत्त्व के वर्णनों का महत्व हमारे लिए नहीं माना जा सकता। उनकी पौराणिक पृष्ठभूमि तो निश्चय ही बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास की सूचक है, अतः उसे बृद्ध-शासन का उतना आवश्यक अंग मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। काव्यात्मक गुण भी उनके अन्दर अधिक नहीं हैं। 'पेठवत्त्व' में ५० श्रेतों की कहानियाँ हैं, जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) पेठवत्त्व,

(२) उरग पेतवत्थु, (३) उज्जरी पेतवत्थु और (४) धातु विवण्ण पेतवत्थु। 'पेतवत्थु' में प्रेतों की कहानियों को द्वारा यह दिखाया गया है कि किस-किस दुष्कर्म के कारण परलोक में क्या-क्या दुःख भोगने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए एक भिक्षु की कथा देखिए। भिक्षु नारद किसी प्रेत से पूछते हैं—'तेरी सम्पूर्ण काया शुभ्र है। तू सारी दिशाओं को अपने कान्त वर्ण से आलोकित भी कर रहा है। किन्तु तेरा मुख शूकर का है। तूने पूर्व जन्म में क्या कर्म किया था ?'^१ प्रेत उत्तर देता है 'नारद ! मैं काया से संयत था, किन्तु वाणी से अमंयत था। इसी लिये नारद ! मेरा यह ऐसी अवस्था है जिसे तू देखता है। हे नारद ! जैसा तुमने स्वयं देखा है, मैं भी तुम्हें कहता हूँ—मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हें भी कहीं शूकर के मुख वाला न होना पड़े।'^२ इस प्रकार शुभ कर्म का परिणाम मरने के बाद शुभ और अशुभ कर्म का अंशुभ होता है, इसी नैतिक सत्य को क्रमशः 'विमानवत्थु' और 'पेतवत्थु' में दिखलाया गया है।

धेरगाथा^३ और धेरीगाथा^४

धेरगाथा और धेरीगाथा बुद्धक-निकाय के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन दो ग्रन्थों में क्रमशः बुद्धकालीन भिक्षु और भिक्षुणियों के पक्व-बढ़ जीवन-संस्मरण हैं।

१. काये ते सब्बतोवण्णो सब्बा ओभासते विसा । मुखं ते सूकरास्स एव कि कम्मं अकरी पुरे ।
२. कायेन सञ्जतो आसि वाचा आसि असञ्जतो । तेन मे तादिसो वण्णो यथा पस्ससि नारद ।
तं त्यहं नारद भूमि सायं दिट्ठं इदं तया । मा कासि मुखसा पापं मा लो सुकर-
मुखो अहं ति । पेतवत्थु (क्षेत्तूपमा पेतवत्थु)
३. ४. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, अद्वैत आत्मन्द कौस्तुभायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है जिसे भिक्षु उत्तम ने बृद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०) में प्रकाशित किया है। प्रोफेसर भागवत ने भी धेरीगाथा का सम्पादन नागरी लिपि में किया है, जिसे बम्बई विश्व विद्यालय ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है। 'धेरीगाथा'

शेरीगाथा में २५५ भिक्षुओं के उद्गार हैं, जब कि शेरीगाथा में ७३ भिक्षुणियों के। शेरीगाथा में १२७९ गाथाएँ (पद्य) हैं जो २१ निपातों (वर्गों) में विभक्त हैं। शेरीगाथा में ५२२ गाथाएँ हैं जो १९ निपातों में विभक्त हैं। वास्तव में शेरीगाथा से शेरीगाथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि यहाँ भिक्षुणियों की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट झलकती है। शेरीगाथा में अन्तर्गत अनुभवों की बहुलता है, जबकि शेरीगाथा में अधिक ध्वनि प्रधान है। शेरीगाथा में सूरम्य प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है। भिक्षुओं के ध्यान के प्रसंग में ये वर्णन वहाँ स्वभावतः आ गए हैं। किन्तु भिक्षुणियों ने अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर ही अधिक पर्यवेक्षण किया है। दोनों के ही उद्गारों में जीवन के कष्ट, पक्ष के अनुभव की अधिक अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा नहीं है। बुद्ध-शामन का अवलम्बन या कष्ट दोनों ने ही उस गंभीर और शान्त सुख का स्पर्श किया है, जो जीवन की विषमताओं और कष्टताओं को धो ल डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सूचक बनता है। किसी किसी भिक्षु के शब्दों में नारी के प्रति विरक्त भाव भी है। इसी प्रकार किसी किसी भिक्षुणी ने पुरुष के द्वारा उस पर किये गए अत्याचार का भी दुःखपूर्वक स्मरण किया है। मानव-जीवन की ये सामान्य विषमताएँ हैं। इनसे हमें किसी विशेष सिद्धान्त को यहाँ निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अब हम शेर और शेरी गाथाओं से कुछ उद्धरण दे कर उनकी विषय-वस्तु की विशेषताओं को स्पष्ट करेंगे। स्वविर आनुम अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैंने बुद्ध, दुःखी, व्याधि से मारे हुए, समाप्त आपु-संस्कार वाले, पुरुष को इन आँखों से देखा। उस इन (दुःखों) से निष्क्रमण पाने के लिए मैंने सारे मनोरम भोगों को छोड़ कर प्रव्रज्या ले ली।" स्वविर बलिय का अनुभव भी मार्मिक है "मेरे बाल बगाने के लिए साईं मेरे पास आया।

का अनुवाद (परमत्पक्षिपती के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों के सहित, लेखक ने किया है, जो संस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो चुका है)।

१. जिष्णञ्च विस्वा मुक्खितञ्च व्याधितं मतञ्च विस्वा गतमायुसंलयं ।
ततो अहं निक्खमित्तुं पव्वजि पहाय कामानि मनोरमानि ॥गाथा ७३

उसके हाथ से दर्पण ले कर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता की मैंने देखा। मेरा अन्धकार वहीं विदीर्ण हो गया। अहंकार का बन्ध फाड़ डाला गया। सारे आवरणों से मैं अब विमुक्त हो गया। अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।" १ एक क्षिप्य पुरुष बुद्ध-शासन को सुन कर किस प्रकार प्रवर्जित हो गया है, यह स्वविर किम्बिल के शब्दों में सुनिये, "पूरे चित्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के शृंगार-साधन में लगा रहता था। मैं उद्वत था, चपल था, एवं काम-वासना से पूरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्य-वश भगवान् बुद्ध ने, जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल है, अपने उपदेश से मुझे सत्य पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।" २ स्वविर-गन्द का गम्भीर अनासक्त भाव देखिये, "चित्त समाधि-मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि-मग्न नहीं है तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ ही है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है और दूसरे इसकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है, तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।" ३

बसन्तुतः 'धेरगावा' की दो बड़ी विशेषताएँ हैं, मिश्रओं के आन्तरिक अनुभव का वर्णन और उनका प्रकृति-दर्शन। मिश्रओं ने संस्कारों की अनित्यता को देख कर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उनके लिए सब से बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषादमय दृष्टिकोण।

१. केसे मे ओल्लिखिस्सन्ति कप्पको उपसंक्रमि । ततो आदासं आदाय सरीरं पच्च-
वेविससं । तुच्छो कायो अदिसित्थ, अन्धकारे तमो व्यगा । सज्जे चोला
समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवो' ति " ॥ गाथाएँ १६९-१७०

२. अयोनिसोमनसोकारा मण्डनं अनुपुञ्जसं । उद्धतो चपलो चासि कामरागेन
अदिठ्ठो । उपापकुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चवन्धुना । योनिसो पटिपज्जित्वा
भवे चित्तं उद्वह्निहन्ति ॥ गाथाएँ १५७-१५८

३. परे च नं पसंसन्ति अत्ता चे असमाहितो । मोघं परे पसंसन्ति अत्ता हि धस-
माहितो ॥

परे च नं गरहन्ति अत्ता चे सुसमाहितो । मोघं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमा-
हितो ॥ गाथाएँ १५९-१६०

वै केवल ज्ञान और गम्भीर है। अनासक्ति उनके जीवन का मुख्य लक्षण है। विन्हीं विषयों को वसन के समान छोड़ दिया है, सुख-दुःख जिनके लिए अर्थाहीन हो गए हैं, शीत और उष्ण जिनके लिए समान हैं, ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का वर्णन ही हमें 'वैराग्या' में मिलता है। भिक्षु-जीवन के आदर्श की धर्म-सेवापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में व्यक्त करते हुए अपने विषय में कहा है :—

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।

कालञ्च पटिकङ्कामि सम्पत्तानो पटिस्सतो ॥

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।

कालञ्च पटिकङ्कामि निम्बिसं भत्तको यथा ॥^१

(न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। ज्ञान पूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। काम करनेके बाद अपनी मजूरी पाने की प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ)

धर्मसेनापति सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर महामोग्गल्लान स्वविर ने संस्कारों की अनित्यता पर जो भाव प्रकट किए हैं, वे भगवान् के उन महाशिष्य के हृदय के अन्तःस्थल तक हमें ले जाते हैं। 'अनिच्छा वत संसारा' का उद्गार करते हुए महा-मोग्गल्लान स्वविर कहते हैं—

तदासिधं भिसनकं तदासि लोमहत्तमं ।

अनेकाकारसम्पन्ने सारिपुत्तमिह निम्बुते ॥^२

यह भीषण हुआ, यह रोमांचकारी हुआ। अनेक ध्यान-समापत्तियों से सम्पन्न सारिपुत्र परिनिर्बृत्त हो गये !

१. गाथाएँ १००२-१००३; स्वविर संक्षिप्त ने भी इन श्रावों की पुनरावृत्ति की है, गाथाएँ ६०६-६०७ और अंशतः स्वविर तिसभ ने भी, गाथा १९६; मिलिन्दव्रश्न में भी इन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। देखिये मिलिन्द-व्रश्न, पृष्ठ ५५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. गाथाएँ ११५८-११५९।

भिक्षुओं ने स्त्री के कामिनी-रूप पर विजय प्राप्त की है। उसके प्रलोभनों में वे नहीं आ सकते, ऐसा उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा है।^१ एक अलंकृता, सुवसना, मालाधारिणी, चन्दन लेप किये हुए नर्तकी को महापथ के बीच में मृत्यु-मान करते हुए भिक्षु ने देखा है। उसी समय उसने वासना के दुष्परिणाम पर चिन्तन किया है, अशुभ-भावना की है, और इस प्रकार अपने चित्त को विमुक्त किया है।^२ स्त्री के रूपादि की आसक्ति को भिक्षुओं ने सब दुःख का कारण माना है।^३ यमगान में स्त्री के सङ्गते हुए सरीर को ह्रमि आदि से खाये जाते हुए देख कर उन्होंने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की है और सत्य का दर्शन किया है।^४ स्त्री की काया के ही नहीं, उन्होंने अपनी काया के भी अशुभ, मुच्छ रूप

१. सचे पि एतका भिद्यो आगमिस्सन्ति इत्थियो ।

नेव मं क्याधिपिस्सन्ति चम्मे स्वम्हि पतिट्ठतो ॥ गाथा, १२११

२. अलंकृता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा ।

मग्गे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी ॥ गाथा, २६७

ततो मे मनसीकारो ततो चित्तं विमुच्चि मे ॥ २६९-७०;

मिलाइये गाथाएँ ४५९-४६५ भी जहाँ 'पैरों में महावर लगाये हुए' (अल-
तकृता पादा) सुवसना, अलंकृता, स्मित करती हुई वेश्या ने भिक्षु के सामने
गृहस्थ-जीवन में प्रवेश का प्रस्ताव रक्ता है 'अहं वित्तं वदामि ते' (मे तुम्हें
धन देती हूँ) यह कहते हुए, पर भिक्षु के उसे मृत्यु का पाश समझ कर अशुभ
की भावना की है और सत्य का साक्षात्कार किया है। "काम-वासना से
दुष्परिणाम देख कर मैंने चित्तमल-रहित अवस्था को प्राप्त कर लिया"
(कामेस्वादीनवं पत्तो मे आसवक्खयो—गाथा ४५८); मिलाइये
"अकेन पुत्तमादाय भरिया मं उपागमि ततो मे मनसीकारो

ततो चित्तं विमुच्चि मे", आदि गाथाएँ २९९-३०१ भी

३. इत्थिरूपे इत्थिरसे फोढब्बे पि च इत्थिया । इत्थिगग्गेसु सारत्तो विविधं
चिन्दते दुखं ॥ गाथा ७३८

४. अपविद्धं सुवानस्मिं लज्जन्ति किमिहो फुटं ।

आतुरं असुचि पूति पसस कुल्ल समुस्सयं । गाथा ३९३ मिलाइये 'धिरत्थु पूरे

का दर्शन ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए किया है।^१ एक भिक्षु ने हमें बताया है कि भिक्षु होने से पहले वह एक राज-पुरुहित का पुत्र था और जाति-मद और भोग और ऐश्वर्य के मद से मतवाला रहता था, किन्तु अब उसका सब मान, मद और अस्मिमान छूट चुका है और वह प्रसन्न और शान्त है।^२ इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु ने हमें बताया है कि पहले राजा होते समय किस प्रकार उसके हाथी की घीवाओं में सुदम वस्त्र लटकते थे, पर वही आज परिग्रह-रहित मुक्त से ध्यान करता है। उच्च मंडलाकार बृह अट्टलिकाओं और कोठों में वह पहले हाथ में शङ्ख धारण किये सिपाहियों और पहरेदारों द्वारा रक्षित होते हुए भी प्राप्तपूर्वक सोता था, पर आज वही जिना किसी प्रास के, सम्पूर्ण भयों से विमुक्त हो कर वन में प्रवेश कर ध्यान करता है।^३ एक दूसरे भिक्षु (शीलव) ने हमें बताया है कि वह पहले नीच कुल में उत्पन्न हुआ था। दरिद्र था और भोजन भी नहीं पाता था। सब्जियों को बीन बीन कर वह बेचता था और अपनी जीविका कमाता था। उसका कर्म हीन था। अपने मन को नीचा कर के वह अनेक मनुष्यों की वन्दना करता था। एक दिन भिक्षु-संघ के साथ भगवत् के उत्तम नगर (राजगृह) में प्रवेश करते हुए भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को उसने देखा। वह आगे

दुग्गन्धे . . . आदि गाथा २७९ तथा गाथा ११५० भी ।

१. यस्मादासं गृहेत्वा न प्राणवत्सनपत्तिया । पच्चवेनिसं इमं कार्यं सुच्छं सन्तरवाहिरं ॥ गाथा ३९५

२. जातिमदेन मत्तोहं भोगैसरियेन च । मानं मदञ्च छुद्देत्वा विप्पसज्जेन चेतसा । अस्मिमानो समुच्छिन्नो सच्चं मानधिपा हता ॥ ४२३-४२८

३. या तं मे हत्थिगीवाय सुल्लमा यत्था पधारिता ।

सोज्ज भद्दो भायति अनुपदानो

उच्चं मण्डलियाकारे बल्लहमट्टालकोट्ठके ।

रक्खितो लम्माहत्थेहि उत्तसं विहरि पुरे ॥

सोज्ज भद्दो अनुप्राप्ती पहीनभयनेरवो ।

भायति वनमोगह्य ॥ ८४२-८६४ ॥

बड़ कर भगवान् की वन्दना करने लगा। पुरुषोत्तम (बुद्ध) उस पर कृपा करके स्वयं स्वर्ग हो गए। फिर सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्त्रा ने उससे कहा "आ भिक्षु" यही उसकी उपनम्यता हुई। आज भिक्षु की यह हालत है कि इन्द्र और ब्रह्मा भी आकर अञ्जलिर्वाह कर उसको प्रणाम करते हैं। भिक्षुओं के आन्तरिक जीवन का एक अनूठा चित्र हमें स्वविर तालपुट के आत्मोद्गार में मिलता है। इस भिक्षु ने अपने चित्त को सम्बोधन कर कुछ महतीय उद्गार किए हैं जिनकी तुलना समर्थ रामदास के 'मनाने श्लोक' और गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों से अच्छी प्रकार की जा सकती है। वैसे तो तालपुट स्वविर द्वारा उच्चरित सभी गायार्ण (१०९१-११४५) उद्धरणीय हैं, परन्तु यहाँ स्वानाभाव से केवल कुछ का उद्धरण ही उपयुक्त होगा। स्वविर तालपुट अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, 'हे चित्त ! जैसे फल की इच्छा करने वाला मनुष्य वृक्ष को लगाकर फिर उसकी जड़ को ही तोड़ने की इच्छा करे, उसी प्रकार हे चित्त ! मुझको चले और अनित्य इस संसार में लगातार तू वैसा ही करता है ! १. . . . हे चित्त ! सर्वत्र ही तू मेने तेरे वचन को किया है, अनेक पूर्व

१. नीचे कुलम्हि जातोहं बलिहो अप्पभोजनो ।

होनं कम्मं ममं आसि अहोसि पुण्णइत्थको ॥६२

नीचं मनं करित्वान् वन्दिस्त्वं बहुकं जनं ॥६२१

अब अहोसि सम्बुद्धं भिक्षुसंघपुरस्सतं पविसन्तं महावीरं मगधानं पुर-
त्तमं ॥ ६२२

निक्खपित्वान् ध्यामंगि वन्दितुं उत्तपसंकांमि ।

ममेव अनुकम्पाय अट्ठासि पुरिसुत्तमो ॥६२३

ततो कारुणिको सत्त्वा सज्जलोकानुकम्पको । एहि भिक्षूति मं आह सा मे
आसुपसम्पदा ॥६२५

..... इन्द्रो ब्रह्मा च आगत्वा मं नमस्सितु पञ्जलि ॥६२८

२. रोपेत्वा क्वशानि यथा फलेसो मूले तदं छेत्तु तमेव इच्छसि ।

तत्पुपमं चित्त इदं करोसि यं मं अनिक्खम्हि चले निपुञ्जसि ॥११२१

जन्मों में भी तो मैंने तुझे कभी कुपित नहीं किया। तू मेरे ही अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए कृतज्ञतावश हे चित्त ! मैंने तेरे लिए चिरकाल तक दुःख में संसरण किया है^१ ! हे चित्त ! तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजपि । हे चित्त ! तेरे ही कारण वैश्य और शूद्र बनते हैं और देवत्व भी पाते हैं तेरे ही कारण ! हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं नरक-योनियों भी तेरे ही कारण हैं । हे चित्त ! पशु-पक्षी की योनियों और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है^२ । धिक् ! धिक् ! हे चित्त ! अब तू आगे का क्या करना चाहता है । अब तू मुझे अपना वशवर्ती बना न सकेगा ।”^३ यही भिक्षु आगे कामना करता है :—

कदा नु हं दुःस्वप्ननेन वृत्तो ततो निमित्तं विममो न हेस्सं ।

अथो पसट्ठो पि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे ॥^४

अर्थात्—कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदासीन नहीं हूँगा, और इसी प्रकार अपनी प्रशंसा किये जाने पर उसके कारण प्रसन्न भी नहीं हूँगा—क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? आदि, आदि ।

अपने पुत्र भिक्षु को बुढ़ के साथ देखकर एक पिता उसका अभिनन्दन करता है :—

१. सच्चत्थं ते चित्तं वचो कतं मया बहूस्स जातिसु न मे सि कोपितो । अज्झस-सम्भवो कतञ्जलाय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते ॥११२६

२. तवेव हेतु असुरा भवामसे, त्वं मूलकं नेरयिका भवामसे । अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव बाहसा ॥११२८

त्वञ्ज्जेवमो चित्तं करोसि ब्राह्मणो त्वं क्षत्रिया वापि राजविसो करोसि ।

वेस्सा च सुहा च भवाम एकदा, देवत्तनंवापि तवेव बाहसा ॥११२७

३. धी धी परं किं मम चित्तं काहंसि न ते अलं चित्तं वसानुवत्तको । ११३४;

मिलाइये नाहं अलं तुम्ह वसे निवत्तितुं । ११३२

४. गाथा ११००; मिलाइये तुलसीदास “कबहुँक हौ यहि रहनि रहौंगो ।

परुष वचन अति दुसह खवन सुनि तेहि पावक न बहौंगो । धिगतमान, सम सौतल मन” विनय-पत्रिका ।

जैसे पर्वत-गुफा में दो सिंह एक दूसरे को देखकर नाद करें, उसी प्रकार दोनों जानी एक दूसरे का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं :—मार को सेना-सहित जीत कर हम दोनों वीरों ने संग्राम विजय किया है ।^१

अपने प्रव्रजित पुत्र को देखकर माता विलाप करती है । पुत्र उसे सम-भाता हुआ कहता है :—माता ! मृत पुत्र के लिए माता रो सकती है, अथवा उस पुत्र के लिए भी जो जीवित होते हुए भी उसे दिखाई नहीं देता, अनुपस्थित है । माता ! मैं तो जीवित हूँ और तू मुझे सामने देख भी रही है । फिर माता ! मेरे लिए तू रोदन क्यों करे ?

मृतं वा अम्म रोदन्ति वो वा जीवं न दिस्सति ।

जीवन्तं मं अम्म दिस्सन्ती कम्मा मं अम्म रोदसि ॥^२

पर्वत-गुफाओं में ध्यान करते हुए अनेक भिक्षुओं के चित्र हमें 'खेरगाथा' में मिलते हैं । पाण्डुकूल धारी (मृदङ्गी धारी) भिक्षु पर्वत-गुफा में सिंह के समान सुशोभित हैं—'सोमति पंसुकुलेन सोहो व गिरिमब्भरे' ।^३ इसी प्रकार भिक्षु को अचल, ध्यानस्व अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है : जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत निश्चल और सुप्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु का मोह नष्ट हो चुका है, वह अचल पर्वत के समान कम्पित नहीं होता ।

यथापि पच्चतो सेलो अचलो सुपत्तिरिठतो ।

एवं मोहक्खया भिक्खु पच्चतो' व न वेधति ॥^४

इस प्रकार भिक्षु-जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूप के अनेक चित्र हमें 'खेरगाथा' में मिलते हैं । उनके आन्तरिक अनुभवों और ध्यानी जीवन का पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है ।

१. नन्दन्ति एवं सपञ्ज्जा सोहा व गिरिमब्भरे ।

वीरा विजितसंगामा जेत्वा मारं सवाहनं ॥ गाथा १७७

२. गाथा ४४

३. गाथा १०८१

४. गाथा १०००

भिक्षुओं ने अपनी साधना में प्रकृति का कितना सहयोग लिया था, इसका भी पूरा दर्शन हमें 'धेरगाथा' में मिलता है। 'धेरगाथा' में इस प्रकार वन्य और पार्वत्य दृश्यों के तथा वर्षा और गरुद् आदि ऋतुओं के जितने सुन्दर, संश्लिष्ट चित्र प्रसंगवश आ गये हैं, वे उसकी एक विभूति बन गये हैं। 'धेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य में केवल बाल्मीकि के इस विषय-सम्बन्धी वर्णनों से की जा सकती है। उसकी उदात्तता, सरलता और सूक्ष्म निरीक्षण सब अद्वितीय हैं। विन्टरनिल्ड ने 'धेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों को 'भारतीय गीति-काव्य के सच्चे रत्न' कहा है^१। प्रस्तुत लेखक ने 'पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन' शीर्षक लेख में पालि साहित्य, विशेषतः 'धेरगाथा', में प्राप्त प्रकृति-वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य-साहित्य में उसके स्थान को निर्धारित किया है।^२ अतः यहाँ केवल संक्षेप से ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से सहरे रूप में सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, पुआल-पुन अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही^३ कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा, शीत आदि ऋतुओं के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगों और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है, इसके अनेक चित्र वे 'धेरगाथा' में हमारे लिए छोड़ गये हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन करना यहाँ आवश्यक होगा।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया में बंठा है। हाँ, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है :—

१. "The Real Gems of Indian Lyric Poetry" इन्डियन लिटरेचर, जिल्ड दूसरी, पृष्ठ १०६

२. धर्मवृत्त, अप्रैल-मई १९५१

३. वर्षा होने वाली है। भगवान् मही (गंडक) नदी के तट पर खुली कुटिया (विबटा कुटि) में बंठे हैं। देखिये सुत्त-निपात्, गाथा १९ (धनिय-सुत्त)

बरसो देव ! यथासुखं बरसो !

मेरी कुटिया छाई हुई है ।

(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है ।

मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है ।

(कामासक्ति से) विमुक्त हो चुका है ।

निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है ।

बरसो देव ! यथा सुखं बरसो !^१

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इससे भी अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !

मेरी कुटिया छाई हुई है !

(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !

उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ मैं बैठा हूँ ।

बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !

मेरी कुटिया छाई हुई है !

(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !

उसमें शान्त-चित्त मैं ध्यान कर रहा हूँ !

वीत-राग ! वीत-द्वेष ! वीत-मोह !

बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !^२

१. छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं ।

चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा' ति । गाथा १

२. वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ।

तस्सं विहरामि वूपसन्तो, अथ वे पत्थयसि पवस्स देव ॥

वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ।

वीतरागो वीतदोतो वीतमोहो . . . अथ वे

पत्थयसि पवस्स देवा' ति ॥ गाथाएँ ३२५-३२९

‘वसति देवो यवा सुधीते’ (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !) कैसी सुन्दर उपमा है ! प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनाज प्रत्यक्षीकरण है ! कड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की श्रमता बीतराग भिक्षु में है । पर ध्यान का सूत्र तो इससे भी बड़ा है :

पञ्चविंशकेन तुरियेन न रतिं ह्यति तादिसी ।

यथा एकमाचित्तस्त सप्ता धम्म विपस्सतो ॥^१

(पञ्चविध तुर्यध्वनि (सङ्गीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा एकाग्र चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है) अतः ध्यान का सूत्र ही भिक्षु के लिए सब से बड़ा सूत्र है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए इसी ध्यान का उद्दीपन बनता है ।

वर्षाकाल है । सुन्दर नीली घीवा वाले, कल्लंगीचारी मोर अपने सुन्दर मुँहों से बोल रहे हैं । कितनी मधुर है उनकी गज्जन ! विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है । सारी सृष्टि जल से व्याप्त है । आकाश में जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए हैं । ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है । बृद्ध-आसन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है । यदि प्रकृति में उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है । उसे भी उत्साह होता है अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दश, उत्तम, अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए । वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच ध्यानस्थ भिक्षु के इस पराक्रम को देखिये :—

नन्वन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो ।

सुसह्ला चापि महा महो अयं सुव्यापितम्बु सुबलाहकं नभं ॥

सुकल्लरुषो सुमनसा भाषितं सुनिक्कमो साधु सुबुद्धसासने ।

सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुदुहसं कुसाहितं उत्तममच्चतुपदं ॥^२

छतके नीचे बैठे हुए, मिव परिजनादि से घिरे हुए, सांसारिक मनुष्यके समान वर्षा का सौन्दर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नहीं थी ।

१. माथा ३९८, मिलाइये माथा १०७१

२. माथाएँ २११-२१२

उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था जैसे उसके सधुर गीत के समान स्वयं ही होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयंकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश में गड़गड़ाहट रहती है। भयंकर मूसलाधार वर्षा और आकाश में निरन्तर बिजली की गड़गड़ाहट ! पर भिक्षु को भय कहीं ? निभयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है। अतः उसे न भय है, न स्तम्भ है और न रोमांच ! स्थविर सम्बुल कक्षात के अनुभव को उनके शब्दों में ही सुनिये :

देवो च वससि देवो च गलंगलायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मधुं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहत्सो वा ॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स
भेरवे बिले विहरतो नत्थि भयं वा
छम्भितत्तं वा लोमहत्सो वा ॥^१

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषतः ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रम्यो है। सुन्दर घोंवा वाले मोरों का बोलना और एक दूसरे को बुलाना भिक्षुओं के लिए ध्यान का निमंत्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते हैं :

नीला सुगीवा मोरा कारंविषं अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्तं भास्यं निबोधेन्ति ॥^२

इसी प्रकार सणक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर ध्यान के लिए बैठ जाना एक पवित्रताकारी वस्तु है। महास्थविर अपने

१. गाथाएँ १८९-१९०; निभयता-विहार के लिए देखिये स्थविर न्यग्रोध का का उद्गार भी "नाहं भयस्स भायामि सत्था नो अमत्तस्स कोविदो। यत्थं भयं नावतिट्ठति तेन मग्गेन वजन्ति भिक्षवो ॥ गाथा २१

२. गाथा २२

प्रकृति-प्रेम और उससे उत्पन्न ध्यान की इच्छा का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं। उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं,

और उनकी खोहें वर्षा के अन्धकार से ढंकी हुई हैं ! उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

इस नदी के दोनों ओर जामुन के पेड़ हैं, वहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा ? महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर अन्ध अनेक निर्भरिणियाँ सुशोभित हैं। जगे हुए मंडक मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है।

बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और श्रेमकारी है ! मैं यहाँ ध्यान करूँगा ।^१

‘नाञ्ज गिरिनदीहि विष्णुवाससमयो’ (आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है) इस उद्गार में भिक्षु ने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है, जो आज तक विश्व-साहित्य में कहीं भी व्यक्त हुई है।

१. यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्य मेघस्य भयेन तज्जिता ।

पलेहिति आलयमालयेतिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं ॥

यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्य मेघस्य भयेन तज्जिता ।

परियेसतिलेन मलेन इस्तिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं ॥

कषु तस्य न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तर्हि, सोभेन्ति आपणा

कूलं महालेनस्य पच्छतो ॥

ताम्रतमवसं घसुष्पहोना भेका मन्दवती पनादयन्ति

नाञ्ज गिरिनदीहि विष्णुवाससमयो,

तेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति ॥ गाथाएँ, ३०७-३१०

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उससे अधिक आनन्द और कुछ नहीं है, ऐसा साध्य देते हुए एक स्थविर साधक ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है :

जब आकाश में मेघों की हुन्दुमी खजती है और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं ;

उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है ।

जब कुसुमों से आच्छादित नदियों के . . .

किनारे पर बैठ कर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है ।

जब एकान्त वन में, अर्द्ध रात्रि में, बादल मड़मड़ा रहा है और शूकर दहाड़ रहे हैं,

उस समय पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है । *

इसी परमानन्द की प्राप्ति करने के लिए एक भिक्षु गिरिज (राजगृह के समीप गुप्तकूट पर्वत) जाने का इच्छुक है ।

अहो ! कब मैं वृद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊँगा !

योगियों की प्रसन्नताकारी मत्त, कुंजरों से सेवित,
रमणीय, उस वन में मैं कब प्रवेश करूँगा !

- १ . यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला बिहंगपथे समन्ततो ।
भिक्षु च पद्भारगतो व भाषति ततो रति परमतरं न चिन्दति ॥
यदा नदीनं कुसुमाकुलान् . . .
तीरे निसिन्धो सुमनो व भाषति ततो रति परमतरं न चिन्दति ॥
यदा निसीधे रहितमिह कामने बेश्वे गच्छन्तमिह नदन्ति दाठिनो ।
भिक्षु च पद्भारगतो व भाषति ततो रति परमतरं न चिन्दति ॥
गाथाएँ ५२२-५२४

उस सुपुष्पित शीत वन में, गिरि और कन्दराओं में,
कब मैं अकेला चंक्रमण करूँगा ।

अकेला, बिना साथी के, उस रमणीय महावन में,
एकान्त, शीतल, पुष्पों से आच्छादित पर्वत पर,
विमुक्ति-मुख से सुखी, मैं गिरिव्रज में कब विचरण करूँगा । १

एक दूसरे स्वविर (तालपुट) की भी इस इच्छा को देखिये :

कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज के) पर्वत-कन्दराओं में
ध्यान करता हुआ विचरूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? २

कब मैं एकान्त वन में विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय
विचरूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? ३

कब मैं वन के उन भागों पर जिन पर ऋषि (वृद्ध) चले, चला हुआ, और
वर्षा काल के मेघ नये जल की वृष्टि सचीवरभूषण पर करते होंगे ! क्या कभी
मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? ४

कब मैं वन और गिरिगुहाओं में कलंगीधारी मयूर पक्षियों की मधुर ध्वनि

१. हन्व एको गमिस्सामि अरञ्जं बुद्धवज्जितं । भाषा ५३८

योगिनीतिकरं रम्भं मतकुञ्जरसेवितं । ५३९

सुपुष्पिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे ।

..... चंक्रमिस्सामि एकको ॥५४०

एकाकियो अदुतिपो रमणीये महावने । ५४१

चिने कुसुमसञ्छन्ने पम्भारे नून सीतले ।

विभुत्तिनुत्तेन सुखितो रमिस्सामि गिरिव्वजे ॥५४५

२. कदा नु हं पम्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतिपो विहस्सं । तं मे

इदं तं नु कदा भविस्सति ॥१०९१

३. विपत्समानो वीतभयो विहस्सं एको वने तं नु कदा भविस्सति ॥१०९३

४. कदा नु मं पावसकालमेधो नवेन तोयेन सचीवरं मे । इत्तिण्णपातम्हि पधे वज्जतं
ओवस्सते, तं नु कदा भविस्सति ॥११०२

को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान करेगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?^१

फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है :

हे चित्त ! उस गिरिगञ्ज में अनेक विचित्र और रंग विरंगे पक्षधारी पक्षी हैं । सुन्दर नीली शीवा वाले मोर हैं । (इन्द्र के घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते हुए) वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते हैं । हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहाँ विचरेगा तो ये तुम्हें कितने प्रीतिकर होंगे !^२

सये वर्षाजल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में ध्यान लगाते हुए^३, मयूर और कौच के रव से पूरित उस वन में, हाथी और व्याघ्रों के सामने बसते हुए,^४ हे चित्त ! तू भू ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होंगे ।^५

एक दूसरे ध्यानी भिक्षु को भी पर्वत कितने प्रिय हैं ।

करेरि-वृक्षों की पंक्तियों से आपूर्ण, मनोरम भूमिभाग वाले

कुंजरों से अभिरुद्ध, रमणीय—ये पर्वत मुझे प्रिय हैं ।

नीले आकाश के समान वर्ण वाले, सुन्दर, शीतल जल

से परिपूर्ण, पवित्रताकारी

हाथियों के शब्दों से परिपूर्ण—ये पर्वत मुझे प्रिय हैं !

मुझ ध्यानेच्छ, आत्मसंगमी, स्मृतिमान् भिक्षु के लिये पर्याप्त,

मृग समूहों से सेवित ।

१. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने दिजस्स सुत्वा गिरिगञ्जरे रतं । पच्चट्ठहित्वा
अमरस्स पट्टया संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति ॥११०३॥

२. सुनीलगीवा सुसिद्धा सुपेक्षणा सुचिन्तपत्तच्छदना बिहंगमा । सुमञ्जुधोसत्त्व-
निताभिगण्डिज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि भायिनं ॥११३६॥

३. नवाम्बुना पावुससित्तकानने तहि गुहापेहगतो रमिस्सति । ११३५

४. मयूरकोट्ठाभिरुद्धम्हि कानने दीपीहि वयपेहि पुरस्सतो वसं । १११३

५. ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि भायिनं ॥११३६॥ आदि

अनेक पक्षि-समूहों से आकीर्ण—वे पर्वत सुने प्रिय हैं^१ ।
शीतकाल का पुरा अनुभव लेते हुए भी ध्यानी भिक्षुओं की द्रुम 'वेरगाथा'
में देखते हैं :

हेमन्त की शीतल काल रात्रि है !

खाल की भी गार करने वाली, मन की भी विदीर्ण करने वाली, ठंडी
हवा है !

भिक्षु ! तू कैसे करेगा ?

मैंने सुना है मगध निवासी लोग शस्त्रों की पूर्णता से सम्पन्न हैं । उनका
जीवन सुखी है । मैं भी उनके समान सुख अनुभव करता हूँ ।

शीत की यह रात में इस पुञ्जाल-पुञ्ज में लेटकर बिताऊँगा ।^२

इसी प्रकार एक दूसरे भिक्षु ने 'चारों ओर मनोरम द्रुम फूले हुए हैं'
(द्रुमानि फुल्लानि मनोरमानि—गाथा ५२८) आदि रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन
कर^३ 'कालो इतो पक्कमनाय वीर' (हे वीर ! यह प्रक्रमण करने का समय
है) इस प्रकार ध्यानमयी प्रेरणा दी है ।

भगवान् ने मध्य रात्रि में उठ कर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का

१. करेरिमात्तावितता भूमिभागा मनोरमा । कुञ्जराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति
मं ॥१०६२

नीलभवण्णा रुचिरा वारिसीता सुविन्धरा ॥१०६३

वारणाभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६४

अलं भ्रायितुकामस्स पहितत्तस्स मे सतो ॥१०६५

मिगसंघनिसेविता ।

नानादिजगणाकिण्णा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६९

२. छविपापक चित्तभट्टक हेमन्तिक शीतकालरत्तियो भिक्षु खं सि कथं
करिस्सत्ति ॥सम्पज्जसस्सा मगधा केवला इति मे सुतं । पलालच्छन्नको सेव्यं
पयञ्जं सुखजीविनो ॥२०७—२०८

३. वसन्त ऋतु के सुन्दर वर्णन के लिए देखिये वेरीगाथा, गाथार्थ ३७१-३७२
आदि भी ।

आदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु का कहना है :

न ताव सुपितं होति रत्ति नववस्तमालिनी ।

पट्टिजगितुमेवेसा रत्ति होति विजानता ॥^१

यह ताराओं से भरी रात सोने के लिए नहीं है। जानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है।^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेषतः बग्य और पावंत्य प्रकृति के अनेक सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हमें 'बेरगाथा' में मिलते हैं। वेरगन्तर जातक (संख्या ५४३) में भी हमें ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं। महर्षि वाल्मीकि को छोड़कर ऐसे संश्लिष्ट वर्णन किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने नहीं किये हैं। जितना श्रम और बिगाड़ इन प्राकृतिक वर्णनों में 'बेरगाथा' में मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में नहीं। विद्वत्-साहित्य में प्रकृति का वर्णन अधिकतर कवियों ने राग के उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वाल्मीकि के समान उदात्त वर्णन करने वाले कवि बहुत कम हैं। हिन्दी के कवियों ने प्रायः संस्कृत के उत्तर-कालीन कवियों का अनुसरण कर प्रकृति को शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ही चित्रित किया है। आधुनिक कवि और साधकों को वाल्मीकि की ओर देखने के साथ-साथ रागसमनकारी 'बेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों की ओर भी देखना चाहिये।

'बेरीगाथा', जैसा अभी कहा गया, ५२२ पालि श्लोकों (गाथाओं) का संग्रह है जिसमें ७३ बृद्ध बौद्ध भिक्षुणियों के उद्गार संनिहित हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सब से बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि, इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्गारों का एक एक शब्द उच्छ्वसित है। यहाँ संगीत

१. गाथा १९३

२. मिलाइये, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" गीता २।६९

भी हैं और जीवन का सच्चा दर्शन भी । निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते हुए भिक्षुणियाँ कभी थकती नहीं । जीवन की विषमताओं पर वे अपनी विजय का ही गीत गाती हैं । "अहो ! मैं कितनी सुखी हूँ ! " यही उनके उद्गारों की प्रतिनिधि ध्वनि है । बार बार उनका यही प्रसन्न उद्गार होता है "सीति-भूतम्हि निव्वृता" अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई, निर्वाण की परम-शान्ति का मैंने साक्षात्कार कर लिया । भिक्षुणियों की भाषाओं में निराशावाद का निराकरण है, साधनालब्ध इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा है । बूढ़-शासन की भावना से ओतप्रोत है, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं । 'शेरीगाबा' की भावना-शैली से परिचित होने के लिये महाप्रजापती गौतमी की भगवान् बूढ़ के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि देखिये—

हे बूढ़ ! हे वीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार !

जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबार ।

मेरे सब दुःख दूर हो गये, उनके मूल कारण वासना का भी उच्छेदन कर दिया गया !

आज मैंने दुःखनिरोध-गामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में विचरण किया ।

माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्वं जन्मों में अनेक बार बनती रही !

यथाथं ज्ञान न होने के कारण मे ल्हातार संसार में घूमती रही । अब मैंने इस जन्म में उन भगवान् (बूढ़) के दर्शन किये, मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम दरीर है !

मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है ।

~~~~~  
बहुतों के हित के लिये ही महामाया ने गौतम को जाना ।

जिसने व्याधि और मरण से आकुल जन-समूह के दुःख-पूज को काट दिया ।

एक अन्य भिक्षुणी (चन्द्रा) अपने पूर्व के दुःख-मय जीवन का प्रत्यक्षेक्षण करती हुई कहती हैं—

विषया और निःसन्तान—मैं पहले बड़ी मसीबत में पड़ी थी,

निव-साथी मेरे कोई नहीं थे, जाति-बन्धु मेरे कोई नहीं थे ।

भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी ।



लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर से घर भिक्षा मांगती फिरती थी,  
 गर्मी और सर्दी में व्याकुल हुई, में सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही,  
 एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन मुझे हुए,  
 उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुग्रहीत किया,  
 फिर मैंने उसके पास जाकर प्रार्थना की—  
 मैं प्रव्रज्या लूंगी ।

उस दयामयी पटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी ।  
 फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परमार्थ में लगवाया ।  
 उसके उपदेश को सुनने के बाद मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया ।  
 अहो ! अमोघ या देवी का उपदेश !

मैं आज तीनों विद्याओं को जानने वाली हूँ, सम्पूर्ण चित्त-मलों से रहित हूँ !  
 पटाचारा भिक्षुणी की शिष्या तीस भिक्षुणियाँ किस प्रकार उसके प्रति अपनी  
 कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती हैं, यह उनके उद्गारों में देखिये—

“लोग मुसलों से अन्न कूट कूट कर वित्तार्जन करते और अपने स्त्री-पुत्रादि  
 का पालन करते हैं ।”

तो फिर तुम भी बुद्ध-शासन को पूरा क्यों नहीं करती,  
 जिसे कर के पछताना नहीं होता !”

अभी शीघ्र पैर धोकर बैठ जाओ,

चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर बुद्ध-शासन को पूरा करो ।”

पटाचारा के शासन के इन इन शब्दों को सुनकर हम सब पैर धोकर एकान्त  
 में ध्यान के लिये बैठ गईं ।

चित्त की समाधि से युक्त होकर हमने बुद्ध-शासन को पूरा किया ?

रात्रि के प्रथम याम में हमने पूर्व-जन्मों का स्मरण किया !

रात्रि के मध्यम भाग में हम ने दिव्य चक्षुओं को विशोधित किया ! रात्रि  
 के अन्तिम भाग में अन्धकार-युग को विनाश कर दिया ।

भिक्षुणी अम्बपाली ने अपनी बृद्धावस्था में अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण कर जो  
 उद्गार किये हैं, वे तो पालि-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं । अम्बपाली  
 अपने जीर्ण शरीर को देख कर कहती हैं—

किसी समय भीरे के समान कृष्ण वर्ण और घना मेरा केशपाश और सघन उपवन सी मेरी यह वैणी, पुष्पाभरणों और स्वर्णालंकारों से सूरभित और सुशोभित रहा कभी थी, वहीं आज जराबस्था में इतत, गन्धपूर्ण, बिखरी हुई, जीर्ण सग के वर्तनों जैसी भर रही है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन मिथ्या नहीं होते !

साह नील मणियों से समृद्ध, ज्योतिपूर्ण नेत्र आज धोभा बिहीन हैं !

नवयौवन के समय मुँदीपें नासिका, कर्णद्वय और कदर्यो-मूकुल के सदृश पूर्ण की दन्तपंक्ति शमनः कुलकनी और भग्न होती जा रही है ।

वनवासिनी कोकिला के समान मेरा मधुर स्वर और चिकने शंस की भाँति सुघट शीवा आज कम्पित हो रही है ।

स्वर्ण-मंडित उँगलियाँ आज अशक्त एवं मेरे उन्नत स्तन आज दुलकते शुक चर्म मात्र हैं ।

स्वर्ण मूपुरों से सुशोभित पैरों और कटि-प्रदेश की गति आज धी-बिहीन हैं । आदि

प्रायः सभी निबन्धियों के उद्गारों में काव्यगत द्विधोषताएँ भरी पड़ी हैं, जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता । निश्चय ही निबन्धियों के उद्गारों की मार्मिकता और उनकी खान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय है और पालि-काव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति ही है । जिन ७३ निबन्धियों के उद्गार 'धेरीगाथा' में सन्निहित हैं, वे सभी बद्धकालीन हैं । जल्कि यों कहना चाहिये, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ हैं । नारी जाति के प्रति भगवान् की कितनी अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक अपने को 'बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कन्या' (ओरसा धीता बुद्धस्स) कह कर अभिनन्दित करती थीं । वे मासती थी कि 'जब चित्त सुसमाहित है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा (इतिभावो नो

कि कबिरा चित्तभिहू सुसमाहिते (गाथा ६१) । फलतः निर्वाण-प्राप्ति में उनका अधिकार था और उसे प्राप्त भी उन्होंने किया था, जिसके साक्ष्य-स्वरूप उन्होंने अपने उद्गार भी किये हैं । महाराज बुद्धोदय की मृत्यु के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने अपनी विमाता महाप्रजापती गौतमी को भिक्षुणी होने की अनुमति दे दी थी । उसके साथ पचास सौ अन्य शाक्य-महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई थी । कालान्तर में भिक्षुणियों का एक अलग संघ ही बन गया था और नाना कुलों और नाना जीवन की अवस्थाओं से प्रव्रजित होकर उन्होंने शाक्य-मुनि के पाद-मूल में बैठकर-साधना का मार्ग स्वीकार किया था । इन्हीं में से कुछ भिक्षुणियाँ अपने जीवना-नृभवों को हमारे लिये छोड़ गई हैं जो 'धेरीगाथा' के रूप में आज हमारे लिये उपलब्ध हैं । किस उद्देश्य से, किन कारणों से, किस सामाजिक परिस्थिति में, प्रत्येक भिक्षुणी ने बुद्ध, धम्म और संघ की शरण ली थी, इसका विस्तृत विवरण तो 'धेरीगाथा' की अर्थकथा 'परमत्थदीपनी' में उपलब्ध है, जो पचासवीं शताब्दी ईसवी की रचना है । इसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में यह दिखाया जा सकता है कि किन नाना कारणों से इन भिक्षुणियों ने घर को छोड़कर प्रव्रज्या ली । इनमें से कुछ, जैसे मुक्ता (२) और पूर्णा (३) अपनी ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता के कारण प्रव्रजित हुई । कुछ ने घर के काम कान और दोषों से ऊब कर प्रव्रज्या ली, जैसे मुक्ता (११) मुक्ता (५६) और वृभा (७०) । धम्मदिग्ग (१६) ने पति की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली । धम्मा (१७) मंत्रिका (२४) दन्तिका (३२) मिह्ता (४०) मुजाता (५३) पूणिका (६५) रोहिणी (६७) वृभा (७१) चिवा (२३) सुक्ला (३४) अम्बपाली (६६) अनोपमा (५४) तथा शोभा (२८) ने शास्ता में श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली । प्रिय-जनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेने वाली भिक्षुणियों में श्यामा (३६) उर्विरी (३३) किता गौतमी (६३) वामेट्ठी (५१) सुन्दरी-नन्दा (४१) चन्दा (४९) पटाचारा (४७) तथा महाप्रजापती गौतमी हैं । पुत्रों की अकृतज्ञता योणा (४५) की प्रव्रज्या का कारण हुई । भद्रा कुण्डलकेशा और ऋग्गिदामी ने अकृतज्ञ, घने पतियों के कारण प्रव्रज्या ली । पति का अनुसरण कर भद्रा कागिलायिनी और चापा प्रव्रजित हुई । इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला, उपचाला और शिरापचाला प्रव्रजित हो गई ।

बुद्ध-शिल्प को पराजित न कर सकने पर विमला प्रवर्जित हो गई। जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुल-शील आदि का सम्बन्ध है, वे प्रायः सभी परिस्थितियों की थी। उदाहरणतः खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोशल और मगध के राजवंशों की महिलाएँ थीं। महाप्रजापति गौतमों, तिष्ठा, अजि-कृपासन्दा, सुन्दरी सन्दा, जेन्ती, सिद्धा, तिष्ठा, धीरा, मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्यावरी, शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तों की लड़कियाँ थीं। मैत्रिका, अन्वतरा उत्तमा, चाला, उपचाला, जिज्ञापचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा, भद्रा कापिलायिनो, सुक्ता, तन्दा, सकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और सोभा ब्राह्मण-वंश की थीं। गृहपति और वैश्य (सेठ) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, स्वामा, उर्वरी, सुक्ला, चम्पादिशा, उत्तमा, भद्रा कुण्डलकेशा, पदाचारा, सुजाता, अनोपमा और पूर्णिका थीं। अहङ्कारी, अभय माता, विमला और अम्बपाली जैसी मणिकाएँ थीं। इसी प्रकार शुभा बड़ई की पुत्री और चपा एक बहेलिये की लड़की थी। सारांश यह कि अनेक कुल-शीलों से स्त्रियों ने बुद्ध-शामन में दीक्षा ग्रहण की थी। 'धेरीगाथा' में सन्निहित इनके उद्गारों और उनमें प्रतिध्वनित इसकी पूर्व जीवन-वर्षाओं से पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु 'धेरीगाथा' का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है, जिसके विषय में पीछे काफी कहा जा चुका है।

हम देखते हैं कि प्रकृति-वर्णन की ओर जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओं की है, उतनी भिक्षुणियों की नहीं। 'धेरीगाथा' में केवल शुभा भिक्षुणी की गाथाओं में वसन्त का वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर, संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्ठभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अधुजल-संचित जल-बुद्बुद मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकाल कर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए ही यहाँ पृष्ठभूमि रूप में वसन्त का वर्णन किया गया है। वसन्त की शोभा काव्य का सत्य है, आँख का वर्णन विज्ञान का सत्य है। इन दो सत्तों को इतने सुन्दर ढंग से आमने-सामने रख कर काव्य में कभी वर्णन नहीं किया गया। भिक्षुणियों की प्रवृत्ति अपने आन्तरिक अनुभव के वर्णन



के साथ-साथ अपने पूर्व आश्रम के जीवन की अवस्थाओं के वर्णन की ओर ही अधिक है। भिक्षुओं में तो शीलव और जपन्त पुरोहित-गुप्त आदि कुछ-एक भिक्षुओं न ही हमें अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया है। बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव के प्रकाशन पर ही उनका ध्यान अधिक है, और उस अनुभव में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं न केवल भिक्षुओं के उद्गारों की भाषा ही समान है, बल्कि वे कई जगह व्यक्ति के प्रतिनिधि न होकर वर्ग (भिक्षु-वर्ग) के ही प्रतिनिधि हो गये हैं। इसके विपरीत भिक्षुणियों के उद्गारों में व्यक्तिगत विशिष्टता की पूरी ध्वनि विद्यमान है। उन्होंने अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विषय में हमें बहुत कुछ बतलाया है। अपने पूर्व जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि के बारे में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। इस प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन के भ्रमों की ओर संकेत मुक्ता, गुप्ता और वृष्ठा भिक्षुणियों ने किया है। उर्वरी, किता मोनमी और वाशिष्ठी भिक्षुणियों के वचनों में उनके सन्तान-विषयों की पूरी झलक है। सुन्दरी सन्दा और चन्द्रा ने पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु से प्रव्रज्या प्राप्त की, इसकी सूचना है। पटाचारा के शब्दों में उसके कठिन जीवन की सारी गाथा छिपी हुई पड़ी है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ (११; २५-२६; ३५-३८; ६१; ७२-८१; ९९-१०१; १०७-१११; १५७-१५८, आदि, आदि) 'अहं' से ही प्रारम्भ होती हैं और उनकी आन्तरिक ध्वनि भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

जहाँ तक विचार और काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, येरगाथा और थेरी-गाथा में अनेक समानताएँ हैं। जिस प्रकार भिक्षुओं ने अनुभव की भावना की है उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी। "आज मेरी भव-वेड़ी कट गई ! मेरे हृदय में बिधा तौर निकल गया, 'तृष्णा' की ली सदा के लिए बुझ गई ! ' मैं सब मलों से विमुक्त हूँ ' 'जब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ' आदि भिक्षुणियों के उद्गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिए हुए हैं और मानव-मन को पवित्रता की उच्च भूमि में ले जाते हैं। पटाचारा का यह उपदेश-वाक्य 'बुद्ध-शासन को पूरा करो, जिसे करके पछताना नहीं होता। अभी जीव्य पैर धोकर एकान्त (ध्यान) में बैठ जाओ' कितना प्रेरणादायक है ! भिक्षुणियों को जीवित विश्वास था कि वे निर्वाण का साक्षात्कार कर सकती हैं। स्वी-भाव की अशक्तता दिखाई

जाने पर एक भिक्षुणी (सोमा) जाल्मविश्वासपूर्वक कह उठती है "जब तित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, जीवन नित्य ज्ञान में विद्यमान है, अन्तर्मान पूर्वक धर्म का सम्पत्क दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा?" 'बेरीगाथा' में नाटकीय तत्त्व को कमी नहीं है और अनेक महत्त्व पूर्ण संवाद हैं। रोहिणी और उसके पिता का संवाद (२७१-२९०) सुन्दरी, उसकी माता और सारथी का संवाद (३१२-३३७) चापा और उसके पति का संवाद (२९१-३११) शैला और मार का संवाद, (५७-५९) चाला और मार का संवाद (१८२-१९५) शिनुपचाला और मार का संवाद (१९६-२०३), उत्पलवर्णा और मार का संवाद (२२४-२३५) बड़इमाता और उसके पुत्र का संवाद (२०४-२१२) आदि नाटकीय गति से परिपूर्ण हैं। यनिहारिन के रूपमें पूर्णा ने अपने पूर्व जीवन का जो परिचय दिया है, वह अपनी करुणा लिए हुए है। अम्बपाली की गाथाओं में अनित्यता का चित्रण गीतिकाव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ हुआ है। सुन्दरी की गाथाओं (३१२-३३७) और शुभा की गाथाओं (३६६-३९९) को विन्टर-मिल्ड ने सुन्दर आक्यान-गीति कहा है<sup>१</sup>।

धेर और बेरीगाथाएँ कमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। जर्मन विद्वान् के. ई. न्यूमन ने उन पर एक मनुष्य के मन की छाप देखी है।<sup>२</sup> बौद्धधर्म की प्रभाव-समष्टि के कारण, जो स्वभावतः ही इन साधक और साधिकाओं के अनुभव-सिद्ध वचनों में होनी चाहिये, न्यूमन को यह भ्रम हो गया है। विन्टरमिल्ड ने न्यूमन के मन से सहमति तो नहीं दिखाई पर कुछ भिक्षुओं की रचनाओं में भिक्षुणियों की रचनाएँ और इसी प्रकार कुछ भिक्षुणियों की रचनाओं में भिक्षुओं की रचनाएँ सम्मिलित हो गई हैं, ऐसा उन्होंने माना है।<sup>३</sup> वस्तुतः बात यह है कि गाथाओं का संकलन विषय-क्रम से न होकर गाथाओं की

१. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८-१०९।

२. देखिये विन्टर मिल्ड, इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२, पद-संकेत १।

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१।

संख्या के कम से है, जो कुत्रिम है। फिर संकलन में भी कहीं कुछ कड़ियाँ रह ही गई हैं। स्वचरित्रियों के साथ पुरुषों के संवाद भी 'धेरीगाथा' में कहीं कहीं पाये जाते ही हैं। दोनों की कथा भी कहीं कहीं मिलती दिखाई देती है। उदाहरणार्थ धेरीगाथा (२०४-२१२) में बड़ की माता उसे ज्ञान-मार्ग पर लगती है और धेरीगाथा (३३५-३३९) में वह उसे धन्यवाद देता है। जिस प्रकार तीन देवों वस्तुओं (हंसिया, हल और कुदाल) से मुक्ति पाकर भिक्षु प्रसन्न है<sup>१</sup> उसी प्रकार ओखल से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मुक्ति पाकर भिक्षुणी प्रसन्न है।<sup>२</sup> इसी प्रकार के प्रणवों से विन्दरनिरञ्ज को गाथाओं के सम्मिलित होने का भ्रम हो गया है। गाथाओं के संकलन में भले ही कहीं कोई प्रमाद हो, पर धेरी और धेरी गाथाओं को मूलतः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ ही माना जा सकता है, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं।

### जातक<sup>३</sup>

जातक खुदक-निकाय का दसवाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जातक को वस्तुतः ग्रन्थ न कह कर ग्रन्थ-समूह ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा हम आगे देखेंगे,

१. अस्तासु मया नंगलासु मया खुदकुदालासु मया। गाथा ४३ (धेरीगाथा)
२. उदुक्कलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च। गाथा ११ (धेरीगाथा)
३. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, से वह तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। जातक (प्रथम खंड), १९४१; जातक (द्वितीय खंड) १९४२; जातक (तृतीय खंड) १९४६। प्रथम खंड में जातक-संख्या १-१००; द्वितीय खंड में जातक-संख्या १०१-२५० और तृतीय खंड में जातक-संख्या २५१-४०० अनुवादित है। चतुर्थ खंड प्रेस में है। राय साहब ईशानचन्द्र घोष का बंगला अनुवाद प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में काँबल के सम्पादकत्व में ६ जिल्दों में जातक का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है। काँबल के अतिरिक्त चामसँ आदि अन्य चार विद्वानों ने इस अनुवाद-कार्य में भाग लिया है। जातक का यह सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद कॉम्बिज से १८९५-१९१३ में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने जातक के कुछ अंशों का अनुवाद भी

उसका कोई-कोई कथानक पूरे ग्रन्थ के रूप में है और कहीं-कहीं उसकी कहानियों का रूप संक्षिप्त महाकाव्य का सा है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जात' अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। 'जातक' भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्म-सम्बन्धी कथाएँ हैं। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने की अवस्था में 'पूर्व-भगवान् बुद्ध' 'बोधिसत्त्व' कहलाते हैं। वे उस समय बुद्धत्व के लिए उम्मेदवार होते हैं, और दान, नील, मैत्री, सत्य आदि दस पारमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते हैं। भूत-दया के लिए वे अपने प्राणों का अनेक बार बलिदान करते हैं। इस प्रकार वे बुद्धत्व की योग्यता का सम्पादन करते हैं। 'बोधिसत्त्व' शब्द का अर्थ ही है बोधि के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्त्व)। बोधि के लिए है सत्त्व (सार) जिसका, ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों

किया है। इनमें रायस डेविड्स का 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज', जो सन् १८८० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था, अति प्रसिद्ध है। इसमें जातक-संख्या १-४० अनुवादित हैं। सम्पूर्ण जातक का जर्मन अनुवाद भी हो चुका है (लोपज़िग, १९०८)। फॉसवाल का रॉमन लिपि में जातक का संस्करण एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य है। यह भी ३ जिल्दों में है और सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है (लन्दन, १८७७-१८९७)। सियामी राजवंश की दो श्रद्धालु रानियों के द्वारा सन् १९२५ में १० जिल्दों में जातक का सियामी लिपि में सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है। सिंहली लिपि में हेवावितरणे निधि की ओर से प्रकाशित संस्करण वैज्ञानिक सम्पादन-कला का एक सुन्दर नमूना है। 'जातक' के अनेक बरमो संस्करण भी उपलब्ध हैं। यह खेद है कि नागरी लिपि में अभी जातक का कोई संस्करण नहीं निकला। अंग्रेजी में तथा अन्य अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो 'जातक' पर प्रभूत विवेचनात्मक साहित्य भी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त परिचय के लिए देखिये, विन्टरमिस्त्र, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११६, पद-संकेत ३, तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द सातवीं, पृष्ठ ४९१ से आगे उन्हीं का जातक सम्बन्धी विवरण; रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८९; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेग्जेंड, पृष्ठ ३०, पद संकेत २ एवं ३; लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २७६-७७, आदि, आदि



ने किया है।<sup>१</sup> पालि सुत्तों में हम अनेक बार पढ़ते हैं "सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बूढ़ न होने के समय, जब मैं बोधिसत्त्व ही था"<sup>२</sup> आदि। अतः बोधिसत्त्व से स्पष्ट तात्पर्य ज्ञान, सत्य, दया आदि का अभ्यास करने वाले उस साधक से है, जिसका आगे चलकर बूढ़ होना निश्चित है। भगवान् बूढ़ भी न केवल अपने अन्तिम जन्म में बुद्धत्व-प्राप्ति की अवस्था से पूर्व बोधिसत्त्व रहे थे, बल्कि अपने अनेक पूर्व जन्मों में भी बोधिसत्त्व की चर्चा का उन्होंने पालन किया था। 'जातक' की अथाह भगवान् बूढ़ के इन विभिन्न पूर्व-जन्मों से, जब कि वे 'बोधिसत्त्व' रहे थे, सम्बन्धित हैं। किसी-किसी कहानी में वे प्रधान पात्र के रूप में चित्रित हैं। कहानी के वे स्वयं नायक हैं। कहीं-कहीं उनका स्थान एक साधारण पात्र के रूप में गौण है और कहीं कहीं वे एक दर्शक के रूप में भी चित्रित किये गए हैं। प्रायः प्रत्येक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है "एक समय (राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय) बोधिसत्त्व कुरुङ्गमुग की योनि में उत्पन्न हुए"<sup>३</sup> अथवा "...मिन्धू पार के घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुए"<sup>४</sup> अथवा "...बोधिसत्त्व उसके (ब्रह्मदत्त के) अमात्य थे।"<sup>५</sup> अथवा "...बोधिसत्त्व गौह की योनि में उत्पन्न हुए"<sup>६</sup> आदि, आदि।

जातकों की निश्चित संख्या कितनी है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। लंका, बरमा, और सिआम में प्रचलित परम्परा के अनुसार जातक ५५० हैं। यह संख्या मोटे तौर पर ही निश्चित की गई जान पड़ती है। जातक के वर्तमान रूप में ५४७ या ५४८ जातक-कहानियाँ पाई जाती हैं। पर यह संख्या भी केवल ऊपरी है। कई कहानियाँ अल्प रूपान्तर के साथ दो जगह भी पाई जाती हैं या एक दूसरे में समाविष्ट भी कर दी गई हैं, और इसी प्रकार कई जातक-

१. बिन्दरनिज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३, पद-संकेत २

२. भय-भेरव सुत्तन्त (मज्झिम १।१।४)

३. कुरुंगमिग जातक (२१)

४. भोजाजानीय जातक (२३)

५. अभिण्ह जातक (२७)

६. गोध जातक (३२५)

कथाएँ सुत-पिटक, विनय-पिटक तथा अन्य पालि ग्रन्थों में तो पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' के वर्तमान रूप में संगृहीत नहीं हैं। अतः जातकों की संख्या में काफी कमी की भी और वृद्धि की भी सम्भावना है। उदाहरणतः, मुनिक-जातक (३०) और सालूक जातक (२८६) की कथावस्तु एक ही सी है, किन्तु केवल भिन्न-भिन्न नामों से वह दो जगह आई है। इसके विपरीत 'मुनिक जातक' नाम के दो जातक होते हुए भी उनकी कथा भिन्न-भिन्न है। कहीं-कहीं दो स्वतंत्र जातकों को मिला कर एक तीसरे जातक का निर्माण कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, पञ्चपण्डित जातक (५०८) और दकरवखस जातक (५१७) ये दोनों जातक महाउम्मग जातक (५४६) में अन्तर्भावित हैं। जो कथाएँ जातक-कथा के रूप में अन्यत्र पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं, उनका भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। मज्झिम-निकाय का घटिकार सुत्तन्त (२।४।१) एक ऐसी ही जातक-कहानी है, जो 'जातक' में नहीं मिलती। इसी प्रकार दीघ-निकाय का महासोबिन्द सुत्तन्त (२।६) जो स्वयं 'जातक' को निदान-कथा में भी 'महासोबिन्द-जातक' के नाम से निर्दिष्ट हुआ है, 'जातक' के अन्दर नहीं पाया जाता। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा और मिलिन्दपञ्च में भी कुछ ऐसी जातक-कथाएँ उद्धृत की गई हैं, जो 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं।<sup>१</sup> अतः कुछ जातक निश्चित रूप से कितने हैं, इसका ठीक निर्णय नहीं हो सकता। जब हम जातकों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो 'जातक' से हमारा तात्पर्य एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है, जिसमें बोधिसत्त्व के जीवन-सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो, फिर चाहे उस एक 'जातक' में कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यों न गूँथ दी गई हों। यदि कुछ कहानियाँ मिलीं जायें तो 'जातक' में करीब तीन हजार कहानियाँ पाई जाती हैं।<sup>२</sup> वास्तव में जातकों का संकलन सुत-पिटक और विनय-पिटक के आधार पर किया गया है। सुत-पिटक में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनका उपयोग वहाँ उपदेस देने के लिए किया गया है। किन्तु बोधिसत्त्व का उल्लेख उनमें नहीं है। यह काम बाद में करके प्रत्येक कहानी को जातक का

१. बिन्दरनिस्स—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत ४

२. देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २१ (वस्तुकथा)

रूप दे दिया गया है। तित्तिर जातक (३४) और दीक्षित कोमल जातक (३७१) का निर्माण इसी प्रकार विनय-पिटक के कमश चुल्लवग्ग और महावग्ग से किया गया है। मणिकंठ जातक (२५६) भी विनय-पिटक पर ही आधारित है। इसी प्रकार दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्त (११५) और महासूदस्सत सुत्त (२१४) तथा मज्झिम-निकाय के मखादेव-सुत्त (२१४३) भी पूरे अर्थों में जातक हैं। कम से कम १३ जातकों की खोज विद्वानों ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक में की है।<sup>१</sup> यद्यपि राज-कथा, चोर-कथा, एवं इसी प्रकार की भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, यत्तघट, भूत-प्रेत आदि सम्बन्धी कथाओं को 'तिरस्वीन' (अग्रै की, अधम) कहाएँ कह कर भिक्षु-संघ में हेयता की दृष्टि से देखा जाता था,<sup>२</sup> फिर भी उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग भिक्षु लोग कुछ-कुछ मात्रा में करते ही थे। स्वयं भगवान् ने भी उपमाओं के द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जातक-कथाओं का विकास हुआ है। जन-समाज में प्रचलित कथाओं को भी कहीं-कहीं ले लिया गया है, किन्तु उन्हें एक नया नैतिक रूप दे दिया गया है जो बौद्ध धर्म की एक विशेषता है। अतः सभी जातक कथाओं पर बौद्ध धर्म की पूरी छाप है। पूर्व परम्परा से लड़ी आती हुई जनश्रुतियों का आधार उनमें हो सकता है। पर उसका सम्पूर्ण ढाँचा बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श के अनुकूल है। हम पहले देख चुके हैं कि बुद्ध-वचनों का भी अर्थों में विभाजन, जिनमें जातक की संख्या सातवीं है, अत्यन्त प्राचीन है।<sup>३</sup> अतः जातक कथाएँ सर्वांश में पालि साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग हैं। उनकी संख्या के विषय में अनिश्चितता विशेषतः उनके समय-समय पर सुत्त-पिटक और विनय-पिटक तथा अन्य स्रोतों से संकलन के कारण और स्वयं पालि त्रिपिटक के नाना वर्गीकरणों और उनके परस्पर समिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है। चुल्ल-तिहेस में हमें केवल ५०० जातकों का (पञ्च जातकसत्तानि) का उल्लेख मिलता

१. विन्टरनिख—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत २
२. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १११), सामञ्जकल-सुत्त (दीघ ११२), विनय-पिटक—महावग्ग, आदि, आदि।
३. देखिये पीछे दूसरे अध्याय में पालि साहित्य के वर्गीकरण का विवेचन।

है।<sup>१</sup> चीनी यात्री फ-चिनयन ने पाँचवीं शताब्दी ईसवी में ५०० जातकों के चित्र लंका में अंकित हुए देखे थे।<sup>२</sup> द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईसवी युग के भरहुत और सांची के स्तूपों में कम से कम २७ या २९ जातकों के चित्र उत्कीर्ण मिले हैं।<sup>३</sup> ये सब तथ्य 'जातक' की प्राचीनता और उसके विकास के सूचक हैं।

रायस डेविड्स का कथन है कि जातक का संकलन और प्रणयन मध्य-देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ।<sup>४</sup> विल्टरमिड ने भी प्रायः इसी मत का प्रतिपादन किया है।<sup>५</sup> अधिकांश जातक बुद्धकालीन हैं। सांची और भरहुत के स्तूपों के पाषाण-वेष्टनियों पर उनके अनेक दृश्यों का अङ्कित होना उनके पूर्व-अशोककालीन होने का पर्याप्त साक्ष्य देता है। 'जातक' के काल और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश उनके साहित्यिक रूप और विनोदताओं के विवेचन से पड़ेगा।

प्रत्येक जातक-कथा पाँच भागों में विभक्त है (१) पञ्चुप्पन्नवत्तु (२) अतीतवत्तु (३) गाथा (४) वेय्याकरण या अल्पवण्णना (५) समोधान। पञ्चुप्पन्नवत्तु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन काल में जो घटना घटी, वह पञ्चुप्पन्नवत्तु है। उस घटना ने भगवान् को किसी पूर्व जन्म के वृत्त को कहने का अवसर दिया। यह पूर्व जन्म का वृत्त ही अतीतवत्तु है। प्रत्येक जातक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग यह अतीतवत्तु ही है। इसी के अनुकूल पञ्चुप्पन्नवत्तु कहीं-कहीं गड़ ली गई प्रतीत होती है। पञ्चुप्पन्नवत्तु के बाद एक या अनेक गाथाएँ आती हैं। गाथाएँ जातक के प्राचीनतम अंश हैं। वास्तव में गाथाएँ ही जातक हैं। पञ्चुप्पन्नवत्तु आदि पाँच भागों से समन्वित जातक तो वास्तव में 'जातकत्ववण्णना' या जातक की अर्थकथा है। गाथाओं के बाद प्रत्येक जातक में वेय्याकरण या अल्पवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और

१. पृष्ठ ८० (स्टोड द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९१८)

२. मेयो : रिकाई ऑव दि बुद्धिस्ट किंग्डम, पृष्ठ १०६ (ऑक्सफर्ड, १८८६)

३. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९

४. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १७२; २०७-२०८

५. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३-११४; १२१-१२३



उसका शब्दार्थ होता है। सबसे अन्त में समोधान आता है, जिसमें अतीतवत्सु के पात्रों का बूढ़ के जीवन-काल के पात्रों के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, यथा "उस समय अटारी पर से शिकार खेलने वाला शिकारी अब का देवदन था। और कुवङ्ग भुग तो मैं था ही"¹ आदि, आदि।

प्रत्येक जातक के पाँच अङ्गों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जातक गद्य-सद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। गाथा (पद्य) भाग जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्भूत इस गाथा-भाग को ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। शेष सब अट्ठकथा है। परन्तु जातक-कथाओं की प्रकृति ऐसी है कि मूल को व्याख्या से अलग कर देने पर कुछ भी समझ में नहीं आ सकता। केवल गाथाएँ कहानी का निर्माण नहीं करती। उनके उपर जब वर्तमान और अतीत की घटनाओं का ढाँचा चढ़ाया जाता है तभी कथावत्सु का निर्माण होता है। अतः पूरे जातक में उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं का होना आवश्यक है, जिसमें गाथा-भाग को छोड़कर शेष सब उसकी व्याख्या है, बाद का जोड़ा हुआ है। फिर भी सुविधा के लिए, और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत ढंग पर, हम उस सबको 'जातक' कह देते हैं। वास्तव में ५४७ जातक-कथाओं के संग्रह को, जो उपर्युक्त पाँच अंगों से समन्वित है हमें, 'जातक' न कहकर 'जातकट्ठवग्गना' (जातक के अर्थ की व्याख्या) ही कहना चाहिए। फॉसवाल और कॉबल ने जिसका क्रमशः रोमन लिपि में और अंग्रेजी में सम्पादन और अनुवाद किया है, या हिन्दी में भनन्त जानन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शीर्षक से ३ भागों में (चतुर्थ भाग निकलने वाला है) अनुवाद किया है, वह वास्तव में 'जातक' न हो कर जातक की व्याख्या है। जैसा अभी कहा गया, जातक तो मूल रूप में केवल गाथाएँ हैं, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

तो फिर गाथा और जातक के शेष भाग का काल-क्रम आदि की दृष्टि से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह प्रश्न सामने आता है। अट्ठकथा में गाथा-भाग को 'अभिसम्बुद्ध गाथा' या भगवान् बूढ़ द्वारा भाषित गाथाएँ कहा गया है। वे बूढ़-वचन हैं। अतः वे त्रिपिटक के अंगभूत थीं और उनको वहाँ से संकलित कर उनके उपर कथाओं का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण 'जातक' ग्रन्थ की

विषय-वस्तु का जिस आधार पर वर्गीकरण हुआ है, उससे भी वही स्पष्ट है कि गाथा-भाग, या जिसे विन्टरनिट्स आदि विद्वानों ने 'गाथा-जातक'<sup>१</sup> कहा है, वही उसका मूलआधार है। 'जातक' घन्य का वर्गीकरण विषय-वस्तु के आधार पर न होकर गाथाओं की संख्या के आधार पर हुआ है। धेर-धेरी गाथाओं के समान यह भी निपातों में विभक्त है। 'जातक' में २२ निपात हैं। पहले निपात में १५० ऐसी कथाएँ हैं जिनमें एक ही एक गाथा पाई जाती है। दूसरे निपात में भी १५० जातक-कथाएँ हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक कथा में दो-दो गाथाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे और चौथे निपात में पचास-पचास कथाएँ हैं और गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-तीन और चार-चार है। आगे भी तेरहवें निपात तक प्रायः वही कम चलता है। चौदहवें निपात का नाम 'पकिण्णक निपात' है। इस निपात में गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न हो कर विविध है। इसीलिए इसका नाम 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रख दिया गया है। इस निपात में कुछ कथाओं में १० गाथाएँ भी पाई जाती हैं और कुछ में ४७ तक भी। आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। आईसबे निपात में केवल दस जातक कथाएँ हैं, किन्तु प्रत्येक में गाथाओं की संख्या सी से भी ऊपर है। अन्तिम जातक (वेस्सन्तर जातक) में तो गाथाओं की संख्या सात-सी से भी ऊपर है।<sup>२</sup> इस सब से यह निष्कर्ष आसानी से निकल सकता है कि जातक-कथाओं की आधार गाथाएँ ही हैं। स्वयं अनेक जातक-कथाओं के 'वेय्याकरण' भाग में 'पालि' और 'अट्ठकथा' के बीच भेद दिखाया गया है, जैसे कि पालि सुत्तों की अन्य अनेक अट्ठकथाओं तथा 'विमुद्धिमग्गो' आदि ग्रन्थों में भी।<sup>३</sup> जहाँ तक 'जातक' के वेय्याकरण भाग से सम्बन्ध है, वहाँ 'पालि' का अर्थ त्रिपिटक-गत गाथा ही हो सकता है। भाषा के साक्ष्य से भी गाथा-भाग अधिक प्राचीनता का चोतक है अपेक्षाकृत गद्यभाग के। फिर भी, जैसा विन्टरनिट्स ने कहा है, जातक की सम्पूर्ण

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९

२. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २० (वस्तुकथा); देखिये विन्टरनिट्स: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९ भी।

३. देखिए पहले अध्याय में 'पालि-शब्दार्थ-निर्णय' सम्बन्धी विवेचन।

गाथाओं को विषयक का मूल अंश नहीं माना जा सकता। उनमें भी पूर्वोक्त भेद है। स्वयं 'जातक' के वर्गीकरण से ही यह स्पष्ट है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बौद्धवे निपात में प्रत्येक जातक-कथा की गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न होकर कहीं-कहीं बहुत अधिक है। इसी प्रकार सत्तरवें निपात में उसकी दो जातक-कथाओं की गाथाओं की संख्या सत्तर-सत्तर न हो कर क्रमशः ९२ और ९३ है। इस सब से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जातक की गाथाओं अथवा 'गाथा-जातक' की मूल संख्या निपात की संख्या के अनुकूल ही रही होगी, और बाद में उसका संवर्द्धन किया गया है।<sup>१</sup> अतः कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम प्राचीन। इसी प्रकार गद्य-भाग भी कुछ अत्यन्त प्राचीनता के लक्षण लिए हुए है और कुछ अपेक्षाकृत अप्राचीन है। किसी-किसी जातक में गद्य और गाथा-भाग में साम्य भी नहीं दिखाई पड़ता<sup>२</sup> और कहीं-कहीं शैली में भी बड़ी विभिन्नता है। इस सब से जातक के संकलनात्मक रूप और उनके भाषा-रूप की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, जिसमें कई रचयिताओं या संकलन-कर्ताओं और कई शताब्दियों का योग रहा है।

जातक की गाथाओं की प्राचीनता तो निर्विवाद है ही, उसका अधिकांश गद्य-भाग भी अत्यन्त प्राचीन है। भरहुत और सांची के स्तूपों की पाषाण-लेखनियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे 'जातक' के गद्य-भाग से ही सम्बन्धित हैं। अतः 'जातक' का अधिकांश गद्य-भाग जो प्राचीन है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में इतना लोक प्रिय तो होना ही चाहिए कि उसे शिल्प-कला का आधार बनाया जा सके। अतः सामान्यतः हम 'जातक' को बृद्धकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का प्रतीक मान सकते हैं। हाँ, उसमें कुछ लक्षण और अवस्थाओं के चित्रण प्रामाण्य-कालीन भारत के भी हैं। जहाँ तक गाथाओं की व्याख्या और उनके उद्धार्य का सम्बन्ध है, वह सम्भवतः जातक का सब से अधिक अर्वाचीन अंश है। इस अंश के लेखक आचार्य बृद्धधोष माने जाते हैं। 'गन्धर्वस' के अनुसार आचार्य बृद्धधोष ने

१. बिन्दरनिष्ठः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९

२. देखिये बिन्दरनिष्ठः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९, पद-संकेत २; पृष्ठ १२२, पद-संकेत २

ही 'जातकदठकथा' की रचना की।<sup>१</sup> किन्तु यह सन्दिग्ध है। रामन डेविड्स ने बृद्धघोष को 'जातकदठकथा' का रचयिता या संकलनकर्ता नहीं माना है।<sup>२</sup> स्वयं जातकदठकथा के उपोद्घात में लेखक ने अपना परिचय देते हुए कहा है "..... शान्तचित्त पंडित बुद्धमित और महिषात्मक वंश में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, शुद्धबुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से..... ध्याकथा करूँगा।"<sup>३</sup> महिषात्मक सम्प्रदाय महाविहार की परम्परा से निम्न एक बौद्ध सम्प्रदाय था। बृद्धघोष ने जितनी अष्टकथाएँ लिखी हैं, शुद्ध महाविहार ब्राह्मी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित (महाविहारवासीन देसनामपनिस्सित—विसुद्धिमग्गो) है। अतः जातकदठकथा के लेखक को आचार्य बृद्धघोष से मिलाता ठीक नहीं। सम्भवतः यह कोई अन्य सिंहाली भिक्षु थे, जिनका काल पाँचवीं शताब्दी ईसवी माना जा सकता है। जातक-कथाएँ, जैसा पहले कहा जा चुका है, भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्धित हैं। बोधिसत्त्व की चर्याओं का उनमें वर्णन है। अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक हैं। परन्तु उनका साहित्यिक रूप भी निम्नरा हुआ है। उपदेशात्मक होते हुए भी वे पूरे अर्थों में कलात्मक हैं। कुछ जातक-कथाओं का सारांश देकर यहाँ उनकी विषय-वस्तु के रूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। 'जातक' के आदि में निदान-कथा (उपोद्घात) है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पहले के २७ बुद्धों के विवरण के साथ-साथ भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी भी जेतवन-विहार के दानकी स्वीकृति तक दी गई है। अब कुछ जातकों की कथा-वस्तु का दिग्दर्शन करें। अपण्णक जातक (१) व्यापार के लिए जाते हुए दो वनजारों की कथा है। एक दैत्यों के हाथ मारा गया, दूसरा बुद्धिमान् होने के कारण अपने पाँच सौ साधियों सहित सकुशल घर लौट आया। कण्ठिन जातक (१३)—कामुकता के कारण एक मृग शिकारी के हाथों मारा गया। मगधादेव जातक (९)—मिर के सफेद बाल देख कर राजा सिंहासन छोड़ कर यत चला गया। सम्भोदमान जातक (३३)

- 
१. पृष्ठ ५९ (जर्नेल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)
  २. बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ६३ (भूमिका)
  ३. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १-२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) देखिये, यहाँ पृष्ठ २३ (वस्तुकथा) भी।



एकमत बटेरों का चिड़ीमार कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु जब उनमें फूट पड़ गई तो सभी चिड़ीमार के जाल में फँस गये। तित्तिर जातक (३७)—बन्दर, हाथी और तित्तिर ने आपस में विचार कर निश्चय किया कि जो ज्येष्ठ हो उसका आदर करना चाहिए। बक जातक (३८)—घगुले ने मछलियों को घोखा दे दे कर एक एक को ले जाकर मार खाया। अन्त में वह एक केकड़े के हाथ से मारा गया। कण्डू जातक (३९)—एक बँल ने अपनी बुढ़िया माँ को जिसने उसे पाला था मजदूरी से कमा कर एक हजार कार्षाण ला कर दिये। वेळुक जातक (४३) तपस्वी ने साँप के बच्चे को पाला, जिसने उसे उस कर मार डाला। रोहिणी जातक (४५) रोहिणी नामक दासों ने अपने माता के मिरकी भविष्यवाणी झूटाने के लिये जाकर माता को मार डाला। वानरिन्द जातक (५७) मगरमच्छ अपनी स्त्री के कहने से वानर का हृदय चाहता था। वानर अपनी चतुरता से बच निकला। कुदाल जातक (७०) कुदाल पंडित कुदाल के मोह में पड़ छः बार गृहस्थ और प्रव्रजित हुआ। सोलवनागराज जातक (७२) वन में रास्ता भूलें हुए एक आदमी की हाथी ने जान बचाई। खरस्सर जातक (७९) गाँव का मुखिया चोरों से मिल कर गाँव लूटवाता था। नामसिद्धि जातक (९७) 'पापक' नामक विद्वान्नी एक अच्छे नाम की तलाश में बहुत घूमा। अन्त में यह समझ कर कि नाम केवल बुलाने के लिए होता है, वह लौट आया। अकालरात्री जातक (११९) असमय शोर मचाने वाला मुर्गा विद्याविधियों द्वारा मार डाला गया। बिलारवत जातक (१२८) मीढ़ धर्म का डोंग कर चूहों को खाता था। गोप-जातक (१४१) मोह की गिरगिट के साथ मित्रता उसके कुल-विनाश का कारण हुई। विरोचन जातक (१४३) मीढ़ ने शेर की नकल कर के पराक्रम दिखाना चाहा। हाथी ने उसे पाँव से रौंद कर उस पर लौद कर दी। गूण जातक (१५७) दलदल में फँसे सिंह को सियार ने बाहर निकाला। मन्कट जातक (१७३) बन्दर तपस्वी का वेश बना कर आया। आदिच्छपटशान जातक (१७५) बन्दर ने सूर्य की पूजा करने का डोंग बनाया। कच्छप जातक (१७८) जन्मभूमि के मोह के कारण कछुने की जान गई। गिरिदत्त जातक (१८४) शिक्षक के लँगड़ा होने के कारण मोड़ा लँगड़ा कर चलने लगा। सीहचम्म जातक (१८९) सिंह की खाल पहन कर गधा खेत चरता रहा। किन्तु बोलने पर मारा गया। महागिराल जातक (२४०)

राजा मर गया, फिर भी द्वारपाल को भय था कि अत्याचारी राजा यमराज के पास से कहीं लौट न आवे। आरामदूसक जातक (२६८) बन्दरों ने पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़ें नाप-नाप कर पानी सींचा। कुटिदूसक जातक (३२१) बन्दर ने बड़े के सदुपदेश को सुन कर उसका घोंसला नोच डाला। बावेर जातक (३३९) बावेर राष्ट्र में कौला सी कार्यागण में और मोर एक हजार कार्यागण में बिका। वानर जातक (३४२) मगरमच्छनी ने बन्दर का हृदय-मांस खाना चाहा। सन्धिभेद जात (३४९) गीदड़ ने चुगली कर सिंह और बिल को परस्पर लड़ा दिया, आदि आदि।<sup>१</sup>

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि जातक-कथाओं का रूप जन-साहित्य का है। उसमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएँ भी हैं और मनुष्यों की भी। जातकों के कथानक विविध प्रकार के हैं। विन्टरनिस्त्र ने मुख्यतः सात भागों में उनका वर्गीकरण किया है<sup>२</sup> (१) व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी कथाएँ (२) पशुओं की कथाएँ (३) हास्य और चित्तोद से पूर्ण कथाएँ (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास (५) नैतिक वर्णन (६) कथन और (७) धार्मिक कथाएँ। वर्णन की शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। विन्टरनिस्त्र ने इनका वर्गीकरण पाँच भागों में इस प्रकार किया है<sup>३</sup> (१) गद्यात्मक वर्णन (२) आख्यान, जिसके दो रूप हैं (अ) संवादात्मक और (आ) वर्णन और संवादों का संमिश्रित रूप। (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण, जिनका आदि मध्य में होता है किन्तु बाद में जगमें गाथाएँ भी पाई जाती हैं (४) किसी विषय पर कथित वचनों का संग्रह और (५) महाकाव्य या खंड काव्य के रूप में वर्णन। वानरिन्द जातक, (५७) बिलारवत जातक, (१२८) सीहचम्म जातक (१८९) संसृमारजातक

१. इस दिग्दर्शन के लिए मैं भवन्त आनन्द कौस्तुभ्यायन के जातक-अनुवाद के तीनों खंडों की विषय-सूची के लिए कृतज्ञ हूँ। वहाँ से यह सामग्री संकलित की गई है।

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्ड दूसरी, पृष्ठ १२५

३. वहाँ पृष्ठ १२४

(२०८) और सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक-कथाएँ पशु-कथाएँ हैं। ये कथाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। विशेषतः इन्हीं कथाओं का गमन विदेशों में हुआ है। व्यङ्ग्य का मुँह भी यही अपने काव्यात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रायः पशुओं की तुलना में मनुष्यों को हीन दिखाया गया है। एक विशेष बात यह है कि व्यङ्ग्य किसी व्यक्ति पर न कर सम्पूर्ण जाति पर किया गया है। एक बन्दर कुछ दिनों के लिए मनुष्यों के बीच आकर रहा। बाद में अपने साथियों के पास जाता है। साथी पूछते हैं

"आप मनुष्यों के समाज में रहे हैं। उनका वर्ताव जानते हैं। हमें भी कहें। हम उसे सुनना चाहते हैं।"

"मनुष्यों की करनी मुझ से मत पूछो।"

"कहें, हम सुनना चाहते हैं।"

बन्दर ने कहना शुरू किया,

"हिरण्य मेरा ! सोना मेरा ! यही रात-दिन वे चिल्लाते हैं। घर में दो जने रहते हैं। एक को मूल नहीं होती। उसके लम्बे केस होते हैं, बेपी होती है और कानों में छेद होते हैं। उसे बहुत धन से सरीदा जाता है। वह सब जनों को कष्ट देता है।"

बन्दर कह ही रहा था कि उसके साथियों ने कान बन्द कर लिए "मत कहें, मत कहें।" इस प्रकार के मधुर और अनूठे व्यङ्ग्य के अनेकों चित्र 'जातक' में मिलेंगे। विशेषतः मनुष्य के अहंकार के मिथ्यापन के सम्बन्ध में मर्मसंगी व्यङ्ग्य महापिमल जातक (२४०) में, ब्राह्मणों की लोभ-वृत्ति के सम्बन्ध में सिंगल जातक (११३) में, एक अति बुद्धिमान् तपस्वी के सम्बन्ध में अवारिस जातक (३०६) में हैं। सल्वदाठ नामक श्रृगाल सम्बन्धी हास्य और विनोद भी बड़ा मधुर है (सल्वदाठ जातक २४१) और इसी प्रकार मकली हटाने के प्रयत्न में दासी का भूगल से अपनी माता को मार देना (रोहिणी जातक ३४५) और बन्दरों का पौधों को उखाड़कर पानी देना भी (आरामपुष्पक

---

१. गरहित-जातक (२१९) भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, जातक (द्वितीय खंड), पृष्ठ ३६२-६३

जातक-४६) मधुर विनोद में भरे हुए हैं। इसी प्रकार रोमांच के रूप में महा-उम्मग जातक (५४६) आदि; नाटकीय आस्थान के रूप में छन्द जातक (५१४) आदि, एक ही विषय पर कहे हुए कथनों के संकलन के रूप में कुणाल जातक (५३६) आदि, संक्षिप्त नाटक के रूप में उम्मदन्ती जातक (५२७) आदि, मोति-नरक कथाओं के रूप में गुण जातक (१५७) आदि, पुरे महाकाव्य के रूप में वेस्सन्तर जातक (५४७) आदि एवं ऐतिहासिक संवादों के रूप में ५३० और ५४४ संख्याओं के जातक आदि, अनेक प्रकार के वर्णनात्मक आस्थान 'जातक' में भरे पड़े हैं, जिनकी साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी नहीं किया जा सकता।

बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लौकिक विश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था एवं सर्वविध जीवन की पूरी सामग्री हमें 'जातक' में मिलती है। 'जातक' केवल कथाओं का संग्रह भर नहीं है। बौद्ध साहित्य में तो उसका स्थान सर्वमाय्य है ही। स्वविरवाद के समान महायान में भी उसकी प्रभुता महत्ता है, यद्यपि उसके रूप के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन है। बौद्ध साहित्य के समान समग्र भारतीय साहित्य में और इतना ही नहीं समग्र विश्व-साहित्य में 'जातक' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के एक युग का ही वह निदर्शक नहीं है, बल्कि उसके प्रसार की एक अद्भुत भाषा भी 'जातक' में समाई हुई है। विनोदः भारतीय इतिहास में 'जातक' के स्थान को कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं ले सकता। बुद्धकालीन भारत के सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक जीवन को जानने के लिए 'जातक' एक उत्तम साधन है। किंकि उसकी सूचना प्रामाणिक रूप से हो ही गई है, इसलिए वह और भी अधिक प्रामाणिक है और महत्त्वपूर्ण भी।<sup>१</sup> 'जातक' के आधार पर यहाँ बुद्धकालीन भारत का संक्षिप्ततम विवरण भी नहीं दिया जा सकता। जातक की निदान-कथा में हम तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं। वहाँ कहा गया है कि जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) दस हजार योजना-वडा

१. देखिये डा० बिमलाचरण लाहा के ग्रन्थ "Geography of Early Buddhism" में डा० एक० डब्ल्यू० थॉमस का प्राक्कथन।



है। मध्य-देश की सीमाओं का उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है "मध्य देश की पूर्वे दिशा में कजंगला नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं और फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक नदी है उसके आगे सीमान्त-देश। दक्षिण दिशा में सेतकणिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में धून नामक ब्राह्मण ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उजोरुवज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश।"<sup>१</sup> यह वर्णन यहाँ जितघ-पिटक से लिया गया है और बुद्ध-कालीन मध्य-देश की सीमाओं का प्रामाणिक परिचायक माना जाता है। जातक के इसी भाग में नेरंजरा, अनोमा आदि नदियों, पाण्डव पर्वत, वैभारगिरि, गयासीस आदि पर्वतों, उरुवेला, कपिलवस्तु, वाराणसी, राजमूह, लुम्बिनी, वैशाली, धावस्ती आदि नगरों और स्थानों, एवं उत्कल देश (उड़ीसा) का तथा यष्टिवन (लट्ठ वन) आदि वनों का उल्लेख मिलता है। सम्पूर्ण जातक में इस सम्बन्धी जितनी सामग्री भरी पड़ी है, उसका ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सम्पूर्ण कोशल और मगध का तो उसके ग्रामों, नगरों, नदियों और पर्वतों के सहित वह पूरा वर्णन उपस्थित करता है। सोलह महाजनपदों (जिनका नामोल्लेख अंगुत्तर-निकाय में मिलता है) का विस्तृत चित्रण हमें असम्पदान जातक में मिलता है। महासूतसोम जातक (५३७) में हमें कुरु-देश के विस्तार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इसी प्रकार घूमाकारि जातक (४१३) में कहा गया है कि युधिष्ठिर गोक के राजा का उस समय वहाँ राज्य था। कुरु-देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का विस्तार ३०० योजन (त्रियोजनसते कुरुरद्वे) महासूत-सोम जातक (५३७) में दिया गया है। धनंजय, कोरव्य और सूतसोम आदि कुरु-राजाओं के नाम कुरुवम्म जातक (२७६), घूमाकारि जातक (४१३), सम्भव जातक (५१५) और विधुर पण्डित जातक (५४५) में आते हैं। उत्तर पंचाल के लिए कुरु और पंचाल वर्णों में ऋगड़ा चलता रहा, इसकी सूचना हम चम्पेय्य जातक (५०६) तथा अन्य अनेक जातकों में पाते हैं। कभी वह कुरु-राष्ट्र में सम्मिलित हो जाता था (सोमनस्स-जातक, ५०५)<sup>२</sup> और कभी कम्पिल-

१. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ ६४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. मिलाइये महाभारत १।१३८ भी।

राष्ट्र में भी, जिसका साक्ष्य ब्रह्मदत्त जातक (३२३), जयद्विस जातक (५१३) और गण्डतिन्दु जातक (५२०) में विद्यमान है।<sup>१</sup> पंचाल-राज दुर्मुख निमि का समकालिक था, इसकी सूचना हमें ४०८ संख्या के जातक से मिलती है। अस्सक (अश्मक) राष्ट्र की राजधानी पोतन या पोतलि का उल्लेख हमें कुल-कलिङ्ग जातक (३०१) में मिलता है। मिथिला के विस्तार का वर्णन सुरुजि जातक और गन्धार जातक (४०६) में है। महाजनक जातक (५३९) में मिथिला का बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना महाभारत ३. २०६. ६-९ से की जा सकती है। सागल नगर का वर्णन कलिङ्गबोधिजातक (४७९) और कुश जातक (५३१) में है। काशी राज्य के विस्तार का वर्णन धर्जविदेह जातक (३९१) में है। उसकी राजधानी वाराणसी के केतुमती, सुरुधन, सुदस्सन, ब्रह्मवृद्धन, पुष्पवती, रम्भनगर और मोलिनी आदि नाम थे, ऐसा साक्ष्य अनेक जातकों में मिलता है।<sup>२</sup> तण्डुलनालि जातक (५) में वाराणसी के प्राकार का वर्णन है। तेलपत्त जातक (९६) और सुसीम जातक (१६३) में वाराणसी और तक्षशिला की दूरी १२० योजन बताई गई है। कुम्भकार जातक (४०८) में गन्धार के राजा नम्गजि या नम्नजित् का वर्णन है। कुरु जातक (५२१) में मल्लराष्ट्र और उसकी राजधानी कुसावती या कुसिनारा का वर्णन है। चम्पेय्य जातक (५०६) में अङ्ग और मगध के संघर्ष का वर्णन है। वत्स राज्य और उसके अर्धान भग्ग-राज्य की सूचना धीनसाव जातक (३५३) में मिलती है। इन्द्रिय जातक में सुरट्ट, अवन्ती, दक्षिणापथ, दंडकवन, कुम्भवति नगर आदि का वर्णन है। विम्बिसार सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचना जातकों में भरी पड़ी है। महाकोशल की राजकुमारी कोसलादेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन और कार्श्या गाँव की प्राप्ति का उल्लेख हरितमातक जातक (२३९) और वड्डकिसूकर जातक (२८३) आदि जातकों में है। मगध और कोसल के संघर्षों का और अन्त में उनकी एकता का उल्लेख वड्डकिसूकर जातक, कुम्भासपिड जातक, तच्छसूकर जातक और भद्दसाल

१. मिलाइये कुम्भकार जातक (४०८) भी

२. देखिये, डायलॉग ऑव दि बूड, तृतीय भाग, पृष्ठ ७३; कारमाइकेल लेक्चर्स, (१९१८), पृष्ठ, ५०-५१

जातक आदि अनेक जातकों में है। इस प्रकार बृद्धकालीन राजाओं, राक्षसों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों आदि का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है।<sup>१</sup> तिलमुट्ठि जातक (२५२) में हमें बृद्धकालीन शिक्षा, विशेषतः उच्च शिक्षा, का एक उत्तम चित्र मिलता है। संसपाल जातक (५२४) और दरीमुख जातक (३३८) में मगध के राजकुमारों की तक्षशिला में शिक्षा का वर्णन है। शिक्षा के विधान, पाठ्य-क्रम, अध्ययन-विषय उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पाठ, निवास, भोजन, नियन्त्रण आदि के विषय में पूरी जानकारी हमें जातकों में मिलती है। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि प्रसिद्ध नगरों को मिलाने वाले मार्गों का तथा स्थानीय व्यापार का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। काशी से चेदि जाने वाली सड़क का उल्लेख वेदधम्म जातक (४८) में है। क्या क्या नाता पेशे उस समय लोगों में प्रचलित थे, कला और दस्तकारी की क्या अवस्था थी तथा व्यवसाय किस प्रकार होता था, इसके अनेक चित्र हमें जातकों में मिलते हैं। बाबेर जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) से हमें पता लगता है कि भारतीय व्यापार विदेशों से भी होता था और भारतीय व्यापारी सुवर्ण-भूमि (बरमा से मलाया तक का प्रदेश) तक व्यापार के लिए जाते थे। भरतकच्छ उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। जल के मार्गों का भी जातकों में स्पष्ट उल्लेख है। लौकिक विश्वासों आदि के बारे में देवधम्म जातक (६) और तल-पान जातक (२०) आदि में; समाज में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में अण्डभूत जातक (६२) आदि में; दामों आदि की अवस्था के सम्बन्ध में कटाहक जातक (१२५) आदि में; सुरापान आदि के सम्बन्ध में सुरापान जातक (८१) आदि में; यज्ञ में जीव-हिंसा के सम्बन्ध में दुम्मेध जातक (५०) आदि में; व्यापारिक संघों

१. डा० विमलाचरण लाहा का "Geography of Early Buddhism" बृद्धकालीन भूगोल पर एक उत्तम ग्रन्थ है, जिसमें जातक के अलावा त्रिपिटक के अन्य अंशों से भी सामग्री संकलित की गई है। डा० लाहा के 'Some Kshatriya Tribes of Ancient India', तथा 'Ancient Indian Tribes' आदि पालि त्रिपिटक पर आधारित ग्रन्थ बृद्धकालीन भारत के अनेक पक्षों का प्रामाणिक विवरण उपस्थित करते हैं।

और हाकुओं के भय आदि के सम्बन्ध में सुरुम्प जातक (२६५) और तत्कालीन शिल्पकला आदि के विषय में महाउम्मग्य जातक (५४६) आदि में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जिसका यहाँ वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। मचमुच विपिटक में यदि ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सूचनाओं के लिए यदि किसी ग्रन्थ का महत्त्व सब से अधिक है तो 'जातक' का। राघव डेविड्स ने 'ब्रिटिश इण्डिया' में बृद्धकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है। उसमें उन्होंने एक अध्याय (भारतवर्ष अध्याय) 'जातक' के विवेचन के लिए दिया है। बृद्धकालीन राजवंशों, विभिन्न जातियों, जन-तन्त्रों, भौगोलिक स्थानों, ग्रामों, नगरों, नदियों, पर्वतों, मनुष्यों के पेशों आदि के सम्बन्ध में जातकों में जो महत्त्वपूर्ण उद्धरण वहाँ दिये गये हैं, यदि उनका संक्षिप्ततम विवरण भी दिया जाय तो प्रस्तुत परिच्छेदांश जातक का विवेचन न होकर बृद्धकालीन भारत का ही विवरण हो जायगा। फिर यहाँ अन्त नहीं है। बृद्धकालीन भारत के अनेक पक्षों को लेकर विद्वानों ने अलग-अलग महाग्रन्थ लिखे हैं और उनमें प्रायः जातक का ही आश्रय अधिकतर लिया गया है। राघव डेविड्स के उपर्युक्त ग्रन्थ के अलावा डा० विमलाचरण लाहा का बृद्धकालीन भूगोल सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।<sup>१</sup> डा० फिक का बृद्धकालीन सामाजिक अवस्था पर प्रसिद्ध ग्रन्थ है।<sup>२</sup> डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'इंडियन शिपिंग' में भारतीय व्यापार का विस्तृत विवेचन किया है और एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ में वैदिक और बौद्धयुगीन शिक्षा पद्धति का भी।<sup>३</sup> इसी प्रकार आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियों पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और प्रबन्ध हैं।<sup>४</sup> वीसों की संख्या इसी प्रकार गिनाई जा सकती

१. Geography of Early Buddhism, केमन पोल, लन्दन १९३२; देखिये उनका India as Described in Early Texts of Jainism and Buddhism भी।

२. मूल ग्रन्थ जर्मन में है। अंग्रेजी में "The Social Organization in North-East India in Buddha's Time" शीर्षक से डा० मंच ने अनुवाद किया है। कलकत्ता, १९२०

३. Ancient Indian Education, Brahmanical and Buddhist, Macmillan.

४. उदाहरणार्थ श्रीमती राघव डेविड्स: Notes on Early Economic Conditions in Northern India, जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक



है। यदि पालि साहित्य के इतिहास का लेखक इन अनेक ग्रन्थों, महाग्रन्थों, में में उल्लिखित जातक-सामग्री का उल्लेख अपने जातक-परिचय में कराना चाहे तो यह उसकी बृष्टता ही होगी। यह अनेक महाग्रन्थों का विषय है। यदि वह इसके निदर्शन का प्रयत्न करेगा तो महासमुद्र में अपने को गिरा देगा। उसका मूर्धापात हो जायगा।

यही बात वास्तव में जातक के भारतीय साहित्य और विदेशी साहित्य पर प्रभाव की है। पहले बौद्ध साहित्य और कला में उसके स्थान और महत्त्व को लें। जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में 'जातक' का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। महायान और हीनयान को वह एक प्रकार से जोड़ने वाली कड़ी हैं, क्योंकि महायान का बोधिसत्व-आदर्श यहाँ अपने बीज-रूप में विद्यमान है। हम पहले देख चुके हैं कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के साँची और भरहुत के स्तूपों में जातक के अनेक दृश्य अंकित हैं। 'मिलिन्दपञ्चो' में अनेक जातक-कथाओं को उद्धृत किया गया है। पाँचवीं शताब्दी में लंका में उसके ५०० दृश्य अंकित किये जा चुके थे। अजन्ता की चित्रकारी में भी महिष जातक (२७८) अंकित है ही। बोध-गया में भी उसके अनेक चित्र अंकित हैं। इतना ही नहीं जावा के बोरोबुद्ध स्तूप (९वीं शताब्दी ईसवी) में, बर्मा के पेंगन स्थित पेंगोडाओं में (१३वीं शताब्दी ईसवी) और सिजाम के सुखोदय नामक प्राचीन नगर (१४वीं शताब्दी) में जातक के अनेक दृश्य चित्रित मिले हैं। अतः जातक का महत्त्व भारत में ही नहीं, बृहत्तर भारत में भी, स्थविर-वाद बौद्ध धर्म में ही नहीं, बौद्ध धर्म के अन्य अनेक रूपों में भी, स्थापित है।

अब भारतीय साहित्य में जातकों के महत्त्व और स्थान को लें। यदि काल-क्रम की दृष्टि से देखें तो वैदिक साहित्य की शुनः शेष की कथा, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद आदि कथानक ही बुद्ध-पूर्व काल के हो सकते हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की आख्यायिकाएँ भी बुद्ध-पूर्व काल की मानी जा सकती हैं, और इसी प्रकार ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के कुछ

---

सोसायटी, १९०१; रतिलाल मेहता : Pre-Buddhist India; डा० रायस देविहस : बुद्धिस्ट इंडिया, अध्याय ६ (Economic Conditions) पृष्ठ ८७-१०७

आख्यान भी । पर इनका भी जातकों से और सामान्यतः पालि साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है । हम देख चुके हैं कि तेविज्ज-सुत्त (दीर्घ १।१३) में अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अङ्गिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप और भृगु इन दस मन्त्रकर्ता ऋषियों के नाम के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण और छन्दावा ब्राह्मण का भी उल्लेख हुआ है ।<sup>१</sup> इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मज्झिम-निकाय के अश्वलायन-सुत्तन्त (२।५।३) के आश्वलायन ब्राह्मण को प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया गया है । मज्झिम-निकाय के आश्वलायन श्रावस्ती-निवासी हैं और वेद-वेदाङ्ग में पार-ज्ज्ञत (तिष्ण वेदानं पारगु सनिषण्डु-केटभानं) हैं, इसी प्रकार प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन भी वेद-वेदाङ्ग के महापंडित हैं और कौसल्य (कोशल-निवासी) हैं ।<sup>२</sup> जातकों में भी वैदिक साहित्य के साथ निकट सम्पर्क के हम अनेक लक्षण पाते हैं । उद्दालक जातक (४८७) में उद्दालक के तलशिला जाने और वहाँ एक लोकविश्रुत आचार्य की सूचना पाने का उल्लेख है । इसी प्रकार सेतु-केतु जातक (३७७) में उद्दालक के पुत्र श्वेतुकेतु का कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तलशिला जाने का उल्लेख है । सतपथ ब्राह्मण (११. ४. १-१) में उद्दालक को हम उत्तरापथ में भ्रमण करते हुए देखते हैं । अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना असंमत नहीं है कि जातकों के उद्दालक और श्वेतुकेतु ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के इन नामों के व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं ।<sup>३</sup> जर्मन विद्वान् लूड्स ने सेतुकेतु जातक (३७७) में आने वाली गाथाओं को वैदिक आख्यान और महाकाव्य-युगीन काव्य को मिलाने वाली कड़ी कहा है,<sup>४</sup> जो समुचित

१. देखिये पीछे दीर्घ-निकाय की विषय-वस्तु का विवेचन ।

२. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्डायन्ट इंडिया, पृष्ठ २१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२)

३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्डायन्ट इंडिया, पृष्ठ ४१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२); विन्टरनिस्त्रः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३

४. "connecting link between the vedic epic आख्यान and the epic poetry" विन्टरनिस्त्र-कृत इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३, पद-संकेत २ में उद्धृत ।

ही है। रामायण और महाभारत के साथ जातक की तुलना करते समय हमें एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि इन दोनों ग्रन्थों के सभी अंश बृद्ध-पूर्व युग के नहीं हैं। रामायण के वर्तमान रूप में २४००० श्लोक पाये जाते हैं। जनश्रुति भी है और स्वयं रामायण में कहा भी गया है 'चतुर्विंश सहस्राणि श्लोकानाम् उक्तवान् ऋषिः' (१. ४. २)। किन्तु बौद्ध महाविभाषा-शास्त्र से सिद्ध है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में भी रामायण में केवल १२००० श्लोक थे।<sup>१</sup> रामायण २-१९०-९४ में 'बृद्ध तथागत' का उल्लेख आया है।<sup>२</sup> इसी प्रकार शक, यवन आदि के साथ संघर्ष (शतान् यवनमिभितान्-१-५४-२१) का वर्णन है। किष्किन्धा-काण्ड (४. ४३-११-१२) में सुवीर के द्वारा कुरु, मद्र और हिमालय के बीच में यवनों और शकों के देश और नगरों को स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध है कि जिस समय ये अंश लिखे गये, ग्रीक और सिथियन लोग पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे। अतः रामायण के काफी अंश महाराज विविशार या बृद्ध के काल के बाद लिखे गये।<sup>३</sup> महाभारत में इसी प्रकार एतुकी (बौद्ध मन्दिरों) का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>४</sup> बौद्ध विशेषण चातुर्महाराजिक भी वहाँ आया है (१२-३३९-४०)। रोमक (रोमन) लोगों का भी वर्णन (२-५१-१७) है। इसी प्रकार सिथियन और ग्रीक आदि लोगों का भी (३-१८८-३५)। आदि पर्व (१-६७-१३-१४) में महाराज अशोक को 'महासुर' कहा गया है और 'महावीर्योऽपराजितः' के रूप में उसकी प्रशंसा की गई है। शान्ति पर्व में विष्णुगुप्त कौटिल्य (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) के शिष्य कामन्दक का भी अर्थविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध है कि महाभारत के वर्तमान रूप

१. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एशियाण्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण, १९३२)
२. उद्धरण के लिये देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २४ (वस्तुकथा) पद-संकेत ३ (भवन्त जानन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एशियाण्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण १९३२)
४. देखिये वहाँ, पृष्ठ ४-५

का काफी अंश बृद्ध, अशोक और कौटिल्य विष्णुमुक्त के बाद के युग का है।<sup>१</sup> जातक की अनेक गाथाओं और रामायण के श्लोकों में अद्भुत समानता है।<sup>२</sup> दूसरय जातक (४६१) और देवधम्म जातक (६) में हमें प्रायः राम-कथा की पूरी रूपरेखा मिलती है। जयदिस जातक (५१३) में राम का दण्डकारण्य जाना दिखाया गया है। इसी प्रकार साम जातक (५४०) की सदृशता रामायण २. ६३-२५ से है और विन्टरनित्ज के मत में जातक का वर्णन अधिक सरल और प्रारम्भिक है।<sup>३</sup> वंस्सन्तर जातक (५४७) के प्रकृति-वर्णन का साम्य इसी प्रकार वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन से है और इस जातक की कथा के साथ राम की कथा में भी काफी सदृशता है।<sup>४</sup> महाभारत के साथ जातक की तुलना अनेक विद्वानों ने की है। उनके निष्कर्षों को यहाँ संक्षिप्ततम रूप में भी रखना वास्तव में बड़ा कठिन है। सब से बड़ी बात यह है कि महाजनक जातक (५३९) के जनक उपनिषदों और महाभारत के ही ब्रह्मज्ञानी जनक हैं।<sup>५</sup> इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। मिथिला के प्रासादों को जलते देखकर जनक ने कहा था 'मिथिलायां प्रदीप्लायाम न मे दहति किंचन' (महाभारत १२-१७; १८-१९; २१९-५०)। ठीक उनका यही कवन हमें महाजनक जातक (५३९) में भी मिलता है तथा ४०८ और ५२९ संख्याओं के जातकों में भी। अतः दोनों व्यक्ति एक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं। इसी प्रकार ऋष्य शृङ्ग (पानि इसिसिङ्ग) की पूरी कथा तल्लिनिका जातक (५२६) में है। युधिष्ठिर (युधि-टिठल) और विदुर (विधूर) का संवाद जातक-संख्या ४९५ में है। कुणाल

१. अधिक प्रमाणों के लिए देखिये, वहीँ, पृष्ठ ४-५
२. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २५ पद-संकेत १ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४७, पद-संकेत ४
४. विन्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५२
५. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६, विन्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४६; हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्दायन्ट इंडिया, पृष्ठ ३६-३७ (तृतीय संस्करण, १९३२), आदि आदि



जातक (५३६) में कृष्ण और द्रौपदी की कथा है। इसी प्रकार घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कर्तव्य और द्वारका बनाने का पूरा वर्णन है। महा-कण्व जातक (४६९) निमि जातक (५४१) और महातारदकस्मप जातक (५४४) में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है। सिविजातक (४९९) में भी राजा शिवि की दान-पारमिता का वर्णन है। अतः कहानी मूलतः बौद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। महाभारत में १०० ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (२.८.२३)<sup>१</sup> सम्भवतः ब्रह्मदत्त किसी एक राजा का नाम न होकर राजाओं का सामान्य विशेषण था, जिसे १०० राजाओं ने धारण किया। दुग्धेध जातक (५०) में भी राजा और उसके कुमार दोनों का नाम ब्रह्मदत्त बताया गया है। इसी प्रकार गंगमाल जातक (४२१) में कहा गया है कि ब्रह्मदत्त कुल का नाम है। सुसीम जातक (४११) कुम्मासपिड जातक (४१५) अट्ठान जातक (४२५) लोमस्तकस्मप जातक (४३३) आदि जातकों की भी यही स्थिति है। अतः जातकों में आये हुए ब्रह्मदत्त केवल 'एक समय' के पर्याय नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। उनमें कुछ न कुछ ऐतिहासिकता भी अवश्य है। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में भी जातक-गाथाएँ उल्लिखित हैं,<sup>२</sup> प्राचीन जैन साहित्य में भी<sup>३</sup> और पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल-पंचविंशति, कथासरित्सागर तथा पैशाचीप्राकृत-निबद्ध 'बद्धकथा' (बृहत्कथा) में भी जातक का प्रभाव किस प्रकार स्पष्टतः उपलब्ध है, इनके निदर्शन के लिए तो कई महापुरुषों की आवश्यकता होगी।

'जातक' ने विदेशी साहित्य को भी किस प्रकार प्रभावित किया है और किस प्रकार उसके माध्यम से बुद्ध-वचनों का गमन दूरस्थ देशों में, यूरोप तक, हुआ है, इसकी कथा भी बड़ी अद्भुत है। जिस प्रकार जातक-कथाएँ समुद्र-मार्ग से लंका, बरमा, सिचाम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को गईं और वहाँ स्थापत्य-कला आदि में चित्रित की गईं, उसी प्रकार स्थल-मार्ग से हिन्दुकुश और हिमालय को गार कर पच्छिमी देशों तक उनके

१. मिलाइये "शतं वं ब्रह्मदत्तानाम्" (मात्स्य पुराण)

२. जर्नेल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृष्ठ १७

३. विन्टरनिस्स : इंडियन लिटरेचर, जिल्ब दूसरी, पृष्ठ १४५, पद-संकेत २

पहुँचने की यात्रा भी बड़ी लम्बी और मनोहर है। पिछले पचास-साठ वर्षों की ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध-पूर्व काल में भी विदेशों से साथ भारत के व्यापारिक सम्पर्क थे। बावेः जातक ( ३३९ ) और सुमन्धि जातक ( ३६० ) में हम इन सम्बन्धों की पर्याप्त झलक देख ही चुके हैं। द्वितीय-शताब्दी ईसवी पूर्व से ही अलसन्द ( अलेक्जेंड्रिया ) जिसे अलशेन्द्र ( अलेक्जेंडर ) ने बसाया था, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का मिलन-केन्द्र हो गया था। वस्तुतः पश्चिम में भारतीय साहित्य और विशेषतः जातक-कहानियों की पहुँच अरब और फिर उनके बाद ग्रीक लोगों के माध्यम से हुई। पञ्चतन्त्र में अनेक जातक-कहानियाँ विद्यमान हैं, यह तथ्य सर्वविदित है। छठी शताब्दी ईसवी में पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया। आठवीं शताब्दी में 'कलेला दमना' शीर्षक से उसका अनुवाद अरबी में किया गया। 'कलेला दमना' शब्द 'कर्कट' और 'दमनक' के अरबी रूपान्तर हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में पञ्चतन्त्र के अरबी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, फिर धीरे-धीरे सभी यूरोपीय भाषाओं में उसका रूपान्तर हो गया। यह हमने पञ्चतन्त्र के माध्यम से जातक-कथाओं के प्रसार की बात कही है। वास्तव में सीधे रूप से भी जातक ने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया है और उसकी कथा भी अत्यन्त प्राचीन है।

ग्रीक साहित्य में ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। फ्राँच, जर्मन और अंग्रेज विद्वानों की खोज से सिद्ध है कि ईसप एक ग्रीक थे, यद्यपि उनके काल के विषय में अभी पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। ईसप की कहानियों का यूरोपीय साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और विद्वानों के द्वारा यह दिखा दिया गया है कि ईसप की प्रायः प्रत्येक कहानी का आधार जातक है।<sup>१</sup> यही बात अलिफलेला की कहानियों के सम्बन्ध में भी है। समुग्ग जातक ( ४३६ ) का तो सीधा सम्बन्ध अलिफलेला की एक कहानी से दिखाया ही गया है।<sup>२</sup> अन्य अनेक कहानियों की

१. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ३२ ( भूमिका )

२. डेविड्स डा० हेमचन्द्र राय चौधरी का "बुद्धिज्म इन बॅस्टर्न एशिया" शीर्षक लेख डा० विमलावरण लाहा द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' में, पृष्ठ ६३९-६४०

भी तुलना विद्वानों ने की है।<sup>१</sup> आठवीं शताब्दी में अरबों ने यूरोप पर आक्रमण किया। स्पेन और इटली आदि को उन्होंने रोंद डाला। उन्हीं के साथ जातक-कहानियाँ भी इन देशों में गई और उन्होंने धीरे-धीरे सारे यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। फ्रांस के मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षी सम्बन्धी कहानियों की अधिकता है। फ्रेंच विद्वानों ने उन पर 'जातक' के प्रभाव को स्वीकार किया है। वायविल और विशेषतः सन्त जोन के सुसमाचार की अनेक कहानियाँ और उप-मात्रों की तुलना पालि, त्रिपिटक और विशेषतः 'जातक' के इस सम्बन्धी विवरणों से विद्वानों ने की है। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यह अब प्रायः निर्विवाद माना जाने लगा है। इस प्रभाव में अन्य अनेक तत्त्वों के अतिरिक्त 'जातक' का भी काफी सहयोग रहा है। ईसाई सन्त प्लेसीडस की कथा की तुलना ज्योथोधाराम जातक (१२) की कथा से की गई है, यद्यपि विन्टरनिट्ज़ ने उसमें अधिक साम्य नहीं पाया है।<sup>२</sup> पर सब से अधिक साम्य तो मध्य-युग की रचना 'बरलाम एण्ड जोसफत' का जातक के 'बोधिसत्त्व' से है। इस रचना में, जो मूलतः छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी में पहलवी में लिखी गई थी, भगवान् बुद्ध की जीवनी ईसाई परिधान में वर्णित की गई है। बाद में इस रचना के अनुवाद अरब, सीरिया इटली और यूरोप की अन्य भाषाओं में हुए। 'जोसफत' शब्द अरबी 'युदस्तफ' का रूपान्तर है, जो स्वयं संस्कृत 'बोधिसत्त्व' का अरबी अनुवाद है। ईसाई धर्म में सन्त 'जोसफत' को (जिनका न केवल नाम, बल्कि पूरा जीवन बोधिसत्त्व-बुद्ध का है) ईसाई सन्त के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>३</sup> यह एक बड़ी अद्भुत किन्तु ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है। श्रीमती रायस डेविड्स ने तो शेक्सपियर के मचेंट ऑव वेनिस में 'तीन दिवियों' तथा 'आष सेर मांस' के वर्णन में तथा 'ऐज यू लाइक इट' में 'बहुमूल्य रत्नों' के विवरण में जातक के प्रभाव को दृढ़ निकाला है, एवं स्लेबोनिक् जाति के साहित्य

१. मिलाइये विन्टरनिट्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३०, पद-संकेत

२. आदि, आदि।

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५०, पद-संकेत २

३. देखिये जातक (प्रथमखंड) पृष्ठ ३०, पद-संकेत १ (वस्तुकथा)

में तथा प्रायः सभी पूर्वी यूरोप के साहित्य में 'जातक' के प्रभाव की विद्यमानता दिखाई है।<sup>१</sup> भिक्षु शीलभद्र ने पर्याप्त उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि निमि जातक (५४१) ही चौदहवीं शताब्दी के इटालियन कवि दांते की प्रसिद्ध रचना (Divina Comedia) का आधार है।<sup>२</sup> जर्मन विद्वान् बेन्फे ने 'जातक' को विश्व के कथा-साहित्य का उद्गम कहा है, जो तथ्यों के प्रकाश में अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति के साथ विश्व के साहित्य और सभ्यता के इतिहास में 'जातक' के स्थान और महत्व के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब हम खुदक निकाय के अन्य ग्रन्थों पर आते हैं।

### निर्देस

निर्देस के दो भाग हैं, महानिर्देस और चूल निर्देस। महानिर्देस सुत्त-निपात के अट्ठक वग्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार चूल निर्देस एक प्रकार सुत्त-निपात के ही खग्न विसाण सुत्त और पारायण की व्याख्या है। इस प्रकार पूरा निर्देस सुत्त-निपात के एक भाग की ही अट्ठकथा है। परम्परा से वह सारिपुत्र की रचना बताई जाती है। 'महानिर्देस' में हमें उन स्थानों, देशों और बन्दरगाहों की सूची मिलती है जिनके साथ भारत का व्यापार पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व होता था। समुद्र, नदी और स्थल के कौन-कौन से मार्ग थे, इसका भी पूरा विवरण हमें यहाँ मिलता है।

1. "Thus for instance the Three Caskets and the Pound of Flesh in the Merchant of Venice and the Precious Jewels which in 'As You Like It' the venomous toad wears in his head, are derived from the Buddhist tales. In a similar way, it has been shown that tales current among the Hungarians and the numerous peoples of the Slavonic race have been derived from the Buddhist sources, through translations made for the Huns, who penetrated in the time of Genghis Khan into the East of Europe." बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ १२ (भूमिका)

2. देखिये उनका Influence of the Buddhist Jatakas on European Literature" शीर्षक लेख, महात्तोषि, जनवरी १९५०, पृष्ठ १०-१६; मिलाइये दि बुद्धिस्ट, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ११८-१२० (कोलम्बो, सिंहल)।



## पटिसम्भिमदासंग

इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसंखित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन मुख्य भाग हैं, जिनमें से प्रत्येक में १० परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध जैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिघम्म पिटक से अधिक है। इसका कुछ विवरण हम आगे अभिघम्म पिटक का विवेचन करते समय करेंगे।

## अपदान

अपदान (सं० अवदान) खुद्क-निकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों में से है। इसमें बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों के महान् कृत्यों का वर्णन है। जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग होते हैं, एक अतीत जन्म-सम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। अपदान दो भागों में विभक्त है, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। थेर-अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं। थेरी-अपदान में ४ वर्ग हैं, जिनमें भी प्रत्येक में १० अपदान हैं। साहित्य या इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। हाँ, इसी ग्रन्थ पर संस्कृत बौद्ध साहित्य का अवदान-साहित्य अधिकांशतः आधारित है, यह इसका एक महत्त्व अवश्य कहा जा सकता है। 'अपदान' में चीनी लोगों के व्यापाराय उत्तरी पंजाब में जाने का उल्लेख है।

## बुद्धवंस<sup>१</sup>

बुद्धवंस २८ परिच्छेदों का एक पञ्चात्मक ग्रन्थ है, जिसमें गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों की जीवनीयों का विवरण है। गौतम बुद्ध के जीवनी सम्बन्धी अंश को छोड़ कर शेष तो प्रायः पौराणिक रंग का ही है, अतः उसका महत्त्व भी केवल उसी दिशा में समझना चाहिए।

## चरियापिटक<sup>२</sup>

चरियापिटक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की चर्याओं का वर्णन है, जिसमें

१. २. इनके देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं, जिन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने सम्पादित किया है। 'चरियापिटक' का देवनागरी लिपि में सम्पादन डा० विमलाचरण लाहा ने भी किया है, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, ने प्रकाशित किया था।

यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। दस पारमिताओं में से यहाँ केवल सात का उल्लेख है, यथा दान, शील, नैकम्यं, अविष्टान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और ध्यानि का वर्णन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ६ परिच्छेदों में है जिनमें कुल मिला कर २५ जीवन-चर्याओं का वर्णन है। प्रत्येक जीवन-चर्या का वर्णन एक जातक-कथा सा लगता है जिसे गाथात्मक रूप दे दिया गया है। नाम-साम्य भी दोनों में पूरा है। उदाहरण के लिए 'अकिति-चरियं' 'अकिति-जातक' का रूपान्तर मान है। इसी प्रकार 'संख-चरियं' 'संखपालजातक' के, 'कुरुधम्म चरियं' 'कुरुधम्म जातक' के तथा इसी प्रकार शेष चर्याएँ प्रायः उसी नाम के जातक के पद्यात्मक रूपान्तर मान हैं। जातक से अत्यन्त सम्बन्धित होते हुए भी चरियापिटक का कलात्मक रूप उस कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। वैसे कई मनोहर गाथाएँ भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ती हैं।

'चरियापिटक' की प्रत्येक 'चर्या' की तुलना किस जातक से है, यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होगा।

### १—दान पारमिता

१. अकिति चरियं—अकिति जातक (४८०)
२. संख चरियं—संखपाल जातक (५२४)
३. कुरुधम्म चरियं—कुरुधम्म जातक (२७६)
४. महासुदस्सण चरियं—महासुदस्सण जातक (१५)
५. महागोविन्द चरियं—महोगोविन्द सूतन्त (वीथ निकाय)
६. निमिराज चरियं—निमि जातक (५४१)
७. चन्दकुमार चरियं—खड्गहाल जातक (५४२)
८. सिविराज चरियं—सिवि जातक (४९९)
९. वेस्सन्तर चरियं—वेस्सन्तर जातक (५४७)
१०. ससंजित चरियं—सस जातक (३१६)

## २—सील पारमिता

११. सीलवनाग चरियं—सीलवनाग जातक (७२)  
 १२. भूरिदत्त चरियं—भूरिदत्त जातक (५४३)  
 १३. चम्पेय्य नाग चरियं—चम्पेय्य जातक (५०६)  
 १४. चूल बोधि चरियं—चूलबोधि जातक (४४३)  
 १५. माहिसराज चरियं—माहिस जातक (२७८)  
 १६. ससराज चरियं—सस जातक (४८२)  
 १७. मातंग चरियं—मातंग जातक (४९७)  
 १८. धम्माधम्मदेवपुत्त चरियं—धम्म जातक (४५७)  
 १९. जयदिस चरियं—जयदिस जातक (५१३)  
 २०. संखपाल चरियं—संखपाल जातक (५२४)

## ३—नेक्खम्म पारमिता

२१. युवञ्जय चरियं—युवञ्जय जातक (४६०)  
 २२. सोमनस्स चरियं—सोमनस्स जातक (५०५)  
 २३. अयोधर चरियं—अयोधर जातक (५१०)  
 २४. भूसि चरियं—भूसि जातक (४८८)  
 २५. सोणपण्डित चरियं—सोणनन्द जातक (५३२)

## ४—अधिट्ठान पारमिता

२६. तेमिय चरियं—तेमिय जातक (५३८)

## ५—सच्च पारमिता

२७. कपिराज चरियं—कपि जातक (२५०)  
 २८. सत्त्वसव्हण चरियं—सत्त्वकिर जातक (७३)  
 २९. वट्टपोतक चरियं—वट्ट जातक (३५)  
 ३०. मच्छराज चरियं—मच्छ जातक (३४)  
 ३१. कण्हदीपायन चरियं—कण्हदीपायन जातक (४४४)  
 ३२. सुत्तसोम चरियं—महासुत्तसोम जातक (५३७)

## ६—मैत्री पारमिता

३३. सुवर्णसाम चरियं—सस जातक (५४०)

३४. एकराज चरियं—एकराज जातक (३०३)

## ७—उपेक्खा पारमिता

३५. महालोमहंस चरियं—लोमहंस जातक (१४)

संस्कृत में इस प्रमाणित अतिशय ही कम मिलता है। इस प्रमाणित का नाम 'मैत्री' है। इसका अर्थ है 'मैत्री'। इसका अर्थ है 'मैत्री'। इसका अर्थ है 'मैत्री'।

३५. महालोमहंस चरियं—लोमहंस जातक (१४)



## चौथा अध्याय विनय-पिटक

### त्रिपिटक में विनय-पिटक<sup>१</sup> का स्थान

विनय-पिटक बौद्ध संघ का संविधान है। अतः धार्मिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। बुद्ध-धर्म का प्रथम तीन सताब्दियों का इतिहास विनय-पिटक संबंधी विवादों और मतभेदों का ही इतिहास है। शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद ही 'बुद्धानुशुत्र' विनय-सम्बन्धी नियमों को लेकर भिक्षु-संघ में विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसका प्रथम संघ-भेदक परिणाम वैशाली की संगीति में दृष्टिगोचर हुआ और बाद में तृतीय संगीति तक आते आते वह अष्टादश निकायों के रूप में पूर्णतः प्रसफूर्तित हो गया। यह बात नहीं है कि इसके अन्य कारण न रहे हों, किन्तु विनय-विपरीत आचरण एक प्रमुख कारण था। यही कारण है कि स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा ने 'विनय-पिटक' को अपनी धर्म-साधना में सदा एक अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके विद्रोही शिष्य देवदत्त ने विनय-सम्बन्धी नियमों में कुछ अधिक कड़ाई की माँग की थी। उसने उस स्वतंत्रता के विरुद्ध ही, जो तथागत ने अपने शिष्यों को दी थी, विद्रोह किया था। इसी प्रकार कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् को विघ्न हो कर एक बार भिक्षु-संघ को कुछ काल के लिए छोड़ कर एकान्त-वास के लिए जाना पड़ा था। इन सब बातों से स्पष्ट था कि भगवान् ने जिस धम्म का उपदेश दिया था उसका साक्षात्कार बिना जीवन की पवित्रता के असम्भव था। उस पवित्रता के सम्पादन के लिए जिस साधन-मार्ग की आवश्यकता थी उसका वास्त-

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ १९३५; २० द० बदेकर ने विनय-पिटक के 'पातिमोक्ख' अंश का नागरी-लिपि में सम्पादन किया है।

विक उपदेश तो उनके 'धम्म' में ही दे दिया गया था, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों की स्थापना के बाद, उनमें कुछ असंयमी और अवैराग्यवान् व्यक्तियों के भी स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जाने के कारण, उनकी व्यवस्था को कुछ बाह्य नियमों में भी बाँधने की आवश्यकता थी। यही कारण है कि हम विनय-पिटक में नाना प्रकार के नियमों का प्रज्ञापन बृद्ध-मुख से हुआ देखते हैं, जिनके प्रज्ञापन करने की उनके अपने उस प्राथमिक उपदेश-काल में, जब तपस्सु और भल्लिक जैसे उपानसक केवल बृद्ध और धम्म की शरण जाते थे (संघ की स्थापना ही उस समय नहीं हुई थी, अतः स्वभावतः पारिभाषिक अर्थों में विनय-सम्बन्धी नियमों की भी नहीं) कोई आवश्यकता ही नहीं थी।<sup>१</sup> बृद्ध-धर्म की साधना का यह वह युग था जब बृद्ध कह सकते थे—

‘यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्जस्तं, तं सम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ति (अंगुत्तर-निकाय) अर्थात् “जिन शिक्षापदों (सदाचार-नियमों) का मैंने उपदेश किया है, उनको मेरे शिष्य अपने प्राणों के लिये भी कभी नहीं तोड़ते।”

उस समय शिक्षा-पद थे, किन्तु वे धर्म में ही अन्तर्हित थे। बाधितशरीर धर्मों की भावना और तदनुकूल आचरण स्वयं अपने आप में चित्त और काया की विद्वद्धि के लिए एक अद्वितीय मार्ग था। चार आर्य-सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि सभी उस साधना के अंग थे। चार स्मृति-ग्रन्थानों के विषय में तो स्वयं भगवान् ने कहा है “भिक्षुओ! प्राणियों की विद्वद्धि के लिए, ... निर्वाण के साक्षात्कार के लिए, यही अकेला सर्वोत्तम मार्ग है।” कहने का तात्पर्य यही है कि जब भगवान् बृद्ध ने प्रारम्भ से ही सभी पाप-कर्मों को न करने, सभी कुशल कर्मों को करने और चित्त को संयमित कर उसे शुद्ध रखने का आदेश देते हुए अपने धम्म को प्रकाशित किया, तो ‘विनय’ उसमें स्वयं अपने आप सम्मिलित था। लौकिक सफलता और महत्त्व-प्राप्ति के लिए भी जब संयम, या जिसे आज अनु-वासन कहा जाता है, इतना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य के उस महत् उद्देश्य के

१. यद्यपि विनय-पिटक के वर्णनानुसार यह काल बहुत कम दिन रहा, किन्तु इसकी भी पवित्रता तो बहुत दिन रही।

लिए, जिसकी महत्ता सभी लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को अतिक्रमण करती है, कितना आवश्यक था, इसका सर्वोत्तम दर्शन हमें बुद्ध-उपदेशों में ही होता है। स्वभावतः शास्त्रा के धम्म और विनय दोनों एक चीज हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनके सामासिक स्वरूप 'धम्म-विनय' का भी यही रहस्य है।

जब कि बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार धम्म और विनय का एक सा ही महत्त्व है, 'विनय-पिटक' के नियम शास्त्रा के शासन के बाहरी रूप मात्र हैं। उनका मार्तण्डिक आधार निश्चित होते हुए भी स्वयं उनका प्रकाशन उस अवस्था का सूचक है जब संघ में प्रविष्ट कुछ असंयमी भिक्षु तत्वागत-प्रवेदित धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगे थे। जब तक यह बात नहीं हुई तत्वागत को नियम विधान करने की आवश्यकता नहीं हुई। धर्मसेनापति के साथ भगवान् के इस संलाप से यह बात स्पष्ट होगी। धर्मसेनापति सारिपुत्र भगवान् से प्रार्थना करते हैं "भन्ने ! भगवान् शिष्यों के लिए शिक्षा-पद का विधान करें, प्रातिमोक्ष का उपदेश करें, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो।" भगवान् कहते हैं, "सारिपुत्र ! ठहरो, तत्वागत काल जानेंगे। सारिपुत्र ! शास्त्रा तब तक श्रावकों (शिष्यों) के लिए शिक्षा-पद का विधान नहीं करते, प्रातिमोक्ष का उपदेश नहीं करते, जब तक कि संघ में कोई चित्त-मल वाले धर्म (पदार्थ) उत्पन्न नहीं होते। सारिपुत्र ! जब यहाँ संघ में कोई चित्त-मल को प्रकट करने वाले धर्म पैदा हो जाते हैं, तो उन्हीं का निवारण करने के लिए, उन्हीं के प्रतिघात के लिए, शास्त्रा श्रावकों को शिक्षा-पद का विधान करते हैं, प्रातिमोक्ष का उपदेश करते हैं..... (अभी तो) सारिपुत्र ! संघ मल-रहित, दुष्परिणाम-रहित, कालिमा-रहित, शूद्र, सार में स्थित है। इन पाँच सौ निशुद्धों में जो सब से गिछड़ा भिक्षु है, वह भी लोत-आपत्ति फल को प्राप्त, दुर्गति से रहित और स्थिर संबोधि-परायण है।" अतः निश्चित है कि विनय सम्बन्धी नियमों का उपदेश जैसे कि वे विनय-पिटक में निहित हैं, भगवान् के द्वारा 'धम्म' के बाद दिया गया जब कि अधिक मल-ग्रस्त व्यक्ति उसके आधार पर अपना सुधार नहीं कर सके।

एक बार शिक्षापदों और प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी नियमों का प्रजापन करने के बाद संघ की स्थिति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक हो गया। किन्तु शास्ता यह जानते थे कि एक बार आन्तरिक संयम से च्युत हो जाने के बाद उसे बाहरी नियमों के बन्धन में बाँध कर नहीं रखा जा सकता था। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय भिक्षुणियों के लिए जीवन-पर्यन्त पालनीय आठ गुरु धर्मों (बड़ी शर्तों) का विधान करते समय ही शास्ता को यह प्रतिभान हो गया था कि यह बाहरी रोक-थाम अधिक दिन तक चल नहीं सकती। “आनन्द ! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिए, बड़े तालाब की रोक-थाम के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द ! मैंने रोक थाम के लिए, भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया।” फलतः “आनन्द ! अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।” विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वानुभूति पर आश्रित बुद्ध-मन्त्रव्य कभी मनुष्य को बाहरी नियमों के बन्धन में बाँधने वाला नहीं हो सकता था। जो कुछ भी नियम उन्होंने आवश्यकतावश प्रजापत किये थे, उनमें से अनेक ऐसे भी हो सकते थे जो उसी युग और परिस्थिति के लिए अनुकूल हों और जिनका सार्वकालिक या सार्वजनीन महत्त्व प्रतिष्ठापित करना उसी बुद्धिहीनता, संकुचित बुद्धि और सच्चे उद्देश्य को छोड़ कर बाहरी रूप की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति का सूचक हो, जो धर्म-साधनाओं के इतिहास में अक्सर देखा जाता है, इसकी भी पूरी अनुभूति भगवान् बुद्ध को थी, यह हम परिनिर्वृत होने से पहले उनके इस आदेश में देखते हैं “इच्छा होने पर संघ मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे-मोटे) शिक्षा पदों को छोड़ दे।” संघ बाहरी बन्धन अनुभव न करे, इसीलिए उन्होंने अपने बाद किसी व्यक्ति को जान बूझ कर उसका नेता तक नहीं चुना।<sup>१</sup> एकमात्र ‘धम्म-जितय’ रूपी नेता की धारण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया “भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भाँति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जान कर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या ?”<sup>२</sup> यही बात विधि-निषेध-परक

१. वेसिघे विशेषतः महापरिनिब्बान-सुत्त (दीघ, २।३) ; गोपक-भोगल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८)

२. अलङ्कृत-पम-सुत्त (मज्झिम १।३।२)



विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है। चेतना (चित्त) को ही कम्म (कर्म) कहने वाले<sup>१</sup> शास्ता का यह बाहरी नियम-विधान अन्तिम मन्तव्य नहीं हो सकता था, यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। किन्तु निर्बल, मल-प्रस्त मानवता के लिए और क्या किया जाय? बाहरी नियम-विधानों से काम नहीं चलता, वे अपूर्ण ठहरते हैं, किन्तु उनके प्रसापन क्रिये बिना काम भी नहीं चलता! जब सम्म्यक् सम्बुद्ध ने मनुष्यों का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया, उनके बीच रहना-सहना, धूमना-फिरना स्वीकार कर लिया, संघ को धारण करना स्वीकार कर लिया,<sup>२</sup> मनुष्यों को विगुद्धि द्यौ निर्वाण के मार्ग पर लगाना स्वीकार कर लिया, तो उनकी चित्त-स्थिति के लिए अनुकूल नियम-विधान भी वे क्यों नहीं करते? उनके शिष्यों में जो प्रधान थे, वे स्वतः ही भगवान् के 'धम्म' के अनुसार आचरण करते थे। अतः उन्हें अलग से विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'बहुजनों' में अधिकांश तो मल-प्रस्त प्राणी ही थे। उन्हीं के पतन को देख कर भगवान् ने बाहरी नियमों का विधान किया, जिन्हें हम आज विनय-पिटक में देखते हैं। इतम से बहुत कुछ बाहरी होते हुए भी अधिकांश मानसिक भित्ति पर ही आश्रित हैं, जो बुद्ध-मन्तव्य की सब से बड़ी विशेषता है। संयुक्त-निकाय के भिक्षु-संघ में किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नन्द और तिसस तथा अन्य भिक्षुओं को विनय-सम्बन्धी नियमों को कड़ाई के साथ पालन करने का आदेश दिया है, यह हम पहले देख चुके हैं।

१. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अंगुत्तर-निकाय।
२. केवल व्यावहारिक अर्थ में। वास्तव में तो संघ को पूरा व्यवस्था करते हुए भी भगवान् सदा निर्लिप्त ही रहे। जब आनन्द उनसे अन्तिम समय पर भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहने के लिए प्रार्थना करते हैं, तो भगवान् कहते हैं, "आनन्द! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ . . . वह जरूर आनन्द! भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द! तपागत को ऐसा नहीं हूँ।" एक और स्थान पर भगवान् अपनी निर्लेपता का साक्ष्य देते हैं "मागन्धिय! धर्मों का अन्वेषण कर के मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा नहीं हुई।"

अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने विनय सम्बन्धी नियमों को पूरी तरह पालन करने का भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जब तक भगवान् जीवित रहे, तब तक उनके व्यक्तित्व और साक्षात् सम्पर्क से मनुष्यों को प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उनके परिनिर्वाण के बाद तो विनय-सम्बन्धी नियम ही संघ की एकता और मौलिक पवित्रता के एक मात्र मापदंड रह गए। उसके बाद बौद्ध संघ में विनय-पिटक का जो महान् आदर और गौरव प्रतिष्ठापित हुआ वह उसको संकीर्णता या साम्प्रदायिकता का द्योतक नहीं था। वह भिक्षुओं की उस व्यग्रता का द्योतक था जिसके साथ वे 'छिले संघ की तरह निर्मल' (संघ-लिखित) शाक्य-मुनि के शासन को उसकी मौलिक पवित्रता में रखना और देखना चाहते थे। उनका वह प्रयत्न बेकार नहीं गया है, यह हम आज भी देख सकते हैं। वैशाली की संगीति के अवसर पर ही धर्म-वादों भिक्षुओं ने किस प्रकार भगवान् के मौलिक उद्देश्यों की रक्षा की, यह हम उसके विवरण में (द्वितीय अध्याय में) देख चुके हैं। लंका, वरमा और स्याम के भिक्षु-संघों के इतिहास में किस प्रकार विहार-नीमा और पारुषण (चीवर को दोनों कन्धे ढँक कर पहनना), एकंसिक (चीवर को इस प्रकार पहनना, जिससे एक कन्धा, दाहिना कन्धा खुला रहे) आदि अल्प महत्त्व के विनय-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर भी उत्तरकालीन युगों में जो वाद-विवाद होते रहे हैं वे न केवल उन देशों में बुद्ध-धर्म के जीवित स्वरूप में विद्यमान होने के प्रमाण हैं, बल्कि उसे उसी मौलिक, अक्षुण्ण पवित्रता के साथ रखने की व्यग्रता के भी अविवಾದ लक्षण हैं। अतः स्वविरवादी बौद्ध धर्म के क्षेत्र में विनय-पिटक की जो प्रतिष्ठा प्रारम्भिक युग से अब तक रही है, वह एक जीवित ऐतिहासिक तथ्य है और ऊपर के तथ्यों को देखते हुए वह सार्थक भी है।

बौद्ध संघ में विनय-पिटक का सदा से कितना आदर रहा है और उसके उत्तरकालीन इतिहास के निर्माण में उसका कितना बड़ा हाथ रहा है, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। वास्तव में भिक्षु-संघ ने अत्यन्त प्राचीन काल से उसे सृष्टि-पिटक से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि उसे ही उन्होंने बुद्ध-शासन की आयु माना है। उनका विश्वास रहा है कि जब तक विनय-पिटक अपने मौलिक, विगूढ़ रूप में रहेगा तभी तक बुद्ध-शासन भी जीवित रहेगा और विनय-सम्बन्धी

नियमों के अभ्यास के लुप्त हो जाने पर बुद्ध-शासन भी लुप्त हो गया। विशेषतः सिंहल और स्वाम के भिक्षु-संघ में अभी तक यह विश्वास दृढ़ है और वे विनय, सुत्त, अभिधम्म यह त्रय महत्त्व की दृष्टि से त्रिपिटक का करते हैं। विनय-सम्बन्धी मामलों में सरमी भिक्षु-संघ पर सिंहली प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से ही रहा है।<sup>१</sup> दोनों देशों में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल (चौथी-पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाकार) के काल से लेकर ठीक आधुनिक काल तक विनय-पिटक पर विपुल व्याख्यापरक साहित्य की रचना हुई है, जो इन देशों में उसकी जीवित परम्परा का सूचक है। न केवल स्वविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा में ही बल्कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में भी विनय की महिमा सुरक्षित है, फिर चाहे उनके विनय-पिटक का स्वरूप स्वविरवादी बौद्धों के विनय-पिटक से भले ही कुछ थोड़ा भिन्न हो। चीन और जापान में 'रिश्शू' नामक बौद्ध सम्प्रदाय है, जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'विनय-सम्प्रदाय'। यह सम्प्रदाय 'धम्मगुत्तिक' विनय को ही अपना मुख्य आधार मानता है। इस प्रकार विनय की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण बौद्ध सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है।

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी विनय-पिटक का बड़ा महत्त्व है। पिटक-साहित्य के कालानुक्रम के विवेचन में हम देख चुके हैं कि विनय-पिटक के अनेक अंग त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों में से हैं। न केवल बुद्ध की जीवनी, बल्कि उनके द्वारा संघ की स्थापना, उनके जीवन-काल में संघ का विकास, उसके नियम, उसका शासन, एवं बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद १०० साल तक का उसका प्रामाणिकतम इतिहास, यह सब हमें विनय-पिटक से ही मिलता है। प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विषय में किस प्रकार विनय-पिटक का विवरण प्राचीनतम और प्रामाणिकतम है, यह हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। इसके अलावा बुद्ध के शिष्यों का परिचय, छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारत का सामाजिक विवरण, विशेषतः बुद्धकालीन संघ और तत्सम्बन्धी विवरण, इस सबके लिये विनय-पिटक के

---

१. सिंहली विनय-पिटक सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर ही बरमा में इस सम्बन्धी साहित्य की रचना हुई। देखिये मेविल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ५



समान अन्य कोई प्रामाणिक साधन हमारे पास नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि विनय-पिटक का महत्त्व उतना नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि उसका अधिकांश भाग नियमों का प्रज्ञापक है जो अत्यन्त नीरस ही हो सकता है। फिर भी 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' आदि गम्भीर बुद्ध-प्रवचन भी यहाँ रक्खे हुए हैं, जो उसके ऐतिहासिक अंश के समान ही उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

### विनय-पिटक का विषय और उसका संकलन-काल

भिक्षु और भिक्षुणी संघ ही विनय-पिटक के एक मात्र विषय है, ऐसा कहा जा सकता है। वह बौद्ध संघ का संविधान और एक मात्र आधार है। बौद्ध संघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियों के नित्य-नैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदा-नियम, देसना-नियम, वर्षावास के नियम, भोजन, वस्त्र, पथ्य-औषधादि सम्बन्धी नियम, संघ के संचालन सम्बन्धी नियम, संघ-भेद होने पर संघ-सामग्री (संघ की एकता) सम्पादित करने के नियम, आदि नियम-समूह विनय-पिटक में विवृत किये गये हैं। इन सभी नियमों का प्रज्ञापन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ है, ऐसी बौद्ध संघ की सामान्यतः मान्यता है। विनय-पिटक का संकलन, जैसा हम ने प्रथम संगीति के विवरण में देखा है, धम्म या सुत्त-पिटक के साथ-साथ प्रथम संगीति के अवसर पर ही हुआ। उसके प्रारम्भ में ही हम आर्य महाकाश्यप को कहते देखते हैं 'धम्मं च विनयं च सञ्जायेय्याम' अर्थात् "हम धम्म और विनय का संगायन करें"। अतः सुत्त और विनय के संकलन-काल में कुछ ऐसा पूर्वापर स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसा अक्सर पच्छिमी विद्वानों ने किया है। कुछ पच्छिमी विद्वानों (कनं, पुसां आदि) ने विनय-पिटक को सुत्त-पिटक से पूर्व का संकलन माना है, कुछ (फ्रेक आदि) ने उसके बाद का भी। किन्तु ये दोनों ही मत निराधार हैं। सुत्त और विनय में अनेक उपदेश समान हैं, विनय-सम्बन्धी अनेक उपदेश सुत्त-पिटक में भी मिलते हैं, और सुत्त-पिटक के अनेक बुद्ध-धर्म और बुद्ध-जीवन सम्बन्धी प्रकरण विनय-पिटक में मिलते हैं। दोनों की शैली प्राचीनता की सूचक है। अतः उन दोनों को समकालीन मानना ही अधिक युक्ति-संगत है। वैशाली की संगीति के अवसर पर विनय-सम्बन्धी कुछ विवादों का निर्णय हुआ था, अतः उसके आधार पर सम्भव है इस पिटक के रूप में कुछ



अन्तर कर दिया गया हो। चूँकि इस संगीति का इस पिटक में विवरण भी है, अतः उसी समय इसके रूप का अन्तिम स्थिरीकरण हो गया था, यही इसके संकलन-काल के विषय में हमें जानना चाहिये।

बौद्ध परम्परा विनय-सम्बन्धी सब नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से ही हुआ मानती है। आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) ने समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के प्रारम्भ में भिक्षुओं की उस अप्रतिहत परम्परा का उल्लेख किया है जिसने बुद्ध-काल से लेकर उनके समय तक विनय-पिटक का उपदेश दिया। बुद्ध-काल में विनय-धरों में उपालि स्थविर प्रधान थे, यह हम अंगुत्तर-निकाय के एतदन्गवग्ग से जानते हैं। प्रथम संगीति के अवसर पर उन्होंने ही विनय का संगायन किया, यह विनय-पिटक की सूचना है। अतः विनय-धरों की परम्परा स्थविर उपालि से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध-शिष्य उपालि से लेकर अशोक के समकालिक मोग्गलिपुत्त तिस्स तक विनयधरों की इस परम्परा का उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने इस प्रकार किया है (१) बुद्ध (२) उपालि (३) दासक (४) सोणक (५) सिग्गव और (६) मोग्गलिपुत्त तिस्स। "श्री जम्बुद्वीप में तृतीय संगीति तक इस अट्ठ परम्परा से विनय आया। . . . . . तृतीय संगीति से आगे इसे इस (लंका) द्वीप में महेन्द्र आदि लाये। महेन्द्र से सीख कर कुछ काल तक अरिष्ट स्थविर आदि द्वारा चला। उनसे ही उनके शिष्यों की परम्परा वाली आचार्य-परम्परा में आज तक विनय आया, जैसा कि पुराने आचार्यों ने कहा है, (७) महिन्द, इट्ठिय, उत्तिव, सबल और भट्टसाल ये महाप्राज्ञ भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ आये। उन्होंने तम्ब-पणिण (ताम्रपर्णी-लंका) द्वीप में विनय-पिटक पढ़ाया. . . . . तब (८) आर्य तिष्यवत्त (९) कालसुमन (१०) दीर्घ स्थविर (११) दीर्घ सुमन (१२) काल सुमन (१३) नाग स्थविर (१४) बुद्धरक्षित (१५) तिष्य स्थविर (१६) देव स्थविर (१७) सुमन (१८) चूलनाग (१९) धर्मपालित (२०) रोहण (२१) क्षेम (२२) उपतिष्य (२३) पुण्यदेव (२४) सुमन (२५) पुण्य (२६) महाशिव (महासीव) (२७) उपालि (२८) महानाग (२९) अन्नय (३०) तिष्य (३१) पुण्य (३२) चूल अन्नय (३३) तिष्य स्थविर (३४) चूलदेव (३५) शिव स्थविर. . . . . इन महाप्राज्ञ, विनयज्ञ मार्ग-कोविदों ने ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में विनय-पिटक को प्रकाशित।

किया<sup>१</sup> जिस प्रकार किसी कालेज की दीवाल में लगे हुए प्रस्तरपट्ट पर उसके प्रिंसिपलों के खुदे हुए नामों की सूची में कोई सन्देह नहीं करता, उसी प्रकार हमें विनय-धरों की इस सूची को भी प्रामाणिक मानना चाहिये।

### विनय-पिटक के भेद

पालि संस्करण के अतिरिक्त विनय-पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं। इनके नाम हैं (१) जूजु-रित्सु, सर्वास्तिवादियों का विनय (२) शिवुन्-रित्सु, धम्मगुप्तिक या धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय का विनय (३) मधसोगि-रित्सु, महासंघिक सम्प्रदाय का विनय (४) कोन्-भोन-सेत्सु-इस्से-उव, नवीन या उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय (५) गोबुन-रित्सु या महिसासक विनय (६) विनय। विनय-पिटक के इन छह चीनी संस्करणों में आपस में बहुत कम भेद हैं। मौलिक रूप से वे सब समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं, उनका उद्भावन अशोक के काल से पहले ही हो चुका था। वे सब स्वविरवाद बौद्ध धर्म की ही शाखा थे और विनय-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे मत-भेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कषावत्थु' में इन सब का वर्णन आया है। पाँचवें अध्याय में हम इन सब के सिद्धान्तों का विवरण देंगे। यहाँ अलग से परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्वविरवाद बौद्ध धर्म के अलावा अन्य १७ बौद्ध सम्प्रदायों के, जो तृतीय संगीति तक उत्पन्न हो चुके थे, साहित्य के विषय में हमें अभी कोई महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। केवल सर्वास्तिवादियों का कुछ साहित्य मिला है, जिसका कुछ विवरण हम ने सुत्त-पिटक के विवेचन के आरम्भ में दिया है और उनके अभिधर्म-साहित्य का स्वविरवादियों के साथ तुलनात्मक विवेचन हम पाँचवें अध्याय में करेंगे। यह प्रसन्नता की बात है कि विनय के क्षेत्र में न केवल सर्वास्तिवादियों का ही बल्कि उनसे अतिरिक्त अन्य पाँच प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों का भी साहित्य मिलता है जो सब उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से हीनगामी ही थे। न केवल विनय-पिटक ही बल्कि उसकी पाँच व्याख्याएँ भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। उनके नाम हैं (१)

१. बुद्धचर्या पृष्ठ ५७६ में अनुबाधित। भोमालिपुत्त तिस्स तक की परम्परा के लिए देखिये आगे नवें अध्याय में 'महावंस' सम्बन्धी विवरण भी।

विनि-भो-रोन् या विनय-माता-वण्णना (२) भतो-रोग-रोन् या मातिका अथवा मात्रिका-वण्णना (३) जैन्-कैन्-रोन् (पासादिका-वण्णना) (४) सञ्जत-रोन् (सञ्जाति-वण्णना) (५) म्यो-र्यो-रोन् या पाकटवण्णना । चीनी भाषा में 'रोन्' 'विभाषा' या 'वण्णना' (वर्णन, व्याख्या) को कहते हैं । 'जैन्-कैन्- रोन्' बुद्धशोधकृत 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) का चीनी अनुवाद है । पहले यह 'धम्मगुत्तिक' सम्प्रदाय के विनय 'शिवुन्-रित्सु' की व्याख्या समझी जाती थी । किन्तु जापानी विद्वान नगई ने इस भ्रम का निवारण कर दिया है ।<sup>१</sup> चीनी और जापानी बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'धम्मगुत्तिक' (धर्मगुत्तिक) सम्प्रदाय का विनय-पिटक शिवुन्-रित्सु ही अधिक महत्त्वपूर्ण है । वहाँ के रित्सु सम्प्रदाय (विनय-सम्प्रदाय) का यही आधार-भूत ग्रन्थ है । पालि विनय पिटक के साथ चीनी विनय-पिटक की तुलना के प्रसंग में इसी संस्करण को लिया जा सकता है और बाकी छोटे-मोटे विभेदों को, जो बहुत अल्प हैं, अलग से दिखाया जा सकता है । यहाँ हमें तुलना केवल 'शिक्षापदों' या विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में करना है, जो ही विनय-पिटक के आधार-भूत विषय हैं, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या संस्करण का हो ।

पालि विनय-पिटक के शिक्षापदों की संख्या २२७ है, जिनकी गणना इस प्रकार है—

|                              |    |
|------------------------------|----|
| १. पाराजिका                  | ४  |
| २. संधादिसेसा                | १३ |
| ३. अनियता धम्मा              | २  |
| ४. निस्संगिया पाचिसिया धम्मा | ३० |
| ५. पाचिसिया धम्मा            | ९२ |
| ६. पटिदेसनिया धम्मा          | ४  |
| ७. सेखिया धम्मा              | ७५ |
| ८. अधिकरणसमया धम्मा          | ७  |

---

 २२७

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६८ में नगई के 'बुद्धिस्ट विनय डिस्सिप्लिन' शीर्षक लेख का अंश ।

चीनी विनय-पिटक के प्रायः सभी संस्करणों में शिक्षापदों की यह संख्या २५० है । 'शिवुन्-रित्सु' के अनुसार यह गणना इस प्रकार है—<sup>१</sup>

|                                               |       |
|-----------------------------------------------|-------|
| १. पाराजिका                                   | ४     |
| २. संघावशेष (संघादिसेसा)                      | १३    |
| ३. अनियत                                      | २     |
| ४. निःसंगिक पातयन्तिक (निस्संगिया पाचित्तिया) | ३०    |
| ५. पातयन्तिक (पाचित्तिया)                     | ९०    |
| ६. प्रतिदेशनीय (पट्टिदेसनिया)                 | ४     |
| ७. शैक्ष्य (सेखिया)                           | १००   |
| ८. अधिकरण-शमथ                                 | ७     |
|                                               | <hr/> |
|                                               | २५०   |

विनय-पिटक के चीनी-संस्करणों के अलावा एक तिब्बती संस्करण भी मिलता है ।<sup>२</sup> यह मूल सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष का तिब्बती अनुवाद है । इसके अनुसार शिक्षापदों की संख्या इस प्रकार है—

|                       |       |
|-----------------------|-------|
| १. पाराजिका           | ४     |
| २. संघावशेष           | १३    |
| ३. अनियत              | २     |
| ४. निःसंगिक पातयन्तिक | ३०    |
| ५. पातयन्तिक          | ९२    |
| ६. प्रतिदेशनीय        | ४     |
| ७. शैक्ष्य            | १०६   |
| ८. अधिकरण-शमथ         | ७     |
|                       | <hr/> |
|                       | २५८   |

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (इ० लाहा द्वारा सम्पादित), वृष्ट ३६९ (नगई का विनय-पिटक सम्बन्धी लेख)

२. इसके अलावा महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से विनय-सूत्र, विनय-सूत्र-टीका, प्रातिमोक्ष-सूत्र, प्रातिमोक्षसूत्र-टीका, भिक्षु-प्रकीर्णक तथा उपसम्पदा-



उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट है कि पालि-विनय-पिटक में शिक्षापदों की संख्या २२७ और चीनी और तिब्बती संस्करणों में वह क्रमशः २५० और २५८ है। जहाँ तक पालि और तिब्बती संस्करणों की तुलना का सवाल है, उनके प्रत्येक नियम की संख्या में समानता है। केवल शैष्य-सम्बन्धी नियमों में असमानता है। पालि संस्करण में वे ७५ हैं जब कि तिब्बती संस्करण में १०६। इसी कारण तिब्बती संस्करण के नियमों की कुल संख्या भी ३१ बढ़ गई है। पालि और चीनी संस्करणों में केवल 'पाचिसिया धम्मा' (पातयन्तिक) और 'सेखिया धम्मा' (शैष्य) इन दो नियमों की गणना में अन्तर है। पालि संस्करण में इनकी संख्या क्रमशः ९२ और ७५ है जब कि चीनी 'शिवन्-रित्स्' में वह इसी क्रम से ९० और १०० है। 'पाचिसिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद कुछ महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, किन्तु 'सेखिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'सेखिय धम्म' बाह्य शिष्टाचार सम्बन्धी छोटे-मोटे नियम हैं, जो बुद्धोक्त 'अुद्रानुअुट्' की कोटि में आसानी से आ जाते हैं। अतः उनके विषय में मतभेद होना भिक्षु-संघ के इतिहास में प्रथम संगीति के समय से ही देखा जाता है। स्वयं विभिन्न चीनी सम्प्रदायों के विनय-पिटकों में भी इसके विषय में समानता नहीं है। पालि विनय-पिटक के ७५ 'सेखिय' धर्मों के स्थान पर 'शिवन्-रित्स्' में तो उनकी संख्या १०० है ही, नवीन सर्वास्तिवादी विनय के अनुसार उनकी संख्या १०३ है। तिब्बती मूल सर्वास्तिवादियों के अनुसार तो वह १०६ है ही, जैसा हम देखा चुके हैं। इस प्रकार कुछ छोटे-मोटे विभेद हैं। 'महाव्युत्पत्ति' (महायानी ग्रन्थ) ने इन शैष्य धर्मों को 'असंख्य' (संवहुलाः शैष्यधर्माः) बताकर इस सम्बन्धी भेद का बड़ा ही अच्छा समाधान कर दिया है। पालि और चीनी विनय-पिटकों के शिक्षापदों की तुलना के आधार पर यहाँ एक सुझाव रख देना आवश्यक जान पड़ता है। पालि विनय-पिटक में, जैसा हमने अभी देखा है, शिक्षापदों की संख्या २२७ है। किन्तु अंगुत्तर निकाय में कम से कम दो जगह उनकी संख्या १५०

---

ज्ञप्ति आदि अनेक विनय-सम्बन्धी ग्रन्थों के फोटो लाये हैं, जिनके सम्पादन के बाद इस विषय सम्बन्धी अध्ययन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। अभी ये प्रतिलिपियाँ बिहार और उड़ीसा के ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना में सुरक्षित हैं।

कही गई है ।<sup>१</sup> ('मिलिन्दपञ्च' में भी १५० शिक्षापदों का वर्णन है<sup>२</sup> । यदि पालि सूची की कुल संख्या (२२७) में से हम उसके ७५ 'सेखिय' धर्मों को, जो अल्प महत्त्व के हैं, निकालते हैं तो बाकी संख्या १५२ बच जाती है । किन्तु 'शित्तु-रित्तु' की कुल संख्या २५० में से उसके १०० 'शैक्ष्य' धर्मों को निकाल देने पर ठीक संख्या १५० बच जाती है । नया पालि विनय-पिटक की अपेक्षा 'शव्वन्-रित्तु' उस परम्परा का अधिक वाहक है जिसके आधार पर अंगुत्तर-निकाय या मिलिन्द-पञ्च में शिक्षापदों की संख्या १५० बताई गई है ?

### विनय पिटक के नियम

पालि विनय-पिटक के अनुसार अब हम उसके ऊपर निर्दिष्ट २२७ शिक्षापदों या विनय-सम्बन्धी नियमों का वर्णन करेंगे ।

### चार पाराजिका धम्मा

'पाराजिक धम्म' का अर्थ है वे वस्तुएँ जो भिक्षु को पराजय दिलाती हैं, अर्थात् जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है उसमें उसे सफल नहीं होने देती । इस प्रकार की वस्तुएँ चार हैं, (१) स्त्री-मैथुन (२) चोरी या न दी हुई वस्तु को लेना (३) मृत्यु या आत्म-हत्या की प्रशंसा करना, ताकि कोई दूसरा आदमी आत्म-हत्या करने के लिये उद्यत हो जाय (४) लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने अन्दर ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति दिसाना जब कि वास्तव में ऐसी प्राप्ति नहीं हुई है । ये चार वस्तुएँ भिक्षु को उसके श्रामण्य के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होने देती । वे उसे पराजित कर डालती हैं । इसीलिये वे 'पाराजिक धम्म' कहलाती हैं । इनमें से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नहीं रहता । वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है । वह

१. देखिये विटरनित्तः हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्ड दूसरी, पृष्ठ २३, पद-संकेत ५; अंगुत्तर-निकाय में वास्तव में शब्द है 'साधिकं विपद्द-सिक्खापदसत्तं' (१५० या उससे कुछ अधिक) जिसका अर्थ आचार्य बुद्धघोषने ठीक १५० किया है । 'मिलिन्दपञ्च' में भी बिलकुल यही शब्द है ।

२. देखिये, पृष्ठ २६७ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है । उसके लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है । जैसे पीली पड़ी हुई पत्ती पेड़ से झड़कर गिर पड़ती है, उसी प्रकार यह भिक्षु श्रामण्य के संबंधा अवोग्य समझा जाता है और नियमानुसार संघ से उसका निष्कासन कर दिया जाता है ।

### तेरह संधादिसेसा धम्मा

चार पाराजिक धम्मा का दण्ड तो जैसा हम ऊपर देल चुके हैं संघ से निष्कासन है । 'संधादिसेस' धम्म इन पाराजिक धम्मा से कुछ कम गम्भीर अपराध माने जाते हैं । इनका नाम 'संधादिसेस' इसलिये है कि इनके दंड-स्वरूप अपराधी भिक्षु को छह दिन के लिये अस्थायी रूप से संघ को छोड़ देना पड़ता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अकेला रह कर तपस्या (मातत्त) करता है । बाद में शुद्ध होकर वह संघ में प्रवेश करता है । 'संधादिसेस' कोटि में आने वाले तेरह अपराध हैं, जो इस प्रकार हैं (१) ज्ञान बुझकर बौर्य-नाश करना । अज्ञात रूप से स्वप्न-दोष में बौर्य-स्खलन हो जाना इसके अन्तर्गत अपराध नहीं माना जाता (२) काम-वासना से स्त्री-स्पर्श (३) काम-वासना से स्त्री से वार्तालाप (४) अपनी प्रशंसा द्वारा किसी स्त्री को अपनी ओर घुरे उद्देश्य से आकर्षित करना (५) विवाह सम्बन्ध निश्चित करवाना या प्रेमियों का संगम करवाना (६) बिना संघ की अनुमति लिये अपने लिये विहार बनवाने लग जाना (७) बिना संघ की अनुमति के निश्चित मात्रा से बड़े नाप के विहार बनवाने लग जाना जिनके चारों ओर खुली जगह भी न हो (८) क्रोध के कारण निराधार ही किसी भिक्षु को 'पाराजिक धम्म' का अपराधी ठहराना (९) पाराजिक अपराध से मिलते-जुलते किसी अन्य अपराध को पाराजिक अपराध बतलाकर किसी साथी भिक्षु को उसका अपराधी ठहराना (१०) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना (११) फूट डालने वालों की सहायता करना । (१२) बिना किसी गृहस्थ की अनुमति के उसके घर के भीतर घुस जाना (१३) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ या साथी भिक्षुओं के आदेश को न सुनना ।

### दो अनियता धम्मा

'अनियत' का अर्थ है अनिश्चित । जिन अपराधों का स्वरूप अनिश्चित हो और साक्ष्य प्राप्त होने पर ही जिन्हें एक विशेष श्रेणी के अपराधों में रक्ता जा

सके, तत्सम्बन्धी नियमों को 'अनियता धम्मा' कहते हैं। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के अपराधों से है (१) यदि कोई भिक्षु किसी एकान्त स्थान पर बैठ जाता स्त्री से बातें कर रहा है और कोई श्रद्धावती उपासिका आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्तिक—जिसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े) अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है (२) यदि वह एकान्त स्थान में न बैठ कर किसी खुली हुई जगह में बैठ कर ही स्त्री से सम्भाषण कर रहा है। किन्तु उसके शब्दों में कुछ अनौचित्य है और कोई श्रद्धावती उपासिका उसी प्रकार आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है।

### तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा

'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' वे अपराध हैं जिनके लिये स्वीकरण के साथ साथ प्रायश्चित्त करना पड़ता है और जिस वस्तु के सम्बन्ध में अपराध किया जाता वह वस्तु भी भिक्षु से छीन ली जाती है। इस श्रेणी के अपराधों में प्रायः सभी वस्त्र-संबन्धी और केवल दो भिक्षा-यात्र सम्बन्धी हैं। वस्त्र सम्बन्धी तृष्णा भिक्षु को कित कित रूपों में आ सकती है, इसी को देखकर इन नियमों का विधान किया गया है। उदाहरणतः यदि कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त वस्त्र रखता है, या किसी गृहस्थ से बैठेक समय पर वस्त्र माँगता है, या अपनी इच्छानुसार किसी अच्छे वस्त्र को प्राप्त करने के लिये अपने किसी उपासक गृहस्थ को इसारा देता है, या रेशम या मुलायम ऊन के गद्दों आदि को काम में लेता है, तो वह इस अपराधों के अन्तर्गत अपराधी होता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भिक्षा-यात्र रखने पर या बिना आवश्यक कारण उसे किसी दूसरे से बदल लेने पर वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इन वस्त्र और भिक्षा-यात्र सम्बन्धी नियमों का उद्देश्य, जिनके सब के व्योरेवार विवरण देने की हमें आवश्यकता नहीं, केवल यही है कि भिक्षु इन वस्तुओं के प्रयोग में संयत और सावधान रहे, वे अल्पेच्छ हों और यथा-प्राप्त सामग्री से ही अपना गुजारा कर लें। व्यक्ति के ऊपर संघ की प्रतिष्ठा भी इन नियमों के द्वारा की गई है। जो वस्तु संघ को दान दी गई है उसे कोई एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से अपनी बनाकर नहीं रख



सकता । ऐसा करने पर वह अपराधी ठहरता है, उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और वह वस्तु संघ को लौटा देनी पड़ती है ।

## ९२ पाचित्तिया धम्मा

९२ अपराधों की एक सूची ऐसी है जिन्हें करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद अपराधमुक्त कर दिया जाता है । चीनी विनय-पिटक शिवतु-गित्सु (धम्मगुत्तिक सम्प्रदाय का विनय-पिटक) में इस श्रेणी के केवल ९७ अपराधों का उल्लेख है । इन सब अपराधों का विवरण यहाँ अनावश्यक होगा । संघ-शासन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका संक्षिप्त निर्देश ही हो सकता है । अधिकतर नियम ऐसे हैं जो उस समय के देश-काल आदि से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु ऐसे भी कम नहीं हैं जिनका उपयोग सब काल और सब देश के लिये है । भिक्षु के लिये एक बार भोजन करना, भिक्षुणी को उपदेश देते समय सावधान और जागरूक रहना, भिक्षु-पद के गौरव की रक्षा करना, आदि बातें ऐसी हैं जिनका उल्लंघन करने पर भिक्षुओं को प्रायश्चित्त कर आने के लिये संयम-रक्षा का संकल्प लेना पड़ता था । भूट बोलना, गाली देना, चुंगली करना, नशीली चीजों का प्रयोग करना, आदि अपराधों के करने पर भी प्रायश्चित्त करने के बाद आगे के लिये वैसा न करने के लिये इत-संकल्प होना पड़ता था ।

## चार पटिदेसनिया धम्मा

'पटिदेसनिया धम्मा' का अर्थ है वे वस्तुएँ जिनके लिये प्रतिदेशना (क्षमा-याचना) आवश्यक हो । किसी अज्ञात भिक्षुणी द्वारा भोजन-प्राप्ति, भोजन के समय किसी भिक्षुणी को भिक्षुओं के प्रति आदेश देती हुई देखकर भी उसे न रोकना, बिना पूर्व निमंत्रण के अपने स्थान पर किसी गृहस्थ के हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा उपद्रव-ग्रस्त वन में किसी गृहस्थ को वहीं बुलवा कर उसके हाथ से भोजन की प्राप्ति, इन चार अपराधों के लिये क्षमा-याचना करनी पड़ती है ।

## ७५ सेखिया धम्मा

'सेखिया धम्मा' या शैक्ष्य धर्म वे हैं जिनका सम्बन्ध बाहरी शिष्टाचार, वस्त्र पहनने के ढंग और भोजन आदि करने के नियमों से है । भिक्षु को किस प्रकार की वस्त्र पहनकर भिक्षा-वर्षा के लिये जाना चाहिये, किस प्रकार शरीर औ

वस्त्रों के उचित समेटन और फैलाव के साथ उसे बरतना चाहिये, किस प्रकार उसे शान्त रहना चाहिये, जोर से हँसना आदि नहीं चाहिये, इन्हीं सब बातों का विस्तृत विवरण किया गया है और इनके तोड़ने पर फिर शिक्षा का विधान किया गया है। इन नियमों में से अधिकतर तत्कालीन शिष्टाचार से सम्बन्ध रखते हैं जो बौद्ध देशों में आज तक भी कुछ हद तक जीवित अवस्था में हैं।

### सात अधिकरणसमथा धम्मा

संघ में विवाद होने पर उसकी शान्ति के उपाय के रूप में सात नियमों का विधान किया गया है। ये सात नियम हैं (१) संमुख-विनय (२) स्मृति-विनय (३) अ-मूढ़ विनय (४) प्रतिज्ञात करण (५) यद्भूयसिक (६) तत्पापी-यसिक (७) तिणवत्पारक। चूंकि संघ-आसन तथा तत्कालीन गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतः इनका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित होगा। भगवान् के मुख से ही सुनिये—“आनन्द ! संमुख विनय कैसे होता है ? आनन्द ! भिक्षु विवाद करते हैं ‘यह धर्म है या अधर्म; विनय या अविनय’ ? आनन्द ! उन सभी भिक्षुओं को एक जगह एकत्रित होना चाहिये। एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का ज्ञान से परीक्षण करना चाहिये। जैसे वह शान्त हो उसी प्रकार उस भगड़े (अधिकरण) को शान्त करना चाहिये। इस प्रकार आनन्द ! संमुख विनय होता है। इस प्रकार संमुख विनय से भी किन्हीं किन्हीं भगड़ों (अधिकरणों) का शमन होता है।

“आनन्द ! यद्भूयसिक कैसे होता है ? आनन्द ! यदि भिक्षु अपने भगड़े को उसी आवास (निवास-स्थान) में शान्त न कर सकें तो आनन्द ! उन सभी भिक्षुओं को, जिस आवास में अधिक भिक्षु हैं, वहाँ जाना चाहिये। वहाँ सबको एक जगह एकत्रित होना चाहिये, एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का समनुमाज्जन (परीक्षण) करना चाहिये। इस प्रकार भी कुछ भगड़ों का शमन हो जाता है।

“आनन्द ! स्मृति-विनय कैसे होता है ? यहाँ आनन्द ! भिक्षु भिक्षु पर पाराजिक या पाराजिक समान दोष का आरोप लगाता है, स्मरण करो जावूस ! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान बड़े दोष के अपराधी हुए, किन्तु वह दूसरा भिक्षु उत्तर में कहता है, ‘जावूस ! मुझे याद नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हूँ, दोष से दोषी हूँ’। उस भिक्षु को आनन्द ! स्मृति-विनय देना चाहिये। इस स्मृति विनय से भी किन्हीं किन्हीं भगड़ों का निबटारा होता है।

“आनन्द ! अमूढ़ विनय कैसे होता है ? ..... ‘आवुस ! मैं पागल हो गया था, मुझे मति-भ्रम हो गया था, उन्मत्त हो मैंने बहुत सा श्रमण-विरुद्ध आचरण किया, भाषण किया, मुझे वह स्मरण नहीं होता। मूढ़ हो, मैंने वह किया। उस भिक्षुको आनन्द ! अ-मूढ़-विनय देना चाहिये।

“आनन्द ! प्रतिज्ञात करण कैसे होता है ? आनन्द ! ..... भिक्षु दूसरों के द्वारा आरोप करने या न करने पर भी अपने दोष को स्मरण करता है, खोलता है, स्पष्ट करता है। उस भिक्षु को अपने से बृद्धतर भिक्षु के पास जाकर चौबर को एक (बायें) कंधे पर करके, पाद-वन्दना कर हाथ जोड़कर ऐसा कहना चाहिये, ‘भन्ते ! मैं इस नाम की आपत्ति (दोष) से आपन्न हूँ, उसकी मैं प्रति-देसना (निवेदन) करता हूँ’। तब वह दूसरा भिक्षु ऐसा कहे ‘दिक्षते हो उस दोष को ?’ ‘दिक्षता हूँ’ ‘आगे से इन्द्रिय-रक्षा करना’, ‘रक्षा कहूँगा’। आनन्द ! इस प्रकार प्रतिज्ञात-करण होता है।

“आनन्द ! तत्पापीयसिका कैसे होती है ? यहाँ आनन्द ! किसी भिक्षु पर कोई दूसरा भिक्षु पारानजिक या पारानजिक-समान भारी अपराध का दोष लगाता है। वह उसे सुनकर कहता है, ‘आवुस ! मुझे स्मरण नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ हूँ’ फिर दोष लगाने वाला भिक्षु कहता है ‘आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो। क्या तुम्हें स्मरण है कि तुम ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुए थे !’ ‘आवुस ! मैं स्मरण नहीं करता कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ। स्मरण करता हूँ आवुस ! मैं इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ’। ‘आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो।’ ‘आवुस ! मैं इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ, यह मैं बिना पूछे ही स्वीकार करता हूँ, तो क्या मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हो पूछने पर भी स्वीकार न कहूँगा’। अधिक जोर देने पर वह स्वीकार करले ‘आवुस ! स्मरण करता हूँ मैं ऐसी भारी आपत्ति (दोष) से आपन्न हुआ। सहसा प्रमाद से मैंने यह कह दिया कि मैं स्मरण नहीं करता’। इस प्रकार आनन्द ! तत्पापीयसिका (उससे भी और कहीं आपत्ति) होती है।

“आनन्द ! तिण्ण वित्थारक कैसे होता है ? आनन्द ! आपस में कलह करते हुए भिक्षु बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण करते और भाषण करते हैं। उन सभी भिक्षुओं को एकत्रित होना चाहिए। एकत्रित हो कर एक पक्ष वालों में से किसी चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर चौबर को एक कंधे पर कर हाथ जोड़ संध को विज्ञापित करना चाहिए ‘भन्ते ! संध सुने। कलह करते हुए हमने बहुत से

श्रमण-विस्मय आचरण किए हैं। यदि संघ उचित समझे तो जो इन आयुष्मानों का दोष है और जो मेरा दोष है, इन आयुष्मानों के लिए भी और अपने लिए भी मैं तिणवित्थारक (घाँस से ढाँकना जैसा) वयान करूँ, लेकिन बड़े दोष गृहस्थ-सम्बन्धी को छोड़ कर। तब दूसरे पक्ष वालों में से चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर ऐसा हो करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द! तिणवित्थारक (तृण से ढाँकने जैसा) होता है”।<sup>१</sup>

भिक्षुओं के समान भिक्षुणियों के लिए भी अनेक आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान था। आठ गुरु-धर्म तो भगवान् ने प्रथम बार ही भिक्षुणी-संघ के लिए स्थापित कर दिये गए थे, जो इस प्रकार हैं—

- (१) सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अञ्जलि जोड़ना, सामीची कर्म करना चाहिए।
- (२) जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए।
- (३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से पर्येषण करना चाहिए।
- (४) वर्षा-वास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने, जाने तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए।
- (५) जिस भिक्षुणी ने गुरु-धर्मों को स्वीकार कर लिया है उसे दोनों संघों को मानना चाहिए।
- (६) किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दे।
- (७) भिक्षुणियों का भिक्षुओं को कुछ भी कहने का रास्ता बन्द है। भिक्षुणी को भिक्षु से बात नहीं करनी चाहिए।
- (८) भिक्षुओं का भिक्षुणियों को कहने का रास्ता खुला है। अर्थात् भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम भी थे। उनमें कुछ भिक्षुओं के समान भी थे, जैसे भूट, चुगली आदि से विरति। कुछ विशिष्ट रूप से उनके लिए ही थे, जैसे एकान्त या अँधेर स्थान में किसी से सम्भाषण न करना, रात्रि में अकेली कहीं न जाना, सड़क पर भी किसी से अलग बात नहीं करना, किसी भी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र से न

१. साम्मगम-सुत्त (मज्झिम. ३।१।४; महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)



मिलना-जुलना, जीविका के लिए कोई शिल्प न सीखना न सिखाना, अंग-रूप आदि न लगाना, आदि । भिक्षुणियों पर भी पाराजिका आदि दोष उसी प्रकार लागू थे जैसे भिक्षुओं पर । हाँ, प्रव्रज्या प्राप्त करने से पहले के दोषों के लिए वे दंड की भागिनी नहीं होती थीं । एक बार एक व्यभिचारिणी स्त्री संघ में प्रवेश पा गयी थी । संघ-प्रवेश के बाद वह उसके लिए दंडित नहीं की गई ।

ऊपर भिक्षु-भिक्षुणियों सम्बन्धी नियमों और उनके उल्लंघन करने पर प्राप्त दण्ड-विधान का कुछ विवरण दिया गया है । वास्तव में वितय-पिटक नियमों और उनके उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की इतनी लम्बी सूची है कि उसका संक्षेप नहीं दिया जा सकता । किन्तु वितय-पिटक में नियमों के अलावा और भी बहुत कुछ है । उसकी विषय-वस्तु के क्रम में ये नियम और अन्य बातें कहाँ कहाँ आती हैं, यह तत्सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट होगा । जैसा पहले कहा जा चुका है, वितय-पिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है—

### १. सुत्त-विभंग

(अ) पाराजिक

(आ) पाचित्तिय

### २. खन्धक

(अ) महावग्ग

(आ) चुल्लवग्ग

### ३. परिवार

## सुत्त-विभंग

सुत्त-विभंग के दो भागों 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय' में क्रमशः उन अपराधों का उल्लेख है, जिनका दंड क्रमानुसार संघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है । ये अपराध संख्या में २२७ हैं और जैसा हम अभी दिखा चुके हैं, इन सम्बन्धी नियम आठ वर्गीकरणों में विभक्त हैं, यथा (१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसंघ, (३) दो अनियता धम्म, (४) तीस निस्संमिया पाचित्तिया धम्म, (५) ९२ पाचित्तिय धम्म, (६) चार पटिदमनिय धम्म, (७) ७५ सेंखिय धम्म, तथा (८) सात अधिकरणसमय धम्म । इनका विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं । सुत्त-विभंग में इन्हीं नियमों का विश्लेषण है । साथ में इन नियमों का

विधान किस प्रकार किया गया इसका पूरा इतिहास भी दिया गया है। अपराधों के विचार से वर्गीकरण करने पर 'सुत-विभंग' के दो विभाग रहे ही (१) पाराजिक और (२) पाचित्तिय, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों को उद्देश्य कर उनका वर्गीकरण करने से उसके दो भाग होते हैं (१) महाविभंग या भिक्षु-विभंग और (२) भिक्षुणी-विभंग (भिक्षुनी विभंग)। भिक्षु-विभंग में भिक्षुओं सम्बन्धी नियमों का विवरण है और भिक्षुनी-विभंग में भिक्षुणी-सम्बन्धी नियमों का। इन नियमों का इतिहास छोड़ कर केवल नियमों मात्र का संसंह ही 'पातिमोक्ख' के नाम से प्रसिद्ध है। भिक्षु और भिक्षुणी संघ के अनुसार पातिमोक्ख के भी दो भेद हैं, यथा (१) भिक्षु पातिमोक्ख और (२) भिक्षुनी पातिमोक्ख जो क्रमशः महाविभंग (भिक्षु विभंग) और भिक्षुनी-विभंग के ही संक्षिप्त रूप हैं। यदि हम चाहें तो सुत-विभंग को 'पातिमोक्ख' का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते हैं, या 'पातिमोक्ख' को 'सुत-विभंग' का उपयोग के योग्य संक्षिप्तोक्ति। भिक्षु-संघ में उपोसथ (उपवास-उपवास-इत) नाम का एक संस्कार होता था। प्रत्येक मास की अमावस्या और पूर्णिमा को जितने भिक्षु एक गाँव या क्षेत्र के पास विहरते थे, सब एक जगह एकत्रित हो जाते थे और उन सब की उपस्थिति में 'पातिमोक्ख' (पातिमोक्ष) का पाठ होता था। 'पातिमोक्ख' में, जैसा हम अभी कह चुके हैं, पाराजिक, पाचित्तिय आदि के वर्गीकरणमें विभाजित २२७ अपराधों एवं तत्सम्बन्धी नियमों का विवरण है। 'पातिमोक्ख' का पाठ करते समय जैसे जैसे अपराधों के प्रत्येक वर्गीकरण का पाठ किया जाता था, उस सभा में सम्मिलित प्रत्येक भिक्षु से यह आशा की जाती थी कि वह उठ कर यदि उसने यह अपराध किया है तो उसका स्वीकरण कर ले, ताकि भविष्य के लिए सधम हो सके। उपवासादि रखने और पाप-प्रायश्चित्त करने की यह प्रथा प्राम्बुद्धकालीन भारत में अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित थी। किन्तु बुढ़ने उसे एक विशेष नैतिक अर्थ से अनुप्राणित कर दिया था। पाप को उधारा देने में वह स्यूट जाता है। चित्त-शुद्धि के लिए अपने पापों को खोल देना चाहिए। गुप्त रखने से वे और भी लिपटते हैं। पाप-स्वीकरण, क्षमा-याचना और आगे के लिए कुतर्मकल्पता, यही प्रातिमोक्ष-विधान के प्रधान लक्ष्य थे। चूंकि ऐसा करने के बाद प्रत्येक अपराधी भिक्षु एक प्रकार अपने-अपने अपराध के बोझ को उठा पकता था, उससे विमुक्ति पा जाता था, इसलिए 'पातिमोक्ख' का अर्थ प्रत्येक का पाप-भार को फेंक देना, पाप से मुक्त हो जाना, पाप ने

मोक्ष पा जाना, हो सकता है। चूंकि प्रत्येक भिक्षु अलग अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप-विमुक्त होता था, अतः 'प्रातिमोक्ष' के 'प्राति' शब्द में यह 'प्रति' का भाव लेकर हम कह सकते हैं कि 'प्रातिमोक्ष' का अर्थ है प्रत्येक को अलग अलग मुक्ति। चूंकि पालि 'पातिमोक्ख' का संस्कृत प्रतिरूप 'प्रातिमोक्ष' ही सर्वास्तिवादी आदि प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है, अतः पालि 'पातिमोक्ख' का भी अर्थ प्रत्येक का अलग अलग पाप-मुक्त हो जाना अशुद्ध नहीं हो सकता। आधुनिक विद्वान् अधिकतर इसी अर्थ को लेते हैं। किन्तु आचार्य बुद्धघोष ने 'प्रति मुख' अर्थात् प्रत्येक भिक्षु के द्वारा अपने अपने मुख से पाप-स्वीकरण, इस अर्थ पर जोर दिया है। यह 'प्रातिमोक्ख' में होता ही है। बुद्धघोष की 'पातिमोक्ख' की निरुक्ति और सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों में 'प्रातिमोक्ष' के रूप में उसका अर्थ ग्रहण, इन दोनों में कोई असंगति नहीं है। बल्कि वे दोनों ही उसके क्रिया और फल के क्रमशः सूचक हैं, अतः वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। भगवान् ने प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी उपदेश सुत्तों में भी अनेक बार दिया है। भिक्षु शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष के संवर (संयम) से संयुत होता है, आचार-मोचर से सम्पन्न होता है, शिक्षापदों को ग्रहण कर अभ्यास करता है" आदि, ।

### सन्धक

विनय-पिटक का दूसरा भाग सन्धक भी दो भागों में विभक्त है, महावग्ग और चुल्लवग्ग। सुत्त-विभाग जब कि अधिकांशतः तिषेधात्मक है, महावग्ग उसी का विधानात्मक स्वरूप है। संघ के अन्दर जिस प्रकार का जीवन बिताना चाहिए उसका यहाँ निर्देश किया गया है। महावग्ग में प्रथम दस सन्धक हैं। सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर प्रथम संघ की स्थापना तक का यहाँ पुरा इतिहास भी दिया गया है। यह भाग 'महावग्ग' का बड़ा महत्वपूर्ण है। पहले सन्धक (विभाग, अध्याय) में भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति एवं वाराणसी में धर्म चक्र-प्रवर्तन का वर्णन है।

- 
१. गोपक-मोगल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८); मिलाइये "भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष-संवर से संयुत (रक्षित) होकर विहरो, शिक्षापदों को ग्रहण कर उनका अभ्यास करो।" आकंक्षेध्य-सुत्त (मज्झिम. १।१।६)

इसके बीच उरुवेला से लेकर वाराणसी तक की उनकी यात्रा का विस्तृत विवरण है। इसी प्रसंग में मार्ग के बीच में ही तपस्सु और भल्लिक नामक बणिकों को भगवान् उपासक बनाते हैं और वे बुद्ध और धम्म की शरण में जाते हैं। उपक नामक आजीवक भी भगवान् को मार्ग में मिलता है, उसके साथ हुए उनके संलाप का विवरण है। वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के बाद भगवान् आज्ञा कौण्डिन्य, भट्ठिय, वप्प, अस्सजि और महानाम इन पंचवर्गीय भिक्षुओं को जो उनके साथ पहले उरुवेला में रहे थे, बुद्ध-मत में प्रवर्जित करते हैं। इसके बाद वन के संन्यास का वर्णन है। उसके बाद काश्यप-वन्धुओं (जटिल काश्यप, उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप) को प्रव्रज्या का वर्णन है। महाराज विविसार के उपासकत्व का भी वर्णन है। "भन्ते ! मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं—मैं राज्य-अभिषिक्त होता—मेरे राज्य में सम्यक् सम्बुद्ध आते—मैं उनकी सेवा करता—वे भगवान् मुझे धर्म-उपदेश करते—उन भगवान् को मैं जानता। भन्ते ! ये मेरी पाँचों इच्छाएँ आज पूरी हो गईं। इसलिए भन्ते ! मैं भगवान् की शरण लेता हूँ, धर्म की और भिक्षु-संघ की भी।" इसी समय उसने भिक्षु संघ को वेणु-वन दान भी किया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के संन्यास का वर्णन, महाकाश्यप के संन्यास का वर्णन, नन्द और राहुल का संन्यास, अनिरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि के संन्यास के वर्णन, सभी क्रमानुसार दिए गए हैं जो भिक्षु-संघ के बुद्धकालीन विकास को जानने के लिए तथा इन प्रथम शिष्यों की जीवन-साधना से परिचित होने के लिए बड़े आवश्यक हैं। बुद्ध-स्वभाव पर प्रकाश डालने वाले भी अनेक प्रकरण बीच-बीच में मिलते ही चलते हैं। उदाहरणतः इसी वर्ग में हम भगवान् बुद्ध को एक रोगी भिक्षु की सेवा-शुश्रूषा करते देखते हैं। साथ में आनन्द भी भगवान् की सहायता करते हैं। यह प्रसंग वास्तविक श्रमण-धर्म को जानने के लिए अति आवश्यक है। वास्तव में अनिरुद्ध, उपालि और आनन्द के संन्यास के वर्णन चुल्लवग्ग में हैं, जो महावग्ग का ही आगे का भाग है। इसी वर्ग में आगे अनायापडिक की दीक्षा और जेतवन-दान का वर्णन और महाप्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या का वर्णन है। यहीं से भिक्षुणी-संघ का भी आरम्भ होता है। चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विवरण हैं। वास्तव में न केवल भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से ही बल्कि छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग में पर्याप्त सामग्री भरी हुई। जीवक कीमारभृत्य का विवरण जो महावग्ग में आता है, तत्कालीन आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान और उसके



अभ्यास का अच्छा परिचय देता है। विन्विस्सार आदि के विवरण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और वैशाखी आदि के विवरण उस समय की सामान्य सम्बन्धता और मनुष्यों के रहन-सहन के ढंग का अच्छा परिचय देते हैं। निश्चय ही इस दृष्टि से विनय-पिटक का और विशेषतः महावग्ग और चुल्लवग्ग का बड़ा महत्त्व है। यहीं पर सुत-विभंग की विषय-वस्तु के पूरक-स्वरूप भिक्षु और भिक्षुणी संघों के आन्तरिक जीवन एवं कार्य-संचालन का भी अच्छा चित्र दिया गया है। भिक्षु-संघ में प्रवेश के नियम, उपोसथ के नियम, वर्षावास के नियम, उसके अन्त पर 'पंचारणा' सम्बन्धी नियम, संघ में फूट पड़ने पर उसमें एकता लाने के उपाय, भिक्षुओं के जीवन की छोटी से छोटी बातों पर भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार, उनके कपड़े और जुते पहनने तक के ढंग, सबारों में बैठने सम्बन्धी नियम, निवास-स्थान और उसकी सफाई, भरम्मत्त आदि सम्बन्धी नियम, किसी भी विषय को यहाँ छोड़ा नहीं गया है। चुल्लवग्ग के दसवें खण्ड में केवल भिक्षुणी-जीवन सम्बन्धी नियमों और ज्ञातव्य बातों का ही विवरण है। 'खण्डक' से ही संलग्न 'कम्म वाचा' के भी विवरण हैं जो संघ सम्बन्धी विभिन्न कृत्यों और संस्कारों के समय कार्य-प्रणाली के सूचक हैं। 'खण्डक' में आये हुए नियमों के समान यहाँ विभिन्न कर्मों (कम्म) के लिए प्रयुक्त शब्दों (वाचा) का विधान किया गया है।

'परिवार' या 'परिवार-पाठ' विनय-पिटक का अन्तिम भाग है। जैसा विट्ठरनिन्द ने कहा है, 'परिवार' का विनय-पिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टों का वेद के साथ।<sup>१</sup> 'परिवार' सम्भवतः वाद का भी संकलन है। वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। विनय-पिटक की विषय-वस्तु की इसे एक प्रकार से 'मातिका' या विषय-सूची ही समझना चाहिए। 'परिवार' में १९ परिच्छेद हैं, जिनमें अभिवग्ग की शैली पर विनय-पिटक के विषय को ही पुनरावृत्ति की गई है। 'परिवार' की अन्तिम मायाओं में कहा गया है—“पुम्मात्तरियमग्गं व पुच्छित्वा ता तन्हि तन्हि दीपं नाम महापज्जो सुतवरो विवस्सणा इमं विवार-सत्थो सज्जाम्भगेन मज्झिमे विन्विस्सि लज्जापेसि तिससकानं सुखावहं।” इससे निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी शिक्षा के इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महासति भिक्षु ने सिंहल में लेखबद्ध करवाया। 'लेखबद्ध करवाने' (लज्जापेसि) का अर्थ

प्रणयन या संकलन करना या करवाना नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश समझ लिया है। पूर्व परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने (पुस्तकाकार) लेखबद्ध करवाया, इन गाथाओं का केवल यही अर्थ है। सम्पूर्ण त्रिपिटक के वटुगामणि के समय से लेखबद्ध किए जाने के प्रसंग ( महावंस ३३।२४७९.८० ) में भी ऐसा ही कहा गया है। अतः उसे प्रणयन या संकलन का सूचक नहीं मानना चाहिए। यद्यपि 'परिवार' के संकलन-काल की तिथि निश्चित रूप से स्थापित नहीं की जा सकती, फिर भी शैली के साक्ष्य पर उसे अभिधम्म-पिटक के समकालिक माना जा सकता है, अर्थात् कम से कम तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व।

इस प्रकार हमने संघ की अनुस्मृति की। जिस प्रकार धम्म की अनुस्मृति में हमने सुत्तों का सहारा लिया, उसी प्रकार भिक्षु-संघ की स्मृति करने में विनय-पिटक ने हमारी सहायता की। बुद्ध की अनुस्मृति तो दोनों जगह समान ही रही। साथ-साथ हमने तत्कालीन लोक-समाज की भी देखा, बुद्ध के देश और काल को भी देखा। इतिहास-लेखक तो इसी पर सर्वाधिक जोर देते हैं, किन्तु हमने तो प्रासंगिक वस ही सही, पर बुद्ध, धम्म और संघ की अनुस्मृति भी अवश्य की। निस्संदेह ही महापुरुष (बुद्ध) का जितना बड़ा दान विश्व को 'धम्म' का था, उससे कम बड़ा दान संघ का भी नहीं था। बुद्धकालीन भिक्षु-संघ साक्षात् साधना का निवास-स्थान था। उसकी वह पवित्रता की श्रुति ही थी जो उसकी महिमा के इतने विशाल भूखंड पर विस्तार का कारण हुई। भिक्षु-संघ के विषय में जो यह कहा गया है कि वह आहुनेय्य (निमंत्रण करने योग्य) था, पाहुणेय्य (पाहुना बनाने योग्य) था, दान देने योग्य था, अञ्जलि जोड़ने योग्य था, एवं लोक के लिए गुण्य होने का अद्वितीय श्रेष्ठ था, वह उसकी पवित्रता और संयम-प्रियता को देखते हुए बिल्कुल ठीक ही था। भगवान् का श्रावक-संघ 'आमिस-दायाद' नहीं था और न वह किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया था, यह इसी से प्रकट होता है कि आनन्द और महाकाश्यप जैसे ज्ञानी और साधक भिक्षुओं के रहते हुए भी शास्ता ने किसी को अपने बाद संघ का संचालक नहीं बनाया। धर्म और विनय के संचालन में ही उन्होंने उसे छोड़ा। भगवान् का कोई पीटर या अलों नहीं बना। कारण, यहाँ वैसा कुछ या ही नहीं जिसका किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार सौंपा जा सके। इतनी निर्व्यक्तिकता विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई।

विनय-पिटक के नियमों में आधारभूत विश्वजनीन तत्व कितना है अथवा कितना वह देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियों से उद्भूत है, यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। नगई ने अपने संक्षिप्त विनय-सम्बन्धी निबन्ध<sup>१</sup> में इस प्रश्न को उठाया है और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तित स्वरूपों का विवेचन करते करते वे उस हद तक पहुँच गए हैं, जहाँ तक स्वाविरवादी बौद्ध परम्परा तो उनके साथ जा ही नहीं सकती, धर्म और साधना का कोई भी भारतीय विद्यार्थी भी जहाँ तक जाना पसन्द नहीं करेगा। उदाहरणतः स्त्री-संलाप आदि अनेक बातों के साथ-साथ भिक्षु के एकाग्रान्तिक (एकाहारी) होने सम्बन्धी व्रत के अभ्यास को भी नगई ने इस आधुनिक युग में असम्भव और कदाचित् अनावश्यक मान लिया है। निश्चय ही यह सीमा को अतिक्रमण कर जाता है। समाज और जीवन के बाहरी रूपों में परिवर्तन होने के साथ-साथ आज के मनुष्य के लिए उनके मूल्यों के अंकन में भी परिवर्तन हो चुका है। वह भीतर से मूल्य अंकन करने के बजाय आज बाहर पे करने लगा है। यदि इस दृष्टि से विनय-नियमों को आज देखा जाय तब तो उनमें से अधिकांश नियमों का अभ्यास ही व्यर्थ है। मज्झिम-निकाय के कीटागिरि सुत्त (२।२।१०) में हम पढ़ते हैं कि बूढ़ के कुछ विषय भिक्षु अवजित् और पुनर्वसु नामक विनयहीन भिक्षुओं से जा कर कहते हैं, “आवुसो ! भगवान् रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करते हैं। भिक्षु-संघ भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करता है। ऐसा करने से वे आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार अनुभव करते हैं। आवुसो ! तुम भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करो। तुम भी आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार को अनुभव करोगे।” अवजित् और पुनर्वसु नामक विनय-भ्रष्ट भिक्षुओं ने उत्तर दिया, “आवुसो ! हम तोशाम को भी खाते हैं, प्रातः भी खाते हैं, दोपहर भी खाते हैं और दोपहर बाद भी। सायं, प्रातः, मध्याह्न, विकाल (दोपहर बाद) सब समय खाते भी हम आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार करते धुमते हैं। हम सायं भी खायेंगे, प्रातः भी, दिन में भी, विकाल में भी।” जैसा तर्क अवजित् और पुनर्वसु ने दिया वैसा आज कोई भी दे सकता है। और आज की परिस्थिति में वह कुतर्क भी नहीं लगेगा। आज मनुष्य के मूल्यांकन का सारा विधान ही बदल गया है।

१. 'बुद्धिस्ट विनय डिस्टिप्लिन और बुद्धिस्ट कमांडमेन्ट्स,' शीषक, बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६५-३८३.



अतः यदि आज के भौतिकवादी जीवनके पूरे स्वीकरण के साथ तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय को निभाता है तो वह अशक्य है। काम-वासना को लक्ष्य मानने वाले जन-समाज के लिए तथागत ने उपदेश नहीं दिया। कम से कम उसके लिए उनके समझना तो अशक्य ही है। अतः विनय-नियमों को निभाने का काम तो ऐसे महान् साधकों का ही हो सकता है जो समाज की मान्यताओं से ऊपर उठने की पूरी शक्ति रखते हों। कम से कम सामाजिक परिस्थितियों के नाम पर आदर्श को गिराना तो हमें नहीं चाहिए। स्थविरवादी परम्परा ने विनय-नियमों पर उनके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ जोर दिया है, इसका यही कारण है। साधन की निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। निष्ठावान् के लिए कभी कुछ असम्भव नहीं है। वह समाज और परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर सकता है, यदि उसे दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ अभ्यास वह करता है उसके पीछे बूढ़ों का सारा अनुभव और ज्ञान छिपा हुआ है और उसकी सच्चाई सामाजिक परम्पराओं या परिस्थितियों की अनुमति की अपेक्षा नहीं रखती। हाँ छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में शास्ता ने स्वयं ही आश्वासन दे दिया है कि उन्हें आवश्यकतानुसार छोड़ा जा सकता है। ये छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियम क्या हैं, इसके विषय में हम जानते हैं कि पूर्वकालीन धर्मसंगीतिकार भिक्षुओं में ही बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ और केवल अनेक सम्प्रदायों में बंट जाने के अतिरिक्त वे इसका कोई हल नहीं निकाल सके। वास्तव में इसका हल बाहर से हो ही नहीं सकता। कोई भी बाहरी विधान साधक को यह नहीं बतला सकता कि यह नियम छोड़ने योग्य है या नहीं। इसके लिए तो आन्तरिक साधना से प्राप्त निमल विवेक-वृद्धि ही मनुष्य के पास सर्वोत्तम साधन है। केवल उसी के द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि क्या अ-महत्त्व पूर्ण है और छोड़ देने योग्य है और क्या महत्त्वपूर्ण है और जीवन भर अनुल्लंघनीय है। इस प्रकार चाहे जो कुछ भी त्याज्य या पालनीय ठहरे, किन्तु यह निश्चित है कि जो त्याज्य होगा वह देश और काल से उद्भूत तत्त्व होगा और जो पालनीय होगा वह सार्वभौम, सार्वकालिक, तत्त्व होगा, जिसमें ही तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय अधिकतर भरा हुआ है। 'अद्रानुद्ध' को छोड़ देने का विधान कर तथागत ने इसी देश-काल-उद्भूत तत्त्व से विमुक्त हो जाने का भिक्षु-संघ को अन्तिम उपदेश दिया था, ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस प्रकार विनय-सम्बन्धी नियमों में न बाहरी कर्मकांड की गन्ध तक है और न वे साधकों के उस स्ववृद्धि-निर्णय के



अधिकार को, जिसे शास्ता ने उन्हें दिया, छीनने का ही उद्योग करते हैं। यह उनकी एक भारी विशेषता है।

विनय को मूल आत्म-संयम है। संयम अर्थात् काया का संयम, वाणी का संयम, मन का संयम। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का समाधान, सम्बन्ध आवान, ही 'शील' कहलाता है। शील की समाप्ति के लिए ही विनय-नियमों का विधान किया गया है, यद्यपि यह ठीक है कि वहाँ उसके बाहरी रूप को लक्ष्य कर के ही अधिकतर नियम बनाये गए हैं। फिर भी शास्ता के द्वारा मानसिक संयम पर जो जोर दिया गया है, वह भी उनके मूल में सुरक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है। केवल किसी कर्म के करने या न करने से ही शील-विक्षुद्धि नहीं हो जाती। भगवान् ने स्वयं कहा भी है "ममान्दिय! न दृष्टि से, न अनुभव से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूँ। अदृष्टि, अ-श्रुति, अ-ज्ञान, अ-शील, अ-व्रत से भी नहीं।" निश्चय ही किसी कर्म के करने या न करने पर सदाचार उतना निर्भर नहीं है जितना उस कर्म-व्यापार के अन्दर रहने वाली मानसिक प्रवृत्ति पर। इसीलिए चेतना पर भगवान् ने सर्वाधिक जोर दिया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के संयम का अर्थ यह नहीं है कि इन भौतिक या मानसिक इन्द्रियों में अपने आप में संयम वैसी कोई वस्तु होती है, बल्कि केवल यही है कि जिन जिन वस्तुओं की अनुभूति इनके द्वारा होती है उनके प्रति मानवीय व्यवहार में संयम पैदा होना चाहिए। 'चक्षु-इन्द्रिय में संयम को प्राप्त होता है' (चक्षुर्निद्रये संवरं आपज्जति) इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक भौतिक चक्षु को संयमित करता है, या चक्षु और रूप के संयोग को ही निरुद्ध करता है। यदि ऐसा होता तो आँख मीचने वाला सर्वोत्तम संयमी होता। अतः चक्षुर्निद्रिय में संयम प्राप्त करने का अर्थ है चक्षु इन्द्रिय मात्र को ही संयमित नहीं करना (सद्यपि है तो वह भी आवश्यक) बल्कि चक्षु के द्वारा देखे हुए रूप के प्रति अपने व्यवहार को संयमित रखना। यही बात श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, जिह्वा और रस, काय और स्पर्श तथा मन और धर्म (मानसिक पदार्थ) के विषय में भी जाननी चाहिए। अभिधम्म की भाषा का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का बड़ा विषद निरूपण आचार्य बुद्धघोष ने 'वितुद्धि-भग्ग' के प्रथम परिच्छेद में किया है। वास्तव में शास्ता का मस्तव्य चित्त को संयमित करने का ही है और उनी उद्देश्य के अनुसार हमें वित्त के नियमों की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें राग, संयह, असन्तोष, अनुद्योगिता और इच्छाओं को ब्रतने वाली है

वे सभी अकरणीय हैं और उनके विपरीत करणीय। विनय-पिटक इन्हीं का कुछ अनुसापन हमें देता है, जो सद्यपि सब काल और सब देशों के लिए परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह सदाचार के उस सार्वभौम आदर्श पर आधारित है जिसे लोक-गुरु (बुद्ध) ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य-मंडल में सिखाया था। विनय के उपदेश करने में, जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है, इस उद्देश्य उनकी दृष्टि में था। "भिक्षुओं! दस बातों का विचार कर मैं भिक्षुओं के उपकार के लिए विनय-नियमों (शिखापदा) का उपदेश करता हूँ (१) संघ की अच्छाई के लिए, (२) संघ की आसानी के लिए, (३) उच्छृंखल पुरुषों के निग्रह के लिए, (४) अच्छे भिक्षुओं के सुख-विहार के लिए, (५) इस जन्म के चित्त-मलों के निवारण के लिए, (६) वन्मान्तर के चित्त-मलों के नाश के लिए, (७) अप्रसन्नों को प्रसन्न करने के लिए, (८) प्रसन्नों की प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए, (९) सज्जनों की चिरस्थिति के लिए और (१०) विनय (संयम) की सहायता (अनुग्रह) के लिए।" इन उद्देश्यों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से विनय-पिटक के नियमों के रूप और उनके उपयोग की सीमा काफी समझ में आ सकती है। उपासकों और भिक्षुओं के लिए निश्चित कमरा; पच (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति) और इस (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति एवं नृत्य-गीत, माला-गन्ध-विलेपन, ऊँचे पलंग, विकाल-भोजन एवं कपड़े-पैसे के ग्रहण से भी विरति) शीलों के समान आज तक कमरा; गृहस्थों और प्रव्रजितों के लिए सार्वभौम सदाचार का कोई दूसरा आदर्श नहीं रचवा गया है? विनय-पिटक के २५२ नियम इन्हीं में अन्तर्भावित हैं।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की मध्य-मंडल की सामाजिक परिस्थिति में सदाचार ने भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिकाओं के लिए सदाचार-सम्बन्धी जिन नियमों का विधान किया, उन्होंने बाद में चल कर कितने देशों और कितने विशाल भूखंड में, भारत-भूमि से कोसों दूर, संन्यासी और गृहस्थ सब के लिए सम्मान्य सदाचार की कसौटी का काम किया, इसे देख कर आपश्चर्मान्वित रह जाना पड़ता है। लंका, वरमा और स्याम की बात जाने दें, तो भी चीन, तिब्बत और जापान आदि में जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया वहाँ-वहाँ विनय-पिटक सम्बन्धी नियमों का कितना सूक्ष्म अनुशीलन किया गया, यह तत्सम्बन्धी साहित्य से

प्रकट होता है। 'मो-सोर्-थर्-या' (विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण) 'मन्-रित्मु', 'शिवन् रित्मु', 'भक्-सोमि-रित्मु', 'कोन्-पोन्-नेल्-इस्से-उबु' और 'गोचुन् रित्मु' (विनय-पिटक के विभिन्न चीनी संस्करण) आदि किस सभ्य को प्रकट करते हैं? किस गाथा को वे दुहराते हैं? स्याम, ब्रमा और लंका में आज भी जो कापाय-वस्त्रों की जीतो-जागतो ज्योति चमकती है, वहाँ के भिक्षु-संघ के जीवन का जो संचालन शास्ता के द्वारा मध्य-मंडल में आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट नियमों के अनुसार होता है, वह सब किस कहानी को कहता है? चाहे चीन, जापान और तिब्बत को ओर देखें, चाहे लंका, स्याम और ब्रमा को ओर देखें, चाहे आर्य जातियों की ओर देखें, चाहे आर्यतर मंगोलियन और तुरानी जातियों की ओर, जब उन सब से पूछा जाय जिस गुरु से तुमने सदाचार को सीखा है, उसका नाम क्या है? तो चारों ओर से वही ध्वनि आती है "अर्य सो भगवा अरह सम्मासम्बुद्धो विज्जावरणसम्पन्नो लोकविद् अनुत्तरो पुरिस-दम्म सारथि सत्त्वा देवमनुस्सान् बुद्धो भगवाति ।" निश्चय ही पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध विश्व के एक बड़े भूभाग के सदाचार के उपदेष्टा हैं, इसका सर्वोत्तम साध्य धम्म के अलावा विनय-पिटक के उन विभिन्न संस्करणों से प्राप्त होता है, जो नाना देशों में पाये गये हैं और जो इस बात के सूचक हैं कि किस गम्भीर मनन और चिन्तन के साथ वहाँ विनय-नियमों की समीक्षा की गई है और उनका जीवन में अनुसरण किया गया है। इस देश में उत्पन्न अप्रजन्माओं से संसार के सब देशों के मनुष्य अपने-अपने सदाचार की सीखें, यह तो मनु ने भी कहा था। किन्तु किस भारतीय मनीषी या ऋषि ने यह काम किया? उनमें से अनेक तो चातुर्वर्णीय दृष्टि भी नहीं मिला सके, फिर विश्व का शास्ता बनना तो दूर की बात थी? जिस गौरव की ओर मनु ने स्मरण दिलाया था उसे भारतीय भूमि और संस्कृति को प्रदान करने वालों में भगवान् बृह ही अग्र हैं, श्रेष्ठ हैं। वे सर्वोत्तम अर्थों में लोक-शास्ता हैं, लोक-गुरु हैं, यह विनय-पिटक के नाना देशों में विकास ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। न केवल बौद्ध देशों या बौद्ध सत्तावलम्बियों तक ही यह प्रभाव सीमित है, बल्कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति, उसके वपुतिस्मा-नियम तथा चर्च-सम्बन्धी विधान में उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों का, जिन्हें अशोक ने पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों में भेजा था, कितना प्रभाव उपलब्धित है, इसमें इतिहासवेत्ताओं के आज दो मत

नहीं हैं।<sup>१</sup> अतः विनय-पिटक केवल संघ-सम्बन्धी नियमों का संग्रह न हो कर आज हमारे लिए एक विशेष ऐतिहासिक सौख्य का स्मारक है। जिस प्रकार शास्ता का धर्म विश्व-धर्म है, उसी प्रकार उनका विनय भी विश्व का विनय है, इसका अपने नाना रूपों में वह साक्ष्य देता है। विनय-पिटक का यह महत्त्व भी आज भारतीय विद्या और संस्कृति के उपासकों के लिए कुछ कम नहीं है।

१. देखिये एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ४०१, वहीं जिल्द बारहवीं, पृष्ठ ३१८-३१९; मुद्रिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६३१-६३२.



## पाँचवाँ अध्याय अभिधम्म-पिटक

### अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का तीसरा मुख्य भाग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभि-विनय' शब्द के साथ-साथ क्रमशः धम्म और विनय सम्बन्धी गंभीर उपदेश के अर्थ में, सुत्त-पिटक में भी हुआ है।<sup>१</sup> संभवतः इसी के आधार पर आचार्य बुद्धदीप ने अभिधम्म का अर्थ किया है—'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द को उन्होंने 'अतिरेक' या 'विशेष' का वाचक माना है।<sup>२</sup> वास्तव में यह 'अतिशयता' या 'विशेषता' धम्म

१. देखिये संगीति-परिचाय-सूत्त (दीघ-३।१०); दसुत्तर-सूत्त (दीघ. ३।११); मुल्लिस्तानि-सुत्तन्त (मज्झिम. २।२।९); किन्ति-सुत्तन्त (मज्झिम-३।१।३)। महायजित राहुल सांकृत्यायन ने यहाँ इन शब्दों का अर्थ केवल धर्म-सम्बन्धी (अभिधम्म) और विनय-सम्बन्धी (अभि-विनय) किया है, जो पूरे अर्थ को व्यक्त नहीं करता।
२. अतिरेक-विसेस-न्यदीपकी हि एत्य अभि-सहो। अट्ठसात्तिनी, पृष्ठ २ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); मिलाइये सुमंगल विलासिनी, पृष्ठ १८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग ने 'अभिधर्म' शब्द को व्युत्पत्ति करते हुए (१) सिद्धि के अभिमुख उपदेश करने के कारण (अभिमुखतः) (२) धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीज्ञप्तात्) (३) विरोधी सम्प्रदायों का खंडन करने के कारण (अभिभवत्) एवं (४) सूत-पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगतितः) 'अभिधर्म' शब्द का सार्थकता दिखाई है। अभिमुखतोऽथानीज्ज्ञावभिधगतितोऽभिधर्मः। महायानसूत्रालंकार १।१३; आचार्य वसुधन्व ने उपकारक स्तब्धादि से युक्त, विमल प्रभा को ही अभिधर्म कहा है। प्रज्ञासम्या सामुच्चराऽभिधर्मः। अभिधर्मकोश १।२

की नहीं हैं। धम्म तो सर्वत्र एक रस है। किन्तु तीनों पिटकों में, उनके माना वर्गीकरणों में, वह ताना रूप हो गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईमते।' जो धम्म सुत्त-पिटक में उपदेश-रूप है, विनय में जो संयम-रूप है, वही अभिधम्म में तत्त्व-रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्वान-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है, आदेशना-विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम है, क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन अपने यथार्थ स्वरूप में रखे हुए हैं। अभिधम्म पिटक में बुद्ध-मन्त्रियों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है, तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हें गणनाबद्ध किया गया है। अतः जब कि सुत्त-पिटक का निरूपण जन-साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म पिटक की सूत्रियों और परिभाषाओं में वही कने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते हैं जिन्होंने बौद्ध तत्त्व-दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधम्म पिटक को 'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म कहा गया है।

अभिधम्म-पिटक धम्म की अधिक गहराई में उतरता है और अधिक साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही उसका प्रणयन हुआ है, ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ ने ही मानती आई है। कहा गया है कि देव और मनुष्यों के वास्ता ने 'अभिधम्म' का उपदेश सर्व प्रथम पादस्त्रिंश लोक में अपनी माता देवी महामाया और अन्य देवताओं को दिया था। बाद में उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने महाप्राज्ञ शिष्य धर्मनेनापति सारिपुत्र के प्रति की थी। धर्मनेनापति सारिपुत्र ने ही उसे अन्य ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही सारिपुत्र के सहित ५०१ भिक्षु अभिधम्म के ज्ञाता थे।<sup>१</sup> इस प्रकार प्राप्त 'अभिधम्म' का ही संगायन, इस परम्परा के अनुसार, प्रथम दो संगीतियों में हुआ।<sup>२</sup> तीसरी संगीति में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई, किन्तु इसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स (मोद्गलिपुत्र तिष्य) ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को भी जिसकी मोटी रूपरेखा भगवान् बुद्ध भविष्य में उत्पन्न होने वाले मिथ्या मत-वाधों का ज्ञान प्राप्ति कर उनके निराकरणार्थ पूर्व ही निश्चित कर गये थे, पूर्णता देकर 'अभिधम्म'

१. अट्टसांनि की निदान-कथा; मिलाइये धम्मपट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्य पृष्ठ ८३-९० में अनुवादित।

२. देखिये दूसरे अध्याय में प्रथम दो संगीतियों का विवरण।

में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह स्वविरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म-पिटक को भी सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान ही बुद्ध-वचन मानने की प्रवृत्ति है।

### रचना-काल

उपर्युक्त अनुश्रुति अभिधम्म-पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उसने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म-पिटक का कम से कम एक ग्रन्थ 'क्यावत्तु' अशोक-कालीन रचना है और उसका वर्तमान रूप स्वविर मोग्गलिपुत्त तिस्र का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारंभिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर संरचित अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्वविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है। आधुनिक विद्वानों के लिए सबसे अधिक कठिन समस्या तो यह है कि आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, वह कहाँ तक सीधा बुद्ध-वचन है अथवा उसका प्रणयन-कित-कित काल-श्रेणियों में बुद्ध-वचनों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, उसकी प्रमाण-वत्ता सुत्त और विनय की अपेक्षा निश्चिततः कम रह जाती है और उसका प्रणयन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक उसके बाद का ठहरता है।

'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों के साथ दो प्रश्न आचार्य बुद्धघोष ने बड़े महत्व के किये हैं। पहला प्रश्न है—'अभिधम्म-पिटक किसका वचन है?' दूसरा प्रश्न है—'किसने इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है?' पहले प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा है 'पूर्ण पुण्य, तथागत भगवान् सम्यकसम्बुद्ध का और दूसरे के उत्तर में कहा है 'उपदेशकों की न टूटने वाली परम्परा ने'। इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है "तृतीय संघोत्ति तक सारिपुत्त, महुज्जि, सोभित, पियज्जालि, पियपाल, पियदस्सि, कसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुद्ध, धम्मिय, दासक, सोतक, रेवत, आदि स्वविरों की परम्परा ने अभिधम्म-पिटक का उपदेश दिया। उसके बाद ज्ञाकी जिण्य-परम्परा ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस प्रकार भारतवर्ष (जम्बूद्वीप) में उपदेशकों की अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही। इसके अनन्तर सिंहल द्वीप में भिक्षु महिन्द्र, इन्द्रिय, उतिय, भन्नाम और सम्बल आये। यही महामनीषी भिक्षु अभिधम्म-पिटक को भी

भारत से लंका द्वीप में अपने साथ लाये । तब से आज तक गुरु-शिष्य परम्परा से यह अभिधम्म पिटक उसी रूप में चलता आ रहा है" । आचार्य बुद्धवोप का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है । महिन्द के लंका में अभिधम्म पिटक के ले जाने के बाद से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन हुआ हो, इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता । उसके बाद अभिधम्म-पिटक का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो गया, ऐसा हम मान सकते हैं, यद्यपि लेखबद्ध होने का कार्य तो अभिधम्म-पिटक का भी संपूर्ण त्रिपिटक के साथ ही लगभग २५ ई० पूर्व बुद्धगामणि अभय के समय में सम्पादित किया गया । आन्तरिक या बाह्य साध्य के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर अभिधम्म-पिटक के स्वरूप में तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक किए गए किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन का अनुमान किया जा सके । निश्चय ही यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने सुदीर्घ काल तक लंका में मौखिक परम्परा में चलते रहने पर भी अभिधम्म-पिटक में कहीं भी ऐसे एक शब्द तक का भी निर्देश नहीं दिखाया जा सकता जिससे सिंहली प्रभाव की कल्पना की जा सके<sup>१</sup> । कुछ विद्वानों ने 'कथावत्थु' की अट्टकथा के आधार पर यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'कथावत्थु' में कुछ ऐसे सम्प्रदायों के सिद्धांतों का भी निराकरण है जो अशोक के काल के बाद प्रादुर्भूत हुए थे । चूंकि 'कथावत्थु' में केवल सिद्धांतों का संकेत है, सम्प्रदायों का नामोल्लेख वहाँ नहीं है । अतः बहुत संभव है कि विशिष्ट सम्प्रदायों के साथ कालान्तर में इन सिद्धांतों का संबंध हो जाने के कारण 'अट्टकथा' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उनका उल्लेख कर दिया गया हो, किन्तु अशोक के काल में केवल स्फुट रूप से ही इन सिद्धांतों की विद्यमानता पाई जाती हो । अतः 'कथावत्थु' में निराकृत उन सिद्धांतों को भी, जिनकी मान्यता बाद के उत्पन्न कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों में चल पड़ी, जिसका साध्य उसकी 'अट्टकथा' ने दिया है, अनिवार्यतः अशोक के उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं है । इस विषय का अधिक विषद विवेचन हम 'कथावत्थु' के विवेचन पर आते समय करेंगे । स्वविरवादी जिन लोगों को परम्परा ने आरम्भ से ही बुद्ध-वचनों को उनके मौखिक

१. फिर भी आश्चर्य है कि सर चार्ल्स इलियट जैसे विद्वान ने भी अभिधम्म-पिटक के लंका में रचित होने की सम्भावना की प्रश्रय दिया । देखिये उनका 'हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म' जिल्द पहली, पृष्ठ २७६, पदसंकेत १ तथा पृष्ठ २९१ । यह भरपूर अज्ञान है ।



रूप में सुरक्षित रखने का जो आग्रह दिखलाया है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि लंका में महिन्द आदि भिक्षुओं के द्वारा ले जाये जाने के बाद से अभिघम्म वहाँ उसी विशुद्धतम स्वरूप में सुरक्षित बना रहा जिसमें वे उसे वहाँ ले गये थे। अब प्रश्न यही रह जाता है कि क्या महिन्द आदि भिक्षु जिस अभिघम्म को तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व लंका में ले गये थे क्या वह वही बुद्ध-वचन था जिसका उपदेश स्वयं शास्ता ने मध्य-मंडल में दिया था ? कम से कम स्वविरवादी बौद्ध परम्परा तो उसे इसी रूप में उस समय से मानती आई है और भिक्षु-संघ ने भी उसे बड़े प्रयत्न से उसके मौलिक रूप में सुरक्षित रखना अपना कर्तव्य माना है। किन्तु दूसरे संप्रदायवालों (विशेषतः सर्वोन्निवादियों) ने उसके इस दावे को वंशाली की संगीति के समय से ही नहीं माना था, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। उपर्युक्त कथन से कम से कम एक बात निश्चित रूप से हमें मिल जाती है, और वह है अभिघम्म-पिटक के उस रूप के पण्यन की, जिसमें वह अंतिम रूप से निश्चित और स्थिर हो गया था, तिचली काल-सीमा। पाटलिपुत्र की संगीति २५३ ई० पू० में हुई। उसके समाप्त होने पर ही महिन्द आदि भिक्षु लंका को भेजे गये। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग २५० ई० पू० तक अभिघम्म-पिटक अपने उस रूप में, जिसमें वह आज उपलब्ध है, पूर्णतः स्थिर हो चुका था। बाद में मिलिन्दपञ्च (१०० ई० पू०) में तो अभिघम्म पिटक के सातों ग्रन्थों का, उनकी पूरी वर्गीकरण-शैली के सक्षिप्त निर्देश के साथ, उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> जिस आदर के साथ अभिघम्म-पिटक का उल्लेख यहाँ किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-वचनों के रूप में उसकी ख्याति बौद्ध परम्परा में उस समय तक दृढ़ प्रतिष्ठा पा चुकी थी। यदि कम से कम सौ-दो सौ वर्ष का काल भी इस परम्परा के निर्माण में लगा हो तो भी हम आसानी से अशोक-संगीति के समय तक पहुँच जाते हैं जब कि तैपिटक बुद्ध-वचनों का अंतिम रूप से संस्करण हुआ था। अतः अशोक-संगीति या तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व का मध्याह्न अभिघम्म-पिटक के रचना-काल की निचली काल-सीमा है जिसे बहुत खींचतान कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक अर्थात् उसके सिंहल में लेखबद्ध होने अथवा मिलिन्दपञ्च में उसके उद्धृत होने तक के समय तक भी घटाकर लाया जा सकता है। अब हमें उसके रचना-काल को उपरली काल-सीमा का निर्णय करना है। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग के

१. मिलिन्दपञ्च, पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

प्रथम संगीति के वर्णन में हमने देखा है कि वहाँ धम्म और विनय के ही संगायन की बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की कोई सूचना वहाँ नहीं मिलती। किन्तु अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी एवं समन्तपासादिका) के वर्णन में, जैसा हम पहले देख चुके हैं अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों के भी संगायन किये जाने का उल्लेख है। चूँकि त्रिपिटक के साक्ष्य के सामने उसकी अट्ठकथा के साक्ष्य का कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, अतः 'समन्तपासादिका' का साक्ष्य यहाँ अपने आप प्रमाण की सीमा के बाहर हो जाता है। जैसा भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने कहा है "विनय और धर्म के साथ अभिधम्म का भी पारायण इसी (प्रथम) संगीति में हुआ, यह जो समन्तपासादिका का कहना है, यह तो स्पष्ट-रूप से गलत है।" किन्तु 'समन्तपासादिका' के साक्ष्य को स्पष्ट रूप से गलत मानते हुए भी उससे इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि अधिक से अधिक प्रथम संगीति के समय ही अभिधम्म-पिटक का विकास होना आरम्भ हो गया था। तभी हम वैशाली की संगीति के अवसर पर इस विषय संबंधी सर्वास्तिवादियों और स्वविरवादियों के विरोध और विवाद को समझ सकते हैं। यदि आज प्राप्त पालि विनय-पिटक का संकलन वैशाली की संगीति के अवसर पर ही हुआ हो तो उसमें जिस प्रकार अलौकिक ढंग से अभिधम्म को साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका ऐतिहासिक रहस्य भी आसानी से समझा जा सकता है। दूसरे संप्रदायवालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का निषेध कर देने पर ही उन्हें इस प्रकार के विधान की आवश्यकता पड़ी। प्रथम संगीति के पहले हम पारिभाषिक अर्थों में अभिधम्म-पिटक के वर्तमान होने की स्थापना किसी आधार पर नहीं कर सकते। उससे पहले सिर्फ 'मातिकाओं' (मात्रिकाओं) का वर्णन मिलता है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भी 'मात्रिकाओं' (अभिधर्म) का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकाश्यप ने किया था। कुछ भी हो, इन 'मातिकाओं' के आधार पर ही अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। अभिधम्म-पिटक के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' का प्रारंभ एक 'मातिका' से ही होता है। धोमती रायस डेविड्स ने इसी को अभिधम्म-पिटक का मूल स्रोत माना है।<sup>२</sup>

१. महावंश, पृष्ठ ११ (परिचय)

२. ए बुद्धिस्ट मेन्युअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अंग्रेजी अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३ (भूमिका)

उसमें निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों के वर्गीकरण पर ही अभिधम्म का संपूर्ण धम्म-विवेचन आधारित है। पुगलपञ्जत्ति और धातुकथा का भी आरम्भ इसी प्रकार मातिकाओं से होता है। वास्तव में संपूर्ण अभिधम्म ग्रन्थों की शैली तो पहले मातिका या उद्देश देकर बाद में उनके निद्देश (व्याख्या) देने की है। पहले दिखाया जा चुका है कि पिटक-साहित्य में जहाँ मातिकाओं का उल्लेख हुआ है (धम्मचरो विनयचरो मातिकाचरो पंडितो—विनय-पिटक—बुल्लवग्ग) वहाँ उनसे किन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों का बोध न होकर केवल सिद्धान्तात्मक सूचियों का ही होता है, जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते थे। इसी प्रकार दोष-निकाय के संगीति-परिपायसुत्त और दसुत्तर-सुत्त, मज्झिम निकाय के सल्लायतनविभंग-सुत्त और धातुविभंगसुत्त, एवं अंगुत्तर-निकाय के अनेक सम्पादक सुत्त, अभिधम्म-पिटक के वर्गीकरणों के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।<sup>१</sup> इन्हीं के आधार पर अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि महायानी परम्परा के संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में 'अभिधर्म' के लिए 'मात्रिका' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।<sup>२</sup> अतः समन्तपासादिका के वर्गों को अक्षरशः सत्य न मानकर हम उससे इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि मातिकाओं और ऊपर निर्दिष्ट सुत्त-पिटक के अंशों से अभिधम्म-पिटक के निर्माण का कार्य प्रथम संगीति के समय ही आरम्भ हो गया था और दूसरी संगीति के समय तक आते आते उसने ऐसा निश्चित (अन्तिम नहीं) रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके आधार पर दूसरे संप्रदायवालों के लिये उसे बृद्ध-वचन मानने या न मानने का महत्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता था। अतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व अभिधम्म-पिटक के प्रणयन की उपरली काल-सीमा और २५० ई० पू० (जिसे अधिक सन्देहवादी विवेचक घटा कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक भी ला सकते

१. अभिधम्म-पिटक के अंगुत्तर-निकाय सम्बन्धी आधार के लिये मिलाइये ई० हाईडो : अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना) (पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण)

२. देखिये श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑफ साइकोलोजिकल एविवल (धम्मसंगमि का अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३; ओल्डनबर्ग और रायस डेविड्स : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १३, पृष्ठ २७३; कर्न : मेनुअल ऑफ बुद्धिधम्म, पृष्ठ ३, १०४।



हैं) निचली काल-सीमा ठहरती है। इन्हीं के बीच अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। विशेषतः द्वितीय और तृतीय संगीतियों के बीच का समय अभिधम्म-पिटक के संग्रह और रचना का काल माना जा सकता है।

उपर्युक्त काल-सीमाएँ निर्धारित करने से अधिक अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के प्रणयन के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी निश्चित तिथियाँ स्थापित नहीं की जा सकती। कब कौन सा ग्रन्थ निश्चित रूप प्राप्त कर प्रकाश में आया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ सिद्धांतों के आधार पर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम में तारतम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। परम्परा से अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों का उल्लेख जिस क्रम में हमें मिलता है, वह यह है (१) धम्मसंगणि, (२) विभंग (३) कथावत्तु, (४) पुग्गलपञ्चरत्ति, (५) धातुकथा, (६) यमक और (७) पट्ठान। मिलिन्दपञ्च (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में इसी क्रम में इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।<sup>१</sup> 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा में अवश्य बुद्धघोष ने कुछ परिवर्तन के साथ एक दूसरे क्रम का अनुसरण किया है,<sup>२</sup> किन्तु वह छन्द की आवश्यकता के लिए भी हो सकता है, अतः महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। विटरनिम्ब, गायगर, ज्ञानातिलोक, भिक्षु जगदीश काश्यप एवं लाहा आदि विद्वानों ने अभिधम्म-पिटक के अपने विवेचनों में उपर्युक्त क्रम का ही अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से इससे अधिक स्वाभाविक क्रम हो भी नहीं सकता। किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से इस क्रम को ठीक मानना हमारे लिए अशक्य हो जाता है। केसियस ए० पिरीरा का मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि, विभंग और पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उनका संगायन, अपने वर्तमान रूप में, संभवतः द्वितीय संगीति के अवसर पर ही हुआ था। इस प्रकार इन तीन ग्रन्थों ने अपना निश्चित और अंतिम स्वरूप चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्रथम चतुर्थांश या उसके पूर्व ही प्राप्त कर लिया था, ऐसा उनका मत है। धातुकथा, यमक और पट्ठान को भी उन्होंने पूर्व-अशोक-कालीन रचनाएँ माना है और कहा है कि उनका भी संगायन अपने अंतिम रूप में तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था। 'कथावत्तु' की रचना की निश्चित तिथि तृतीय संगीति है ही<sup>३</sup>। 'कथावत्तु' काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक की

१. पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

२. दूसरे अध्याय में प्रथम संगीति के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत।

महास्वविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड ५५ दि अभिधम्म-पिटक' के प्राक्कथन में।



अन्तिम रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता । किन्तु अन्य ग्रन्थों के तारतम्य के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। डा० लाहा ने 'पुगलपञ्जति' को काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है । उनका कहना है कि चूंकि अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर आधारित है, अतः जिस हद तक अभिधम्म-पिटक का कोई ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सुत्त-पिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी हद तक उसकी आपेक्षिक प्राचीनता भी कम या अधिक है ।<sup>१</sup> इसी सिद्धांत को आधार मानकर विवेचन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि अन्य सब ग्रन्थों की अपेक्षा 'पुगलपञ्जति' ही सुत्त-पिटक पर अधिक अवलंबित है । 'पुगलपञ्जति' को पृष्ठभूमि में दोष, संयुत और अंगुत्तर निकायों के पुगलों के प्रकार और विश्लेषण पूरी तरह निहित है । उदाहरणतः 'पुगलपञ्जति' के तपो पुगला, चत्तारो पुगला, पञ्च पुगला आदि भाग अंगुत्तर निकाय के क्रमशः तिक-निपात चतुर्वक्क-निपात और पंच-निपात आदि के समान ही हैं । 'पुगलपञ्जति' के कुछ अंशों और दोष निकाय के संगीतिपरियाय-सुत्त में भी अनेक समानताएँ हैं । 'पुगलपञ्जति' के पालि टैक्सट सोसायटी के संस्करण के संपादक डा० मॉरिस ने पुगलपञ्जति और सुत्त-पिटक के ग्रन्थों की इन सब समानताओं को सोद्धरण दिखाया है ।<sup>२</sup> इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पुगलपञ्जति की समानता, शैली और विषय दोनों की दृष्टि से, अभिधम्म-पिटक की अपेक्षा सुत्त-पिटक से अधिक है । भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो यहाँ तक कहा है कि 'पुगलपञ्जति' के विवेचन को निकाल देने पर भी अभिधम्म-दर्शन की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती ।<sup>३</sup> 'पुगलपञ्जति' की प्रथम मातिका में अवश्य अभिधम्म-शैली का अनुसरण किया गया है, अन्यथा वह सुत्त-पिटक का ही ग्रन्थ जान पड़ता है । अतः पुगलपञ्जति की निश्चित तिथि चाहे जो कुछ हो, वह अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों में काल-क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन है, ऐसा डा० लाहा ने माना है ।<sup>४</sup> 'पुगलपञ्जति' के समान ही डा० लाहा ने 'विभंग' की भी अभिधम्म-पृष्ठभूमि का विवेचन किया है । 'विभंग' के सच्च-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग और धातु-विभंग, मज्झिम-निकाय

१. हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २२

२. पुगलपञ्जति, पृष्ठ १०-११ (भूमिका)

३. अभिधम्म किलासकी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५

४. हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २३

के क्रमशः सच्चविभंग सुत्त, सत्तिपट्ठान सुत्त और धातुविभंग सुत्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'विभंग' के अनेक अंश खुदक-निकाय के ग्रन्थ 'पटिसम्भिमम' पर भी अवलंबित हैं। इसलिए कालक्रम की दृष्टि से 'विभंग' को डा० लाहा ने 'पुगलपञ्जति' के बाद दूसरा ग्रन्थ माना है। 'विभंग' को उन्होंने अभिधम्म-साहित्य के विकास की उस स्थिति का सूचक माना है जब कि अभिधम्म की शैली पूर्णतः निश्चित नहीं हुई थी और वह सुत्तन्त की शैली से मिश्रित थी। चूंकि 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का विकसित रूप मिलता है, इसलिए परम्परागत अनुश्रुति के विपरीत उन्होंने 'धम्मसंगणि' को विभंग के बाद का ग्रन्थ माना है। 'धम्मसंगणि' का ही पूरक ग्रन्थ 'धातुकथा' है। अतः 'विभंग' के बाद 'धम्मसंगणि' और उसके बाद 'धातुकथा', यह क्रम डा० लाहा ने स्वीकार किया है। 'विभंग' ही 'यमक' की भी पृष्ठभूमि है। 'विभंग' के एक भाग 'पच्चयाकार विभंग' का ही विस्तृत निरूपण बाद में 'पट्ठान' में मिलता है। अतः धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक और पट्ठान ये चारों ग्रंथ विभंग पर ही आधारित हैं और काल-क्रम में उससे बाद के हैं, ऐसा डा० लाहा का मत है। इन सबसे बाद की रचना 'कथावत्थु' है। इस प्रकार 'पुगलपञ्जति' सबसे पूर्व की रचना, 'कथावत्थु' सबसे अन्तिम रचना, इन दोनों के बीच में 'विभंग' जिस पर ही आधारित 'धम्मसंगणि', 'धातुकथा', 'यमक' और 'पट्ठान' यही अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों के काल-क्रम के विषय में डा० लाहा का निष्कर्ष है। इसे डा० लाहा ने इस प्रकार दिखाया है।<sup>१</sup>

### १ पुगलपञ्जति

### २ विभंग— (अ) धम्मसंगणि—धातुकथा

#### (आ) यमक

#### (इ) पट्ठान

### ३ कथावत्थु

डा० लाहा का काल-क्रम-निश्चय अंशतः ठीक जान पड़ता है। किसी भी पालि साहित्य के विद्यार्थी को इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि 'कथावत्थु' अभिधम्म पिटक की अन्तिम रचना है। अतः अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों का परम्परागत परि-

गणन जिसमें 'कथावत्पु' को सातवें स्थान के बजाय पाँचवाँ स्थान प्राप्त है, काल-क्रम की दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता, ऐसा तो अन्ततः मानना ही पड़ेगा। अतः 'कथावत्पु' को अभिधम्म-पिटक का अन्तिम ग्रंथ मानना ठीक ही जान पड़ता है। इसी प्रकार विषय और शैली दोनों की ही दृष्टि से 'पुग्गलपट्ठसत्ति' को भी कालक्रमानुसार प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है। यहाँ तक डा० लाहा के निष्कर्ष ठीक जान पड़ते हैं। किन्तु 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। यहाँ डा० लाहा ने विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर यह निष्कर्ष निकाल डाला है। विशेषतः 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानने के लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं (१) विभंग के प्रत्येक भाग में सुत्तन्तभाजिनिय (सुत्तन्त-भाग) और अभिधम्मभाजिनिय (अभि-धम्म-भाग) दो स्पष्ट भाग हैं, जिनमें सुत्तन्तभाजिनिय पर ही आधारित अभि-धम्मभाजिनिय है। इससे डा० लाहा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'विभंग' अभि-धम्म-पिटक के विकास की उस अवस्था का सूचक है, जिसमें सुत्तन्त और अभिधम्म का भेद सुनिश्चित नहीं हुआ था। इसके विपरीत 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का पूरा अनुसरण मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' से बाद की रचना हो सकती है। (२) उद्देस (साधारण कथन) के बाद निद्देस (शब्दों के अर्थों का विस्तृत विवेचन) देने की अभिधम्म की प्रणाली है। विभंग के 'रूपस्सन्धविभंग' में 'रूप' का मात्र 'उद्देस' ही मिलता है। उसका निद्देस सिर्फ धम्मसंगणि में ही मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' के बाद की ही रचना होनी चाहिये।<sup>१</sup> डा० लाहा ने यहाँ समष्टि रूप से दोनों ग्रंथों की विषय-वस्तु पर विचार नहीं किया है। केवल शैली की दृष्टि से विचार किया है और वह भी अपूर्ण है। जहाँ तक अध्यायों के 'सुत्त-विभाग' और 'अभिधम्म-विभाग' इन दो विभागों का सम्बन्ध है, वे तो विभंग के समान धम्मसंगणि में भी मिलते हैं।<sup>२</sup> अतः इस दृष्टि से दोनों में भेद करना अनुचित है। विषय के स्वरूप की दृष्टि से शैली में भी अन्तर हो सकता है। धम्म-संगणि का धम्म-विश्लेषण विभंग में प्राप्त उसके वर्गीकृत स्वरूप का पूर्वगामी हो सकता है। फिर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो विषय का पूर्वापर संबंध

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २४-२५

२. देखिये स्वयं धिमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३०६



है जिसके आधार पर हम अधिक निश्चित रूप से दो ग्रंथों का या एक ही ग्रंथ के दो अंशों के पूर्वापर भाव का अधिक निश्चय के साथ निर्णय कर सकते हैं। यह एक सर्व-विदित तथ्य है कि विभंग के प्रथम खंड में ही लेखक की धम्मसंगणि में विवेचित धम्मों की गणना से अभिज्ञता प्रकट हो जाती है, जिसमें उसने कुछ नये धम्मों का और समावेश कर दिया है।<sup>१</sup> विभंग ने धम्मसंगणि की 'मातिका' में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण-प्रणाली को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। विभंग के प्रथम तीन खण्ड स्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन करते हैं, अतः अंशतः धम्मसंगणि के प्रति उनका भी पूरकत्व सुनिश्चित है।<sup>२</sup> 'धम्मसंगणि' की शैली विश्लेषणात्मक अधिक है, जब कि विभंग की संश्लेषणात्मक अधिक है।<sup>३</sup> इस तथ्य से भी विभंग धम्मसंगणि के बाद की ही रचना जान पड़ती है। धम्मसंगणि से विभंग की ओर विकास-क्रम सामान्य से विशेष की ओर विकास क्रम है। अतः धम्मसंगणि को ही विभंग से पूर्व की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीमती रायस डेविड्स ने भी माना है कि विभंग अपने पूर्व धम्मसंगणि की अपेक्षा रखती है।<sup>४</sup> गायगर<sup>५</sup> और विटरनिट्ठ<sup>६</sup> ने भी उसे धम्मसंगणि का पूरक रूप ही माना है। अभिधम्म-साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् निक्षु जगदीश काश्यप भी विभंग की विषय-वस्तु को धम्मसंगणि की पूरक स्वरूप ही मानते हैं।<sup>७</sup> अतः 'धम्मसंगणि' को ही 'विभंग' की अपेक्षा पूर्वकालीन रचना मानने की ओर विद्वानों की प्रवणता अधिक है। 'विभंग' के 'रूपवज्ज्वन्ध विभंग' का अधिक विस्तृत विवेचन 'धम्मसंगणि' में पाया जाना 'धम्मसंगणि' के बाद की रचना होने का ही सूचक नहीं माना जा सकता। बल्कि यह तथ्य केवल यही दिखाता है कि धम्मसंगणि में इसका सांगोपांग विवेचन हो जाने के बाद विभंग में उसके इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इतनी अधिक दृष्टियों से

१. विन्टरनिट्ठ : हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७

२. जानातिलोक : गाइड टू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १७

३. उपर्युक्त के समान ही।

४. विभंग, भूमिका, पृष्ठ १३ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण)

५. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७

६. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७

७. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०४



अभिधम्म-पिटक में धम्मों के विश्लेषण और विवेचन किये गये हैं और इतनी अधिक अवस्थाओं पर उसके संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन निर्भर करते हैं कि एक दो उदाहरणों से हम किन्हीं दो ग्रन्थों की पूर्वापरता का कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकते । धम्मसंगणि वास्तव में संपूर्ण अभिधम्म-पिटक का आधारभूत ग्रन्थ है और विषय-वस्तु की दृष्टि से उसी पर आधारित 'विभंग' है । 'विभंग' 'धम्मसंगणि' का पूरक है और स्वयं 'धातुकथा' के लिए आधारस्वरूप है ।<sup>१</sup> इस प्रकार 'धम्मसंगणि' और 'धातुकथा' के बीच वह मध्यस्थता करता है । 'यमक' और 'पट्ठान' के विषय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है । अतः हमारे प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का अधिक ठीक काल-क्रम यह होना चाहिए—पुग्गलपञ्चास्ति, धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, यमक, पट्ठान, और कथावत्यु । इसे यों भी दिखाया जा सकता है—

१. पुग्गलपञ्चास्ति

२. धम्मसंगणि

३. विभंग

{ अ. धातुकथा  
आ. यमक  
इ. पट्ठान

४. कथावत्यु

## अभिधम्म पिटक का विषय

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम के विषय में जो विवेचन किया गया है, उससे उसकी विषय-वस्तु पर भी काफी प्रकाश पड़ता है । अभिधम्म-पिटक के विषय में सुत्त-पिटक की अपेक्षा कुछ नवीनता नहीं है । जैसा डा० रायस डेविड्स ने कहा है, अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक का ही परिशिष्ट है ।<sup>२</sup> आचार्य बुद्धचोप ने उसे 'धम्म' का अतिरेक या अतिरिक्त रूप कहा है ।<sup>३</sup> उसका भी यही अर्थ है । सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-मन्तव्यों को ही अभिधम्म-पिटक में अधिक सूक्ष्म विस्तार के साथ समझाया गया है । पारिभाषिक शब्दावली कहीं कुछ नई

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ १७

२. अमेरिकन लैबर्स ऑन बुद्धिज्म : इट्स हिस्ट्री एंड लिटरेचर, पृष्ठ ६२

३. देखिये पृष्ठ ३३४, पद संकेत २

अवश्य है, किन्तु सिद्धांतों का मूल आधार सुत्तन्त ही है । अभिधम्म के सिद्धांतों, वर्गीकरणों और विभागों के मूल स्रोतों को सुत्तन्त में खोज निकालना अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है । उससे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होने के अतिरिक्त स्वयं अभिधम्म-पिटक के दुरुह सिद्धांतों का समझना भी सुगम हो जाता है । प्रथम बार भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया है ।<sup>१</sup> उनके मतानुसार विभज्यवाद जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है । 'विभज्यवाद' का अर्थ है मानसिक और भौतिक जगत् की संपूर्ण अवस्थाओं का विश्लेषण कर चुकने पर भी उनमें कहीं 'अत्ता' (आत्मा) का नहीं मिलना । पहिये, धुरा, जुआ आदि सभी भागों से व्यक्ति-रिक्त 'रख' की सत्ता नहीं है । इसी प्रकार व्यक्ति भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पाँच स्कंधों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है । ये सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख हैं । इनमें अपनापन खोजना दुःख का ही कारण हो सकता है । यही बुद्ध का दर्शन है, जो सुत्त-पिटक में अनेक बार प्रस्फुटित हुआ है । उदाहरणतः संवृत्त-निकाय के इस बुद्ध-वचन को लीजिये, 'हे गृह-पति ! यहाँ अभ्युत्पन्नान्, आयो के दर्शन से अनभिज्ञ, अज्ञानी मनुष्य, रूप को आत्मा के रूप में देखता है, अथवा आत्मा को रूपवान् समझता है, या आत्मा में रूप को देखता है या रूप में आत्मा को देखता है । वह समझता है—'मैं रूप हूँ और रूप मेरा है' । इस प्रकार 'मैं रूप हूँ और रूप मेरा है' समझते हुए उसके रूप में परिवर्तन होता है, विपरिणाम होता है, कुछ का कुछ हो जाता है । गृहपति ! इसी से उत्पन्न होते हैं शोक, परिदेव (रोना-धोना) दुःख, दीर्घ-नस्य और मानसिक कष्ट' ।<sup>२</sup> वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को लेकर भी इसी प्रकार दुःख-समुदय का क्रम दिखाया गया है । व्यक्ति के उपर्युक्त पाँच

१. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-३१

२. इय गृहपति, अस्सुतवा पुण्ड्रज्जो अरियानं अवस्सावो रूपं अत्ततो समनु-पस्सति, रूपवन्तं वा अत्तानं, अत्तनि वा रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं । अहं रूपं, मम रूपं ति परिपुट्ठट्ठापी होति । तस्स अहं रूपं मम रूपं ति परि-पुट्ठट्ठतो तं रूपं परिणमति अज्झाया होति, तस्स रूपविपरिणामज्जाया-भावा उपपज्जन्ति शोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सूपापासा । अभिधम्म फिलॉ-सफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० में उद्धृत ।

स्कन्धों में विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्लेषण भी सुतन्त्र में किये गये हैं । उनमें दो मुख्य हैं । पहले व्यक्ति के साथ बाह्य संसार के संबंध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनों का विवेचन किया गया है,<sup>१</sup> जो इस प्रकार है—

|                    |           |               |                              |
|--------------------|-----------|---------------|------------------------------|
| १. चक्षु (चक्षु)   | ४. जिह्वा | ७. रूप        | १०. रस                       |
| २. श्रोत्र (स्रोत) | ५. काय    | ८. शब्द (सद्) | ११. स्पृष्टव्य<br>(फोटोठव्य) |
| ३. घ्राण (घाण)     | ६. मन     | ९. गन्ध       | १२. धम्म                     |

इनमें व्यक्ति (द्रष्टा) का विश्लेषण प्रथम छः आयतनों के रूप में किया गया है, जो आध्यात्मिक आयतन (अऽभौतिक आयतन) कहलाते हैं । बाह्य संसार (दृश्य) का विश्लेषण बाद के छः आयतनों के रूप में किया गया है, जो बाह्य-आयतन (बाहिर आयतन) कहलाते हैं । द्रष्टा और दृश्य के संबंध और उनके उपादान ने उत्पन्न होने वाली चेतना को ध्यान में रखकर आन्तरिक और बाह्य संसार का १८ धातुओं में भी विश्लेषण किया गया है,<sup>२</sup> जो इस प्रकार हैं—

|                    |                              |                                     |
|--------------------|------------------------------|-------------------------------------|
| १. चक्षु (चक्षु)   | ७. रूप                       | १३. चक्षु-विज्ञान (चक्षु-विज्ञाण)   |
| २. श्रोत्र (स्रोत) | ८. शब्द (सद्)                | १४. श्रोत्र-विज्ञान (स्रोत-विज्ञाण) |
| ३. घ्राण (घाण)     | ९. गन्ध                      | १५. घ्राण-विज्ञान (घाण-विज्ञाण)     |
| ४. जिह्वा          | १०. रस                       | १६. जिह्वा-विज्ञान (जिह्वा-विज्ञाण) |
| ५. काय             | ११. स्पृष्टव्य<br>(फोटोठव्य) | १७. काय-विज्ञान (काय-विज्ञाण)       |
| ६. मन              | १२. धर्म (धम्म)              | १८. मनो-विज्ञान (मनो-विज्ञाण)       |

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विश्लेषण सूत्र-पिटक में सामान्यतया मिलते हैं । संयुक्त-निकाय में पूरे संयुक्तों के नाम इनके विवेचन के आधार पर ही रखे गये हैं, जैसे सन्ध-संयुक्त, आयतन-संयुक्त, धातु-संयुक्त । स्कन्ध-आयतन और धातुओं का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था, इसका सर्वोत्तम

१. देखिये विशेषतः आयतन-संयुक्त (संयुक्त-निकाय)

२. देखिये विशेषतः धातु-संयुक्त (संयुक्त-निकाय)

साध्य हम बुद्धकालीन भिक्षुणियोंके इच्छायातार उद्गारों में पाते हैं, जिनमें वे अपनी उपदेश करने वाली बहिनों से इस संबंधी उपदेश को पाकर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हैं "सा मे धम्ममदेसेसि तन्धावततधातुयो"<sup>१</sup> (उसने मुझे स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश दिया) । इस प्रकार सुत्तन्त में स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश मिलता है, किन्तु वहाँ इसका उद्देश्य केवल अनात्मवाद का उपदेश देना है, अलग-अलग सबका विश्लेषण करना नहीं । यह काम अभिघम्म में किया गया है । अभिघम्म में, जैसा हम उसकी विषय-वस्तु का विश्लेषण करते समय अभी देखेंगे, रूप-स्कन्ध का २८ अंगों में विश्लेषण किया गया है, इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का पाँच, संस्कार-स्कन्ध का ५० और विज्ञान-स्कन्ध का ८९ अंगों में विश्लेषण किया गया है । इन सबका आधार जैसा हम पहले कह चुके हैं, सुत्त-पिटक ही है । उदाहरणतः, रूप का विश्लेषण सुत्तन्त में केवल दो भागों में किया गया है, "भिक्षुओ ! क्या है रूप ? चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादान से उत्पन्न हुआ रूप, भिक्षुओ ! यही कहलाता है रूप ।"<sup>२</sup> रूप के इस द्विविध विभाग पर ही अभिघम्म का सारा रूप-विश्लेषण निर्भर है । इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का ५ भागों में विश्लेषण भी सुत्तन्त से ही लिया गया है, जहाँ सुख-वेदना, दुःख-वेदना सौमनस्य, दौर्मनस्य, और उपेक्षा का स्पष्टतः उल्लेख है ।<sup>३</sup> इसी प्रकार अभिघम्म के विज्ञान-स्कन्ध के १२१ विभागों में से अनेक सुत्तन्त में मिलते हैं और उनके आधार पर ही दूसरे अधिक सूक्ष्म विश्लेषण कर लिये गये हैं ।<sup>४</sup> सारांश यह कि अभिघम्म के विश्लेषण सुत्तन्त पर ही आधारित है ।

## शैली

अभिघम्म का आधार सुत्तन्त होने पर भी उसकी शैली में विभिन्नता है । सुत्तन्त में उदाहरण दे देकर, अनेक पर्यायों से और अनेक उपमाओं से, धम्म को

१. थेरीगाथा, गाथाएँ ४३ एवं ६९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

२. "कतमं च भिक्खवे रूपं ? चत्तारो च महाभूता चतुस्रं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुञ्चति भिक्खवे रूपं" संपत्त-निकाय, अभिघम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३ में उद्धृत

३. देखिये अभिघम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५

४. अभिघम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-३१



समझाया गया है। किन्तु अभिधम्म 'निष्परिग्रह देसना' है, अर्थात् वहाँ बिना उपमाएँ और उदाहरण दिये हुए धम्म की समझाया गया है। इसका कारण यह है कि अभिधम्म का प्रणयन साधारण जनता के लिए नहीं हुआ है। वह देव-मनुष्यों के लिए उपदेश किया हुआ बुद्ध-वचन है। त्रायस्त्रिंश-लोक में अभिधम्म के उपदेश करने संबंधी भाषा का यही मानवीय रहस्य है। अभिधम्म-पिटक में साधारण जन-समाज की भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। वह अज्ञान पर आश्रित है। 'बृक्ष' 'मनुष्य' 'पशु' की वास्तविक सत्ता कहाँ है ? फिर भी हम व्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। इसी को पालि-बौद्ध धर्म में सम्मुत्ति सच्च (संवृत्ति सत्य) कहा गया है। सूत-पिटक इसी भाषा में लिखा गया है। वहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धों ने जिसे 'सम्मुत्ति सच्च' कहा है, वही शंकर का व्यवहार-सत्य है, जिसे उन्होंने 'अविद्यावद्विषय' कहा है। इसके विपरीत 'परमार्थ-सत्य' (पालि परमत्य-सच्च) है, जहाँ माता माता नहीं है, पिता पिता नहीं है, मनुष्य मनुष्य नहीं है। इसी भाषा में अभिधम्म लिखा हुआ है। अतः उसमें वह प्राण-प्रतिष्ठा नहीं है, जो सूतान्त में है। एक में जीवन चारों ओर हिलोरें ले रहा है, दूसरे में वह सर्वथा अनुपस्थित है। अभिधम्म-पिटक की शैली को एक बड़ी विशेषता उसकी परिप्रश्नात्मक (पञ्चपरिपुच्छक) प्रणाली है प्रश्न और उत्तर के रूप में विषय को समझाया गया है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—इसका बड़ा अच्छा निर्वाह सूत-पिटक और अभिधम्म-पिटक दोनों में ही दिखाया गया है। 'परिप्रश्न' की बात तो अभिधम्म ने अपने आप पूरी कर दी है, वह हमसे 'प्रणिपात' और 'सेवा' की भी पूरी अपेक्षा रखता है। 'अट्ठसालिनी' को 'निदान-कथा' में आचार्य बृद्धघोष ने एक मार्मिक प्रश्न किया है, "अभिधम्म का उद्देश्य किस स्त्रोत से हुआ है" ? उत्तर दिया है, "श्रद्धा से !" श्रद्धा के साथ हम अभिधम्म को लम्बी सेवा करें (जैसी वर्तमान समय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने की) तो उससे हम बहुत कुछ पा सकते हैं। उसके बिना तो हम कुछ यूरोपीय विद्वानों की तरह निकट उकता हो जायेंगे और कहेंगे कि यही गम्भीर दर्शन कुछ नहीं

१. देखिये 'अभिधम्मसंग्रह' पर उनकी स्वरचित 'नवनीत टीका' का प्राक्कथन (महाबोधि सभा १९४१); देखिये धर्महृत, सितम्बर ४८ में डा० बापट का "आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी शीर्षक लेख भी (पृष्ठ ८९-९५)

है।<sup>१</sup> श्रीमती रायस डेविड्स<sup>२</sup>, ज्ञानातिलोक<sup>३</sup>, धम्मपानन्द कोसम्बी<sup>४</sup> और भिक्षु जगदीश काश्यप<sup>५</sup> की प्रणाली पर यदि अभिधम्म के अध्ययन को विकसित किया जाय तो उससे बौद्ध नैतिक मनोविज्ञान का मार्ग हमारे लिए अधिक प्रशस्त हो सकता है और हम अभिधम्म को उसकी वास्तविक विभूति में देख सकते हैं। अभिधम्म-पिटक की उद्देश (संक्षिप्त कथन) के बाद निर्देश (विस्तृत विवेचन) की वर्णन-प्रणाली, पर्यायवाची शब्दों और परिभाषाओं की अधिकता आदि प्रवृत्तियों के विषय में हम पहले कह ही चुके हैं।

### महत्त्व

अभिधम्म-पिटक के महत्त्व पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है, (१) स्वविरवाद परम्परा की दृष्टि से (२) अन्य बौद्ध संप्रदायों की दृष्टि से। जहाँ तक स्वविरवाद परम्परा का संबंध है, अभिधम्म-पिटक को आरंभ से ही सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। वरमा में अभिधम्म-पिटक का कितना अधिक आदर है, यह तत्संबंधी उस विस्तृत अध्ययन से ही स्पष्ट होता है जो उस देश में किया गया है। आठवें अध्याय में हम इस अध्ययन का विवेचन करेंगे। सिंहल भी अभिधम्म की पूजा में वरमा से पीछे नहीं रहा है। 'महावंश' में हम बार-बार पढ़ते हैं कि किस प्रकार विद्वान् सिंहली राजाओं ने अभिधम्म का आदरपूर्वक श्रवण किया और कुछ ने स्वयं उसका उपदेश भी किया। काश्यप प्रथम (९२९ ईसवी) ने तो संपूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रों पर खुदवाया और विशेषतः 'धम्मसंगणि' को बहुमूल्य रत्नों से भंडित किया। इसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में लंका का राजा विजयबाहु

१. जैसा विटरनिट्ज ने कह डाला है, देखिये उनकी हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५-६६।

२. ए बुद्धिस्टि मेनुअल ऑफ साइकोलोजीकल एप्लिक (धम्मसंगणि का अनुवाद) की मननशील लेखिका।

३. गाइड थू दि अभिधम्म-पिटककेलेखक और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक।

४. विदेश में जाकर अनेक कठिनाइयों के उपरान्त अभिधम्म का अध्ययन करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान्।

५. अभिधम्म-फिलॉसफी (जिल्द १, २) केलेखक, मनस्वीबौद्ध दार्शनिक और साधक।

अभिधम्म का बड़ा मननशील अध्येता था और उसने 'धम्मसंगणि' का सिंहली भाषा में अनुवाद भी किया। अतः स्वविरवाद परम्परा में अभिधम्म-पिटक का सदा से बहुत सम्मान रहा है। स्वविरवाद-परम्परा से भिन्न बौद्ध संप्रदायों में अभिधम्म-पिटक को उतना प्रामाणिक बूद्ध-वचन नहीं माना गया है। हम जानते हैं कि स्वयं उत्तरकालीन हीनयानी संप्रदाय में सौवान्तिक नाम का एक वर्ग था जो अभिधम्म पिटक को प्रामाणिक नहीं मानता था। उसके लिए केवल सुत्त-पिटक ही प्रामाणिक बूद्धवचन था। इतना ही नहीं, अत्यंत पूर्वकाल में ही हम स्वविरवादियों के अन्दर ही भिक्षुओं के एक ऐसे वर्ग की सूचना पाते हैं जो अभिधम्म-पिटक की प्रामाणिकता को नहीं मानता था और केवल सुत्त-पिटक में ही अधिक विश्वास करता था। 'अट्ठसालिनी' में दो भिक्षुओं का संलाप दिया हुआ है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है—

"भन्ते ! आप ऐसी लम्बी पंक्ति को उद्धृत कर रहे हैं, जैसे कि मानों आप सुमेरु को ही परिवेष्टित करना चाहते हैं। भन्ते ! यह किसकी पंक्ति है ?"

"आवुत्त ! यह अभिधम्म की पंक्ति है।"

"भन्ते ! आप अभिधम्म की पंक्ति का क्यों उद्धरण देते हैं ? क्या आपको यह उचित नहीं कि आप बूद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्हीं दूसरी पंक्तियों का उद्धरण दें।"

"आवुत्त ! अभिधम्म का उपदेश किसका है ?"

"निपचय ही बूद्ध का नहीं है।"

"पर आवुत्त ! क्या तुमने विनय-पिटक को पढ़ा है ?"

"नहीं भन्ते। मैंने उसे नहीं पढ़ा है।" आदि, आदि।

पुनः 'दीपवंस' के वर्णन में ही हम देखते हैं कि वंशाली की संगीति के अवसर पर श्री 'महासंगीतिक' भिक्षुओं ने अन्य ग्रन्थों के साथ अभिधम्म-पिटक की भी प्रमाण-वत्ता स्वीकार नहीं की थी।<sup>१</sup> इससे हमारा संदेह अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता के विषय में अवश्य बढ़ जाता है। काल-क्रम और महत्ता में अवश्य अभिधम्म-पिटक को सुत्त और विनय पिटक के बाद मानना पड़ेगा, इसे प्रायः सभी निपक्षत्र बौद्ध विद्वान् आज भी स्वीकार करते हैं। किन्तु चूंकि अभिधम्म-पिटक का अर्वा-चीनतम ग्रन्थ (कथावस्तु) भी ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी की रचना है और उसके अलावा अन्य किसी ग्रन्थ के साथ किसी रचयिता का नाम जोड़ा नहीं गया है,

अतः अववाद की दृष्टि से उसे बृद्धवचन भी कहा जा सकता है, इतना अवकाश हमें स्थविरवाद-परम्परा को भी अवश्य देना ही होगा। अन्ततः अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर ही तो अवलंबित है।

### पालि अभिधम्म-पिटक की सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक से तुलना

स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों के दो पिटकों—सुत्त और विनय—की तुलना हम पहले कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थ चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उनके मूल संस्कृत में थे, किन्तु आज वे प्राप्य नहीं। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादियों का भी यह दावा है कि उनका अभिधर्म पिटक बृद्ध-वचनी (सूत्र-पिटक) पर आधारित है। किन्तु अब कि स्थविरवादी (कदा-वस्तु को छोड़कर) अभिधम्म के ग्रन्थों को मनुष्यों की रचनाएँ नहीं मानते, सर्वास्तिवादियों की परम्परा में उनका अभिधर्म-पिटक विविष्ट विचारों की रचना माना जाता है। चीनी भाषा में सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक का नाम 'शास्त्र-संग्रह' है। स्थविरवादी अभिधम्म पिटक के समान सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में भी मान ग्रन्थ है, जिनके नाम उनके रचयिताओं के साथ, इस प्रकार हैं—

| सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थों के नाम | उनके रचयिता               |
|------------------------------------------------------------|---------------------------|
| १. ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र                                  | आर्य कात्यायन             |
| २. प्रकरण-वाद                                              | स्थविर वसुमित्र           |
| ३. विज्ञान-काय-वाद                                         | स्थविर देवशर्मा           |
| ४. धर्म-स्कन्ध-वाद                                         | आर्य शारिपुत्र            |
| ५. प्रजप्ति शास्त्र-वाद                                    | आर्य मौद्गल्यायन          |
| ६. धातुकाय-वाद                                             | पुण (या वसुमित्र)         |
| ७. संगीति-पर्याय-वाद                                       | महाकौष्ठिल (या शारिपुत्र) |

पालि अभिधम्म पिटक के साथ इनकी तुलना करने पर ज्ञात होगा कि इनके नामों में पूर्वाप्ति साम्य है, यथा—



## पालि अभिधम्म-पिटक

## सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक

|                   |                     |
|-------------------|---------------------|
| १. धम्मसंगणि      | (४) धर्मस्कन्धपाद   |
| २. विभंग          | (३) विज्ञानकायपाद   |
| ३. पुग्गलपञ्चाति  | (५) प्रज्ञप्तिपाद   |
| ४. धातुकथा        | (६) धातुकायपाद      |
| ५. पट्ठान         | (१) ज्ञान-प्रस्थान  |
| ६. यमक            | (७) संगीतिपर्यायपाद |
| ७. कथावत्थुप्पकरण | (२) प्रकरणपाद       |

सामों की इतनी समानता होते हुए भी विषय की समानता नहीं है।<sup>१</sup> फिर भी जिन विषयों का निरूपण एक पिटक में किसी ग्रन्थ में पाया जाता है दूसरे पिटक में उन्हीं का या उनके कुछ अंशों का निरूपण किसी दूसरे ग्रन्थ में पाया जाता है। चूंकि दोनों के ही अभिधर्म-पिटक अपने अपने सूत्रों पर अवलंबित हैं जिनमें, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अधिक अन्तर नहीं है, अतः दोनों में कुछ-न-कुछ समानताओं का पाया जाना नितांत स्वाभाविक है। हां, उनके क्रम में अन्तर अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु के संक्षिप्त परिचय और पालि अभिधम्म के साथ उसकी तुलना से यह स्पष्ट होगा। पहले ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र को ही लें। यह सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक का सबसे प्रधान ग्रंथ है। शेष छः ग्रंथ इसी के पाद या उपग्रंथ कहलाते हैं। उनके साथ इसका वही संबन्ध है जो वेद का उसके छः अंगों के साथ।<sup>२</sup> ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आर्य काल्यायनी-पुत्र ने की। आर्य काल्यायनीपुत्र काश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद है। ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का प्रथम चीनी अनुवाद-काश्मीरी भिक्षु गीतम संपदेव ने ३८३ ईसवी में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद सन् ६५७-६० ई० में यूआन्-चूआङ्ग के द्वारा किया गया। इसी महाग्रंथ

१. देखिये डा० तकाकुसु का 'दि अभिधर्म लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध, जर्नल ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१
२. देखिये जर्नल ऑफ़ पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ ७४ में डा० तकाकुसु का अभिधर्म-साहित्य सम्बन्धी निबन्ध

पर कनिष्क के काल में आचार्य वसुबन्धु और अदवघोष की अध्यक्ष में 'विभाषा' नामक एक महाभाष्य लिखा गया, जिसका अनुसरण करने के कारण 'वैभाषिक' नामक बौद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र एक बृहत् ग्रंथ है। इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिनमें कुल मिलाकर श्लोकों की संख्या १५०७२ है।<sup>१</sup> जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल संस्कृत तो मिलता ही नहीं, इस सम्पूर्ण ग्रंथ का अभी अंग्रेजी अवाद भी नु प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः चीनी-भाषा से अनभिज्ञोंके लिये अभी तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग पराश्रित ही हो सकता है। प्रो० तकाकुसु द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के ८ परिच्छेदों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. प्रकीर्णक—लोकोत्तर धर्म, ज्ञान पुद्गल, अरूप, अनात्म आदि स्फुट विषय
२. संयोजन—अकुशलमूल, सकृदागामी, मनुष्य, दस-द्वार आदि
३. ज्ञान—आठ सौख्य-असौख्य भूमियाँ, पाँच दृष्टियाँ, पर-चित्त-ज्ञान, आर्य-प्रज्ञा आदि
४. कर्म—अकुशल कर्म, असम्यक् वाणी, विहिंसा, व्याकृत, अव्याकृत आदि
५. चार महाभूत—इन्द्रिय, संस्कृत, दृष्ट, सत्य, अध्यात्म आदि
६. इन्द्रियाँ—२२ इन्द्रियाँ, भव, स्पर्श आदि
७. समाधि—अतीतावस्था, प्रत्यय, विमुक्ति आदि
८. स्मृत्युपस्थान—कायानुपस्थाना, वेदानुपस्थाना, चित्तानुपस्थाना, धर्मानुपस्थाना, तूष्ण्या, संज्ञा, ज्ञान-समय आदि

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की विषय-वस्तु इतनी विस्तृत है कि उसमें पालि अभिधम्म-पिटक के कई ग्रन्थों के अंशतः विवरण उपस्थित दिखाये जा सकते हैं। विशेषतः खुह्क-निकाय के 'पटिसम्मिदामग्ग' से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु की अधिक समानता है, ऐसा मत स्वर्गीय डा० बेणीमाधव बाइबा ने प्रकाशित किया है, जो ठीक कहा जा सकता है। (२) प्रकरण-पाद स्पष्ट विषय वस्तु की रचना कही जाती है। यह वसुमित्र कनिष्क-कालीन प्रसिद्ध सर्वोक्ति-वादी आचार्य आर्य वसुमित्र से निम्न और उनसे पूर्वकालीन है। इनका काल बुद्ध-

१. जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ पृष्ठ १२४ (डा० तकाकुसु का 'दि सर्वोक्तिवादिन् अभिधम्म बुक्क' शीर्षक निबन्ध)

परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद माना जाता है। अतः ये आर्य कात्यायनोपनिषद् के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। प्रकरण-पाद में आठ वर्ग हैं, जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि का विवेचन है। यद्यपि 'प्रकरण-पाद' के नाम का साम्य 'कथा-वस्तु-प्रकरण' से है, किन्तु दोनों की विषय-वस्तु या शैली में कोई समानता नहीं है। विषय-वस्तु की दृष्टि से डा० लाहा ने इस ग्रन्थ की तुलना 'विभंग' से की है।<sup>१</sup> किन्तु 'विभंग' की समानता धर्मस्कन्ध से अधिक है, यह हम अभी देखेंगे। 'प्रकरण-पाद' का पहला चीनी अनुवाद गुणभद्र तथा बुद्धयश ने ४३५-४३ ई० में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चुआङ्ग के द्वारा किया गया। (३) विज्ञान-काय-पाद स्वविर देवशर्मा की रचना कही जाती है। एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद और एक दूसरी परम्परा के अनुसार ३०० वर्ष बाद हुई। दूसरी परम्परा ही अधिक ठीक हो सकती है। इस ग्रन्थ में ६ स्कन्ध हैं, जिनमें पृथगल, हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय आदि विषयों के विवेचन हैं। त्रिगुण-वस्तु अभिधम्म-पिटक के 'पुग्गलपञ्चाङ्गि' और 'पट्ठान' में जहाँ-तहाँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चुआङ्ग ने ६४९ ई० में किया। (४) धर्मस्कन्ध-पाद सर्वोक्तिवादी अभिधम्म-पिटक का ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के बाद सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके कुछ अंशों को संगीति-पर्याय-पाद में भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है। चीनी परम्परा के अनुसार धर्मस्कन्ध-पाद आर्य महामौद्गल्यायन की रचना है। किन्तु यशोमित्र के मतानुसार यह आर्य शारिपुत्र की रचना है। यह निश्चित है कि ये आर्य शारिपुत्र और महामौद्गल्यायन बुद्ध के इस नाम के प्रधान शिष्य नहीं हो सकते। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं जिनमें चार आर्य-मत्त, समाधि, बोधधर्म, इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चुआङ्ग ने किया। इस ग्रन्थ की समता विषय-वस्तु की दृष्टि से 'विभंग' से सर्वाधिक है, यह निष्कर्ष महास्वविरज्ञानातिलोक ने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निकाला है।<sup>२</sup> विभंग में १८ अध्याय हैं, धर्मस्कन्ध में २१ हैं। इनमें १४ एक-दूसरे के बिल्कुल समान हैं। यह समानता इस प्रकार है—

१. हिन्दो ओं व पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०

२. गाइड थू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)



विभंग—१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८  
धर्मस्कन्ध—१९, १८, २०, १०, १७, २१, ९, ७, ८, १५, — ११, १२, १ — — १६ —  
खाली छोड़ो हुई जगहों का तात्पर्य यह है कि विभंग के ११, १५, १६,  
और १८ वें अध्याय (विभंग) धर्मस्कन्ध में नहीं मिलते।<sup>१</sup> (५) प्रज्ञप्ति-  
पाद या प्रज्ञप्ति-शास्त्र आर्य मौद्गल्यायन की रचना कही जाती है, जो निश्चयतः  
इस नाम के बुद्ध के शिष्य नहीं हो सकते। प्रज्ञप्ति-पाद का चीनी अनुवाद धर्म-  
रत्न ने ग्यारहवीं शताब्दी में किया। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ्ग  
ने नहीं किया, इसलिये इसकी प्राचीनता में सन्देह किया जाता है। इस ग्रन्थ  
का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है। इसमें १४ वर्ग हैं। 'प्रज्ञप्ति-पाद' का पालि  
'पुम्मलपञ्जत्ति' से केवल नाम का ही साम्य है। विषय में कोई समानता नहीं  
है। इस ग्रन्थ की कुछ समानता दीघ-निकाय के लक्खण-सुत्त से दिखाई गई  
है। (६) धातुकाय-पाद चीनी परम्परा के अनुसार कनिष्क के समकालीन  
प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र की रचना बतलाई जाती है। किन्तु यशो-  
मित्र (अभिधम्मकोश के व्याख्याकार) ने इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम पूर्ण  
लिखा है। यशोमित्र का मत ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ  
का भी चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ्ग ने ६६३ ई० में किया। इस ग्रन्थ की पालि  
'धातुकाय' से कोई समानता नहीं है। हाँ, संयुक्तनिकाय के धातु-संग्रह से इसको  
विषय-वस्तु बहुत कुछ मिलती-जुलती है। (७) संगीति-पर्याय-पाद के रचयिता चीनी  
परम्परा के अनुसार आर्य शारिपुत्र और यशोमित्र के वर्णनानुसार प्रसिद्ध सर्वा-  
स्तिवादी आचार्य महाकौष्ठिल थे। यूआन्-चूआङ्ग ने इस ग्रन्थ का चीनी अनु-  
वाद सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया था। प्रोफेसर तकाकुसु ने इस ग्रन्थ के  
विषय और शैली की समानता सब से अधिक दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-  
सुत्त से दिखाई है।<sup>२</sup> इस ग्रन्थ में १२ वर्ग हैं। इसका भी अनुवाद यूआन्-चूआङ्ग  
के द्वारा किया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधम्म-पिटक के उपर्युक्त  
विवेचन में स्पष्ट है कि यद्यपि उसमें प्राचीन परम्पराएँ निहित हैं और पालि  
अभिधम्म-पिटक के कई अंशों से उसको आश्चर्यजनक समानताएँ भी हैं, फिर भी  
सुत्त और विनय की अपेक्षा यहाँ समानताएँ कम हैं। इसका एक प्रधान कारण  
लम्बों परम्पराओं का एक देश से दूसरे देश में जाना और भाषा-भाष्यमों की

१. गाड्ड धू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)

२. जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ९९.



अनिवार्य कठिनताएँ हैं। जब तक मूल संस्कृत उपलब्ध न हो तब तक बिना उसके स्वरूप पर विचार किए पालि अभिधम्म के साथ उसके आर्षेयिक महत्त्व और प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में पालि अभिधम्म के सामने उसकी प्रमाणवत्ता अल्प अवश्य रह जाती है। वह स्पष्टतः आचार्यों की रचना है, जब कि केवल 'कथा-वत्युप्पकरण' को छोड़कर शेष पालि अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन के रूप में ही स्वविरवाद-परम्परा में प्रतिष्ठित है। हाँ, सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक की तुलना से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सूत और विनय की अपेक्षा पालि अभिधम्म की प्रमाणवत्ता निश्चयतः कम और संकलन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक कुछ बाद का है, जिसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

### अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण— धम्म संगणि<sup>१</sup>

पालि अभिधम्म-पिटक का सब से प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। वास्तव में यह सम्पूर्ण अभिधम्म-साहित्य की प्रतिष्ठा ही है। 'धम्मसंगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का संकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रस्तात्मक शैली के आधार पर।<sup>२</sup> धम्मों (पदार्थों) की कामावचर, क्पावचर आदि के रूप में संगणना और संक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही इस ग्रन्थ का यह नाम है।<sup>३</sup> 'धम्मसंगणि' के संकलन और विश्ले-

१. नागरी लिपि में प्रोफेसर बापट ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है (भांडारकर ओरियण्टल सोरीस, पूना ४); रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित (लन्दन, १८८५), एडवर्ड मूलर द्वारा सम्पादित, संस्करण प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में श्रीमती रायस डेविड्स ने 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑफ साइकोलोजी-कल एचिकस' (लन्दन, १९००) शीर्षक से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई अनुवाद नहीं निकला है।

२. 'संगणि' शब्द में ही यह भाव निहित है, देखिये प्रो. बापट द्वारा सम्पादित 'धम्म-संगणि' का देवनागरी-संस्करण, पृष्ठ १२ (भूमिका)

३. कामावचररूपावचरादिधम्मे संगण्य संक्षिपित्वा वा गणयति संख्याति

षण की सब से बड़ी विशेषता है भीतर और बाहर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या । नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल) अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अव्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या । ग्रन्थ के मुख्य भाग में चित्त और उससे संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण किया गया है । अतः इसे बौद्ध मनोविज्ञान की नैतिक व्याख्या ही कहा जा सकता है, या दूसरे शब्दों में बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी । ग्रन्थकार (या संकलनकार) ने दोनों के लिये ही पर्याप्त अवकाश दे दिया है । धम्मसंगणि के आरम्भ में 'मातिका' या विषय-सूची दी हुई है । उसमें नैतिकवाद की दृष्टि से वर्गीकरण है, किन्तु ग्रन्थ में जो विवेचन किया गया है, उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से है और फिर उसे 'कुशलत्तिक', (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) के रूप में विभाजित किया गया है । वास्तव में 'धम्मसंगणि' ने मन की अवस्थाओं की कर्म के शुभ, अशुभ आदि स्वरूपों के साथ व्याख्या करनी चाही है, जो एक दूसरे से घनिष्ठ और अनिवक्त रूप से सम्बन्धित है । इसीलिये 'धम्मसंगणि' के विवेचनों में इतनी दुरुहता आ गई है ।

फिर भी धम्मसंगणि की 'मातिका' उसकी सारी दुरुह विषय-वस्तु को सम-भने के लिये एक अच्छी कुंजी है । भौतिक और मानसिक जगत् की व्याख्या धम्म-संगणि में जिस ढंग से की गई है, उसका वह हमें पूरा दिग्दर्शन करा देती है । वह एक प्रकार की विषय-सूची है, जो उन शीर्षकों का उल्लेख कर देती है जिनमें भौतिक और मानसिक जगत् के नाना, पदार्थों (धम्मों) का विश्लेषण सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्दर किया गया है । 'मातिका' में कुल मिलाकर १२२ वर्गीकरण हैं, जिनमें २२ ऐसे वर्गीकरण हैं जो तीन-तीन शीर्षकों में विभक्त हैं । ये 'तिक' कहलाते हैं । शेष १०० ऐसे वर्गीकरण हैं जो दो-दो शीर्षकों में विभक्त हैं । ये 'दुक' कहलाते हैं । २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' में ही सारे धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में भी इस वर्गीकरण-प्रणाली का पर्याप्त आश्रय लिया गया है । यहाँ 'मातिका' के अनुसार इन 'तिकों' और 'दुकों' का विवरण देना अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा । इनकी गणना इस प्रकार है—

एवाति धम्मसंगणि । अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा) ; मिलाइये साइलडस : पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ४४७

## २२ तिक

१. अ. जो धम्म कुशल है (कुसला)  
 आ. जो धम्म कुशल नहीं है (अकुसला)  
 इ. जो धम्म अव्याकृत है (अव्याकता)
२. अ. जो धम्म सुख की वेदना से युक्त है (सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)  
 आ. जो धम्म दुःख की वेदना से युक्त है (दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता)  
 इ. जो धम्म न सुख न दुःख की वेदना से युक्त है (अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
३. अ. जो धम्म चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के स्वयं परिणाम है (विपाका)  
 आ. जो धम्म स्वयं चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के परिणामों को पैदा करने वाले हैं (विपाकधम्मधम्मा)  
 इ. जो धम्म न किसी के स्वयं परिणाम हैं और न परिणाम पैदा करने वाले हैं (नेव-विपाक-न-विपाक-धम्मधम्मा)
४. अ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त किये गये हैं और जो स्वयं भविष्य में ऐसे ही धम्मों को पैदा करने वाले हैं (उपादिश्रुपादानिया)  
 आ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप तो प्राप्त नहीं किये गये हैं किन्तु जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले हैं (अनुपादिश्रुपादानिया)  
 इ. जो धम्म न तो पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त ही किये गये हैं और न जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले हैं (अनुपादिश्रुपादानिया)
५. अ. जो धम्म स्वयं अपवित्र हैं और अपवित्रता के आलम्बन भी बनते हैं (संकलिट्ठ-संकिलेसिका)  
 आ. जो धम्म स्वयं अपवित्र नहीं हैं किन्तु अपवित्रता के आलम्बन बनते हैं (असंकलिट्ठ-संकिलेसिका)  
 इ. जो धम्म न स्वयं अपवित्र हैं और न अपवित्रता के आलम्बन ही बनते हैं (असंकलिट्ठ-असंकिलेसिका)
६. अ. जो धम्म चित्त और विचार से युक्त हैं (सचित्तक-सविचारा)

- आ. जो धम्म वितर्क से तो नहीं किन्तु  
 विचार से युक्त हैं (अवितक्क-विचारमत्ता)
- इ. जो धम्म न वितर्क और न विचार से ही युक्त हैं (अवितक्क-अविचारा)
७. अ. जो धम्म प्रीति की भावना से युक्त हैं (पीतिसहगता)  
 आ. जो धम्म सुख की भावना से युक्त हैं (सुखसहगता)  
 इ. जो धम्म उपेक्षा की भावना से युक्त हैं (उपेक्वासहगता)
८. अ. दर्शन के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (दस्सनेन पहातव्वा)  
 आ. अभ्यास के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (भावनाय पहातव्वा)  
 इ. जो न दर्शन और न अभ्यास से ही नष्ट किये  
 जा सकते हैं (नेव दस्सनेन न भावनाय पहातव्वा)
९. अ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश दर्शन से  
 किया जा सकता है (दस्सनेन पहातव्वहेतुका)  
 आ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश अभ्यास  
 से किया जा सकता है (भावनाय पहातव्वहेतुका)  
 इ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश न दर्शन से  
 और न अभ्यास से ही किया जा सकता है  
 (नेव दस्सनेन न भावनाय पहातव्वहेतुका)
१०. अ. वे धम्म जो कर्म-संचय के कारण बनते हैं (आचयगामिनो)  
 आ. वे धम्म जो कर्म-संचय के विनाश के  
 कारण बनते हैं (अपचयगामिनो)  
 इ. वे धम्म जो न कर्म-संचय और न उसके विनाश के  
 कारण बनते हैं (नेव आचयगामिनो न अपचयगामिनो)
११. अ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी हैं (सेक्खा)  
 (लोकोत्तर मार्ग की सात अवस्थाएँ)  
 आ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी नहीं हैं, अर्थात् जिन्होंने  
 अहंत्व की पूर्णता प्राप्त करली हैं (अहंत्व-फल) (असेक्खा)  
 इ. वे धम्म जो उपर्युक्त दोनों प्रकारों से विभिन्न हैं  
 (अर्थात् उपर्युक्त आठ को छोड़कर बाकी सब) (नेव सेक्खा न असेक्खा)
१२. अ. वे धम्म जो अल्प आकार वाले हैं (परित्ता)



- आ. वे धम्म जो महान् आकार वाले हैं (महम्मता)  
 इ. वे धम्म जो अपरिमेय आकार वाले हैं (अप्पमाणा)
१३. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आ- (परितारम्मणा)  
 लम्बन अल्प आकार वाला है  
 आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल- (महम्मत्तारम्मणा)  
 म्बन महान् आकार वाला है  
 इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल- (अप्पमाणाारम्मणा)  
 म्बन अपरिमेय आकारवाला है
१४. अ. हीन धम्म (मन की अवस्थाएँ) (हीना)  
 आ. मध्यम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (मज्झिमा)  
 इ. उत्तम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (पणीता)
१५. अ. जो निश्चयपूर्वक दुरे हैं (मिच्छतनियता)  
 आ. जो निश्चयपूर्वक अच्छे हैं (सम्मत्तनियता)  
 इ. जिनका स्वस्व्य अनिश्चित है (अनियता)
१६. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका (मग्गारम्मणा)  
 आलम्बन मार्ग है  
 आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका हेतु (मग्गहेतुका)  
 मार्ग है  
 इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका मुख्य  
 उद्देश्य ही मार्ग है (मग्गाधिपत्तिनो)
१७. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो उत्पन्न हो चुकी हैं (उप्पन्ना)  
 आ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी उत्पन्न नहीं (अनुप्पन्ना)  
 हुई हैं  
 इ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होनेवाली हैं (उप्पादिनो)
१८. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो बीत गईं (अतीता)  
 आ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा (अनागता)  
 होंगी  
 इ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी हाल पैदा हुई  
 हैं और अभी वर्तमान हैं (पच्चुप्पन्ना)

१९. अ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई  
अतीत की वस्तु है (अतीतारम्भणा)  
आ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन  
कोई भविष्य की वस्तु है (अनागतारम्भणा)  
इ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन  
कोई वर्तमान की वस्तु है (पञ्चपक्षारम्भणा)
२०. अ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर अवस्थित  
है (अज्झत्ता)  
आ. जो धम्म किसी व्यक्ति के बाहर अवस्थित  
है (बहिद्वा)  
इ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर और  
बाहर दोनों जगह अवस्थित है (अज्झत्त-बहिद्वा)
२१. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका  
आलम्बन कोई आन्तरिक वस्तु है (अज्झत्तारम्भणा)  
आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका  
आलम्बन कोई बाहरी वस्तु है (बहिद्धारम्भणा)  
इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका  
आलम्बन दोनों आन्तरिक और बाहरी वस्तुएँ हैं (अज्झत्त-बहिद्धारम्भणा)
२२. अ. वे धम्म जो दृश्य हैं और इन्द्रिय और उसके  
विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिद्दसन-  
अप्प-टिष्ठा)  
आ. वे धम्म जो दृश्य तो नहीं किन्तु इन्द्रिय और उसके  
संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिद्दसन-अप्प-  
टिष्ठा)  
इ. वे धम्म जो न तो दृश्य हैं और न इन्द्रिय  
और उसके विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न  
होने वाले हैं (अनिद्दसन-अप्प-  
टिष्ठा)

१०० दुक्क

(हेतु-वर्ग)

१. अ. जो दूसरों के हेतु हैं—(हेतु)  
आ. जो दूसरों के हेतु नहीं हैं—(न हेतु)

२. अ. जो हेतुओं से युक्त है—(सहेतुका)  
 आ. जो हेतुओं से युक्त नहीं है—(अहेतुका)
३. अ. जिनसे हेतु संलग्न है—(हेतुसम्पयुक्ता)  
 आ. जिनसे हेतु संलग्न नहीं है—(हेतुविषययुक्ता)
४. अ. जो स्वयं हेतु है और हेतुओं से युक्त भी है—(हेतू चैव सहेतुका च)  
 आ. जो स्वयं हेतु नहीं है किंतु हेतुओं से युक्त है—(सहेतुका चैव न च हेतु)
५. अ. जो स्वयं हेतु है और जिनसे हेतु संलग्न भी है—(हेतू चैव हेतुसम्पयुक्ता च)  
 आ. जो स्वयं हेतु नहीं है, किन्तु जिनसे हेतु संलग्न है—(हेतुसम्पयुक्ता चैव न च हेतु)
६. अ. जो स्वयं हेतु नहीं है किन्तु जो हेतुओं से युक्त है—(न-हेतू सहेतुका)  
 आ. जो न स्वयं हेतु है और न हेतुओं से युक्त है—(न-हेतू अहेतुका)

(संक्षिप्त मध्यवर्गीय वृत्त)

७. अ. जिनके प्रत्यय हैं—(सम्पत्तया)  
 आ. जिनके प्रत्यय नहीं हैं—(असम्पत्तया)
८. अ. संस्कृत—(संस्कृता)  
 आ. असंस्कृत—(असंस्कृता)
९. अ. दृश्य—(सनिदृशना)  
 आ. अदृश्य—(अनिदृशना)
१०. अ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से युक्त—(सम्पत्तिष्ठा)  
 आ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से वियुक्त—(असम्पत्तिष्ठा)
११. अ. जो रूप-युक्त है—(रूपिनो)  
 आ. जो रूप-युक्त नहीं है—(अरूपिनो)
१२. अ. लौकिक—(लौकिका)  
 आ. अलौकिक—(लौकिकरा)
१३. अ. जो कुछ के द्वारा विज्ञेय है—(केनचि विज्ञेय्या)  
 आ. जो कुछ न के द्वारा विज्ञेय नहीं है—(केनचि न विज्ञेय्या)

( ३. आसन्न-वर्ग )

१४. अ. जो चित्त-मल है—(आसन्ना)  
 आ. जो चित्त-मल नहीं है —(नो आसन्ना)

१५. अ. जो चित्त-मल से युक्त है—(सासवा)  
 आ. जो चित्त-मल से युक्त नहीं है—(असासवा)  
 १६. अ. जिनसे चित्त-मल संलग्न है—(आसवसम्पयुता)  
 आ. जिनसे चित्त-मल संलग्न नहीं है—(आसवविण्युता)  
 १७. अ. जो स्वयं चित्त-मल है और चित्त-मलों से युक्त भी है—(आसवा  
 चेव सासवा च)  
 आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं है किन्तु चित्त-मलों से युक्त है—(सासवा  
 चेव नो च आसवा)  
 १८. अ. जो स्वयं चित्त-मल है और जिनसे चित्त-मल संलग्न भी है—(आसवा  
 चेव आसवसम्पयुता च)  
 आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं है किन्तु जिनसे चित्त-मल संलग्न है—  
 (आसवसम्पयुता चेव नो च आसवा)  
 १९. अ. जो चित्त-मलों से संलग्न न रहने पर भी उनके आधार है—(आसव-  
 विण्युता सासवा)  
 अ. जो चित्त-मलों से संलग्न भी नहीं है और उनके आधार भी नहीं है—  
 (आसवविण्युता असासवा)

( ४—संयोजन-वर्ग )

२०. अ. जो चित्त के बन्धन है—(संयोजना)  
 आ. जो चित्त के बन्धन नहीं है—(नो संयोजना)  
 २१. अ. जो चित्त-बन्धनों को ओर ले जाने वाले है—(संयोजनिया)  
 आ. जो चित्त-बन्धनों को ओर नहीं ले जाने वाले हैं—(असंयोजनिया)  
 २२. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न है—(संयोजन-सम्पयुता)  
 आ. जिनसे चित्त-बन्धन असंलग्न है—(संयोजन-विण्युता)  
 २३. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन है और चित्त-बन्धनों को ओर ले जाने वाले भी  
 है—(संयोजना चेव संयोजनिया च)  
 आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं है किन्तु जो चित्तबन्धनों को ओर ले  
 जाने वाले है—(संयोजनिया चेव नो च संयोजना)  
 २४. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन है और जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न भी है—  
 (संयोजना चेव संयोजनसंपयुता च)



आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं है, किन्तु जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न है—  
(संयोजनसम्पद्युता चेव नो च संयोजना)

२५. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न तो नहीं है किन्तु जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविष्ययुता संयोजनिया)

आ. जिनसे न तो चित्त-बन्धन संलग्न हो है और न जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविष्ययुता असंयोजनिया)

(५—ग्रन्थ-वर्ग)

२६. अ. जो चित्त की गाँठें हैं—(गन्था)

आ. जो चित्त की गाँठें नहीं हैं—(नो गन्था)

२७. अ. जो चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं—(गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की ओर नहीं ले जाने वाली हैं—(अगन्थनिया)

२८. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर हैं—(गन्थ-सम्पद्युता)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं—(गन्थ-विष्ययुता)

२९. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली भी हैं—(गन्था चेव गन्थनिया च )

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं और न चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं (गन्थनिया चेव नो च गन्था)

३०. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की सहचर भी हैं—  
(गन्था चेव गन्थसम्पद्युता च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं किन्तु चित्त की गाँठों की सहचर हैं—  
(गन्थसम्पद्युता चेव नो च गन्था)

३१. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं, किन्तु

उनको भविष्य में पैदा करने वाली हैं—(गन्थविष्ययुता गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर भी नहीं हैं और न

उन्हें भविष्य में पैदा करने वाली हो हैं—(गन्थविष्ययुता अगन्थनिया)

(६—ओष वर्ग)

३२-३७—ऊपर के समान ही । केवल 'चित्त की गाँठ' को जगह 'ओष' (बाड़) का प्रयोग है । (ओष नार है, काम-ओष, भव-ओष, (आत्म-) दृष्टि-ओष और अविद्या-ओष ।

## ( ७—योग-वर्ग )

३८-४३—ऊपर के समान ही । केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'योग' (आसक्ति) का प्रयोग है । (योग भी चार माने गये हैं, यथा काम-योग, भव-योग, (आत्म-) दृष्टि-योग, एवं अविद्या-योग)

## ( ८—नीवरण-वर्ग )

४४. अ. जो ध्यान के विघ्न हैं — (नीवरणा)  
 आ. जो ध्यान के विघ्न नहीं हैं — (नो नीवरणा)
४५. अ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले हैं — (नीवरणिया)  
 आ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले नहीं हैं — (अनीवरणिया)
४६. अ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर हैं — (नीवरणसम्पयुक्ता)  
 आ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं — (नीवरणविष्ययुक्ता)
४७. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले भी हैं — (नीवरणा चेव नीवरणया च)  
 आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं किन्तु जो ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले हैं — (नीवरणिया चेव नो च नीवरणा)
४८. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों के सहचर भी हैं — (नीवरणा चेव नीवरण-सम्पयुक्ता च)  
 आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं किन्तु ध्यान के विघ्नों के सहचर हैं — (नीवरणसम्पयुक्ता चेव नो च नीवरणा)
४९. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं — (नीवरणविष्ययुक्ता नीवरणिया)  
 आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर भी नहीं हैं और न उन्हें पैदा करने वाले ही हैं — (नीवरणविष्ययुक्ता अनीवरणिया)

## ( ९—परामर्श-वर्ग )

५०. अ. जो मिथ्या धारणायें हैं — (परामासा)  
 आ. जो मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं — (नो परामासा)

५१. अ. जो (चित्त की अवस्थाएँ) मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली हैं—(परामट्टा)  
 आ. जो मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली नहीं हैं—(अपरामट्टा)
५२. अ. जो मिथ्या धारणाओं को सहचर हैं—(परामाससम्पयुता)  
 आ. जो मिथ्या धारणाओं को सहचर नहीं हैं—(परामासविण्ययुता)
५३. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणायें हैं और मिथ्या धारणाओं—  
 को पैदा करने वाली भी हैं—(परामासा चैव परामट्टा च)  
 आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं किन्तु  
 मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली  
 हैं— (परामट्टा चैव नो च परामासा)
५४. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं  
 किन्तु उन्हें पैदा करने वाली हैं—(परामासविण्ययुता परामट्टा)  
 आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं और  
 उन्हें पैदा करने वाली भी नहीं हैं—(परामासविण्ययुता अपरामट्टा)

( १०—विस्तृत मध्यम बुक )

५५. अ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर पैदा होते हैं—(सारम्मणा)  
 आ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर नहीं पैदा होते—(असारम्मणा)
५६. अ. जो चेतना-स्वरूप हैं—(चित्ता)  
 आ. जो चेतना-स्वरूप नहीं हैं—(नो चित्ता)
५७. अ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ हैं—(चेतसिका)  
 आ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ नहीं हैं—(अचेतसिका)
५८. अ. जो चेतनों से युक्त हैं—(चित्तसम्पयुता)  
 आ. जो चेतना से युक्त नहीं हैं—(चित्तविण्ययुता)
५९. अ. जो चेतना से संसृष्ट हैं—(चित्तसंसृष्टा)  
 आ. जो चेतना से संसृष्ट नहीं हैं—(चित्तविसंसृष्टा)
६०. अ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं—(चित्तसमुट्ठाना)  
 आ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते—(नो चित्तसमुट्ठाना)

६१. अ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले हैं—(चित्त सहभुनों)  
 आ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं—(नो चित्त सहभुनों)
६२. अ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—(चित्तानुपरिवर्तिनो)  
 आ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होते—(नो चित्तानुपरिवर्तिनो)
६३. आ. जो चेतना से संयुक्त हैं और उसी के द्वारा पैदा भी होने वाले हैं—(चित्तसंसदृशसमुद्धानां)  
 आ. जो चेतना से संयुक्त नहीं हैं किन्तु उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं—(नो-चित्तसंसदृशसमुद्धानां)
६४. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और उसके साथ रहने वाले हैं—(चित्त-संसदृश-समुद्धान-सहभुनों)  
 आ. जो न चेतना से युक्त हैं न उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और न उसके साथ रहने वाले हैं—  
 (नो चित्त-संसदृश-समुद्धान-सहभुनों)
६५. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा किये जाते हैं और उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—  
 (चित्त-संसदृश-समुद्धानानुपरिवर्तिनो)  
 आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा किये किये जाते हैं और न उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते हैं—(नो-चित्त-संसदृश-समुद्धानानुपरिवर्तिनो)
६६. अ. जो किसी व्यक्ति के अन्दर स्थित हैं—(अजम्भितिका)  
 आ. जो उसके बाहर स्थित हैं—(बाहिरा)
६७. अ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अजित हैं—(उपादा)  
 आ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अजित नहीं हैं—(नो उपादा)
६८. अ. पूर्ववत्—(उपादिघ्ना)  
 आ. " (अनुपादिघ्ना)



## (११—उपादान-वर्ग)

६९. अ. जो धम्म उपादान (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण-स्वरूप) है—(उपादाना)  
 आ. जो धम्म उपादान नहीं है—(नो-उपादाना)
७०. अ. जो धम्म उपादान को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया)  
 आ. जो धम्म उपादान को नहीं पैदा करने वाले हैं—अनुपादानिया)
७१. अ. जो धम्म उपादान से संलग्न हैं—(उपादानसम्पयुक्ता)  
 आ. जो धम्म उपादान से अलग हैं—(उपादानविष्ययुक्ता)
७२. अ. जो धम्म स्वयं उपादान है और उपादान को  
 पैदा करने वाले भी हैं—(उपादाना चैव उपादानिया च)  
 आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं किन्तु उपादान  
 को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया चैव नो च उपादाना)
७३. अ. जो धम्म स्वयं उपादान है और अन्य उपादानों  
 से संलग्न भी हैं—(उपादाना चैव उपादानसम्पयुक्ता)  
 आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं (उपादानसम्पयुक्ता चैव नो च  
 किन्तु अन्य उपादानों से संलग्न हैं— उपादाना)
७४. अ. जो धम्म स्वयं उपादानों से अलग हैं  
 किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं—(उपादानविष्ययुक्ता उपादानिया)  
 आ. जो धम्म उपादानों से अलग हैं और उन्हें  
 पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(उपादानविष्ययुक्ता अनुपादानिया)

## ( १२—क्लेश-वर्ग )

७५. अ. जो धम्म क्लेश (चित्त-मल—राग, द्वेष, मोहादि)-स्वरूप हैं—(क्लेशा)  
 आ. जो धम्म क्लेश-स्वरूप नहीं हैं—(नो क्लेशा)
७६. अ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले हैं—(संक्लेशिका)  
 आ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले नहीं हैं—(असंक्लेशिका)
७७. अ. जो धम्म क्लेशों से युक्त हैं—(संक्लिष्टा)  
 आ. जो धम्म क्लेशों से युक्त नहीं हैं—(असंक्लिष्टा)
७८. अ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न हैं—(क्लेशसम्पयुक्ता)  
 आ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न नहीं हैं—(क्लेशविष्ययुक्ता)

७९. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप है और क्लेशों को पैदा करने वाले भी है—(किलेसा चेव संकिलेसिका)  
 आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं है किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले है—(संकिलेसिका चेव नो च किलेसा)
८०. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप है और अन्य क्लेशों से युक्त भी है—(किलेसा चेव संकिलिट्ठा च)  
 आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं है किन्तु अन्य क्लेशों से युक्त है—(संकिलिट्ठा चेव नो च किलेसा)
८१. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप है और अन्य क्लेशों से संलग्न भी है—(किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च)  
 आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं है किन्तु अन्य क्लेशों से संलग्न है—(किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा)
८२. अ. जो स्वयं क्लेश से अलग है किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले है—(किलेसविप्पयुत्ता संकिलेसिका)  
 आ. जो स्वयं क्लेश से अलग है और क्लेशों को पैदा करने वाले भी नहीं है—(किलेसविप्पयुत्ता असंकिलेसिका)
८३. अ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सने न पहातब्बा)  
 आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा नहीं हटाये या नष्ट किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बा)
८४. अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—  
 (भावनाय पहातब्बा)  
 अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट नहीं किये जा सकते—(न भावनाय पहातब्बा)
८५. अ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)  
 आ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)
८६. अ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बहेतुका)

- आ. जिन धर्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते ।—(न भावनाय पहातव्य हेतुका)
८३. अ. जिन धर्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न है—(सवितर्कता)  
आ. जिन धर्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न नहीं है—(अवितर्कता)
८४. अ. जिन धर्मों के साथ 'विचार' संलग्न है (सविचारा)  
आ. जिन धर्मों के साथ 'विचार' संलग्न नहीं है—(अविचारा)
८५. आ. जिन धर्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न है—(संप्रीतिका)  
आ. जिन धर्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न नहीं है—(अप्रीतिका)
९०. अ. जो धर्म 'प्रीति' के सहचर है—(प्रीतिसहगता)  
आ. जो धर्म 'प्रीति' के सहचर नहीं है—(न-प्रीतिसहगता)
९१. अ. जो धर्म 'सुख' के सहचर है—(सुखसहगता)  
आ. जो धर्म 'सुख' के सहचर नहीं है—(न सुखसहगता)
९२. अ. जो धर्म 'उपेक्षा' के सहचर है—(उपेक्षासहचरा)  
आ. जो धर्म 'उपेक्षा' के सहचर नहीं है—(न उपेक्षासहचरा)
९३. अ. जिन धर्मों का सम्बन्ध कामनाओं के लोक (कामावचर) से है—  
(कामावचरा)  
आ. जिन धर्मों का सम्बन्ध कामनाओं के लोक (कामावचर) से नहीं है —(न-कामावचरा)
९४. अ. जिन धर्मों का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से है—(रूपावचरा)  
आ. जिन धर्मों का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से नहीं है—(न-रूपावचरा)
९५. अ. जिन धर्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से है—(अरूपावचरा)  
आ. जिन धर्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से नहीं है—(न-अरूपावचरा)
९६. अ. जो धर्म आवागमन के चक्र में निहित है—(परिघापन्ना)  
आ. जो धर्म आवागमन के चक्र में निहित नहीं है—(अपरिघापन्ना)
९७. अ. जो धर्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले हैं—(निव्याप्तिका)  
आ. जो धर्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले नहीं हैं—(अनिव्याप्तिका)
९८. अ. जिन धर्मों के परिणाम सुनिश्चित हैं—(नियता)  
आ. जिन धर्मों के परिणाम सुनिश्चित नहीं हैं—(अनियता)

९९. अ. जिनके आगे बढ़कर भी कुछ धम्म है—(स-उत्तरा)

आ. जिनसे आगे बढ़कर और कोई धम्म नहीं है—(अनुत्तरा)

१००. अ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त हैं—(सरणा)

आ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त नहीं है—(अरणा)

उपर्युक्त १२२ वर्गीकरणों में धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। वास्तव में इन वर्गीकरणों में भी प्रथम वर्गीकरण (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः धम्मसंगणि में मानसिक और भौतिक जगत् के सारे तत्त्वों को प्रधानतः इन्हीं तीन शीर्षकों में पहले विभक्त किया गया है। वहाँ पहले उपर्युक्त तत्त्वों का विश्लेषण कर यही निज्ञासा की गई है कि इनमें से कौन से धम्म कुशल हैं, अकुशल हैं, या अव्याकृत हैं। शेष १२१ वर्गों में धम्मों के विश्लेषण को तो अन्त में प्रश्न और उत्तर के रूप में ही संक्षेप में समझा दिया गया है। अतः धम्मसंगणि का मुख्य विषय है धम्मों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण। धम्मसंगणि की विषय वस्तु चार कांडों में विभाजित की गई है, (१) चित्तुप्पाद-कांड (२) रूपकांड (३) निक्खेपकांड और (४) अत्थुद्धार कांड। पहले दो कांडों में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण है। पहले कांड में कुशल, अकुशल और अंशतः अव्याकृत का विवेचन है और दूसरे कांड में अव्याकृत के अधूरे विवेचन को पूरा किया गया है। तीसरे और चौथे कांडों में इनका संक्षेप है और शेष १२१ वर्गों के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। चूंकि धम्मों की गणना कुशल, अकुशल आदि वर्गों में करने के अतिरिक्त स्वयं उनके स्वरूप का भी विश्लेषण धम्मसंगणि में किया गया है, अतः इस दृष्टि से उनके चार कांडों को चित्त, चेतसिक और रूप (जिन तीन वर्गों में उसने धम्मों को उनके स्वरूप भेद की दृष्टि से विभक्त किया है) इन तीन शीर्षकों में भी विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रथम कांड चित्त, चेतसिक और उनके नाना उपविभागों का एवं दूसरे कांड में रूप (भौतिक जगत् का समष्टि-गत रूप) का वर्णन है। तीसरे और चौथे कांडों में यहाँ भी संक्षेप ही है। धम्मसंगणि के इस द्विविध विभाग के कारण ही उसके विवेचन में इतनी दुरुहता आ गई है। पहले हम



चित्त और उसकी सहगत अवस्थाओं (चेतसिक) के विश्लेषण और कुशल, अकुशल आदि के रूप में उसके विभाजन को, जो पहले कांड में किया गया है, लेते हैं। चित्त का अर्थ है चेतना। चेतना को बौद्ध दर्शन में बड़े व्यापक अर्थ में लिया गया है। भगवान् ने स्वयं कहा है "चेतानाहं भिक्खवे कम्मं वदामि" अर्थात् "भिक्षुओ! चेतना को ही मैं कर्म कहता हूँ।" इस बुद्ध-वचन से ही समझा जा सकता है कि अभिधम्म में चेतना का इतना सूक्ष्म विश्लेषण क्यों किया गया है। कर्म के शुभ, अशुभ स्वरूपों का चेतना से घनिष्ठ संबंध है, अतः उसका विश्लेषण प्रत्येक पूर्ण आचरण-दर्शन के लिए आवश्यक है। धम्मसंगणि के निर्देशानुसार चित्त की चार भूमियाँ हैं, जिन पर अग्रसर होता हुआ वह इस बहिर्जगत् की चंचलताओं से ऊपर उठकर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं, कामावचर-भूमि, रूपावचर-भूमि, अरूपावचर-भूमि और लोकोत्तर-भूमि। जिस जीवन और जगत् में हमारा सामान्य-जीवन-प्रवाह चलता है वह कामनाओं का लोक है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओं के सम्बल को लेकर ही हम दूसरे जन्म में प्रवेश कर जाते हैं। चित्त की समता यहाँ नहीं मिलती। यही चित्त की कामावचर (कामनाओं में विचरण करने वाली) भूमि है। चित्त की दूसरी भूमि रूपावचर है। रूपावचर-भूमि से तात्पर्य है ध्यान-भूमि पर स्थित चित्त। रूपावचर शब्द ध्यान के अर्थ में पालि-साहित्य में रूढ़ हो गया है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय या 'कर्मस्थान' रूपवान् पदार्थ या बाह्य जगत् का कोई दृश्य पदार्थ ही होता है, अतः इसे रूप-संबंधी चित्त का ध्यान ही कहना चाहिए। चित्त की तीसरी अवस्था में बाह्य दृश्य-पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रूप-रहित आलम्बन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनन्तता, अकिंचनता की अनन्तता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था जिसमें चेतना के भी होने या न होने का निर्धारण न किया जा सके। यही चित्त की अरूपावचर भूमि है, अर्थात् अरूप-संबंधी चित्त का ध्यान। यहाँ रूप का सर्वथा अस्तंगमन हो जाता

है । चित्त की चौथी अवस्था का नाम है लोकोत्तर-भूमि । यहाँ आते-आते योगी अनित्य, दुःख और अनात्म का चिन्तन करते-करते निर्वाण रूपी आलम्बन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं । एक-एक करके वह अपने सारे बन्धनों को नष्ट कर डालता है और उसका चित्त उस सर्वोत्तम भूमि में पहुँच जाता है, जो लोकोत्तर है । इस भूमि का संबंध चार आर्य-मार्गों और उनके फलों (स्रोत आपत्ति आदि) से है । यहाँ पहुँचकर फिर तृष्णा या अविद्या के फन्दे में पड़ना नहीं होता । चित्त फिर लोभ, द्वेष और मोह की ओर नहीं लौट सकता । इसीलिए यह भूमि लोकोत्तर है । चित्त की इन चार भूमियों को समझ लेने के बाद हमें चित्त के कुशल, अकुशल और अव्याकृत स्वरूप की कुछ और अधिक समझ लेना चाहिए । फिर चित्त के भेदों को समझना हमारे लिए आसान हो जायगा । कुशल चित्त वह है जो लोभ, द्वेष, मोह आदि से रहित हो । अकुशल चित्त इनसे युक्त होता है । अव्याकृत चित्त वह है जो इच्छा से रहित होता है । या तो यह अत्यंत स्वाभाविक रूप से पूर्व-जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है जिसमें इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नहीं होता और इस जन्म के कर्मों से संबद्ध न होने कारण जिसका स्वरूप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय (अव्याकृत) होता है, या यह विगत-तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अहंत्) की चित्तावस्था का सूचक होता है जिसके इस जन्म के कुशल कर्म भी वास्तव में हेतु या इच्छा से रहित होते हैं और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नहीं करते । इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते हैं । इस दृष्टि से अव्याकृत चित्त के दो भाग किये गये हैं (१) विपाक-चित्त, जो पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के परिणाम-स्वरूप हो सकते हैं और (२) क्रिया-चित्त, जो अहंत् की चित्त-अवस्था के सूचक हैं और जिनमें अहंत् के चित्त की क्रिया-मात्र ही रहती है, पर वास्तव में जो 'निष्क्रिय' होते हैं । पूर्णता-प्राप्त जानी पुरुष (अहंत्) का चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है । चूँकि अहंत् के सभी कर्म ज्ञानान्ति द्वारा दण्ड कर दिये गये होते हैं, अतः उसका चित्त 'क्रिया' भर करता है, उसका आगे के लिए कोई विपाक या परिणाम नहीं बनता । चित्त की उपर्युक्त

चार भूमियों और उसके तीन स्वरूपों में उसकी उन ८९ अवस्थाओं का वर्गीकरण जो धम्मसंगणि में किया गया है बड़ी अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। चित्त की अवस्थाएँ कुल मिलाकर ८९ हैं, जिनमें भूमियों की दृष्टि से ५४ कामावचर-भूमि से संबंधित हैं, १५ रूपावचरभूमि से संबंधित हैं, १२ अरूपावचर भूमि से संबंधित हैं और ८ लोकोत्तर भूमि से संबंधित हैं। कुशल-चित्त की दृष्टि से इन ८९ चित्त की अवस्थाओं में से २१ अवस्थाएँ कुशल-चित्त से संबंधित हैं, १२ अवस्थाएँ अकुशल-चित्त से संबंधित हैं और ५६ अवस्थाएँ (३६ विपाक-चित्त + २० क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त से संबंधित हैं। इनका भी अधिक विश्लेषण करें तो ५४ कामावचर-भूमि की चित्त-अवस्थाओं में से ८ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं, १२ अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ३४ (२३ विपाक-चित्त + ११ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। १५ रूपावचर-चित्त की अवस्थाओं में से ५ कुशल-चित्त संबंधी अवस्थाएँ हैं और १० (५ विपाक-चित्त + ५ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त संबंधी अवस्थाएँ हैं। रूपावचर-चित्त-भूमि में अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ संभव नहीं होतीं। १२ अरूपावचर-भूमि की अवस्थाओं में ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। ८ लोकोत्तर-भूमि की अवस्थाओं में से ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ४ अव्याकृत चित्त (केवल विपाक-चित्त) की अवस्थाएँ हैं। अरूपावचर और लोकोत्तर भूमियों में भी अकुशल-चित्त का होना संभव नहीं। कुशल-त्रिक की दृष्टि से भी इसी प्रकार का विस्तृत विश्लेषण करें तो २१ कुशल-चित्तों में से ८ कामावचर-भूमि के हैं, ५ रूपावचर भूमि के हैं, ४ अरूपावचर भूमि के हैं और ४ ही लोकोत्तर भूमि के हैं। १२ अकुशल-चित्तों में कुल कामावचर भूमि के ही हैं, क्योंकि अन्य उच्च भूमियों पर अकुशल-चित्त का होना संभव ही नहीं। ५६ अव्याकृत-चित्त की अवस्थाओं में से ३४ (२३ विपाक-चित्त + ११ क्रिया-चित्त) कामावचर-भूमि की हैं, १० (५ + विपाक-चित्त + ५ क्रिया-चित्त) रूपावचर-भूमि की हैं, ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अरूपावचर-भूमि की हैं और ४ लोकोत्तर-भूमि (केवल विपाक-चित्त) की हैं। अभी यह गणना सुबोध नहीं जान पड़ेगी, किन्तु आगे के विवरण से साफ हो जायगी। धम्म-

संगणि में चूंकि चित्त के उपर्युक्त ८९ प्रकारों का विस्लेषण उसके कुशल अकुशल और अध्याईत रूपों का मूलाधार लेकर ही किया गया है, अतः उसकी पद्धति का ही अनुसरण करने हुए हम इस विषय को स्पष्ट करेंगे। धम्मसंगणि में सर्वप्रथम जिज्ञासा की गई है 'कतमे धम्मा कुसला ?' अर्थात् कौन से धर्म कुशल हैं ? इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

### १. कुसला धम्मा

(क) कामावचर-भूमि के ८ कुशल-चित्त।

कामनाओं के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे धीरे अपने चित्त को लोभ, द्वेष और मोह से विमुक्त करे। इसके बिना उसका चित्त कुशल या सात्विक नहीं हो सकता। जब कोई साधक शुभ कर्म करता है जिससे उसका चित्त सात्विक बनता है तो कभी तो वह ऐसा अपने मन में ठानकर ज्ञान-पूर्वक करता है, अर्थात् वह ऐसा विचार-पूर्वक, सोचकर करता है कि ऐसा ऐसा करने से भविष्य के जीवन में मेरे कर्मों का विपाक कुशल बनेगा। इस प्रकार की उसकी चित्त-अवस्था ज्ञान-संप्रयुक्त या ज्ञानयुक्त कहलाती है। उदाहरणतः, एक मनुष्य बुद्ध-वन्दना करता है और सोचता है कि ऐसा करने से उसका शुभ कर्म-विपाक बनेगा तो उसका चित्त उस समय ज्ञान-संप्रयुक्त है। किन्तु यदि एक बालक इसी काम को दूसरे के अनुकरण पर करता है तो उसके इस काम में इस ज्ञान की भावना नहीं है कि यह कर्म उसके लिए शुभ कर्म-विपाक का प्रसवकारी बनेगा। अतः उसका चित्त 'ज्ञान-विप्रयुक्त' या ज्ञान से रहित है। इसी प्रकार यदि कोई कर्म दूसरे की प्रेरणा पर और भिन्नकपूर्वक किया जाता है तो वह 'संसांस्कारिक' (संस्कारिक) है और यदि वह अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा और बिना हितकिचाहट के किया जाता है तो वह 'असांस्कारिक' (असंस्कारिक) है। इसी प्रकार कोई कर्म सोमनस्य की भावना से युक्त (सोमनस्स-सहगत) हो सकता है और कोई उपेक्षा



की भावना से युक्त (उपेक्षा-सहगत) । इतना समझ लेने पर अब धम्म-संगणि में निर्दिष्ट निम्नलिखित आठ कामावचर-कुशल-चित्तों को देखिए—)

यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ख) रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्त—कामावचर-भूमि से आगे बढ़कर योगी पृथ्वी, जल, तेज आदि २६ रूपवान् पदार्थों को आलम्बन (कर्मस्थान) मानकर ध्यान करता है । इस ध्यान की पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक स्वरूप इस प्रकार है—

- |    |                        |         |                           |
|----|------------------------|---------|---------------------------|
| १. | वितर्क, विचार, प्रीति, | सूक्ष्म | एकाग्रता वाला प्रथम ध्यान |
| २. | "                      | "       | " द्वितीय ध्यान           |
| ३. | "                      | "       | " तृतीय ध्यान             |
| ४. | "                      | "       | " चतुर्थ ध्यान            |
| ५. | उपेक्षा                | "       | " पंचम ध्यान              |

(समचित्तत्व)

(ग) अ-रूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्त (रूपावचर-ध्यान से आगे बढ़कर योगी रूपवान् कर्मस्थानों को छोड़ देता है और रूप-रहित वस्तुओं का ध्यान करने लगता है, जिनकी चार क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार हैं (१) अनन्त आकाश का ध्यान (२) अनन्त विज्ञान का ध्यान (३) अनन्त आकिंचन्य (शून्यता) का ध्यान और (४) नैव-संज्ञा-नामंज्ञा (चित्त की वह सूक्ष्म अवस्था जिसमें न यह कहा जा सके कि संज्ञा है और न यह

कहा जा सके कि संज्ञा नहीं है) का ध्यान। ध्यान की यही चार अवस्थाएँ अरूपावचर कहलाती हैं। अतः इन संबंधी चार कुशल-चित्तों के नाम हैं—)

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन कुशल-चित्त
४. नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतन कुशल-चित्त

(घ) लोकोत्तर-भूमि के चार कुशल-चित्त (अरूप-मगाधि से उठकर योगी फिर अविद्या के प्रभाव में आ सकता है। इससे बचने के लिए उसे आगे ध्यान-साधना करनी होती है। वह धीरे-धीरे चित्त के बन्धनों को हटाता है और अनित्य, दुःख और अनात्म की भावना करता है। ऐसा करते-करते वह चित्त की लोकोत्तर अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जिसकी निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं—

१. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त (जो निर्वाण-नामी स्रोत में पड़ गया है)
२. संकटागामि-मार्ग-चित्त (जिसे एक बार और जन्म लेना है)
३. अनागामि-मार्ग-चित्त (जिसे अब लौटना नहीं है—अर्थात् जो इसी जन्म में निर्वाणका साक्षात्कार कर लेगा)
४. अर्हत्-मार्ग-चित्त (जिसने निर्वाण का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है)

## २—अकुसला धम्मा

धम्मसंगणि की दूसरी मुख्य जिज्ञासा है, 'कतमे धम्मा अकुसला?' अर्थात् कौन से धम्म अकुशल हैं? इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(क) लोभ-मूलक आठ अकुशल-चित्त (लोभ के कारण मनुष्य अशुभ कर्म करता है। कभी ऐसा करने में उसे चित्त की प्रसन्नता भी होती है और कभी मात्र उपेक्षा की भावना ही भी रहती है। ये दोनों क्रियाएँ, क्रमशः सोमनस्य से युक्त (सोमनस्ससहगत) और उपेक्षा-युक्त (उपेक्कासहगत) कहलाती हैं, जैसा हम कुशल चित्त के विषय में भी देख चुके हैं। इसी प्रकार लोभ-मूलक कोई बुरा काम किसी मिथ्या-धारणा

का सहारा लेकर किया जा सकता है, जैसे वह तो मेरा कर्तव्य ही है आदि (यद्यपि भावना तो उसमें लोभ की ही रहती है) तो उस दशा में वह दृष्टिगत-युक्त (दिट्ठिगत-सम्पद्युक्त) कहलायेगा। यदि इस प्रकार की मिथ्या-धारणा का सहारा नहीं लिया गया है तो वह दृष्टिगत-विप्रयुक्त या मिथ्या-धारणा से मुक्त (दिट्ठिगत-विष्ययुक्त) कहलायेगा। इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा से, भिन्नक पूर्वक किये हुए लोभमूलक दुष्कृत्य को 'ससांस्कारिक' (ससंस्कारिक) कहेंगे और बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के और बिना भिन्नक के साथ किये हुए कर्म को 'असांस्कारिक' (असंस्कारिक) कहेंगे, जैसा हम कुशल-चित्त के विवेचन में भी पहले देख चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोभ-मूलक अकुशल-चित्त कामनाओं के लोक (कामावचर-भूमि) में ही हो सकते हैं। इससे आगे उनकी पहुँच नहीं। आठ प्रकार के लोभ-मूलक अकुशल-चित्तों के स्वरूप का परिचय देखिए—

१. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असांस्कारिक
४. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या-धारणा से रहित, ससांस्कारिक

### (ख) द्वेष-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. दीर्घमनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, असांस्कारिक
२. दीर्घमनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, ससांस्कारिक

{ चित्त की द्वेषमयी अवस्था में सौमनस्य या उपेक्षा नहीं रह सकती।  
द्वेष की चञ्चलतापूर्ण अवस्था में धारणाओं का भी कोई स्थिरत्व नहीं होता।

## (ग) मोह-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. (अज्ञानमय) उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त  
 २. उपेक्षा के साथ, उद्धतता से युक्त
- { मनकी मोह-युक्त अवस्था में  
 { असांस्कारिक या ससांस्कारिक  
 { होने का सवाल ही नहीं उठता ।

## ३. अव्याकता धम्मा

धम्मसंगणि की तीसरी मुख्य जिज्ञासा है "कतमे धम्मा अव्याकता" अर्थात् कौन से धम्म अव्याकृत हैं ? इसके उत्तर का निष्कर्ष प्रकार है—

## अ—विपाक-चित्त

(क) आठ कुशल विपाक-चित्त—अव्याकृत चित्त के दो भेद हैं, विपाक-चित्त और क्रिया-चित्त, यह हम पहले देख चुके हैं । विपाक-चित्त पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप होते हैं । पूर्व-जन्म के शुभ या अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल-विपाक-चित्त और अकुशल-विपाक-चित्त ये दो स्वरूप होते हैं । आठ कुशल विपाक-चित्त, जो अनुकूल पदार्थों के साथ इन्द्रियों के संतिकर्ष होने के कारण उत्पन्न होते हैं, ये हैं—

- |                     |                                 |
|---------------------|---------------------------------|
| १. चक्षु-विज्ञान    | उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) से युक्त |
| २. श्रोत्र-विज्ञान  | "                               |
| ३. घ्राण-विज्ञान    | "                               |
| ४. जिह्वा-विज्ञान   | "                               |
| ५. काय-विज्ञान      | सुख या सौमनस्य से युक्त         |
| ६. मनोधातु          | उपेक्षा से युक्त                |
| ७. मनो विज्ञान-धातु | उपेक्षा से युक्त                |
| ८. मनो-विज्ञान-धातु | सुख या सौमनस्य से युक्त         |

संख्या १, ७, ८ के कुशल विपाक चित्तों को क्रमशः 'सम्पटिच्छन्न' और 'सन्तीरण' (७, ८) 'अभिधम्मत्त्व' संग्रह में कहा गया है । सम्पटिच्छन्न (सम्प्रतिच्छन्न) का अर्थ है ग्रहणात्मक विज्ञान और 'सन्तीरण' (सन्तीर्ण) का अर्थ है अनुसन्धानात्मक विज्ञान । चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उनके विषयों



का सन्निकर्ष होने पर चक्षु-विज्ञान आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बाद चित्त को किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता की अनुभूति होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए उत्सुक होता है। यही चित्त की अवस्था 'सम्पटिच्छन्न' कहलाती है। जब उसे ग्रहण करने के लिए वह अनुसन्धान करने लगता है तो यही अवस्था 'सत्तीरण' कहलाती है। इन सब व्यापारों में द्रष्टा को अपने आप की चेतना नहीं होती। ये सब व्यापार सुषुप्त चेतना या अर्द्धचेतना की अवस्था में होते हैं। अतः इन विज्ञानों का कोई हेतु नहीं होता। वे पूर्व जन्मों के शुभ या अशुभ कर्मों के परिणाम-स्वरूप ही उद्भूत होते हैं। इस आरम्भिक अवस्था में उनमें सुख या दुःख की वेदना का भी सवाल नहीं उठता। वे उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) की वेदना से युक्त होते हैं। काय-विज्ञान अवश्य सुख या दुःख की वेदना से युक्त होता है।

(ख) आठ कामावचर विपाक-चित्त (पूर्वजन्म के कुशल-चित्तों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले विपाक-चित्त भी उनके समान ही संख्या में आठ हैं, यथा—

१. सोमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त असांस्कारिक
२. सोमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सोमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सोमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ग) सात अकुशल विपाक-चित्त (पूर्व जन्म के अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न)

१. चक्षु-विज्ञान उपेक्षा (न-दुःख-न-सुख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान " " " " " "
३. घ्राण-विज्ञान " " " " " "

४. त्रिहृदा-विज्ञान

५. काय-विज्ञान—

दुःख या दोर्मनस्य से युक्त

६. मनोधातु (सम्पटिच्छन्)

उपेक्षा से युक्त

७. मनोविज्ञान-धातु (सन्तीरण)

(घ) पाँच रूपावचर विपाक-चित्त—रूपावचर-भूमि के पाँच कुशल-चित्तों

के परिणाम- (विपाक) स्वरूप ही दूसरे जन्म में पाँच विपाक-चित्त उत्पन्न होते हैं ।

अतः उनका स्वरूप भी पूर्वोक्त कुशल-चित्तों के अनुरूप ही है यथा—

|            |         |        |                                |                     |
|------------|---------|--------|--------------------------------|---------------------|
| १. वितर्क, | विचार,  | प्रीति | मुख और एकाग्रता से युक्त प्रथम | विपाक-चित्त         |
| २.         | "       | "      | "                              | द्वितीय विपाक-चित्त |
| ३.         | "       | "      | "                              | तृतीय विपाक-चित्त   |
| ४.         | "       | "      | "                              | चतुर्थ विपाक-चित्त  |
| ५.         | उपेक्षा | "      | "                              | पंचम विपाक-चित्त    |

(ङ) चार अरूपावचर विपाक-चित्त—अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-

चित्तों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके समान ही है यथा—

१. आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन विपाक-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन विपाक-चित्त
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन विपाक-चित्त

(च) चार लोकोत्तर विपाक-चित्त—लोकोत्तर-भूमि के चार मार्ग-चित्तों के

परिणामस्वरूप दूसरे जन्म में चार फल-चित्त उत्पन्न होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त (स्रोत आपत्ति के फल को प्राप्त करने की चेतना)
२. सकृदागामि-फल-चित्त (सकृदागामि-फल को प्राप्त करने की चेतना)
३. अनागामि-फल-चित्त (इसी जन्म में निर्वाण के साक्षात्कार रूपी फल को प्राप्त करने की चेतना)
४. अर्हत्व-फल-चित्त (अर्हत्व-फल प्राप्ति की चेतना)

## आ—क्रिया-चित्त

### (क) तीन अहेतुक क्रिया-चित्त

क्रिया-चित्त उसे कहते हैं जो न स्वयं पूर्व जन्मों के कर्मों का विपाक होता है और न भविष्य के कर्मों का विपाक बनता है। उसमें केवल 'क्रिया-मात्र' (करण-मत्त) रहती है। वास्तव में तो वह 'निष्क्रिय' ही होता है, क्योंकि उसका कोई विपाक नहीं बनता। वह इतना स्वाभाविक होता है कि उसका कोई हेतु भी नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरणतः पूर्णता-प्राप्त मनुष्य (अहेतु) की हंसी। इसी लिए उसे अहेतुक भी कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं जैसे—

१. मनोधातु—उपेक्षा से युक्त।

२. मनोविज्ञान धातु—उपेक्षा से युक्त (सभी प्राणियों में पाया जाता है)

३. मनो विज्ञान धातु—सुख या सौमनस्य से युक्त (केवल अहेतु में पाया जाता है)

'अभिधम्मत्वसंह' में इन तीन क्रिया-चित्तों को क्रमशः पंचद्वारावज्जन चित्त (इन्द्रिय रूपी पाँच द्वारों की ओर प्रवण होने वाला, बाहरी पदार्थ से उनका संनिर्धार्य होने पर), मनोद्वारावज्जन चित्त (मन के द्वार की ओर प्रवण होने वाला) और हसितुप्पाद-चित्त (अहेतु के हँसने की क्रियावाला चित्त) कहा है। अहेतु का हँसना नितान्त स्वाभाविक अर्थात् अहेतुक होता है। न वह स्वयं किसी का विपाक होता है और न उसका आगे कोई विपाक बनता है।

### (ख) कामावचर-भूमि के ८ क्रिया-चित्त

कामावचर-भूमि के ८ कुशलचित्तों का उल्लेख पहले हो चुका है। साधारण अवस्था में उनका विपाक भी दूसरे जन्म में होता है। किन्तु अहेतु की जीवन-क्रियाएँ तो किसी विपाक को पैदा करती नहीं। उनमें वासना या तृष्णा का सर्वथा अभाव रहता है। अतः ये क्रियाएँ जैसे दग्ध हो जाती हैं। अतः पूर्वोक्त ८ कुशल-चित्त ही अहेतु की जीवन-दशा से सम्बन्धित होकर आठ क्रिया-चित्त बन जाते हैं, अर्थात् वे अपने विपाक बनने के स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनका बाहरी स्वरूप तो यहाँ भी पहले जैसा ही है, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक

२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक

३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

ग. रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं, अन्तर केवल इतना है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अहंत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अहंत् भी इन पाँच ध्यान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करती। इनका उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ अनावश्यक है।

घ. अरूपावचर-भूमि के चार क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त अरूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं। अन्तर भी यही है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अहंत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अहंत् अरूप-लोक की इन चार अवस्थाओं को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करती। इनका भी उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना निरर्थक है।

उपर्युक्त प्रकार चित्त के ८९ प्रकारों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तों के रूप में उनकी उपर्युक्त ४ भूमियों पर विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। अधिक सुगम बनाने के लिये इनका इस तालिका के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है—



चित्त-विभेदों का कुशल, अकुशल आदि सीपों में विश्लेषण करने के साथ-साथ 'धम्मसंगणि' में चित्त की उन अवस्थाओं (चेतसिक) का भी विश्लेषण किया गया है, जो किसी विशेष प्रकार के चित्त के साथ ही उत्पन्न और निरुद्ध होती रहती हैं और जिनके आलम्बन और इन्द्रिय भी उसके समान ही होते हैं। इन्हें 'चेतसिक' कहते हैं। 'चेतसिक' संख्या में कुल ५२ हैं, जिनमें १३ ऐसे हैं जो सामान्य ('अन्य-समान') हैं अर्थात् जो सभी प्रकार के चित्तों में पाये जाते हैं। इन तेरह में भी ७ तो अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जाते हैं, और ६ प्रकीर्ण हैं, अर्थात् वे कभी पाये जाते हैं, कभी नहीं। २५ चेतसिकों का एक वर्ग 'शोभन चेतसिक' कहलाता है, जिनमें १९ चेतसिक ऐसे हैं जो सभी कुशल-चित्तों में पाये हैं और ६ ऐसे हैं जो सब में नहीं पाये जाते। १४ चेतसिक 'अकुशल' हैं, अर्थात् वे केवल अकुशल-चित्त में ही पाये जाते हैं। उनमें भी ४ मूलभूत अकुशल चेतसिक हैं, जो सभी अकुशल चित्तों में पाये जाते हैं। बाकी १० अकुशल चेतसिक ऐसे हैं जो सब अकुशल-चित्तों में नहीं पाये जाते। इनका वर्गीकरण इस प्रकार आसानी से समझा जा सकता है—

### ५२ चेतसिक या चित्त की सहगत अवस्थाएँ

१—१३ अन्य-समान (सभी चित्तों में सामान्यतः पाये जाने वाले) चेतसिक

अ-७ सर्व-चित्त-साधारण अर्थात् अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जाने वाले, जैसे कि

१. स्पर्श (फस्सो)
२. वेदना (वेदना)
३. संज्ञा (सञ्ञा)
४. चेतना (चेतना)
५. एकाग्रता (एकगता)
६. जीवितेन्द्रिय (जीवितेन्द्रियं)
७. मनसिकार (मनसिकारो)

आ. ६ प्रकीर्णक अर्थात् जो किसी चित्त में पाये जाते हैं, किसी में नहीं, जैसे कि

८. वितर्क (वितर्को)
९. विचार (विचारो)

# चित्त के भेद

(कुशल)

(अकुशल)

(अव्याकृत)

|    | कामाक्षर-भूमि                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    | (क-लोभमूलक)                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                 | विपाक-लित                                                                                                                                                                                                                                                                | क्रिया-चित्त                                                                                                                     | केवल अहंत्व की चित्त-रक्षा |
|----|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------|
| ५४ | १. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक<br>२. " " ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक<br>३. " " ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक<br>४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक<br>५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक<br>६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक<br>७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक<br>८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक | २२. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक<br>२३. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक<br>२४. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असांस्कारिक<br>२५. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक<br>२६. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक<br>२७. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक<br>२८. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असांस्कारिक<br>२९. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक<br>(ख-द्वेषमूलक)<br>३०. दोर्मनस्य के साथ, द्वेषयुक्त, असांस्कारिक<br>३१. दोर्मनस्य के साथ, द्वेषयुक्त, ससांस्कारिक<br>(ग-मोहमूलक)<br>३२. उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त,<br>३३. उपेक्षा के साथ, उद्वेग-युक्त | (क-कुशल-विपाक)<br>३४-३८. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय के विज्ञान<br>३९. मनोधातु<br>४०. मनोविज्ञान-धातु<br>४१. मनोविज्ञान-धातु<br>४२-४९. = १-८<br>(ख-अकुशल-विपाक)<br>५०-५४. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय के विज्ञान<br>५५. मनोधातु<br>५६. मनोविज्ञान-धातु | ७०. मनोधातु-उपेक्षा के साथ<br>७१. मनोविज्ञानधातु - उपेक्षा के साथ<br>७२. मनोविज्ञानधातु - सुख या सौमनस्य के साथ<br>७३-८० = (१-८) |                            |
| १५ | ९. वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता<br>१०. विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता<br>११. प्रीति, सुख, एकाग्रता<br>१२. सुख, एकाग्रता<br>१३. उपेक्षा, एकाग्रता                                                                                                                                                                                                                                                           | X                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           | ५७.<br>५८. = (९-१३)<br>५९.<br>६०.<br>६१.                                                                                                                                                                                                                                 | ८१.<br>८२.<br>८३. = (९-१३)<br>८४.<br>८५.                                                                                         |                            |
| १२ | १४. आकाशानन्त्यायतन<br>१५. विज्ञानानन्त्यायतन<br>१६. आकित्यन्यायतन<br>१७. नैवसंज्ञानानन्त्यायतन                                                                                                                                                                                                                                                                                                                  | X                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           | ६२.<br>६३. = (१४-१७)<br>६४.<br>६५.                                                                                                                                                                                                                                       | ८६.<br>८७. (१४-१७)<br>८८.<br>८९.                                                                                                 |                            |
| ८  | १८. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त<br>१९. सङ्कदागमि-मार्ग-चित्त<br>२०. अनागमि-मार्ग-चित्त<br>२१. अहंत्व-मार्ग-चित्त                                                                                                                                                                                                                                                                                                    | X                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           | ६६. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त<br>६७. सङ्कदागमि-फल-चित्त<br>६८. अनागमि-फल-चित्त<br>६९. अहंत्व-फल-चित्त                                                                                                                                                                        | X                                                                                                                                |                            |



१०. अधिमोक्ष (निश्चय) (अधिमोक्षो)

११. वीर्यं (वीरियं)

१२. प्रीति (पोति)

१३. छन्द (इच्छा) (छन्दो)

२. २५ शोभन चेतसिक, जो सामान्यतः कुशल-चित्त और उनके अनुरूप अव्याकृत-चित्तों में पाये जाते हैं—

अ. १९ 'शोभन-चित्त-साधारण' अर्थात् सभी कुशल-चित्तों में पाई जाने वाली चित्त की अवस्थाएँ

१४. श्रद्धा (सद्धा)

१५. स्मृति (सति)

१६. ह्री (हिरी—नैतिक लज्जा, पाप-संकोच)

१७. अवत्रपा (ओतप्पो—पाप-भय)

१८. अलोम (अलोभो)

१९. अद्वेष (अदोसो)

२०. तत्रमध्यस्थता (तत्र मज्झत्तता-समचित्तत्व)

२१. काय-प्रश्रद्धि (कायप्पस्सद्धि—काया की शान्ति)

२२. चित्त-प्रश्रद्धि (चित्तप्पस्सद्धि—चित्त की शान्ति)

२३. कायलघुता (कायलहुता—शरीर का हल्कापन)

२४. चित्त-लघुता (चित्तलहुता—चित्त का हल्कापन)

२५. कायमुदुता (कायमुदुता)

२६. चित्तमुदुता (चित्तमुदुता)

२७. कायकर्मजता (कायमम्मज्जाता)

२८. चित्तकर्मजता (चित्तकम्मज्जाता)

२९. कायप्रागुष्यता (कायुपागुज्जाता)

३०. चित्त प्रागुष्यता (चित्तपागुज्जाता)

३१. काय-अजुता (कायजुक्ता—काया की सरलता)

३२. चित्त-अजुता (चित्तजुक्ता—चित्त की सरलता)

आ. ६ शोभन-चेतसिक जो किन्हीं कुशल-चित्तों में पाये जाते हैं किन्हीं में नहीं, यथा:



३३. सम्यक् वाणी (सम्मावाचा-वाचिक दुश्चरितों से विरति) } इन तीनों  
 ३४. सम्यक् कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो-कायिकदुश्चरितोंसेविरति) } को विरति  
 ३५. सम्यक् आजीव (सम्मा आजीवो-जीविका संबंधी दुश्चरितों } कहते हैं  
 से विरति)

३६. करुणा } इन दोनों को अ-परिमाण (परिमाण-रहित) कहते हैं  
 ३७. मुदिता } क्योंकि इन्हें किसी हृद तक बढ़ाया जा सकता है ।

३८. प्रज्ञा-इन्द्रिय (पञ्चान्द्रिय—अमोह)

३. १४ अकुशल चेतसिक जो सामान्यतः अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, जिनमें  
 अ. ४ मूल-भूत अकुशल चेतसिक जो सभी अकुशल-चित्तों में अनिवार्यतः  
 पाये जाते हैं । यथा

३९. मोह (मोहो)

४०. अ-हो (अहिरोक-दुश्चरितों से लज्जा न करना)

४१. अन्-अवत्रपा (अनोत्तपं—कुर्मों से वास न मानना)

४२. उद्धतता (उद्धच्च-वंचलता)

- आ. १० अकुशल-चेतसिक जो किन्हीं अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं,  
 किन्हीं में नहीं, यथा

४३. द्वेष (दोसो)

४४. ईर्ष्या (इस्सा)

४५. मात्सर्य (मच्छरियं-कृपणता)

४६. कौकृत्य (कुक्कुच्चं-दुश्चरित के बाद सन्ताप)

४७. लोभ (लोभी)

४८. मिथ्याधारणा (दिट्ठि-दुष्टि)

४९. मान (मानो-गर्व)

५०. कायिक-आलस्य (धीनं-स्त्यान)

५१. मानसिक आलस्य (मिद्धं, मूढ)

५२. विचिकित्सा (विचिकिच्छा-सन्देह)

चित्त के ८९ विभेदों में से प्रत्येक में कौन कौन से चेतसिक उपस्थित रहते हैं, इसका विस्तृत विवेचन, अनेक पुनरुक्तियों के साथ, 'बम्ममंगणि' में किया गया

हैं। उसकी शैली को समझने के लिये चेतसियों की इस विस्तृत सूची को देखिये, जिसे 'धम्मसंगणि' ने कामावचर-भूमि के कुशल-चित्त के प्रथम भेद (देखिये ऊपर चित्त-विभेद की तालिका) से ही सम्बन्धित किया है। प्रथम प्रकार के चित्त को लक्ष्य कर 'धम्मसंगणि' कहती है, "जिस समय कामावचर-लोक से सम्बन्धित कुशल चित्त उत्पन्न होता है, ज्ञान और सोमनस्य से सम्प्रयुक्त, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श या धम्म के आलम्बन (विषय) को लेकर, तो उस समय<sup>१</sup>

१. (१) फस्सो होति, (२) वेदना होति (३) सञ्ज्ञा होति (४) चेतना होति (५) चित्तं होति ।

२. (६) वितक्को होति (७) विचारो होति (८) पीति होति (९) सुखं होति (१०) चित्तस्सेकाग्रता (चित्त की एकाग्रता) होति ।

३. (११) सद्धिन्द्रियं (श्रद्धा-इन्द्रिय) होति (१२) विरियिन्द्रियं (वीर्य-इन्द्रिय) होति (१३) सतिन्द्रियं (स्मृति-इन्द्रिय) होति (१४) समाधिन्द्रियं होति (१५) पञ्चिन्द्रियं (प्रज्ञा-इन्द्रिय) होति (१६) मनिन्द्रियं (मन-इन्द्रिय) होति (१७) सोमनस्सिन्द्रियं (सोमनस्य-इन्द्रिय) होति (१८) जीवितिन्द्रियं होति ।

४. (१९) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) होति (२०) सम्मासंकप्पो (सम्यक् संकल्प) होति (२१) सम्मा वायायो (सम्यक् व्यायाम) होति (२२) सम्मासति (सम्यक् स्मृति) होति (२३) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) होति ।

५. (२४) सद्धा-बलं (श्रद्धा रूपी बल) होति (२५) विरिय-बलं (वीर्य रूपी बल) होति, (२६) सति-बलं (स्मृति रूपी बल) होति (२७) समाधि-बलं होति (२८) पञ्ज्ञा-बलं (प्रज्ञा रूपी बल) होति (२९) हिरिबलं (नैतिक लज्जा रूपी बल) होति (३०) ओतप्पबलं (पाप-भय रूपी बल) होति

६. (३१) अलोभो होति (३२) अदोसो होति (३३) अमोहो होति (३४)

---

१. यस्मिं समये कामावचरं कुशलं चित्तं उत्पन्नं होति सोमनस्स सहगतं ज्ञान-सम्प्रयुक्तं रूपारम्भणं वा सद्धारम्भणं वा गन्धारम्भणं वा रसारम्भणं वा फोद्धब्बारम्भणं वा धम्मारम्भणं वा तस्मिं समये.....

अनभिज्ञा (अद्रोह) होति (३५) अन्त्यापादो (अन्तर) होति (३६)  
सम्मादिदिट् होति ।

७. (३७) हिरि (ही-नैतिक लज्जा) होति (३८) आंतप (पाप-भय) होति  
८. (३९) काय-पस्सादि (काय-प्रशब्धि-काया की शान्ति) होति ।

(४०) चित्त-पस्सादि होति (४१) काय-लहूता (काया का हल्कापन) होति  
(४२) चित्त-लहूता होति (४३) काय-मुदिता (काया की प्रकृल्लता) होति  
(४४) चित्त-मुदिता होति (४५) काय-कम्मज्जाता (काया के कर्मों का  
ज्ञान) होति । (४६) चित्त-कम्मज्जाता होति (४७) कायज्जुक्ता (काया  
की सरलता) होति (४८) चित्तज्जुक्ता होति ।

९. (४९) सति होति (५०) सम्पज्जाणं (सम्प्रज्ञान) होति ।

१०. (५१) समधी (अमय, शान्ति) होति (५२) विपस्सना (विपश्यना-  
विद्वशना-अन्तर्ज्ञान) होति ।

११. (५३) पमाहो (निश्चय) होति (५४) अविकलेपो (चित्त-शान्ति का  
भंग न होना) होति ।

उपर्युक्त ५६ चित्त-अवस्थाओं में बहुत पुनरुक्ति की गई है । २, ९ और  
१७; ५ और १६; ६ और २०; १०, १४, २३, २७, ५३ और ५६; ११ और  
१४; १२, २१, २५ और ५५; १३, २२, २६ और ५१; १५, १९, २८, ३३,  
३६, ५२ और ५४; २९ और ३७; ३१ और ३४ तथा ३२ और ३५ संख्याओं  
की अवस्थाएँ समान ही हैं । अतः समान अवस्थाओं को निकाल देने पर शेष  
३१ रह जाती है । 'धम्मसंगणि' में इस प्रकार के विस्तार बहुत अधिक हैं और  
उनकी संगति केवल विभिन्न दृष्टियों से किये गये वर्गीकरणों के आधार पर ही  
लनाई जा सकती है । कुशल-चित्त के प्रथम भेद के अलावा उसके शेष २० भेदों  
को सहगत-अवस्थाओं की भी गणना उसी के आधार पर की गई है । यही  
पद्धति बाद में कामावचर-भूमि के अकुशल-चित्त के १२ भेदों के विषय में तथा  
उसके बाद विपाक-चित्त की चारों भूमियों के ३६ भेदों के विषय में और अन्त  
में क्रिया-चित्त की तीन भूमियों (कामावचर, रूपावचर, और अरूपावचर) के  
२० भेदों के विषय में प्रयुक्त की गई है । इन सबका विस्तृत विवरण अभिघम्म  
के पूरे दर्शन को समझने के लिये आवश्यक है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास

में तो इनका अपेक्षाकृत गौण स्थान ही हो सकता है। अतः यहाँ केवल मोटी रूप-रेखा उपस्थित कर 'धम्मसंगणि' में जिस शैली में उनका निरूपण किया गया है, उसका दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है।<sup>१</sup> संक्षेप में चित्त और चेतसियों के सम्बन्ध का स्वरूप इस नीचे दी हुई तालिका से समझ में आ सकता है—

### अ—कुशल-चित्त

चित्तों को क्रम संख्या चेतसियों को संख्या जो उनके अन्दर पाये जाते हैं  
(पहले दी हुई तालिका के अनुसार)

|         |                                                                                    |
|---------|------------------------------------------------------------------------------------|
| १ एवं २ | १३ अन्य समान + २५ शोभन = ३८                                                        |
| ३ एवं ४ | उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान को घटाकर = ३७                                            |
| ५ एवं ६ | उपर्युक्त ३८ में से प्रीति को घटाकर = ३७                                           |
| ७ एवं ८ | उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान और प्रीति दोनों को घटाकर = ३६                            |
| ९       | उपर्युक्त ३८ में से ३ विरतियों (समक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव) को घटाकर = ३५ |
| १०      | उपर्युक्त ३५ में से वितर्क को घटाकर = ३४                                           |
| ११      | उपर्युक्त ३४ में से विचार को घटाकर = ३३                                            |
| १२      | उपर्युक्त ३३ में से प्रीति को घटाकर = ३२                                           |
| १३      | उपर्युक्त ३२ में से करुणा और मुदिता (दो अ-प्रमाण) को घटाकर = ३०                    |
| १४-१७   | उपर्युक्त के समान ही = ३०                                                          |

१. चित्त और चेतसियों के सम्बन्ध के विस्तृत और क्रमबद्ध निरूपण के लिए देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द, पहली, पृष्ठ ६८-११०; जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६८-८७; महास्वविर ज्ञानातिलोक (गाइड थू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ६-१३) ने विशेषतः निरूपण-शैली की दृष्टि से ही विवरण दिया है, अतः वह पूर्ण और क्रम-बद्ध नहीं है, किन्तु उनकी दी हुई सूचियाँ और तालिकाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।



१८-२१

प्रथम ३८ में से करुणा और  
मुदिता को घटाकर

= ३६

## आ—अकुशल—चित्त

|            |    |                                          |      |
|------------|----|------------------------------------------|------|
| लोभ-मूलक   | २२ | १३ अन्य-समान + ४ मूलभूत                  |      |
|            |    | अकुशल + लोभ + मिथ्या दृष्टि              | = १९ |
|            | २३ | उपर्युक्त १९ + स्थान और मूढ              |      |
|            |    | (कार्यिक और मानसिक आलस्य)                | = २१ |
|            | २४ | उपर्युक्त १९ + मान—मिथ्या-दृष्टि         | = १९ |
|            | २५ | उपर्युक्त २१ + मान—मिथ्या-दृष्टि         | = २१ |
| द्वेष-मूलक | २६ | उपर्युक्त संख्या २२ के १९—प्रीति         | = १८ |
|            | २७ | उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्यादृष्टि + मान   | = १८ |
|            | २८ | उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्या-दृष्टि        |      |
|            |    | + मान                                    | = १८ |
|            | २९ | उपर्युक्त १९—प्रीति—स्थान + मूढ          | = २० |
|            | ३० | उपर्युक्त १९—प्रीति—लोभ—मिथ्या-दृष्टि    |      |
| मोह-मूलक   |    | + द्वेष + ईर्ष्या + मात्सर्य + कौकृत्य   |      |
|            | ३१ | (चिन्ता)                                 | = २० |
|            | ३२ | उपर्युक्त २० + स्थान + मूढ               | = २२ |
|            |    | १० अन्य-समान (प्रीति, अधिमोक्ष,          |      |
|            |    | छन्द ये तीन कुल संख्या में से छोड़ दी गई |      |
|            | ३३ | हैं) + मोह + अहीरक + अनोलूण + उद्वेग     |      |
|            |    | + विचिकिच्छा                             | = १५ |
|            |    | उपर्युक्त १५—विचिकिच्छा +                |      |
|            |    | अधिमोक्षो                                | = १५ |

## इ-अव्याकृत-चित्त

## (क) कर्म-विपाक

|             |   |                                             |      |
|-------------|---|---------------------------------------------|------|
| ३४-३८       | } | ७ सर्वचित्त-साधारण                          | = ७  |
| एवं         |   |                                             |      |
| ५०-५४ भी    | } | उपर्युक्त ७ + वितर्क + विचार +              | = १० |
| ३९ एवं ५५   |   |                                             |      |
| एवं         |   |                                             |      |
| ४१ और ५६ भी |   |                                             |      |
| ४०          |   | अधिमोक्ष                                    |      |
|             |   | १३ अन्य समान में से छन्द और प्रीति को घटाकर | = ११ |

|       |                                                                                |
|-------|--------------------------------------------------------------------------------|
| ४२-४९ | = १-८, किन्तु—कर्मणा—मुदिता—सम्यक्वाणी—<br>सम्यक् कर्म—सम्यक् कर्म—सम्यक् आजीव |
| ५७-६९ | = ९-२१                                                                         |

## (ख) क्रिया-चित्त

|       |                                                                    |
|-------|--------------------------------------------------------------------|
| ७०    | = ३९                                                               |
| ७१-७२ | १३ में से छन्द और प्रीति को घटाकर = ११                             |
| ७३-८० | = १-८, किन्तु सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एवं सम्यक्<br>आजीव को घटाकर |
| ८१-८९ | = ९-१७                                                             |

‘धम्मसंगणि’ के प्रथम अध्याय या कांड (चित्तुप्पादकांड) की विषय-वस्तु और शैली का परिचय ऊपर दिया गया है। वास्तव में ‘धम्मसंगणि’ का यही भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दूसरा अध्याय ‘रूप-कांड’ एक प्रकार इसी का पूरक है। प्रथम कांड में कुशल, अकुशल और अव्याकृत का वर्णन है। रूप भी अव्याकृत के अन्दर ही आता है। इसका वर्णन इस दूसरे कांड में किया गया है। रूप का अर्थ है चार महाभूत और उनसे निर्मित सारा वस्तुजगत्। ‘धम्मसंगणि’ में कहा गया है ‘चत्तारो च महाभूता चतुस्रं च महाभूतान् उपादाय रूपं, इदं वुच्चति सच्चं रूपं’ अर्थात् चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादानसे उत्पन्न सारा दृश्य रूपात्मक जगत्, यही कहलाता है रूप। इस प्रकार निर्दिष्ट रूप का वर्गीकरण ही इस कांड का प्रधान विषय है। १०४ प्रकार के दुक्, १०३ प्रकार के त्रिक, २२ प्रकार के चतुष्क और इसी प्रकार ग्यारह तक अन्य अनेक प्रकार के वर्गीकरणों में दृश्य जगत् को यहाँ बाँटा गया है।<sup>१</sup> इन वर्गीकरणों में कुछ ऐसी प्रभावशीलता या मौलिकता नहीं है, जिसके लिए यहाँ इनका उद्धरण आवश्यक हो। शैली प्रायः वैसी ही है जैसी प्रथम कांड में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, ‘धम्मसंगणि’ के तीसरे और चौथे कांडों में पूर्व विवेचित वस्तु के ही संक्षेप हैं और अधिकतर प्रश्नोत्तर के रूप

१. देखिये ज्ञानातिलोक : गाइड थू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १२ के सामने दी हुई तालिका

२. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९०-९४

में धर्मों के स्वरूप को उन वर्गीकरणों में भी, जिनको पहले नहीं लिया जा सका है, समझा दिया गया है। तीसरे कांड (निकलेप कांड) और चौथे कांड (अव्युद्धारकांड) में शेष २१ चिकों और १०० द्विकों में धर्मों का क्या स्वरूप होगा, इसी को प्रश्नोत्तर के द्वारा समझाया गया है। 'निकलेप-कांड' के कुछ प्रश्नोत्तरों को लीजिये—

(१) कतमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ?

यस्मिं समये कामावचरं कुशलं चित्तं उत्पन्नं भवति सोमनस्सहगतं आणसम्प-  
युत्तं रूपारम्भणं वा सद्धारम्भणं वा गंधारम्भणं वा रसारम्भणं वा फोटुब्बा-  
रम्भणं वा धम्मारम्भणं वा ये वापन तस्मिं समये अञ्जेपि पटिच्चसमुत्पन्ना  
अरुपितो धम्मा अपेत्वा वेदनाक्खन्धो, इमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ।<sup>१</sup>

(२) कतमे धम्मा कुसला ?

तीणि कुशलमूलानि—अलोमो, अदोसो, अमोहो, तंसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो,  
सञ्ज्ञाक्खन्धो, संस्कारक्खन्धो, निष्साणक्खन्धो, तंसमुट्ठानं कायकम्मं, वचीकम्मं,  
मनोकम्मं, इमे धम्मा कुसला ।<sup>२</sup>

(३) कतमे धम्मा सप्पच्चया ?

पंचक्खन्धा, रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ज्ञाक्खन्धो, संस्कारक्खन्धो,  
विज्झाणक्खन्धो, इमे धम्मा सप्पच्चया ।<sup>३</sup>

१. कौन से धर्म (पदार्थ) सुख की संवेदना से युक्त हैं ? जिस समय कामावचर-भूमि में कुशल-चित्त उत्पन्न होता है, सोमनस्य और ज्ञान से युक्त, एवं रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म का आलम्बन ले कर, तो उस समय वह और अन्य भी प्रतीत्यसमुत्पन्न अरूपवान् पदार्थ, वेदना-स्कन्ध को छोड़ कर, जो उस समय पैदा होते हैं, वे सभी सुख की संवेदना से युक्त धर्म (पदार्थ) हैं। पालि-पाठ, अभियम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५ में उद्धृत।

२. कौन से धर्म कुशल हैं ? तीन कुशल-मूल, यथा अलोम, अद्वेष, अमोह, इनसे युक्त तीन स्कन्ध, यथा वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, इनसे उत्पन्न तीन प्रकार के कर्म यथा कायिक कर्म, वाचिक कर्म, मानसिक कर्म, यही सब धर्म कुशल हैं।

३. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले हैं ? पांच स्कन्ध, जंसे कि रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, यही धर्म प्रत्ययों वाले हैं।

(४) कतम धम्मा अप्पच्चया ?

असंखता धातु । इमे धम्मा अप्पच्चया<sup>१</sup> ।

‘अत्युद्धार-कंड’ के भी कुछ उदाहरण देखिये—

(१) कतमे धम्मा हेतु चेव सहेतुका च ?

य स्थिद्वे तयो हेतु एकतो उप्पज्जन्ति, इमे धम्मा हेतु चेव सहेतुकाच<sup>२</sup> ।

निःसन्देह ‘धम्मसंगणि’ की गणनात्मक शैली इतनी विचित्र है कि साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उसमें रुचि नहीं ले सकता । उसमें तो ‘कर्म’ और ‘अकर्म’ के स्वरूप का गवेषी और उसके तत्वों को गूढ़ चेतना की तरह और उसकी सारी भूमियों में डूबने को उद्यत कोई साहित्यिक भिक्षु ही प्रवेश कर सकता है । क्या कुशल है और क्या अकुशल है, इनमें से किसी को भी स्वीकार कर लेने पर चित्त की क्या प्रगतियाँ अथवा अधोगतियाँ होती हैं, उनके क्या मानसिक निदान और लक्षण होते हैं, क्या प्रतिकार होते हैं, उनमें से क्या हेय है या क्या ग्राह्य है, इन सब की निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक गवेषणा मनुष्य को किसी भावी नैतिक चेतना-प्रधानयुग में जब अभिप्रेत होगी तो ‘धम्मसंगणि’ की पंक्तियों के आलवालों में फिर मणियों और मीतियों के थाले बनेंगे । अभी तो हमने जहाँ कहीं से चुने हुए कुछ पुष्पों से उसकी अचना की है, जो भी इस कि-कुशल-गवेषणा-विहीन युग में कहीं अविक है ।

### विभंग<sup>३</sup>

विभंग अभिधम्म-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है । ‘विभंग’ का अर्थ है विस्वृत रूप से विभाजन या विवरण । इसी अर्थ में यह शब्द भट्टकारत्त-सुत्तन्त (मज्झिम

१. कौत से धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं ? असंस्कृत धातु । यही धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं ।

२. कौत से धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं ? जहाँ दो-तीन हेतु एक जगह उत्पन्न होते हैं, तो यही धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं ।

उपर्युक्त तथा अन्य पालि उद्धरणों के लिए देखिये भिक्षु जगदीशकाश्यपः अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५-१०३

३. श्रीमती रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ का सम्पादन रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट



३।४।१) में प्रयुक्त किया गया है। "भिषुओ ! तुम्हें भट्ठकरत्त (भट्टकरत्त) के उद्देश (नाम-कथन) और विभंग (विभाग) का उपदेश करता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मत में करो।" विभंग में धम्मसंगणि के ही बृहद् विश्लेषण को वर्गे-बद्ध किया गया है, अतः यह उसका पूरक ग्रन्थ ही माना जा सकता है। धम्मसंगणि में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, धम्मों का अनेक द्विकों और त्रिकों में विश्लेषण किया गया है और यही उसका प्रधान विषय है। किन्तु धम्मों के स्वरूप को स्पष्टरूप से समझाने के लिए वहाँ इस प्रकार के भी प्रश्न किये गये हैं, जैसे कित-कित धम्मों में कौन कौन से स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि संनिविष्ट हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का उद्देश्य वहाँ स्कन्ध आयतन और धातु आदि के संबंध के साथ धम्मों के स्वरूप को समझाना ही है, न कि स्वयं स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के स्वरूप का विनिश्चय करना। यह दूसरा काम विभंग में किया गया है। धम्मसंगणि का प्रधान विषय धम्मों का विश्लेषण मात्र कर देना है, उनका स्कन्ध, आयतन, और धातु आदि के रूप में संश्लिष्ट वर्गीकरण करना विभंग का विषय है। यद्यपि धम्मसंगणि ने धम्मों का विश्लेषण करने के बाद अपूर्ण ङग से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनमें कौन कौन से स्कन्ध, आयतन और धातु आदि संनिविष्ट हैं, किन्तु विभंग ने यही से उसके सूत्र को पकड़कर उसके सारे गन्तव्य मार्ग को ही जैसे उल्टा मोड़ दिया है। विभंग में इन स्कन्ध, आयतन और धातु आदि को ही प्रस्थान बिन्दु मानकर यह दिखाया गया है कि स्वयं इनमें कौन कौन से धम्म संनिविष्ट हैं। अतः वस्तु पूरक होते हुए भी वस्तु का विन्यास यहाँ धम्मसंगणि के ठीक विपरीत है। यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि धम्मसंगणि की १०० द्विकों और २२ त्रिकों वाली वर्गीकरण की प्रणाली की भी, जिसका निर्देश उसकी 'मातिका' और निर्वाह सारे ग्रन्थ में हुआ है, विभंग ने आवश्यकतानुसार ज्यों का त्यों ले लिया है। अतः

सोसायटी, संदन के लिए किया है, जिसे उक्त सोसायटी ने सन् १९०४ ई० में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के बरमो, सिंहली और स्पामी संस्करण उपलब्ध हैं। सिंहली लिपि में हेवावितरणे-संस्करण अधिक ध्यान देने योग्य है। हिन्दी में कोई संस्करण या अनुवाद उपलब्ध नहीं।

इस दृष्टि से भी वह उस पर अवलंबित है । इन्हीं सब कारणों से विभंग का अध्ययन-क्रम बौद्ध परम्परा में सदा धम्मसंगणि के बाद ही माना जाता है ।

विभंग की विषय-वस्तु १८ विभागों या विभंगों में विभक्त की गई है, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है । विभंग के १८ विभागों या विभंगों के नाम इस प्रकार हैं—

- (१) खन्ध-विभंग—(स्कन्ध-विभंग)
- (२) आयतन-विभंग—(आयतन-विभंग)
- (३) घातु-विभंग—(घातु विभंग)
- (४) सत्त्व-विभंग—(सत्य-विभंग)
- (५) इन्द्रिय-विभंग—(इन्द्रिय-विभंग)
- (६) पञ्चमाकार-विभंग—(प्रत्यमाकार-विभंग)
- (७) सतिपट्टान-विभंग—(स्मृतिप्रस्थान-विभंग)
- (८) सम्मप्यधान-विभंग—(सम्यक्-प्रधान-विभंग)
- (९) इद्धिपाद-विभंग—(ऋद्धिपाद-विभंग)
- (१०) बोज्झंग-विभंग—(बोध्यंग-विभंग)
- (११) मग्ग-विभंग—(मार्ग-विभंग)
- (१२) भान-विभंग—(ध्यान-विभंग)
- (१३) अप्पमञ्जा-विभंग—(अ-परिमाण-विभंग)
- (१४) सिकलापद-विभंग—(शिक्षापद-विभंग)
- (१५) पटिसम्भिदा-विभंग—(प्रतिसम्बिद्-विभंग)
- (१६) जाण-विभंग—(ज्ञान-विभंग)
- (१७) खूट्ठक-वत्थु-विभंग—(क्षुद्रक-वस्तु-विभंग)
- (१८) धम्म-हृदय-विभंग—(धर्म-हृदय-विभंग)

प्रत्येक विभंग का नाम उसकी विषय-वस्तु के स्वरूप का सूचक है । प्रायः प्रत्येक ही विभंग तीन अंगों में विभक्त है, (१) सुत्तन्तभाजनिय, (२) अभि-धम्म-भाजनिय, (३) पञ्हु-पुच्छक । सुत्तन्त-भाजनिय में निश्चित की जाने वाली

विषय-वस्तु का सुतन्त्र आधार दिखाया गया है, अर्थात् जिस विषय का वर्णन करना है, वह किस सीमा तक या किस स्वरूप में सुत-पिटक में पाया जाता है, इसका निर्देश किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में उसको अभिधम्म वा उसके आधार-स्वरूप 'मातिका' के अनुसार व्याख्या है। 'पञ्च-पुच्छक' में 'द्विक' 'त्रिक' आदि शीर्षकों के रूप में प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें संपूर्ण निरूपित विषय का सिद्धान्तलोकन एवं संक्षेप है। अब हम प्रत्येक विभाग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण देंगे।

## १—खन्ध-विभाग

### ( पाँच स्कन्धों का विवरण )

जिसे हम व्यक्तिगत सत्ता (जीवात्मा, पुद्गल) कहते हैं, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की समष्टि के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसी बौद्ध दर्शन की मान्यता है। रूप स्वयं संपूर्ण भौतिक विकारों और अवस्थाओं की समष्टि है। वेदना संपूर्ण संवेदनों की समष्टि है। संज्ञा संपूर्ण संज्ञानन या जानने की क्रिया की, वस्तु और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था की, जिसमें उसे वस्तु की सत्ता की सूचना मिलती है, दूसरे शब्दों में समग्र प्रत्यक्षों की, समष्टि है। इसी प्रकार संस्कार बाह्य और आन्तरिक स्पर्श (इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्षों) के कारण से उत्पन्न समग्र मानसिक संस्करणों की और विज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के, तत्संबंधी रूपादि विषयों या आलम्बनों-आपतनों के साथ संयुक्त होने पर उत्पन्न, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों पर आधारित समग्र चित्त-भेदों की समष्टि है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का ही सामूहिक नाम 'पंच-स्कन्ध' है। इन पाँचों स्कन्धों में ही संपूर्ण नाम-रूप-मय जगत् के मूल तत्त्व निहित हैं, ऐसा बौद्ध दर्शन मानता है। 'पञ्च-स्कन्ध' के विषय को उपन्यस्त करते हुए विभाग के आरंभ में ही कहा गया है—पञ्चकखन्धाः रूपकखन्धो, वेदनाकखन्धो, सञ्ज्ञा-कखन्धो, संस्कारकखन्धो, विज्ञानकखन्धो। इन पञ्चस्कन्धों का सुतन्त्र आधार दिखाते हुए सुतन्त्र-भाजनिय में उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमें इन पाँच स्कन्धों में से प्रत्येक के विषय में यह साधारण कथन किया गया

है कि वह भूत, वर्तमान या भविष्य का भी हो सकता है, व्यक्ति के बाहर या भीतर का भी हो सकता है, स्थूल या सूक्ष्म भी हो सकता है, शुभ या अशुभ भी हो सकता है, दूर का या समीप का भी हो सकता है । रूप-विषयक उद्धरण यह है, "जो कुछ भी रूप है, भूत (अतीत) का, या वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का, या भविष्यत् (अनागत) का, व्यक्ति के बाहर का (बहिर्भा) या भीतर (अन्तर्भा) का, स्थूल (ओष्णारिक), या सूक्ष्म (सूक्ष्म), शुभ (कुशल), या अशुभ (अकुशल), दूर का (दूरे), या समीप का (सन्तिके), उस सब की समष्टि ही रूप-स्कन्ध है ।" वेदनादि स्कन्धों के विषय में भी कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से इसी क्रम का अनुसरण किया गया है । अभिधम्म-भाजिनिय में पञ्च-स्कन्ध की व्याख्या है । रूप के विवेचन में २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर अक्षरशः वही प्रणाली बरती गई है जो धम्मसंगणि में । अतः उसमें कुछ नवीनता नहीं है । शेष चार स्कन्धों के विवरणों में भी यद्यपि विषय और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता नहीं है, किन्तु इनके अलग अलग विवरण धम्मसंगणि की विषय-वस्तु को अधिक स्पष्ट कर देते हैं । वेदना के विषय में बताया गया है कि वह सदा स्पर्श (फस्सो-इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष) पर आधारित है । वह लौकिक भी हो सकती है और अलौकिक भी, वितर्कादि से युक्त भी और उनसे रहित भी, सुख से युक्त भी, दुःख से युक्त भी, न-सुख न-दुःख से युक्त भी । कामावचर-भूमि या अरु-पावचर-भूमि की भी हो सकती है, चक्षु-संस्पर्श से भी युक्त हो सकती है, श्रोत्र-संस्पर्श से भी, आदि, आदि । एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में वेदना-स्कन्ध का विस्तृत विवरण इस प्रकार किया गया है—

### १—वेदना-स्कन्ध

२. (१) सहंतुक (२) अहंतुक
३. (१) कुशल (२) अकुशल (३) अव्याकृत
४. (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर (४) अपरिपा-  
पन्न (व्यक्तिगत जीवन-सत्ता से असम्बन्धित)



५. (१) सुखेन्द्रिय (२) दुःखेन्द्रिय (३) सौमनस्येन्द्रिय (४) दीर्घमनस्येन्द्रिय (५) उपमेन्द्रिय

६. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनो-संस्पर्शजा

७. (१) चक्षु-संस्पर्शजा, (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा, (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

८. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) सुखाकाय-संस्पर्शजा (६) दुःखाकाय-संस्पर्शजा (७) मनोधातु-संस्पर्शजा (८) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

९. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वासंस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) कुशला मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (८) अकुशला मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (९) अव्याकृता मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा

१०. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) सुखा मनोधातु संस्पर्शजा (७) दुःखा मनोधातु संस्पर्शजा (८) कुशला मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा (९) अकुशला मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा (१०) अव्याकृता मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा ।

उपर्युक्त सूची में कई संख्याएँ अनेक बार संगृहीत हैं । अभिषम्भ के परिगणनों में यह बात नई नहीं है । गणनाओं के पीछे पढ़ जाने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है । संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान स्कन्धों का विवरण भी जहाँ-तहाँ अल्प परिवर्तनों के साथ वेदना-स्कन्ध के समान ही दिया गया है । पञ्च-पुच्छकं विभाग में प्रश्न है, जैसे पञ्चानं खन्धानं कति कुशला ? कति अकुशला ? कति अव्याकृता ? अर्थात् पाँच स्कन्धों में से कितने कुशल हैं ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? इसी प्रकार कति सुखाय वेदनाय सम्पयुता ? कति दुःखाय वेदनाय सम्पयुता ? कति अदुःखमसुखाय वेदनाय सम्पयुता ? अर्थात् कितने सुख की

वेदना से युक्त है, कितने दुःख की वेदना से युक्त है, और कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त है ? इनके फिर उत्तर दिये गये हैं । उदाहरणतः ऊपर उद्धृत प्रथम त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर दिया गया है—रूपस्वन्धो अव्याकतो । चत्वारो सन्धा सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता, अर्थात् रूप-स्वन्ध अव्याकृत है । शेष चार स्वन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी । ऊपर उद्धृत द्वितीय त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—द्वे सन्धा न चत्सन्धा सुखाय वेदनाय सम्पयुता ति पि, दुःखाय वेदनाय सम्पयुता ति पि । तयो सन्धा सिया सुखाय, दुःखाय अदुःखमसुखाय वेदनाय सम्पयुता । इसका अर्थ यह है—दो स्वन्धों (रूप और वेदना) के विषय में तो न तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं और न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं । शेष तीन स्वन्ध (संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी । ये उदाहरण सिर्फ शैली का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए दिये गये हैं । अन्यथा इस प्रश्नोत्तरी में एक-एक करके वे सभी २२ त्रिक और १०० द्विक के वर्गीकरण संनिहित हैं, जिनका उल्लेख पहले ही चुका है । उत्तरों की यह विशेषता है कि वे संक्षिप्त होने के साथ-साथ स्वन्धों का नाम ले-ले कर निर्देश नहीं करते, बल्कि उनकी केवल संख्या गिना देते हैं ।

## २—आयतन-विभाग

( १२ आयतनों या आधारों का विवरण )

सुस्तन्त-भाषनिय में १२ आयतनों का उल्लेख है, जैसे कि

- |                 |                     |
|-----------------|---------------------|
| १. चक्षु-आयतन   | ७. जिह्वा-आयतन      |
| २. रूप-आयतन     | ८. रस-आयतन          |
| ३. श्रोत्र-आयतन | ९. काय-आयतन         |
| ४. शब्द-आयतन    | १०. स्पृष्टव्य-आयतन |
| ५. घ्राण-आयतन   | ११. मन-आयतन         |
| ६. गन्ध-आयतन    | १२. धर्म-आयतन       |

ये सब आयतन अनित्य, दुःख और अनात्म है, इतना ही कहकर सुतन्त्र-  
 भाजनिय समाप्त हो जाता है। अभिषम्भ भाजनिय में उपर्युक्त १२ आयतनों  
 के स्वरूप की व्याख्या की गई है। "क्या है चक्षु-आयतन ? यह चक्षु, जो चार  
 महामूर्तों से उत्पन्न, व्यक्तिगत सत्ता से अभिन्न रूप से संबंधित, अनुभूति  
 (पसाद) रूपी स्वभाववाली, प्रत्यक्ष का अविषय (अनिदस्सं—क्योंकि प्रत्यक्ष तो  
 केवल रंग, प्रकाश आदि के अनुभवों का होता है) किन्तु साथ ही इन्द्रिय अनुभवों  
 पर प्रतिक्रिया करनेवाली (सण्णट्ठि) है—यही अदृश्य चक्षु, जिसकी इन्द्रिय अनु-  
 भवों पर प्रतिक्रिया के कारण व्यक्ति अनुभव करता है कि उसने किसी दृश्य पदार्थ  
 को देखा है, देखता है, या देखेगा, यही कहलता है चक्षु-आयतन।" इसी प्रकार  
 श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काय-संबंधी आयतनों की भी व्याख्या की गई है। चक्षु,  
 श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय संबंधी विज्ञातों, मनोधानु और मनोविज्ञानधानु के  
 समष्टिगत स्वरूप को ही 'मन-आयतन' कहा गया है। चार महामूर्तों से उत्पन्न  
 संपूर्ण भौतिक व्यापार, जो रंग आदि के रूप में दिखाई पड़ता है, 'रूपायतन' कहा  
 गया है। बारह आयतनों में से पाँच इन्द्रिय आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण,  
 जिह्वा, काय) और पाँच विषय-आयतनों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य),  
 इन दस आयतनों को भौतिक कहा गया है और मन-आयतन को मानसिक।  
 धर्म-आयतन भौतिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अतीत का भी,  
 वर्तमान का भी, और भविष्यत् का भी, वास्तविक भी, और काल्पनिक भी। 'पञ्च  
 पुच्छक' में स्कन्ध-विभंग के नमूने पर ही प्रस्त है, यथा (१) दादसायतनानं कति  
 कुशलं ? कति अकुशलं ? कति अव्याकृतं ? अर्थात् १२ आयतनों में से कितने  
 कुशल हैं, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत ? (२) कति सुखाय वेदनाय सम्म-  
 युक्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्मयुक्ता ? कति अदुक्कमसुखाय वेदनाय सम्मयुक्ता ?  
 अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं ? कितने दुःख की वेदना से युक्त  
 हैं ? कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं ? आदि, आदि। इनके उत्तर  
 भी क्रमशः देखिए, (१) दस आयतन (चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा,  
 रस, काय, स्पृष्टव्य) अव्याकृत हैं। दो आयतन (मन और धर्म) कुशल भी  
 हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी—"सिया कुमला, सिया अकुमला,  
 सिया अव्याकता।" (२) दस आयतनों के विषय में न तो निश्चयपूर्वक

यही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं और न यही कि वे न सुख-दुःख की वेदना से युक्त हैं। मन-आपत्तन सुख की वेदना से युक्त भी हो सकता है, दुःख की वेदना से युक्त भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। इसी प्रकार धर्म आद्यतन सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से ही, आदि।

### ३—धातु-विभंग

(१८ धातुओं का विवरण)

सुस्तन्त-भाजनिय में छह-छह के तीन वर्गीकरणों में १८ धातुओं का विवरण इस प्रकार किया गया है—

(अ) पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान-धातु

(आ) मूल-धातु, दुःख-धातु, सौमनस्य-धातु, दीर्घमनस्य-धातु, उपेक्षा-धातु, अविद्या-धातु

(इ) काम-धातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, निष्कामता-धातु, अव्यापाद-धातु, अ-विहिंसा धातु ।

अभिधम्म-भाजनिय में १८ धातुओं की गणना दूसरे प्रकार से की गई है, जो इस प्रकार है—

|                    |                    |                 |
|--------------------|--------------------|-----------------|
| १. चक्षु           | ७. घ्राण           | १३. काय         |
| २. श्रव            | ८. गन्ध            | १४. स्फुष्टव्य  |
| ३. चक्षु-विज्ञान   | ९. घ्राण-विज्ञान   | १५. काय-विज्ञान |
| ४. श्रोत्र         | १०. जिह्वा         | १६. मन          |
| ५. शब्द            | ११. रस             | १७. धर्म        |
| ६. श्रोत्र-विज्ञान | १२. जिह्वा-विज्ञान | १८. मनोविज्ञान  |



इन अठारह धातुओं में चक्षु, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय और स्पर्श, ये दस धातुएँ भौतिक हैं। अतः वे रूपस्पर्श में सम्मिलित हैं। चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन, और मनो-विज्ञान, ये सात धातुएँ मानसिक हैं। धर्म-धातु अंशतः मानसिक और अंशतः भौतिक है। चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न चित्त की अवस्था का नाम चक्षु-विज्ञान है। इसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान आदि के विषय में भी नियम है। मनो-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि विज्ञानों के बाद, द्रष्टा और दृश्य के संयोग के ठीक अनन्तर, उत्पन्न हुई चित्त की अवस्था का नाम है। मनो-विज्ञान-धातु मन और धर्मों के संयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था का नाम है, जो मनो-धातु के बाद उत्पन्न होती है। 'पञ्चपुच्छक' में फिर उसी क्रम से प्रस्तुत हैं, जैसे प्रथम दो विभंगों में, यथा (१) १८ धातुओं में से कितनी कुशल है, कितनी अकुशल और कितनी अव्याकृत ? (२) कितनी सुख की वेदना से युक्त है ? कितनी दुःख की वेदना से युक्त है ? कितनी न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त ? आदि, आदि। इनके उत्तर भी ध्यान देने योग्य हैं (१) १६ धातुएँ (धर्म और मनो-विज्ञान को छोड़ कर शेष सब) अव्याकृत हैं। दो धातुएँ (धर्म और मनो-विज्ञान) कुशल भी हो सकती हैं, अकुशल भी, और अकुशल भी 'सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकृता'। (२) दस धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श) के विषय में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, या दुःख की वेदना से युक्त हैं या न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। पाँच धातुएँ (चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन) न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। काय-विज्ञान-धातु सुख की वेदना से भी युक्त हो सकती है और दुःख की वेदना से भी। मनो-विज्ञान-धातु सुख, दुःख और न-सुख-न-दुःख, इन तीनों वेदनाओं से किसी से भी युक्त हो सकती है। इसी प्रकार धर्म-धातु भी इन तीनों वेदनाओं में से किसी से युक्त हो सकती और उसके विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि या तो वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से, आदि, आदि।

## ४—सत्त्व-विभंग

( चार आर्य-सत्त्वों का विवरण )

पहले, सूतन्त-भाजनिय में सूतों (विशेषतः दीध-निकाय के महासति-पट्टान-सुत्त एवं इस प्रकार के अन्य बुद्ध-वचनों) की भाषा में चार आर्य-सत्त्वों की प्रस्तावना करते हुए कहा गया है—'चत्तारि अरिय-सत्त्वानि : दुक्खं अरिय-सत्त्वं, दुक्खसमुदयं अरियसत्त्वं, दुक्खनिरोधं अरियसत्त्वं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसत्त्वं' अर्थात् ये चार आर्य-सत्त्व हैं—दुःख आर्य-सत्त्व, दुःख-समुदय आर्य-सत्त्व, दुःख-निरोध आर्य-सत्त्व, दुःख-निरोध-गामी मार्ग आर्य-सत्त्व । अभिधम्म-भाजनिय में इनकी अभिधम्म के अनुसार व्याख्या है । तृष्णा और चित्त-मलों को दुःख-समुदय का प्रधान कारण माना गया है और इनके निरोध को दुःख-निरोध का भी प्रधान कारण । दुःख-निरोधी-गामी मार्ग को व्याख्या निर्वाण-सम्बन्धी ध्यान के रूप में की गयी है, जिसकी भूमियों का निरूपण 'धम्म संगणि' में हो चुका है । 'पञ्चपुच्छक' में चार आर्य सत्त्वों के विषय में उमी प्रकार के प्रश्न किये गये हैं, जैसे पूर्व के विभंगों में, यथा (१) चार आर्य सत्त्वों में कितने कुशल हैं ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? (२) कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त, कितने न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त ? इनके उत्तर इस प्रकार हैं (१) समुदय-सत्त्व अकुशल हैं । मार्ग-सत्त्व कुशल हैं । निरोध-सत्त्व अव्याकृत हैं । दुःख-सत्त्व, कुशल भी हो सकता है, अकुशल भी और अव्याकृत भी । (२) दो सत्त्व सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी । निरोध-सत्त्व के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह तीनों प्रकार की वेदनाओं में से किससे युक्त है । दुःख-सत्त्व सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी । उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से । दुःख-सत्त्व को सुख की वेदना से भी युक्त मानकर 'विभंग' ने उसको वह वित्तृत अर्थ दिया है जिसकी स्मृति भगवान् बुद्ध के साथ-साथ महर्षि पतञ्जलि ने भी दिलाई है "परिणामतापसंस्कारदुःखै-रुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)

## ५—इन्द्रिय-विभंग

( २२ इन्द्रियों का विवरण )

इस विभंग में २२ इन्द्रियों का मुत्तल के आधार पर विवरण है जिनकी संख्या इस प्रकार है—

१. नासु
२. श्रोत्र
३. घ्राण
४. जिह्वा
५. काय
६. मन

छह इन्द्रिय

७. स्त्रीत्व
८. पुरुषत्व
९. जीवित-इन्द्रिय

१०. सुख (भारोरिक)
११. दुःख (मानसिक)
१२. चित्त की प्रसन्नता (सौमनस्य)
१३. चित्त की विप्रता (दौर्मनस्य)
१४. उपेक्षा,

पाँच प्रकार की वेदनाएँ

१५. शब्द
१६. तीर्थ
१७. स्मृति
१८. समाधि
१९. प्रज्ञा

पाँच वैतिक इन्द्रियाँ

२०. "मैं अज्ञात को जानूँगा" यह संकल्प  
(अनज्ज्ञातं ज्ञास्यामीतिन्द्रिय)
२१. परिपूर्ण ज्ञान (अज्ज्ञा)
२२. "जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया" तत्ताम्बन्धी  
इन्द्रिय (अज्ज्ञाताविन्द्रिय)

तीन लोकोत्तर इन्द्रिय

उपर्युक्त २२ इन्द्रियों की व्याख्या और अन्त में (पञ्चपुच्छकं) श्लोत्तरों के रूप में उनका कुशल, अकुशल और अव्याकृत आदि के रूप में विभाजन, इतना ही इस विभंग का विषय है।

## ६—पञ्चव्याकार-विभंग

(प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण)

इस विभंग में प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन है। सुतन्त्र-भाजिनिय में पहले सुत्तन्त्र का यह उद्धरण है “अभिघा के प्रत्यय से संस्कार-चेतना की उत्पत्ति, संस्कार-चेतना के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छः आयतनों की उत्पत्ति, छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा के उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान की उत्पत्ति, उपादान के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति, जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण, दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति” प्रतीत्य समुत्पाद में प्रयुक्त १२ निदानों की व्याख्या यहाँ निदान-संयुक्त के समान ही की गई है। अभिघम्म-भाजिनिय में में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख है, जिनके आधार पर भौतिक और मानसिक जगत् में उत्पत्ति और निरोध का व्यापार चलता है। इन प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन आगे चल कर पूरे ग्रन्थ ‘पट्ठान-प्रकरण’ में किया गया है। इस विभंग के अन्त में प्रश्नोत्तर रूप में प्रतीत्य समुत्पाद के विभिन्न अंगों में कौन कुशल, अकुशल आदि है, इसका विवेचन पूर्ववत् ही किया गया है।

## ७—सतिपट्ठान-विभंग

(चार स्मृति-प्रस्थानों का विवरण)

काया में कायानुपश्यी होना, वेदना में वेदानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों में धर्मानुपश्यी होना, यही चार स्मृति-प्रस्थान हैं, जिनका विस्तृत उपदेश सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम, १।१।१०) जैसे सुत्तन्त्र के अंशों में दिया गया है। इस विभंग के सुत्तन्त्र-भाजिनिय में इसी का संक्षेप कर दिया गया है। अभिघम्म-भाजिनिय में यह दिखाया गया है कि इनकी भावना लोकोत्तर ध्यान में किस प्रकार होती है। ‘पञ्च पुच्छक’ में इनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि के रूप में किया गया है। इनमें अकुशल कोई नहीं है। चारों स्मृति-प्रस्थान या तो कुशल होते हैं या अव्याकृत। अर्हत् की चित्त-अवस्था में आगे के



जिसे कर्म-विपाक नहीं बनते । अतः उस हालत में वे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'किरिया' (क्रिया-मात्र) होते हैं ।

## ८—सम्बन्ध-विभाग

### (चार सम्यक् प्रधानों का विवरण)

(१) अकुशल अवस्थाओं से वचना (२) उन पर विजय प्राप्त करना (३) कुशल अवस्थाओं का विकास करना (४) विकसित कुशल अवस्थाओं को बनाये रखना, यही चार सम्यक् प्रधान हैं । सतिपट्ठान-सूत (मज्झिम-१।१।१०) के आधार पर इनका वर्णन किया गया है और अभिधम्म-भाजनिय में केवल यह अधिक दिखला दिया गया है कि लोकोत्तर-ध्यान की अवस्था में ये किस प्रकार विद्यमान रहते हैं ।

## ९—इन्द्रियाद-विभाग

### (४ ऋद्धियों का विवरण)

चार ऋद्धियाँ हैं, दृढ़ संकल्प की एकाग्रता (छन्द-समाधि), वीर्य की एकाग्रता (विरिय-समाधि), चित्त की एकाग्रता (चित्त-समाधि) और गवेषणा की एकाग्रता (वीमंसा-समाधि) । यहाँ यह भी दिखाया गया है कि चार ऋद्धियों का चार सम्यक्-प्रधानों से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है ।

## १०—बोझ-विभाग

### (बोधि के सात अंगों का विवरण)

बोधि के सात अंग हैं, स्मृति (सति), धर्म की गवेषणा (धम्म-विचय), वीर्य (विरिय), प्रीति (प्रीति), चित्त-शान्ति या प्रश्रब्धि (पस्सद्धि), समाधि और उपेक्षा (उपेक्षा) । मज्झिम-निकाय के आनापान-सति-सूत के समान ही इनका यहाँ निर्देश है । अभिधम्म-भाजनिय में अवश्य इन विभिन्न अंगों की अभिधम्म की शब्दावली में व्याख्या की गई है और बाद में कुशल आदि के रूप में उनका विभाजन किया गया है ।

## ११—मग-विभंग

(आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण)

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण यहाँ सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) के अनुसार हो है। सम्मक् दृष्टि, सम्मक् संकल्प, सम्मक् वाणी, सम्मक् कर्मान्त, सम्मक् आजीविका, सम्मक् व्यायाम, सम्मक् स्मृति और सम्मक् समाधि का निर्देश करने के बाद प्रत्येक की व्याख्या की गई है और फिर अन्त में प्रश्नोत्तर के रूप में उन्हें कुशलदि के वर्गीकरणों में बाँटा गया है।

## १२—भान-विभंग

(चार ध्यानों का विवरण)

सर्व-प्रथम सुत्तन्त-भाजिनिय में चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।७) के उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है जिसमें चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे। 'भिक्षुओ ! भिक्षु इस आर्य-सदाचार से युक्त हो, इस आर्य इन्द्रिय-संयम से युक्त हो, स्मृति और ज्ञान से युक्त हो, किसी एकान्त-स्थान में रहता है जैसे अरण्य, वृक्ष की छाया, पर्वत, कन्दरा, गुफा, शमशान, जंगल, खुले आकाश के नीचे या पुआल के ढेर पर। वह पिडपात से लौट भोजन कर चुकने के बाद ब्रासनी मार शरीर को सीधा रख स्मृति को सामने कर बैठता है..... वह चित्त के उपकलेश, प्रज्ञा को दुर्वल करने वाले, पाँच वन्धनों को छोड़, काम-वितर्क से रहित हो, बुरे विचारों से रहित होकर, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विचरता है। इस ध्यान में वितर्क और विचार रहते हैं। एकान्त-वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख भी रहते हैं..... फिर भिक्षुओ ! भिक्षु वितर्क और विचारों के उप-शमन से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय-ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख रहते हैं।..... फिर भिक्षुओ ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो, उपेक्षावान् बन कर विचरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से मूख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पण्डित जन 'उपेक्षावान्, स्मृतिमान् सुखपूर्वक विहार करने वाला' कहते हैं।

फिर भिन्न। मिष्ट, दुःख और सुख-दोनों के ग्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनों के पहले से ही अस्त हुए रहने से, चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न दुःख होता है न सुख। केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है।" इसी ब्रह्म-वचन के आधार पर अभिषम्भ-भाजनिय में यह दिखलाया गया है कि प्रथम ध्यान के पाँच अवयव होते हैं, यथा, वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि। द्वितीय ध्यान के तीन, यथा प्रीति, सुख और समाधि। तृतीय ध्यान में केवल दो रह जाते हैं, सुख और समाधि और चौथे में भी केवल दो, उपेक्षा और समाधि। 'पञ्च-पुच्छक' में यही दिखलाया गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते हैं और अव्याकृत भी। चार स्मृति-प्रस्थानों की तरह ये भी अहंत् के चित्त के लिये भविष्य का कर्म-विपाक बनाने वाले नहीं होते। दूसरे शब्दों में वे उसके लिये 'किरिया-चित्त' होते हैं।

### १३—अपरिमाण-विभंग

(चार अपरिमाण अवस्थाओं का विवेचन)

मैत्री (मैत्रा), करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इनकी अपरिमाण वाली अवस्थाएँ कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्हें कहीं तक बढ़ाया जा सकता है, इसकी कोई हद नहीं। इन्हीं को 'ब्रह्म-विहार' भी कहते हैं। पतंजलि की भाषा में इन्हें 'सावर्भौम महाव्रत' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन (१।३३) में इन चार अवस्थाओं के विकास का उपदेश दिया गया है। इस विभंग में इन चार अवस्थाओं का विवरण और चार ध्यानों के साथ उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है।

### १४—सिक्खापद-विभंग

(पाँच सिद्धापदों का विवरण)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य और मद्यपान, इनसे विरत रहना ही सदाचार के पाँच सावर्जनीन नियम हैं, जिनका यहाँ विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

### १५—पटिसम्भिदा-विभंग

(चार प्रतिसंविदों का विवरण)

चार प्रतिसंविदों या विश्लेषणात्मक ज्ञानों का इस विभंग में वर्णन किया गया है, यथा (१) अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान (अत्य पटिसम्भिदा) (२) धर्म-सम्बन्धी ज्ञान (धम्म पटिसम्भिदा) (३) शब्द-व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान (निरुत्ति पटिसम्भिदा) और (४) ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान (पटिभान पटिसम्भिदा) ।

### १६—आण-विभंग

(नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण)

इस विभंग में नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण है, यथा लौकिक ज्ञान, अलौकिक ज्ञान, आदि, आदि । इस विभंग का तीन प्रकार का ज्ञान-विवरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । प्रज्ञा की यहाँ तीन क्रमिक अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, यथा श्रुतमयी प्रज्ञा (सुतमया पज्झा) चिन्ता-मयी प्रज्ञा (चिन्तामपापज्झा) और भावना-मयी प्रज्ञा (भावनामया पज्झा) । शास्त्रादि ग्रन्थों के श्रवण या पठनादि से उत्पन्न ज्ञान 'श्रुतमयी प्रज्ञा' है । वह सुना हुआ है, स्वयं का अनुभव या चिन्तन उसमें नहीं है । इसके बाद चिन्ता-मयी प्रज्ञा है, जिसमें अपनी बुद्धि का चिन्तन सम्मिलित है । किन्तु इससे भी ऊँचा एक ज्ञान है, जिसका नाम है 'भावना-मयी प्रज्ञा' । यह प्रज्ञा न केवल शास्त्रीय या बौद्धिक आधारों पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसमें सम्पूर्ण सदाचार-समूह के पालन से उत्पन्न चित्त की उग्र समाधि की सम्भीरता भी संनिहित है, जो कुशल चित्त से ही प्राप्त की जा सकती है । यह तीन प्रकार का ज्ञान-वर्गीकरण निश्चय ही बड़ा गामिक है ।

### १७—खुदक-वस्तु-विभंग

(छोटी-छोटी बातों का विवरण)

इस विभंग में आलस्यों (चित्त-मलों) आदि के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है ।

### १८—धम्म-हृदय-विभंग

(धर्म के हृदय का विवरण)

अब तक के विभंगों में जो कुछ वर्णन किया जा चुका है, उसी का प्रश्नोत्तर



के रूप में यहाँ सिद्धावलोकन है। चूँकि इसमें धर्म के सब तत्व अपने आप आ गये हैं, इसलिए इसे 'धर्म का हृदय' कहा गया है। कुछ प्रश्नों की जानगी देखिये— कितने धर्म काम-धातु में प्राप्त होते हैं? कितने रूप-धातु में? कितने अरूप-धातु में? कितने कामावचर हैं? कितने रूपावचर? कितने अरूपावचर? कितने छोड़ने योग्य? कितने भावना करने योग्य? आदि, आदि। गीतोक्त भगवान् की विभूतियों की तरह इनका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिये इनका संक्षेप देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया।

### धातुकथा<sup>१</sup>

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु, इन प्रथम तीन विभंगों को चुनकर उनका विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। स्कन्ध आयतन और धातु, यही धातुकथा के विषय हैं। अतः उसका पूरा नाम ही, जैसा महास्थविर जानातिलोक ने कहा है, 'स्कन्ध-आयतन-धातु-कथा' होना चाहिये। धातुकथा के विषय-प्रतिपादन की एक विशेष शैली यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है। इन धर्मों की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार १२५ है, जो इस प्रकार है, ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएँ, ४ सत्य, २२ इन्द्रिय, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ कृद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्य-मार्ग के अंग, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार। किस-किस स्कन्ध, आयतन या विभंग में कौन-कौन धर्म सम्मिलित (संगहित), अ-सम्मिलित (असंगहित), संयुक्त (सम्प्रयुक्त) या विपुक्त (विष्पयुक्त) आदि हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से किया गया है, जिसकी रूपरेखा इस प्रकार है—

१. ई० आर० गुणरत्न द्वारा अट्ठकथा-सहित पालि टैक्सट सोसायटी के लिए सम्पादित। उक्त सोसायटी द्वारा सन् १८९२ में रोमन लिपि में प्रकाशित। इस ग्रन्थ के सिंहली, बर्मी एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न संस्करण है और न अनुवाद।

१. सम्मिलन और अ-सम्मिलन (संगहो असंगहो) : इस अध्याय में यह दिख-  
लाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में कौन-कौन से धर्म  
सम्मिलित हैं या अ-सम्मिलित हैं ।
२. सम्मिलित और अ-सम्मिलित (संगहितेन असंगहितं) : यहाँ यह दिख-  
लाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित  
हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित हैं, किन्तु  
समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं हैं ।
३. अ-सम्मिलित और सम्मिलित (असंगहितेन संगहितं) : कितने स्कन्ध,  
आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों  
के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समान आयतन और समान  
धातु में सम्मिलित हैं ।
४. सम्मिलित और सम्मिलित (संगहितेन संगहितं) : कितने स्कन्ध आयतन  
और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ  
उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुनः अन्य  
धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं ।
५. अ-सम्मिलित और अ-सम्मिलित (असंगहितेन असंगहितं) : कितने स्कन्ध  
आयतन और धातुओं में वे धर्म अ-सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों  
या धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध आयतन और धातुओं में असम्मिलित हैं जो  
पुनः अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में)  
असम्मिलित हैं । यह अध्याय चौथे अध्याय का ठीक विपरीत है ।
६. संयोग और वियोग (सम्पयोगो विप्ययोगो) : कितने स्कन्ध, आयतन  
और धातुओं के साथ धर्म संयुक्त हैं, या कितने के साथ वे वियुक्त हैं ।
७. संयुक्त से वियुक्त (सम्पयुक्तेन विप्ययुक्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और  
धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त  
हैं, वियुक्त हैं ।
८. वियुक्त से संयुक्त (विप्ययुक्तेन सम्पयुक्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और  
धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त  
हैं, संयुक्त हैं ।

९. संयुक्त से संयुक्त (सम्प्रयुक्तेन सम्प्रयुक्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से संयुक्त हैं, संयुक्त हैं।
१०. वियुक्त से वियुक्त (विप्रयुक्तेन विप्रयुक्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं।
११. सम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (संगहितेन सम्प्रयुक्तं विप्रयुक्तं) :  
 (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित हैं।
१२. संयुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (सम्प्रयुक्तेन संगहितं असंगहितं) :  
 (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त हैं (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त हैं।
१३. असम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (असंगहितेन सम्प्रयुक्तं विप्रयुक्तं) :  
 (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं।
१४. वियुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (विप्रयुक्तेन संगहितं असंगहितं) :  
 कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों से वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं।

उपर्युक्त अध्यायों के विषय और शैली को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए प्रत्येक में से एक-एक दो-दो प्रश्नोत्तरों को भी दे देना उपयुक्त होगा । अतः कमसः,

(१) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ? १ स्कन्ध, ११ आयतन और ११ धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ? चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ।

(इ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ? एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(ई) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ? चार स्कन्ध, ग्यारह आयतन और १७ धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है । आदि, आदि

(२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो चक्षु-आयतन . . . स्पृष्टव्यायतन और चक्षु-धातु . . . स्पृष्टव्य-धातु धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित हैं, किन्तु समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं हैं ?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं ।

(इ) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित हैं ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं, निर्वाण को छोड़कर ।

(४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुनः समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं ।



एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं ।

(५) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो अन्य धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में अ-सम्मिलित हैं जो पुनः उन्हीं धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मिलित हैं ?

एक स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में वे अ-सम्मिलित हैं ।

(६) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त है ?

किसी के साथ नहीं (क्योंकि स्वयं अपने साथ वह संयुक्त हो नहीं सकता और अन्य धर्म मानसिक हैं)

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त नहीं है ?

चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं के साथ वह संयुक्त नहीं है

(७) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त हैं, वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त हैं, अर्थातः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(८) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं, संयुक्त हैं ?

किसी से नहीं ।

(९) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं, संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अर्थातः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१०) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे विष्कृत हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(११) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं ?

तीन स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु से भी ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म विष्कृत हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और समान धातुओं में सम्मिलित हैं ? एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे विष्कृत हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो वेदना-स्कन्ध से संयुक्त हैं ?

दो स्कन्धों, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं ।

(१३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं ?

तीन स्कन्धों और अंशतः एक आयतन और एक धातु से वे संयुक्त हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म विष्कृत हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे विष्कृत हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो रूप-स्कन्ध से विष्कृत हैं ?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और धातुओं में वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो रूप स्कन्ध से विष्कृत हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं ।

### पुग्गलपञ्चाति<sup>१</sup>—

'पुग्गलपञ्चाति' (पुद्गल-प्रज्ञप्ति) शब्द का अर्थ है पुद्गलों या व्यक्तियों संबंधी ज्ञान या उनकी पहचान । 'पुग्गल-पञ्चाति' में व्यक्तियों के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है । विषय या वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अभिधम्म की अपेक्षा सुत्तन्त से अधिक घनिष्ठ संबंध है । व्यक्तियों का निर्देश यहाँ धर्मों के साथ उनके संबंध की दृष्टि से नहीं किया गया है, जो अभिधम्म का विषय है । बल्कि अंगुत्तर-निकाय की शैली पर, बुद्ध-वचनों का आश्रय लेकर, या कहीं उनकी अधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टि से, या उनकी व्याख्या-स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के विभाग के अनुसार व्यक्तियों के नाना स्वरूपों को वर्णित किया गया है, जो मूल बुद्ध-धर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है । संपूर्ण ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें प्रथम में एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है, दूसरे में दो-दो प्रकार के और इसी प्रकार कमरा: बढ़ते हुए दसवें अध्याय में दस-दस प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है । चार आर्य-आवक, पृथग्जन, सम्पक् सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैश्य, अशैश्य, आर्य, अनार्य, श्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी अर्हत्, आदि के रूप में व्यक्तियों का विभाजन, जो सुत्तों में जीवन-शुद्धि के स्वरूप और उसके विकास को दिखाने के लिए किया गया है, यहाँ कमिक गणनाबद्ध रूप में संगृहीत कर दिया गया है । कुछ-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१. डा० मॉरिस द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी (१८८३) द्वारा प्रकाशित । इसका अंग्रेजी अनुवाद 'वि डेविलिगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स' शीर्षक से डा० विमलाचरण लाहा ने किया है, जो पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन (१९२३) द्वारा प्रकाशित किया गया है । नागरी-संस्करण और हिन्दी अनुवाद अभी होने बाकी हैं । इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली और स्पामी संस्करण उपलब्ध हैं । महास्ववित्र ज्ञानालोक ने इस ग्रन्थ का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है, ब्रेसलो, १९१० ।

## एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौनसा व्यक्ति 'पृथग्जन' (पृथुज्वनो-प्राकृत मनुष्य-सांसारिक मनुष्य) है ?

जिसके प्रथम तीन संयोजन (मानसिक बन्धन) प्रहीण नहीं हुए और न जो उनके प्रहीण करने के मार्ग में ही संलग्न है, वही व्यक्ति 'पृथग्जन' है ।

२. कौन सा व्यक्ति अनागामी है ?

जो व्यक्ति प्रथम पाँच संयोजनों का विनाश करने के बाद किसी उच्चतर लोक में जन्म लेता है जहाँ उसकी निर्वाण-प्राप्ति निश्चित हो जाती है और जहाँ से वह लौटकर फिर इस लोक में नहीं होता, वही व्यक्ति अनागामी है ।

## दो-दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बंधा हुआ है ?

जिसके प्रथम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बंधा हुआ है ।

२. कौन सा व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बंधा हुआ है ?

जिसके अंतिम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बंधा हुआ है ।

## तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

स्रोत आग्न और सकृदागामी, ये दो व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं हैं ।

२. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

अनागामी—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ।



३. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति, इन दोनों प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त है ?

अर्हत्—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना-संबंधी आसक्ति इन दोनों आसक्तियों से विमुक्त है ।

### चार-चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नहीं ?

जो कहता बहुत है पर करता कुछ नहीं—यही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नहीं ।

२. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है, पर गरजता नहीं ?

जो करता है, पर कहता नहीं, ऐसा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है पर गरजता नहीं ।

३. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ?

जो कहता भी है और करता भी है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ।

४. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ?

जो न कहता है और न करता है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ।

इसी वर्गीकरण का एक और सुन्दर उपमा के द्वारा व्यक्तियों के चार प्रकार का विभाजन देखिए—

१. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपने बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ?

जो व्यक्ति सुत्त, गावा, उदान, जातक आदि ग्रन्थों का अभ्यास तो करता है किन्तु चार आर्ष सत्थों का स्वयं साक्षात्कार नहीं करता, वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपना बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ।

२. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में रहता है किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास तो नहीं करता, किन्तु चार आर्य सत्त्वों का साक्षात्कार कर लेता है वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में तो रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ।

३. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल को स्वयं खोदकर तैयार भी करता है और उसमें रहता भी है ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास भी करता है और चार आर्य सत्त्वों को साक्षात्कार भी करता है ।

४. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो न बिल को खाँदता है न उसमें रहता है ?

जो न सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और न चार आर्य-सत्त्वों का साक्षात्कार ही करता है ।

इसी प्रकार आगे के अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच, छै-छै, सात-सात, आठ-आठ, नौ-नौ और दस-दस के वर्गीकरणों में व्यक्तियों का वर्णन किया गया है । यद्यपि सुत्त-पिटक से नवीन या मौलिक तो यहाँ कुछ नहीं है, फिर भी उपमाएँ कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर हुई हैं । संख्याबद्ध वर्गीकरणों की ऊपरी कृत्रिमता होते हुए भी 'पुमाल-पञ्चात्ति' के विवरण नैतिक तत्त्वों की भित्ति पर आश्रित हैं, अतः वे आधुनिक विद्वार्थी के लिए भी अध्ययन के अच्छे विषय हैं ।

### कथावस्तु

जैसा दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, अशोक के समय (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) तक आते-आते मूल बुद्ध-धर्म १८ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या सिकायों में बंट चुका था । अशोक ने लगभग २४६ ई० पू० जब पाटलिपुत्र की सभा को

१. ए० सी० डेलर द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी, लंदन, द्वारा सन् १८९४ एवं १८९७ में रोमन लिपि में प्रकाशित । 'पॉइन्ट्स ऑव कन्ट्रोवर्सी और सबजेक्ट्स ऑव डिस्कर्स' शीर्षक से डॉ० जैन ऑग एवं श्रीमती रायस

बुलाया तो उसके सभापति स्वविर भोग्गलिपुत्त तिस्स ने इन्हीं १८ सम्प्रदायों में से एक (धेरवाद-स्वविरवाद) को मूल बुद्ध-धर्म मान कर बाकी १७ के दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण किया और अपने समाधानों को 'कवावत्तु-पकरण' नामक ग्रंथ में रत्न दिया जो उसी समय से अभिघम्म-पिटक का एक अङ्ग माना जाने लगा। कवावत्तु में केवल दार्शनिक सिद्धांतों का खंडन है। किन्तु किन सम्प्रदायों के वे दार्शनिक सिद्धान्त थे, इसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है। यह कमी उसकी जट्टकथा (पाँचवीं शताब्दी) ने पूरी कर दी है। इस जट्टकथा के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने संघ के अनुशासन को भंग कर 'महासंघिक' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी सम्प्रदाय की पाँच शाखाएँ बाद में और हो गईं। इस प्रकार कुल मिलाकर महासंघिकों के ६ सम्प्रदाय हो गए, जिनके नाम थे, महासंघिक, एकव्योहारिक, गोकुलिक, पञ्चस्तिवादी, बाहुलिक और चेतियवादी। प्रथम संगीत में स्वविरों (बुद्ध भिक्षुओं) ने मूल बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप को स्वीकार किया था उसका नाम 'धेरवाद' (स्वविरवाद) पड़ गया था और इस धेरवाद के भी अंशों के समय तक आते-जाते कुल मिलाकर १२ सम्प्रदाय हो गये थे, जो इस प्रकार थे, धेरवादी, महिसासक, वज्जिपुत्तक, सत्त्वत्ववादी, धम्मगुत्तिक, धम्मूतरिय, छत्रागरिक, भद्रयानिक, सामितिय, कस्सपिक, संकन्तिक, और सुत्तवादी। कवावत्तु-जट्टकथा के अनुसार यह शान्ना-भेद इस प्रकार दिखाया जा सकता है। —

त्रेविड्स द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित एवं पालि टैक्सट सोसायटी (लंडन, १९१५) द्वारा प्रकाशित। बरमी, तिहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी में न संस्करण है और न अनुवाद।

१. देखिये जानातिस्तोक : गाइड थू दि अभिघम्म-पिटक, पृष्ठ ३६; राहुल साङ्कित्यायन : विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १२१; 'दीपवंस' के अनुसार और 'महावंस' ५।२-११ के अनुसार भी विलकुल यही विभाग है, देखिये राहुल साङ्कित्यायन द्वारा द्वारा सम्पादित अभिघर्म-कोश, भूमिका, पृष्ठ ४; देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८९१, तथा जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी (१९०४-०५) (दि सैकट्स ऑव दि बुद्धिस्ट्स)

## महासंघिक (कुल ६)

(१)

| (२)           | (३)       | (४)            | (५)           |
|---------------|-----------|----------------|---------------|
| एकव्यावहारिक  | गोकुलिक   | प्रज्ञप्तिवादी | बाह्यभूतिक    |
| (एकव्योहारिक) | (गोकुलिक) | (पञ्जप्तिवादी) | (बाह्यलिक)    |
|               |           |                | ↓             |
|               |           |                | (६) चैत्यवादी |
|               |           |                | (चेतियवादी)   |

## योगवादी (कुल १२)

(१)

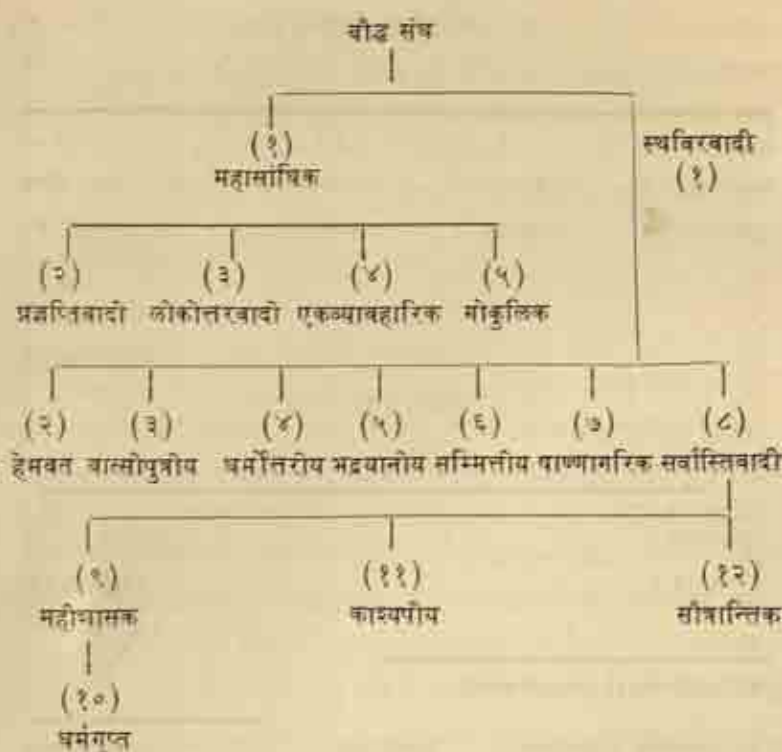
| (२)       | (८)              |
|-----------|------------------|
| महोपासक   | वात्सीपुत्राय या |
| (महिमासक) | वृज्जिपुत्रक     |
|           | (वज्जिपुत्तक)    |

| (३) सर्वास्तिवादो (सम्बल्लिववादी)        | (७)           | (९)                       |
|------------------------------------------|---------------|---------------------------|
| (४) काश्यपीय (कस्सपिक)                   | धम्मगुत्तिक   | धम्मोत्तरीय (धम्मोत्तरीय) |
| (५) सांक्रान्तिक (संक्रान्तिक)           | (धम्मगुत्तिक) | (१०) छन्नागारिक (११)      |
| (६) सूत्रवादी या सौश्रान्तिक (सुत्तवादी) |               | (छन्नागारिक) भद्रयानिक    |
|                                          |               | (१२) साम्भित्तिय          |

सर्वास्तिवादी परम्परा में इन सम्प्रदायों का विकास कुछ विभिन्न ढंग से दिखाया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' के अनुसार १८ सम्प्रदायों का विभागीकरण इस प्रकार है<sup>१</sup>—

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५, एवं उन्हीं का वित्तय-पिटक (हिन्दी-अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १-२; नागार्जुन के माध्यमिक सूत्रों के भाष्यकार, चन्द्रकीर्ति के पूर्वगामी, आचार्य भव्य के वर्णनानुसार भी १८ सम्प्रदायों के विकास का यही क्रम है। केवल उन्होंने





उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की विभिन्नताएँ वास्तव में इन सम्प्रदायों के अनिश्चित इतिहास के कारण हैं। यदि कथावस्तु में इन सम्प्रदायों के विषय में भी कुछ कह दिया जाता तो बौद्ध धर्म के इतिहास-विज्ञानियों का काम सरल हो जाता। किन्तु धम्मवादी स्थविर मोग्गलिपुत्त तिसस ने इसके लिए अवकाश नहीं दिया।

गोकुलिक (कुक्षुलिक) शाखा को महासांघिकों से तथा षाण्णागरिक (छाण्णागरिक) शाखा को स्थविरवादियों की परम्परा से विद्युक्त कर दिया है। देखिये बृद्धिस्तिक स्टडीज, पृष्ठ ८३१-३२; 'महावंस', 'कथावस्तु', वसुमित्र और भव्य इन चारों स्रोतों के आधार पर १८ सम्प्रदायों के शाखा-भेद के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिये बृद्धिस्तिक स्टडीज, पृष्ठ ८२७ पर दो हुई महत्त्वपूर्ण तालिका।

उनके लिए विचार व्यक्तियों या सम्प्रदायों से अधिक महत्वपूर्ण थे। भारतीय ज्ञानियों की परम्परा के यह अनुकूल ही हैं। किन्तु इस अभाव के कारण इन सम्प्रदायों का इतिहास भी अनिश्चित ही रह गया है। स्थविरवादी परम्परा की मान्यता, जैसा उपर दिखाया जा चुका है, कथावस्तु की अटकथा पर आश्रित है जो स्वयं पाँचवीं शताब्दी ईसवी की रचना होने के कारण उतनी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। फिर भी जो वस्तु निश्चित मानी जा सकती है वह यह है कि अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के समय उपर्युक्त अठारह सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किये जाने पर ये और भी बढने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ भी जान न पड़ने लगा। परिणामतः पाटलिपुत्र में एक संगति बुलाई गई। इस सभा के सभापति थे स्थविर मोग्गल्लिपुत्त तिस्स। उन्होंने उपर्युक्त सम्प्रदायों में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बूद्ध का मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' माना और शेष को बूद्ध के मत से बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद जादि सम्प्रदाय, जो अब तक स्थविरवादियों की ही शाखा माने जाते थे, अब अलग हो गये। अतः हम कह सकते हैं कि अशोक के समय तक बूद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा, वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। इसी स्थविरवाद के समर्थन की दृष्टि से शेष १७ सम्प्रदायों के मन्तव्यों का खंडन 'कथावस्तु' में किया गया है।

'कथावस्तु' में विरोधी १७ सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को प्रश्नात्मक ढंग से पहले पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, फिर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनका खंडन किया गया है। सिद्धान्तों के पूर्वापर-सम्बन्धी निर्वाचन में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया। सिद्धान्तों को मानने वाले सम्प्रदायों का तो उसमें नामोल्लेख भी नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। कुल मिलाकर 'कथावस्तु' में विरोधी सम्प्रदायों के २१६ सिद्धान्तों का खंडन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त किये गये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस ग्रंथ में केवल अशोक-कालीन सिद्धान्तों का ही खंडन है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का भी खंडन सम्मिलित है। अतः उनके मत में इस ग्रंथ में कोई अंश ईसा की पहली शताब्दी तक जोड़े जाते रहे<sup>१</sup>। इस ग्रंथ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय में प्रच-

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; ज्ञानातिलोक; गाइड थू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७-३८

लिखित सिद्धान्तों में से तो आठ का खंडन प्रस्तुत किया गया है, जिनमें से दो तो महासांघियों के सम्प्रदाय हैं, यथा (१) महासांघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) तथा मौकुलिक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) और छह सम्प्रदाय स्वयं स्थविरवादियों के हैं, यथा (१) भद्रयानिक (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) (२) महोशासक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (३) वात्सीपुत्रीय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (४) सर्वास्तिवादी (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (५) साम्मिन्तिय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व, तथा (६) वज्जिपुत्तक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व)। इनके अलावा कुछ अर्वाचीन सिद्धान्तों का भी खंडन कथावस्तु में मिलता है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा, (१) अन्धक (२) अपरशैलीय (३) पूर्वशैलीय (४) राजगिरिक (५) सिद्धार्थक (६) वैपुल्य (वैतुल्ल) (७) उत्तरापथक और (८) हेतुवादी। यदि स्वयं कथावस्तु में इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख होता तब तो यह माना जा सकता था कि उसके जो अंश इस अर्वाचीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खंडन करने हैं वे अशोक के काल के बाद की रचना हैं। किन्तु वहाँ तो सिर्फ सिद्धान्तों का खंडन है, सिद्धान्तों को निश्चित सम्प्रदायों के साथ वहाँ नहीं जोड़ा गया है। यह काम तो तीसरी शताब्दी में लिखी जाने वाली उसकी अट्ठकथा ने ही किया है। अतः इससे यही निश्चित निष्कर्ष निकल सकता है कि जब कथावस्तु के विचारक ने विरोधी सिद्धान्तों का खंडन किया था तब वे बौद्ध बाय-मंडल में विचित्र शब्दों के रूप में प्रवाहित अवश्य हो रहे थे, किन्तु निश्चित सम्प्रदायों के साथ उनका अभी संबंध स्थापित नहीं हुआ था। संभव है कहीं कहीं व्यक्ति इनका उपदेश दे रहे हों या शकाओं के रूप में उपस्थित कर रहे हों। बाद में चलकर इन्हीं में से निश्चित सम्प्रदायों का अविर्भाव हो गया, जैसा धर्म और दर्शन के इतिहास में अक्सर होता है। जिस समय कथावस्तु की अट्ठकथा लिखी गई

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८; राहुल सांस्कृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०

२. महावंस ५।१२-१३ में भी हमवल, राजगृहिक, सिद्धार्थक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरीय, इन छः सम्प्रदायों को अशोक के उत्तरकालीन माना गया है। अतः ज्ञानातिलोक : गाइड थू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८ एवं राहुल सांस्कृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १२०, का इनको उत्तरकालीन ठहराना युक्ति-युक्त ही जान पड़ता है।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी) उस समय तक इन संप्रदायों का स्वरूप निश्चित हो चुका था और वे बौद्ध परम्परा में प्रतिष्ठा पा चुके थे। यही कारण है कि अट्ठकथाकार (महास्थविरबुद्धधोष) ने कथावत्थु में खंडन के लिए प्रस्तुत जिन जिन सिद्धांतों की समता अपने काल में प्रचलित या परम्परा से प्राप्त संप्रदायों की मान्यताओं के साथ देखी, उन्हें उनके साथ संबंधित कर दिया है। अतः हम उन विद्वानों (विशेषतः राहुल सांकृत्यायन और ज्ञानातिलोक) के मत से सहमत नहीं हैं जो कथावत्थु के कतिपय अंशों को अशोक के काल से बाद की रचना मानते हैं। जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, सिद्धांत संप्रदायों की उपेक्षा अधिक प्राचीन है और संप्रदायों का नामोल्लेख कथावत्थु में है नहीं। अतः वह निश्चय ही अपने संपूर्ण रूप में अशोककालीन रचना है और उस काल के भिन्न-संघ में स्फुट रूप से प्रचलित नाना मिथ्या धारणाओं और शंकाओं के निराकरण के द्वारा मूल बुद्ध-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का वह प्रयत्न करती है। बाद में इन्हीं (स्थविरवादी दृष्टिकोण से) मिथ्या धारणाओं और शंकाओं ने विकसित होकर विभिन्न निश्चित संप्रदायों और उपसंप्रदायों का रूप धारण कर लिया, जिनका साक्ष्य उसकी अट्ठकथा देती है।

'कथावत्थु' के २१६ शंका-समाधान २३ अध्यायों में विभक्त हैं, यह अभी कहा जा चुका है। इनमें से कई समाधान दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। बुद्ध के दर्शन की मनमानी व्याख्या पहले के युगों में भी बहुत की जा चुकी है और आज भी बहुत की जाती है। तथाकथित ब्राह्मण-दार्शनिक यदि इस दिशा में मार्ग-भ्रष्ट हुए हैं तो उनसे कम बौद्ध दार्शनिक भी नहीं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही सर राधाकृष्णन् के उस प्रयत्न की हँसी उड़ाई है और उसे 'बाल-धर्म' (भारी मूर्खता) निश्चित कर दिया है जो उन्होंने बुद्ध को उपनिषद् के आत्मवाद का प्रचारक सिद्ध करने के लिए किया है।<sup>१</sup> यदि मनीषी राधाकृष्णन् कथावत्थु के प्रथम अध्याय के प्रथम शंका-समाधान में ही स्पष्ट इस विषयक स्थविरवादी दृष्टिकोण की सम्यक् अवधारणा कर लेते तो वे मूल बुद्ध-दर्शन के साथ आत्मवाद या अन्य ऐसी किसी



सोच को इस प्रकार अनधिकृत रूप से मिलाने का प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार यदि मनीषी महापंडित भी इस बात की सम्पक् अनुभूति कर लेते कि 'महाशून्यवादी' वेतुल्यकों (वैपुल्यकों) की स्थविरवादियों ने 'कथावत्यु' में क्या खबर ली है, तो वे नागार्जुन आदि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों को, जिन्होंने निषेधात्मक दिशा में ही अधिक पदार्पण किया है, बुद्ध-मन्त्रियों के एकमात्र सच्चे व्याख्याता होने का श्रेय प्रदान नहीं करते । बुद्ध-मत सभी अतियों से बाहर जाता है, सभी मत-वादों से ऊपर उठता है । आत्मवाद और अनात्मवाद, ईश्वरवाद और अनौश्वरवाद, भौतिकवाद और विज्ञानवाद, शास्वतवाद और अशास्वतवाद सभी इन अतियों और मतवादों के ही स्वरूप है । बुद्ध की दार्शनिक परिस्थिति संबंधी हमारी बहुत सी शंकाओं का निर्मूलन स्वयं बुद्ध-वचनों के बाद 'कथावत्यु' में बड़े अच्छे ढंग से होता है । बाद में मिलिन्द-पञ्च (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में भी इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसका महत्व 'कथावत्यु' के बाद ही है । अब हम कथावत्यु में निरुक्त विषय-वस्तु का संक्षेप से दिग्दर्शन करेंगे ।

## कथावत्यु में निराकृत सिद्धान्तों की सूची

### पहला अध्याय

१. क्या जीव, सत्व या आत्मा की परमार्थ-सत्ता है ? वज्जिपुत्तक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास था कि 'है' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से इसका विस्तृत खंडन किया गया है ।

२. क्या अर्हत्व की अवस्था से अर्हत् का पतन संभव है ? सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, सत्त्वत्विकवादी और कुछ महासंधिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यह संभव है । स्थविरवादियों ने खोत आपन्न, सकृदागामी और अनागामी के विषय में तो यह माना है कि वे अपनी-अपनी अवस्थाओं में पतित होकर फिर सांसारिक बन्धन सकते हैं, किन्तु अर्हत् का पतन तो असंभव है ।

३. क्या देवताओं में ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है ? सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि 'नहीं' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से कहा गया है कि सम्मितिय भिक्षुओं

को ब्रह्मचर्य का अर्थ समझने में ही भ्रम हो गया है। भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्य) के स्वयं में न होते हुए भी पवित्र-जीवन (ब्रह्मचर्य) का अभ्यास करने में तो देवता स्वतन्त्र ही हैं। अतः स्थविरवादियों के अनुसार देवताओं में भी ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है।

४. क्या चित्त-संयोजनों (मानसिक-वन्धनों) का विनाश विभागशः होता है? सम्मतियों का विश्वास था कि स्रोत आपन्न व्यक्ति दुःख और दुःख-समुदय का ज्ञान प्राप्त कर, प्रथम तीन चित्त-वन्धनों के केवल कुछ अंशों को उच्छिन्न करता है और बाकी अंशों को अधिक ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त करने के बाद उच्छिन्न करता है। स्थविरवादियों का इसके विपरीत तर्क यह है कि इस प्रकार एक ही व्यक्ति को विभागशः स्रोत आपन्न और विभागशः स्रोत आपन्न नहीं भी मानना पड़ेगा। सम्मतियों ने अपनी स्थिति के समर्थन के लिए बृद्ध-वचन को उद्धृत किया है, किन्तु स्थविरवादियों ने दूसरा बृद्ध-वचन उद्धृत कर उनकी स्थिति को स्वीकार नहीं किया है।

५. क्या संसार में रहते हुए भी कोई मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त हो सकता है? सम्मतियों का विश्वास था कि हो सकता है। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

६. क्या सब कुछ है? (सर्वं अस्ति?) सर्वस्वत्ववादियों (सर्वोन्निवादियों) का विश्वास था कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सभी भौतिक और मानसिक धर्मों की सत्ता है। स्थविरवादियों के मतानुसार अतीत समाप्त हो चुका, भविष्यत् अभी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल वर्तमान ही की सत्ता है।

७. सिद्धान्त छद्म का ही पूरक है।

८. क्या यह सत्य है कि भूत, और भविष्यत् की कुछ वस्तुओं का अस्तित्व है और कुछ का नहीं? कस्मिन्कि भिक्षु कहते थे कि अतीत भी अंशतः वर्तमान में विद्यमान है और जिन भविष्य के पदार्थों के होने का हम दृढ़ निश्चय कर सकते हैं उनकी भी सत्ता मान सकते हैं। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

९. क्या सभी पदार्थ स्मृति के आलम्बन हैं? अन्धकों का ऐसा विश्वास था, किन्तु स्थविरों ने इसका खंडन किया है।

१०. क्या भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अस्तित्व एक प्रकार से है और दूसरे प्रकार से नहीं ? अन्धकों का ऐसा विश्वास, किन्तु स्थविरों द्वारा खंडन ।

### दूसरा अध्याय

११. क्या अहंत् का बोध-पतन सम्भव है ? पूर्वशीलीय और अपरशीलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि भोजन-पान के कारण यह सम्भव है । स्थविरों ने इसे नहीं माना है ।
- १२-१४. क्या अहंत् के अज्ञान और संशय हो सकते हैं और दूसरों से यह पराजित किया जा सकता है ? पूर्वशीलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि लौकिक ज्ञान के विषय में यह सर्वथा सम्भव है । स्थविरों ने इसका विरोध नहीं किया, किन्तु अहंत् को कभी भी अविद्या या विचिकित्सा हो सकती है, इसे उन्होंने नहीं माना ।
१५. क्या ध्यानावस्था में वाणी-व्यापार भी सम्भव हैं ? पूर्वशीलीय भिक्षुओं का ऐसा विश्वास, किन्तु उसका निराकरण ।
१६. क्या 'दुःख' 'दुःख' कहने से खोत आपत्ति आदि चार ब्रह्मचर्य की अवस्थाओं की प्राप्ति हो सकती है ? पूर्वशीलीय भिक्षुओं के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण ।
१७. क्या कोई चित्त-अवस्था सम्पूर्ण दिन भर रह सकती है ? अन्धकों के इस विश्वास का निराकरण ।
१८. क्या सभी संस्कार तप्त, दहकते हुए अंगारों के समान हैं ? भगवान् के एक वचन के अनुसार गौकुलिक भिक्षु सभी संस्कारों को दुःख-मय ही मानते थे । स्थविरवादियों ने अधिक सुखमय संस्कारों की भी सत्ता मानी है ।
१९. क्या ब्रह्मचर्य की चार अवस्थाओं (खोत आपत्ति आदि) का साक्षात्कार विभागशः होता है । अन्धक, सर्वस्ववादी, सम्मत्तिय और भद्रयानिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास । स्थविरवादियों का मत सिद्धान्त-सम्मान ४ के समान ।

२०. क्या बुद्ध का लोकोत्तर व्यवहार (बोहार-वाणी) जैसी कोई चीज है ? अन्धक भिक्षु मज्झिम-निकाय के एक वचन के आधार पर ऐसा ही मानते थे । स्वविरवादी मतानुसार ब्रह्मचर्य-संलग्न चित्त और निर्वाण ही लोकोत्तर है ।
२१. क्या दुःख-विमुक्ति भी दो है और निर्वाण भी दो ? महोशामक और अन्धक भिक्षु कहते थे कि ऐसा ही है । एक दुःख-विमुक्ति है चिन्तन या प्रतिसंख्यान (पटिसंखा) के द्वारा प्राप्त की हुई । और दूसरी उसके बिना । इसी प्रकार एक निर्वाण है प्रतिसंख्यान के द्वारा प्राप्त किया हुआ और दूसरा उसके बिना । इसका निराकरण किया गया है ।

### तीसरा अध्याय

- २२-२३. क्या तथागत के दस बल उनके शिष्यों को भी प्राप्त हो सकते हैं ? अन्धकों की मान्यता इसके पक्ष में ।
२४. क्या विमुक्त होता हुआ मन लोभ-यस्त होता है ? अन्धकों का विश्वास था कि अहंस्व प्राप्त कर लेने पर ही लोभ से पूर्णतः विमुक्ति मिलती है ।
२५. क्या विमुक्ति क्रमशः किया के रूप में होने वाली वस्तु है ।
२६. क्या स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन नष्ट हुआ रहता है । अन्धक और सम्मतिियों की ऐसी ही मान्यता थी । स्वविरवादी मत मध्यमार्गीय दृष्टिकोण ले लेता है, अर्थात् उसकी मान्यता है कि स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन टूटने लगता है किन्तु पूर्णतः टूट चुका हुआ नहीं होता ।
२७. क्या स्रोतापन्न की श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियों (जीवन-शक्तियों) की प्राप्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास ।
- २८-२९. क्या चर्म-चक्षु दिव्य-चक्षुओं में परिचर्तित हो सकते हैं, यदि उनका आधार कोई मानसिक धर्म हो । अन्धकों की ऐसी ही मान्यता ।
३०. क्या दिव्य-चक्षु प्राप्त कर लेना कर्म के स्वरूप की समझ लेना ही है ?
३१. क्या देवताओं में संयम पाया जाता है ?
३२. क्या अचेतन प्राणी (असञ्च-सत्ता) भी विज्ञान(चित्त) से युक्त होते हैं ?



अन्धकों का विश्वास था कि बिना चित्त के पुनर्जन्म नहीं होता। अतः कम से कम मृत्यु और पुनर्जन्म के क्षण में अचेतन प्राणियों के भी विज्ञान होता है।

३३. क्या नैवसंज्ञानासंज्ञापतन में विज्ञान उपस्थित नहीं रहता ? अन्धकों का विश्वास कि नहीं रहता।

### चौथा अध्याय

३४. क्या गृहस्थ भी अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का विश्वास। स्थविरवादी मतानुसार अर्हत् होने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता।
३५. क्या जन्म के अवसर पर ही कोई अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का भ्रम।
३६. क्या अर्हत् की प्रत्येक उपयोग-सामग्री भी पवित्र (अनासत्र—मल-रहित) है ? उत्तरापथकों का मत।
३७. क्या अर्हत् होने के बाद भी मनुष्य को चार मार्ग-फलों की प्राप्ति बनी हुई रहती है ? उत्तरापथकों का विश्वास।
३८. क्या ६ प्रकार की उपेक्षाओं को अर्हत् एक ही क्षण में एक ही साथ धारण कर सकता है ? किस सम्प्रदाय की यह मान्यता थी, इसका उल्लेख नहीं है। स्थविरवादी मतानुसार ऐसी अवस्था सम्भव नहीं है।
३९. क्या बोधि-मात्र से बुद्ध हो जाता है ? उत्तरापथकों का भ्रमात्मक विश्वास, 'बोधि' का अर्थ न समझने के कारण।
४०. क्या ३२ महापुरुष-लक्षणों से युक्त प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्त्व है ? उत्तरापथकों का विश्वास।
४१. क्या बोधिसत्त्व को बुद्ध काश्यप की शिष्यता में ही सम्यक् मार्ग की प्राप्ति हो गई थी ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।
४२. ३७ के समान।
४३. क्या संयोजनों (चित्त-बन्धनों) के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने का नाम ही अर्हत्त्व है ? अन्धकों का विश्वास।

## पाँचवाँ अध्याय

४४. क्या विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं ? अन्धकों की यही मान्यता ।
४५. क्या शैव्य (जिसे अभी सीखना बाकी है, या जिसने अहंत्व की अवस्था अभी प्राप्त नहीं की है) को अशैव्य (अहंत्)-सम्बन्धी ज्ञान भी उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का विश्वास ।
४६. पृथ्वी-वस्तु के द्वारा ध्यान करने वाले का ज्ञान क्या मिथ्या-ज्ञान ही है ? अन्धकों का विश्वास ।
४७. क्या 'अ-नियत' (चार आर्य-मार्गों में जो प्रतिष्ठित नहीं हुआ है) को 'नियाम' (आर्य-मार्ग की चार अवस्थाएँ, यथा श्रोत आपत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अहंत्व) सम्बन्धी ज्ञान उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास ।
४८. क्या सभी ज्ञान प्रतिसम्भिता-ज्ञान है ? अन्धकों का विश्वास ।
४९. क्या यह सत्य है कि संबृति-ज्ञान (सम्भृति ज्ञान-व्यावहारिक ज्ञान जिसके अनुसार हम मनुष्य, वृक्ष आदि जैसी बातें कहते हैं जिनका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं) का विषय भी सत्य ही है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास ।
५०. क्या परचित्त-ज्ञान का आधार चेतना ही है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।
५१. क्या सम्पूर्ण भविष्य का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था ।
५२. क्या एक साथ सम्पूर्ण वर्तमान का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था ।
५३. क्या साधक को दूसरों की मार्ग-प्राप्ति का भी ज्ञान हो सकता है ? अन्धक कहते थे 'हाँ' !

## छठा अध्याय

५४. क्या चार मार्गों के द्वारा आश्वासन मिल सकता है ? अन्धकों का विश्वास ।
५५. क्या प्रतीत्य समुत्पाद अ-संस्कृत (अ-कृत) और शाश्वत है । पूर्वशैलीय और महोपासक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था ।
५६. क्या चार आर्य-सत्य अ-संस्कृत और शाश्वत हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यही मत ।

५७. क्या आकाश-तत्त्वावयतन (आकाश अनन्त है, ऐसे आवयतन की भावना) अ-संस्कृत है ?
५८. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि, जिसमें चित्त की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है) अ-संस्कृत है ? अन्धकों और उत्तरापथकों की मान्यता ।
५९. क्या आकाश अ-संस्कृत है ? उत्तरापथक और महीवासकों की मान्यता ।
- ६०-६१. क्या आकाश, चार महाभूत, पाँच इन्द्रिय और कार्यात्मक कर्म दृश्य है ? अन्धकों की मान्यता ।

### सातवाँ अध्याय

६२. क्या कुछ वस्तुओं का दूसरी वस्तुओं के साथ वर्गीकरण करना असम्भव है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था ।
६३. क्या ऐसे चेतसिक धर्म नहीं हैं, जो दूसरे चेतसिक धर्मों के साथ संयुक्त हों ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु कहते कि नहीं हैं ।
६४. क्या 'चेतसिक' नाम की कोई वस्तु-ही नहीं है ? 'नहीं है' यह भी कहते थे राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ही ।
६५. क्या दान देना भी चित्तों की एक अवस्था का ही नाम है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास ।
६६. क्या दान-उपभोग के साथ दान का पुण्य भी बढ़ता है ? राजगृहिक, सिद्धार्थक और सम्मतिथ भिक्षुओं का विश्वास ।
६७. क्या यहाँ दिया हुआ दान अन्यथा (पितरों के द्वारा) उपभोग किया जा सकता है ? यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण था जिस पर बौद्धों को भी उस युग में सोचना पड़ा । 'पितृकल्प' और 'सुद्धकल्याण' के विवेचनों में हम पहले इसका कुछ निर्देश कर चुके हैं । राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का विश्वास था कि यहाँ दिये हुए भोजन का उपभोग पितर अपने लोक में करते हैं । स्पृष्टिवादियों के अनुसार भोजन का साक्षात् उपभोग तो उनके लिये सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ दिये हुए दान के कारण प्रेतों के मन पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उनके कल्याण के लिये होता है ।

६८. क्या पृथ्वी भी कर्म-विपाक है ? अन्धकों का विश्वास ।  
 ६९. क्या जरा और मृत्यु कर्म-विपाक है ? अन्धकों का विश्वास ।  
 ७०. क्या चार आर्य-भागों से संयुक्त चित्त की अवस्थाएँ कर्म-विपाक पैदा नहीं करती ? अन्धकों का विश्वास ।  
 ७१. क्या एक कर्म-विपाक दूसरे कर्म-विपाक को पैदा करता है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास ।

### आठवीं अध्याय

७२. क्या जीवन के छह लोक हैं ? अन्धक और उत्तरापथकों की मान्यता । स्वविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे, मनुष्य-लोक, पशु-लोक, तरु-लोक, यक्ष-लोक, और देवलोक । अन्धक और उत्तरापथक एक छठे लोक, असुर-लोक, की भी मानते थे ।  
 ७३. क्या दो जन्मों के बीच में कुछ व्यवधान होता है ? पूर्वशीलीय और सम्मि-  
 त्तिय भिक्षुओं के अनुसार होता था ।  
 ७४. क्या काम-धातु का अर्थ केवल काम-वासना-सम्बन्धी पाँच विषयों का उप-  
 भोग ही है ? पूर्वशीलीय भिक्षु मानते थे कि काम-धातु से तात्पर्य केवल पाँच इन्द्रियों (चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) सम्बन्धी विषय भोगों से है । स्वविरवादी परम्परा में इसका विस्तृत अर्थ लिया गया है, अर्थात् कामनाओं से प्रवर्तित होने वाला सारा जीवन-लोक, इच्छाओं की दौड़-  
 धूप में लगा हुआ सारा जीव-जगत् ।  
 ७५. क्या 'काम' का अर्थ है इन्द्रिय-चेतना का आचार ? पूर्वशीलीय भिक्षुओं का मत ।  
 ७६-७७. क्या रूप-धातु का तात्पर्य है केवल रूप वाले पदार्थ (रूपिनो वग्मा) ? और अ-रूप धातु का अर्थ है केवल अ-रूप वाले पदार्थ ? अन्धकों का मत ।  
 ७८. क्या रूप-लोक का प्राणी ६ इन्द्रियों वाला होता है ? अन्धकों और सम्मि-  
 त्तियों की मान्यता ।  
 ७९. क्या अरुण-लोक में भी रूप है ? अन्धकों का विश्वास ।



८०. कुशल चित्त से संयुक्त कायिक-कर्म भी क्या कुशल है ? महाशासक और सम्मतिषों का मत ।
८१. क्या 'रूप-जीवितेन्द्रिय' (रूप-जीवितेन्द्रिय) जैसी कोई वस्तु नहीं ? 'नहीं' कहते थे पूर्व शैलीय और सम्मतिष भिक्षु !
८२. क्या पूर्व के बुरे कर्म के कारण अहंत् का भी पतन हो सकता है ? पूर्वशैलीय और सम्मतिष भिक्षु कहते थे कि यह सम्भव है ।

### नवा अध्याय

८३. क्या दस संयोजनों से विमुक्ति बिना धर्मों के अतित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप को चिन्तन किये भी प्राप्त हो सकती है ? अन्धकों की मिथ्या-धारणा ।
८४. क्या निर्वाण का चिन्तन भी एक मानसिक बन्धन है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही मत ।
८५. क्या रूप आलम्बन-युक्त है ? उत्तरापथकों का 'आलम्बन' का ठीक अर्थ न जानने के कारण यह भ्रम ।
८६. क्या सात अनुशयों (चित्त-मलों) के मानसिक आधार नहीं होते ? अन्धकों और कुछ उत्तरापथकों का यही मत ।
८७. क्या अन्तर्ज्ञान का भी मानसिक आधार नहीं होता ? अन्धकों का यही मत ।
८८. क्या भूत या भविष्यत्की चेतना का भी कोई मानसिक आधार नहीं होता ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा मत ।
८९. क्या प्रत्येक चित्त की अवस्था में वितर्क रहता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं की यही मान्यता ।
९०. क्या शब्द भी केवल वितर्क का ही बाहरी विस्तार (विष्फार) है ? पूर्व-शैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता ।
९१. क्या वाणी सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? 'नहीं है' कहते थे पूर्वशैलीय, क्योंकि भूल में हमारे मुँह से कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं जिन्हें हम कहना नहीं चाहते ।

९२. क्या कायिक-कर्म सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? पूर्वसैलीय भिक्षुओं का उपर्युक्त के समान मत ।

९३. क्या भूत और भविष्यत् की भी प्राप्तियाँ सम्भव हैं ? अन्धक कहते थे 'हाँ' ।

### दसवाँ अध्याय

९४. क्या पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाले स्कन्धों के निरोध से पूर्व ही पंचस्कन्धों की उत्पत्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।

९५. क्या आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास करते समय व्यक्ति का रूप उसमें संनिविष्ट रहता है ? सम्मतिय, महीशासक और महासाधिकों का ऐसा ही विश्वास ।

९६. क्या पाँच इन्द्रिय-चेतनाओं (जैसे देखना, सुनना आदि) का उपयोग करते हुए मार्ग की भावना की जा सकती है ? महीशासकों का यही विश्वास ।

९७. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ कुशल हैं ? महीशासकों की मान्यता ।

९८. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ अ-कुशल भी हैं ? उपर्युक्त के समान ही ।

९९. का आर्य-अष्टाङ्गिक-मार्ग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दो प्रकार के शील (लौकिक और अलौकिक) का आचरण कर रहा है ? महासाधिकों का यही मत ।

१००. क्या शील कभी-कभी अ-चेतसिक भी होता है ? महासाधिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०१. क्या शील चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? ९१, ९२ के समान

१०२. क्या मात्र ग्रहण करने से शील का विकास होता है ? महासाधिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०३. क्या केवल शरीर या वाणी से विज्ञप्ति कर देना भी शील है ? महीशासक और सम्मतियों का ऐसा ही मत ।

१०४. क्या नैतिक उद्देश्य की अविज्ञप्ति अकुशल है ? महासाधिकों का यही मत ।

### ग्यारहवाँ अध्याय

१०५. क्या सात अनुशय अध्याकृत हैं ? महासाधिकों की यह मान्यता थी ।

१०६. क्या ज्ञान से असंयुक्त चित्त की अवस्था में भी किसी को अविद्या से विमुक्त

- और विद्या से युक्त कहा जा सकता है ? महासांघिक कहते थे, 'कहा जा सकता है' ।
१०७. क्या अन्तर्गति चित्त से अयुक्त भी हो सकता है ? पूर्वसौलीय भिक्षु कहते थे कि हो सकता है ।
१०८. क्या दुःख आर्य-सत्य का ज्ञान मात्र यह कहने से हो जाता है 'यह दुःख है' ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था ।
१०९. क्या योग की विभूतियों से युक्त मनुष्य कल्प भर तक रह सकता है ? महासांघिक भिक्षु-कहते थे 'हाँ' ।
११०. क्या चित्त-प्रवाह (चित्त-सन्तति) समाधि में भी रहता है ? सर्वास्तिवादी और उत्तरापधकों का विश्वास ।
१११. क्या पदार्थों का नियमित स्वरूप स्वयं निष्पन्न (निष्कन्न) है ? अन्धकों का विश्वास ।
११२. क्या अनित्यता स्वयं निष्पन्न है, जैसे अनित्य पदार्थ ? यह मत भी अन्धकों का था ।

### बारहवाँ अध्याय

११३. क्या केवल संयम और अ-संयम ही कुशल और अकुशल कर्मों की उत्पत्ति करने वाले हैं ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।
११४. क्या प्रत्येक कर्म का विपाक अवश्य होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था । स्वविरवादियों के मत के अनुसार अव्याकृत कर्म का विपाक नहीं होता ।
- ११५-११६. क्या वाणी और शरीर की इन्द्रियाँ भी पूर्व-जन्म के कर्म के परिणाम स्वरूप हैं ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था ।
११७. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो अधिक से अधिक सात बार आवागमन में घूमने के बाद निर्वाण प्राप्त करते हैं (सप्तवल्लभ-परम), उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ? उत्तरापधकों का ऐसा ही मत ।
११८. क्या वे स्रोतापन्न व्यक्ति जो एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेने के बाद (कोलंकोल) या सिर्फ एक ही बार और जन्म लेने के बाद (एकवीजी)

निर्वाण प्राप्त करते हैं, उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ? उत्तरापथकों का ही मत ।

११९. क्या सम्पक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति जान-बूझ कर हत्या कर सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि ऐसा मनुष्य अभी क्रोध-मुक्त नहीं हुआ, अतः क्रोध के आवेश में उसके लिये ऐसा करना असम्भव नहीं है ।

१२०. क्या सम्पक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है ? उत्तरापथकों का यह मत था । स्वविरवादियों के मतानुसार दुर्गति के दो अर्थ हैं, पशु-योनि आदि दुर्गतियाँ और इच्छा-आसक्ति आदि दुर्गतियाँ । उपर्युक्त व्यक्ति उनके मतानुसार केवल प्रथम दुर्गति से विमुक्त हो जाता है ।

१२१. क्या श्रोत आपन्न व्यक्ति अपने मातृवें जन्म में दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है ? उपर्युक्त के समान ।

### तेरहवाँ अध्याय

१२२. क्या जीवन-काल (कल्प-कण) के लिये दंडित व्यक्ति युग-काल (कल्प-कण) तक दंड भोगेगा ? 'कल्प' का अर्थ न समझने के कारण राज-गृहिक भिक्षुओं का यह भ्रम था ।

१२३. क्या नरक में यातना पाता हुआ प्राणी कुशल-चित्त की भावना नहीं कर सकता ? 'नहीं कर सकता' कहते थे उत्तरापथिक । स्वविरवादियों के अनुसार वह उस अवस्था में भी कुछ कुशल कर्म कर सकता है ।

१२४. क्या पितृ-वध आदि दुष्कृत्यों को करने वाला भी कभी आगे चल कर शुभ कर्म-पथ पर आ सकता है ? उत्तरापथिक कहते थे 'आ सकता है' । स्वविरवादियों के अनुसार वह उसी अवस्था में आ सकता है जब कि बिना निश्चय किये हुए और दूसरे की आज्ञानुसार उसने ऐसा किया हो ।

१२५. क्या व्यक्ति का भाग्य उसके लिये पहले से ही निश्चित (नियत) है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था ।

१२६-२७. क्या ५ तीव्रणी (चित्त के आवरणों) और १० संयोजनों (चित्त-वन्धनों) को जीतते समय भी व्यक्ति इनसे युक्त हो सकता है ? उत्तरापथिक भिक्षुओं का विश्वास था कि हो सकता है ।



१२८. क्या ध्यान के अन्दर ध्यान का आस्वाद होता है और ध्यान की इच्छा ही उसका आलम्बन (विषय) है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास ।
१२९. क्या अनुसूकर वस्तु के लिये भी आसक्ति हो सकती है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास ।
१३०. क्या मन के विषयों की तृष्णा (धम्म-तण्हा) अव्याकृत है, और
१३१. क्या वह दुःख का कारण नहीं है ? ये दोनों मत पूर्वशैलीय भिक्षुओं के थे ।

### चौदहवाँ अध्याय

१३२. क्या कुशल-मूल (अ-लोभ, अ-द्वेष, अ-मोह) अ-कुशल मूलों (लोभ, द्वेष, मोह) के बाद पैदा होते हैं ? महासाधिकों का मिथ्या विश्वास था ।
१३३. माता के पेट में गर्भ-में आते समय क्या ६ इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) साथ-साथ ही उत्पन्न होती हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था ।
१३४. क्या एक विज्ञान (चक्षु-विज्ञान आदि) किसी दूसरे विज्ञान के बाद उत्पन्न हो सकता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था ।
१३५. क्या वाणी और शरीर का पवित्र भौतिक कार्य चार महाभूतों से ही उत्पन्न होता है ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था ।
१३६. क्या काम-वासना-सम्बन्धी अनुशय और उसका प्रकाशन दो विभिन्न वस्तुएँ हैं ? अन्धकों का यही विश्वास था ।
१३७. क्या अनुशयों का प्रकाशन चित्त से असंयुक्त (विण्ययुक्त) है ? अन्धकों का यही मत था ।
१३८. क्या रूप-राग, रूप-धानु में ही अन्तर्हित और सम्मिलित है ? अन्धक और सम्मतिय भिक्षुओं का यही विश्वास था ।
१३९. क्या मिथ्या मत-वाद अव्याकृत है ? अन्धक और सम्मतिय भिक्षुओं का यही मत था । वे 'अव्याकृत' शब्द के ठीक अर्थ को नहीं समझते थे ।
१४०. क्या मिथ्या मत-वाद, लौकिक क्षेत्र से असम्बन्धित, साधकों के लोकोत्तर क्षेत्र में भी पाये जाते हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यह मिथ्या विश्वास था ।

## पन्द्रहवाँ अध्याय

१४१. क्या 'प्रतीत्य समुत्पाद' का प्रत्येक धर्म (अवस्था) केवल एक ही प्रत्यय का सूचक है ? महासांघिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था ।
१४२. क्या यह कहना गलत है कि 'संस्कारों के प्रत्यय से अविद्या की उत्पत्ति होती है', जैसे कि 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों की उत्पत्ति होती है ?' महासांघिकों के मतानुसार यह कहना गलत ही था । स्थविरवादियों ने इसे 'सहजात-प्रत्यय' या 'अन्योन्य-प्रत्यय' के आधार पर व्याख्यात किया है और गलत नहीं माना ।
१४३. क्या काल परिनिष्पन्न (परिनिष्पन्न) है ?
१४४. क्या काल के सभी क्षण परिनिष्पन्न हैं ?
१४५. क्या आस्रव (काम-आस्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव, अविद्यास्रव) दूसरे आस्रवों से असंलग्न है ? हेतुवादी भिक्षुओं का यही मत था ।
१४६. क्या लोकोत्तर भिक्षुओं के जरा और मरण भी लोकोत्तर होते हैं ? महासांघिकों का यह मत था । स्थविरवादियों के मतानुसार इनकी भौतिक या मानसिक सत्ता ही नहीं है, अतः न ये लौकिक हैं, न लोकोत्तर ।
१४७. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि) लोकोत्तर है ? हेतुवादियों का मत ।
१४८. क्या वह लौकिक (लोकिय) है ? पूर्वोक्त के समान ।
१४९. क्या निरोध-समाधि की अवस्था में मृत्यु भी हो सकती है । राजगृहिक कहते थे कि हो सकती है । स्थविरवादी भिक्षुओं के मतानुसार नहीं हो सकती ।
१५०. क्या निरोध-समाधि के बाद संज्ञा-हीन प्राणियों (असञ्जसत्त) के लोक में उत्पत्ति होती है ? हेतुवादियों का यही मिथ्या विश्वास था ।
१५१. क्या कर्म और कर्म-संचय दो विभिन्न वस्तुएँ हैं ? अन्वक और सम्मतियों का ऐसा ही विश्वास ।

## सोलहवाँ अध्याय

१५२. क्या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन को नैतिक रूप से शिक्षित कर सकता है या उसे सहायता पहुँचा सकता है ? महासांघिकों का यह मत था ।

१५४. क्या एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में सुख उत्पन्न कर सकता है ?  
हेतुवादियों का ऐसा विश्वास था ।
१५५. क्या एक ही समय अनेक वस्तुओं की ओर हम ध्यान दे सकते हैं ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं के मतानुसार यह सम्भव था ।
- १५६-५७. क्या रूप भी एक हेतु है ? क्या यह हेतुओं से मुक्त है ? ये दोनों मत उत्तरापथकों के थे ।
१५८. क्या रूप कुशल या अकुशल हो सकता है ? महीशासक और सम्मतिप भिक्षुओं का यह विश्वास था ।
१५९. क्या रूप कर्म-विपाक है ? अन्धक और सम्मतियों की मान्यता ।
१६०. क्या रूपावचर और अरूपावचर लोकों में भी रूप है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था ।
१६१. क्या रूप-राग और अरूप-राग, कमलः रूप-धातु और अरूप-धातु में सम्मिलित हैं ? अन्धकों की यही मान्यता थी ।

#### सत्रहवाँ अध्याय

१६२. क्या अहंत् भी पुण्यों का संचय करता है ? अन्धकों की मान्यता ।
१६३. क्या अहंत् की अकाल मृत्यु नहीं हो सकती ? नहीं हो सकती, ऐसा राज-गृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु मानते थे ।
१६४. क्या हर वस्तु कर्मों के कारण है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ऐसा ही विश्वास रखते थे ।
१६५. क्या दुःख छः इन्द्रिय-अनुभूतियों तक ही सीमित है ? हेतुवादियों की यह मान्यता थी ।
१६६. क्या आर्य-मार्ग को छोड़कर सभी वस्तुएँ और संस्कार, दुःख (कृत) हैं ? हेतुवादियों का ऐसा ही विश्वास था ।
१६७. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान ग्रहण करता है । यह मत वैतुल्यक नामक महाशून्यतावादियों का था । संघ की चार आर्य-मार्गों और उनके फलों के रूप में व्याख्या करना इनका मुख्य सिद्धान्त था । इनके सिद्धान्तों में हम महापान-धर्म के बीज पाते हैं ।

१६८-७१. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान को पवित्र करता है, या स्वयं उसे खाता, पीता है, या संघ को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है, या बुद्ध को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है ? ये सब सिद्धान्त वैतुल्यक नामक महाशून्यता-वादियों के थे । इन्हीं से बाद में महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ ।<sup>१</sup>

१७२. क्या दान देने वाले के द्वारा ही पवित्र किया जाता है, ग्रहण करने वाले के द्वारा नहीं ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था ।

#### अठारहवाँ अध्याय

१७३-७४ क्या यह कहना गलत है कि बुद्ध मनुष्यों के लोक में रहे ? क्या यह भी गलत है कि उन्होंने उपदेश दिया ? 'हाँ गलत ही है' ऐसा वैतुल्यक (वैतुल्यक) कहते थे । बाद में चल कर महायान-धर्म ने भी यही कहा "भगवान् तथागत मौन हैं । भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नहीं सिखाया" (मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः । न मौनेस्तथागतं भाषितम्) इस सब के बीज हम यहीं पाते हैं ।

१७५. क्या बुद्ध को करुणा उत्पन्न नहीं हुई ? 'नहीं हुई', कहते थे उत्तरापथक, क्योंकि करुणा को भी वे आसक्ति का ही रूप मानते थे ।

१७६. क्या यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध के मल में से भी अद्वितीय सुगन्ध आती थी ? अन्धक और उत्तरापथकों का यही मत था ।

१. मिलाइये, ज्ञानातिलोक "According to my opinion वैतुल्य is a distortion of वैपुल्य and the वैपुल्य sutras of the Mahayana refer to the above-mentioned heretics (Vetulyakas known as महाशून्यतावादिन्s) whose ideas, too, appear to be perfectly Mahayanistic" गाइड थू वि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ६०; राहुल सांकृत्यायन : "वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरम्भिक काल में प्रसिद्ध हुआ" पुरातत्व निबन्धा-वली, पृष्ठ १३१ । 'शून्यता' (सुञ्जता) के विचार का निर्देश संयुक्त-निकाय के ओपम्म-वग्ग में तथा अंगुत्तर-निकाय के अनागतभय-सूत्रों (चतुष्क और पंचक निपात) में हुआ है । इस विषय सम्बन्धी अधिक निरूपण के लिए देखिये श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजिकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) पृष्ठ ४२ (भूमिका)



१७७. क्या केवल एक आर्य-मार्ग के अभ्यास से चारों आर्य-मार्गों (स्रोतापत्ति आदि) के फलों को प्राप्त किया जा सकता है ?
१७८. क्या एक ध्यान के ठीक बाद दूसरे ध्यान में साधक प्रवेश कर जाता है ? महाशासकों का ऐसा ही विश्वास था ।
१७९. ध्यानो के पंचविध विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है वह क्या केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की अवस्था है ? सम्मितिय और कुछ अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था ।
१८०. क्या साधक ध्यान में शब्दों को सुन सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता थी ?
१८१. क्या दृश्य पदार्थ आँखों से ही देखे जाते हैं ? महासाधिकों के मतानुसार (पमाद-बक्षु) जो केवल भौतिक विकार है, देखती है । स्थविरवादियों के मतानुसार वह केवल देखने का आधार या आयतन है और है जो देखता है वह तो वास्तव में बक्षु-विज्ञान है ।
१८२. क्या हम भूत, वर्तमान और भविष्यतु के मानसिक क्लेशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तरापथकों के अनुसार कर सकते हैं ।
१८३. क्या शून्यता संस्कार-स्कन्ध में सम्मिलित है ? अन्धकों के अनुसार सम्मिलित है ।
१८४. क्या मार्ग-फल अ-संस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।
१८५. क्या किसी वस्तु की प्राप्ति स्वयं अ-संस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।
१८६. क्या 'तथता' (वस्तुओं का निश्चित स्वरूप) अ-संस्कृत है ? उत्तरापथकों में से कुछ का यह विश्वास था । बाद में चल कर अश्वघोष के 'भूततथता' के सिद्धान्त का यहाँ बीज पाया जाता है । यह सिद्धान्त उपनिषदों के ध्रुव आत्मवाद के अधिक समीप पहुँच जाता है ।
१८७. क्या निर्वाण-धातु कुशल है ? अन्धकों का मत । कुशल को सामान्यतः 'नैर्दोष' या 'पवित्र' मानकर वे निर्वाण को भी 'कुशल' कहते थे ।
१८८. क्या सांसारिक मनुष्य (पुण्यजन) में भी अत्यन्त नियमवत्ता (अच्वन्त-नियामता) हो सकती है ? उत्तरापथकों में से कुछ के मतानुसार हो सकती थी ।
१८९. क्या ऐसी श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं जो लौकिक हों और जिन्हें

साधारण आदमी (पृथग्जन) भी प्राप्त कर सकें ? नहीं है, ऐसा महींशासक और हेतुवादी भिक्षु कहते थे ।

### बीसवाँ अध्याय

१९०. क्या बिना ज्ञान-ब्रूक कर किये हुए पितृ-वध आदि अपराधों के कारण भी नरक में जन्म लेना पड़ता है ? उत्तरापथक ऐसा मानते थे ।
१९१. क्या साधारण सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) को सम्पक् ज्ञान नहीं हो सकता ? नहीं हो सकता, कहते थे हेतुवादी ।
१९२. क्या नरक में फाँसी लगाने वाले या चौकीदार नहीं हैं ? 'नहीं है' कहते थे अन्धक ।
१९३. क्या देवताओं के पशु भी होते हैं ? अन्धकों के अनुसार होते थे ।
१९४. क्या आर्य अष्टांगिक मार्ग वास्तव में पाँच अंगों वाला ही है ? महींशासक ऐसा ही मानते थे । सम्पक् वाणी, सम्पक् कर्मान्त और सम्पक् आजीव को वे मानसिक दशा न मान कर उनका अन्तर्भाव केवल सम्पक् व्यायाम में कर देते थे ।
१९५. क्या चतुरार्य सत्य-सम्बन्धी १२ प्रकार के ज्ञान लोकोत्तर हैं ? पूर्वशीलीय भिक्षु उन्हें ऐसा ही मानते थे ।

### इक्कीसवाँ अध्याय

१९६. क्या बूढ़-उपदेशों में कोई संस्कार किया गया है ? क्या उनमें फिर संस्कार किया जा सकता है ? इन दोनों बातों की सम्भावना उत्तरापथक भिक्षु मानते थे । स्पष्टिरवादियों ने दोनों बातों का विरोध किया है । बूढ़ की शिक्षाओं का संस्कार या सुधार सम्भव नहीं है ।
१९७. क्या सांसारिक मनुष्य की पहुँच एक ही क्षण में काम-लोक, रूप-लोक और अरूप-लोक की वस्तुओं में हो सकती है ? हो सकती है, ऐसा कुछ विरोधी सम्प्रदाय के लोग मानते थे, किन्तु उनके नाम का निर्देश अट्ठकथा में नहीं किया गया है ।
१९८. क्या बिना कुछ संयोजनों का बिनाश किए भी अहंस्व प्राप्त हो सकती है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था ।
१९९. क्या बुद्ध और उनके कुछ शिष्यों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्धमें योग की शक्तियाँ प्राप्त हुई रहती हैं । अन्धकों का विद्वान् ।

२००. क्या विभिन्न बुद्धों में भी कुछ श्रेणों का तारतम्य है ? अन्धक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।
२०१. क्या संसार के चारों भागों में बुद्धों का निवास है। महासाधकों का यह विश्वास था। बाद के महायानी ग्रंथ 'सुखावती व्यूह' में इसी विश्वास का प्रतिपादन किया गया है। 'सुखावती' व्यूह में प्रत्येक भाग में रहने वाले बुद्ध का नाम भी दिया हुआ है, जैसे पच्छिमी भाग में भगवान् अमिताभ बुद्ध रहते हैं, पूर्वी भाग में अमितायु आदि। महासाधकों को अभी इसका पता नहीं है।
- २०२-३. क्या सभी वस्तुएँ और कर्म नियत हैं ? अन्धक और कुछ उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

### बाईसवीं अध्याय

२०४. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अन्धकों का विश्वास था कि हो सकती है। यह मत १९८ के प्रायः समान ही है।
२०५. क्या अहंत् के शरीर त्याग करते समय उसका चित्त 'कुशल' रहता है। अन्धकों का यह भ्रमात्मक कथन था। 'कुशल' के दार्शनिक अर्थ को वे ठोक-ठोक न समझते थे।
२०६. क्या निश्चल (अनेञ्ज) ध्यान की अवस्था में भी बुद्ध या किसी अहंत् की मृत्पृ हो सकती है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की यही मिथ्या धारणा थी।
- २०७-८. क्या गर्भ की अवस्था में या स्वप्न की अवस्था में सत्य का अन्तर्ज्ञान (धम्मभिस्समस) या अहंत्व की प्राप्ति सम्भव है ? उत्तरापथक भिक्षु इसकी सम्भावना मानते थे।
२०९. क्या स्वप्न की अवस्था में चित्त 'अव्याकृत' रहता है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादियों के मतानुसार कुशल और अकुशल अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।
२१०. क्या शुभ और अशुभ मानसिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। ऐसी मान्यता उत्तरापथक भिक्षुओं की थी।

२११. क्या सभी पदार्थ (धर्म) एक क्षण तक ही रहते हैं। ऐसी मान्यता पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं की थी।
२१२. क्या (पुरुष और स्त्री के) संयुक्त विचार के साथ मंथुन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यह बात वेतुल्यकों ने उठाई है, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि उनका तात्पर्य भिक्षुओं से है या गृहस्थों से। स्वविरवादियों ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया है।
२१३. क्या ऐसे अमानुषी जीव हैं जो भिक्षुओं का रूप धारण कर मंथुन सेवन करते हैं? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी मान्यता थी।
२१४. क्या बुद्ध ने अपनी शक्ति और इच्छा से ही बोधिसत्व होते समय पशु आदि पौनियों में प्रवेश किया, कड़ी तपस्याएँ की और एक दूसरे उपदेशक के लिए तपस्या की? अन्धकों की यह मान्यता थी।
२१५. क्या ऐसी वस्तु है जो स्वयं काम नहीं, किन्तु कामके समान है। (यथा, महानुभूति, आदि)। इसी प्रकार घृणा नहीं, किन्तु घृणा के समान है, (ईर्ष्या, मात्सर्य) आदि। अन्धकों की ये मान्यताएँ थीं।
२१६. क्या यह कहना ठीक है कि पंच-स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और २२ इन्द्रियाँ, 'असंस्कृत' हैं और केवल दुःख 'संस्कृत' या परिनिष्पन्न (परिनिष्कन्न) है? उत्तरापथक और हेतुवादी भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी।

ऊपर हम कथावस्तु में निराकृत २१६ मतवादों का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं। इनमें से बहुत कुछ अल्प महत्त्व के हैं, परन्तु अधिकांश मतवाद बड़े महत्त्व के हैं। उनसे बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है। कथावस्तु की अट्ठकथा ने जिन सम्प्रदायों के साथ उपर्युक्त मतवादों में से प्रत्येक को संलग्न किया है (कुछ को बिना संलग्न किए भी छोड़ दिया है जैसे २५, ३०, ३१, ३८, १४३, १४४, १७७, और १९७) उनकी दृष्टि से मतवादों का संकलन करने पर निम्नलिखित सूची बनेगी, जो बौद्ध धर्मके ऐतिहासिक विकास के विद्यार्थी के लिए बड़ी आवश्यक हो सकती है—



|                                        |                                                                                                                                                                                                                        |
|----------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| वज्रिपुस्तक                            | १, २                                                                                                                                                                                                                   |
| महिमासक<br>(महीमासक)                   | २१, ५५, ५९, ८०, ९५, १०३, १५८, १७८, १८९, १९४                                                                                                                                                                            |
| महासंघिक                               | २५-१००, १०२, १०४-६, १०९, ११३-१६, १३२, १४१,<br>१४२, १४६, १५२, १५३, १८१, १९८, २०१                                                                                                                                        |
| सोकृतिक                                | १८                                                                                                                                                                                                                     |
| सन्ध्यास्त्रिवादी<br>(सर्वास्त्रिवादी) | २, ६, ७, १९, ११०                                                                                                                                                                                                       |
| सम्मतिप                                | १-५, १९, २६, २८, २९, ६६, ७३-७८, ८०-८२, ९५, १०३,<br>१३८, १३९, १५१, १५८, १५९, १७९                                                                                                                                        |
| भद्रयानिक                              | १९                                                                                                                                                                                                                     |
| कस्तपिक<br>(कादयपिक)                   | ८                                                                                                                                                                                                                      |
| हेतुवादी                               | १४५, १४७-४८, १५०, १५४, १६५-६६, १८९, १९१, २१६                                                                                                                                                                           |
| उत्तरापथक                              | ३४-३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ५८, ५९, ७२, ८५, ८६, ८८, ८९,<br>११०, ११७-१८, १२०, १२३-२४, १२६-२७, १२९, १३४-३५,<br>१५०-५३, १७२, १७५-७७, १८२, १८६, १८८, १९०, १९६,<br>२०२-३, २०६-९, २१०-१६                                          |
| अन्वक                                  | ९, १०, १७, १९-२४, २६, २८, २९, ३२, ३३, ४१-४४, ४६,<br>४८-५४, ५८, ६०, ६१, ६८-७२, ७६-७९, ८३, ८६, ८७,<br>९३, ९४, १०८, १११-१२, १२८, १३६-३९, १५१, १५९-६२,<br>१७६-७७, १७९, १८३, १८७, १९२-९३, १९९, २००,<br>२०४-५, २१२, २१४, २१५ |
| पुस्तसेलिय<br>(पुस्तसेलीय)             | ११-१६, ५५, ५६, ७३-७५, ८१, ८२, ८४, ९०-९२, १०७,<br>११९, १२५, १३०, १३१, १३३, १४०, १५५, १८०, १८४,<br>१८५, १९५, २११                                                                                                         |
| अपरसेलिय<br>(अपरसेलीय)                 | ११, १२५, १३५, २११                                                                                                                                                                                                      |
| राजगिरिक                               | ६२-६५, ६७, १२२, १४९, १६३-६४                                                                                                                                                                                            |

सिद्धांतिक ६२-६७, १६३-१६४  
(सिद्धांतिक)

वैतुल्यक १७३-७४, २१२

महाशून्यतावादी १६७-७१  
वैतुल्यक

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास को समझने के लिए 'कथावस्तु' की समीक्षाओं का कितना अधिक महत्व है। किन्तु ये समीक्षाएँ केवल एक सम्प्रदाय (स्वविरवाद) की हैं, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जिस प्रकार 'कथावस्तु' में स्वविरवादी दृष्टिकोण से अन्य विरोधी सिद्धान्तों का खंडन किया गया है, उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की परम्परा में शेष सम्प्रदायों (जिनमें स्वविरवादी भी सम्मिलित हैं) का खंडन किया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र के 'अष्टादश-निकाय धात्व' <sup>२</sup> में सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण से शेष १७ सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसी प्रकार तिब्बती और चीनी अनुवादों में कुछ अन्य सम्प्रदायों की दृष्टियों से भी खंडन-खंडन मिलते हैं।<sup>३</sup> चूंकि हमारे विषय से ये सीधे सम्बन्धित नहीं हैं, अतः इनके तुलनात्मक अध्ययन में पढ़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा। 'कथावस्तु' की दृष्टि से इतना कह देना ही आवश्यक ज्ञान पड़ता है कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की परम्पराओं में प्राप्त सिद्धान्तों के विवरणों से उसके विवरणों की विभिन्नता नहीं है। केवल समालोचना-दृष्टि का भेद अवश्य है, जो सम्प्रदाय-विभेद के कारण आवश्यक हो गया है। जहाँ तक आपेक्षिक प्रामाण्य का सवाल है निश्चय ही 'कथावस्तु' का परम्परा प्राचीन है और उसी का अनुवर्तन बाद में 'दीपवंस' और 'महावंस' में भी मिलता है। वसुमित्र और भव्य के वर्णन अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। संस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा का उसके मूल स्रोत से कई बार ऐतिहासिक उलट-पुलटों के कारण विच्छेद भी हो

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८

२. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी अनुवाद मिलता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। वसुमित्र द्वारा दिये गये कुछ सम्प्रदायों के परिचय के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८२८-३१।

३. देखिये जर्नेल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ ४१३

बुका है। अतः पालि-वर्णन ही अधिक प्रामाणिक और समाश्रयणीय है। अतः 'कथावत्थु' के नाना सम्प्रदायों के सिद्धान्त-विवरण प्रामाणिक माने जा सकते हैं और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के लिए आज भी उनका पर्याप्त महत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

### यमक'

'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा या जुड़वाँ पदार्थ। 'यमक पकरण' में प्रश्नों को जोड़ों के रूप में देखा गया है, यथा (१) क्या सभी कुशल-धर्म कुशल-मूल हैं? क्या सभी कुशल-मूल कुशल-धर्म हैं? (२) क्या सभी रूप रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी रूप-स्कन्ध रूप हैं? (३) क्या सभी अ-रूप अ-रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी अ-रूप-स्कन्ध अ-रूप हैं? आदि, आदि। प्रश्नों के अनुकूल और विपरीत स्वरूपों का यह जोड़ा बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक देखा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'यमक' पड़ा है। 'यमक' का मुख्य विषय है अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या। अतः उसका अभिधम्म-दर्शन के लिए वही महत्व और उपयोग है, जो एक निश्चित पारिभाषिक-शब्द-कोश का किसी पूर्ण दर्शन-प्रणाली के लिए। उसकी बहुत कुछ शुक्लता का भी यही कारण है। 'यमक' दस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें निदिष्ट विषयों के साथ धर्मों के संबंधों को दिखाना ही उसका लक्ष्य है? अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते हैं, यथा

- (१) मूल-यमक—कुशल, अकुशल और अव्याकृत, ये तीन 'मूल' धर्म या पदार्थ।
- (२) स्कन्ध-यमक—पञ्च-स्कन्ध।
- (३) आयतन-यमक—१८ आयतन।
- (४) धातु-यमक—१८ धातुएँ।
- (५) सत्त्व-यमक—४ सत्य।
- (६) संस्कार-यमक—संस्कार, कायिक, वाचिक और मानसिक।
- (७) अनुसय-यमक—७ अनुशय (चित्त के अन्दर सुपुप्त बुराइयाँ)।

१. श्रीमती रायस डेविड्स एवं अन्य तीन सहायक सम्पादकों द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्सट सोसायटी (लन्दन, १९११ एवं १९१३) द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित।

- (८) चित्त-यमक—चित्त-संबंधी प्रश्नोत्तर ।  
 (९) धम्म-यमक—धर्मों संबंधी प्रश्नोत्तर ।  
 (१०) इन्द्रिय-यमक—२२ इन्द्रिया ।

प्रत्येक अध्याय की विषय-प्रतिपादन शैली प्रायः समान है । प्रायः प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्त है (१) पञ्चास्ति-वार (शब्द-प्रज्ञापन-विभाग) (२) पवत्ति-वार (प्रक्रिया-विभाग) और (३) परिञ्जा-वार (अन्तर्ज्ञान-विभाग) । प्रथम भाग के भी दो उपविभाग हैं (अ) 'उद्देस-वार (प्रश्न-कथन) और निद्देस-वार (व्याख्या-खण्ड) । 'उद्देस-वार' में प्रश्नों का कथन जोड़े के रूप में किया गया है, यथा क्या सभी रूप को रूप-स्कन्ध कहा जा सकता है ? क्या सभी रूप-स्कन्ध को रूप कहा जा सकता है ? आदि । 'निद्देस-वार' में इसकी व्याख्या की गई है । द्वितीय मुख्य भाग 'पवत्ति-वार' के तीन भाग हैं, यथा (अ) उप्पाद-वार (उत्पत्ति-विभाग) (ब) निरोध-वार (विनाश-विभाग) और उप्पाद-निरोध-वार (उत्पत्ति और विनाश संबंधी विभाग) 'उप्पाद-विभाग' में यह दिखाया गया है कि भिन्न भिन्न धर्मों की किस प्रकार उत्पत्ति होती है ? प्रश्नों का डग तो वही जुड़वां नमूने का है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है जिसमें रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है जिसमें वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? आदि, आदि । 'निरोध-वार' में इसी प्रकार धर्मों के विनाश या अस्तंगमन संबंधी प्रश्न किये गये हैं, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ?' 'क्या रूप-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में रूप-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ?' आदि, आदि । 'उप्पाद-निरोध-वार' में इस क्रम को उल्टा कर दिया गया है । उसके प्रश्न इस प्रकार के हैं—'क्या वेदना-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-



भूमि में निरुद्ध हो जाता है जिस भूमि में रूप-स्कन्ध पैदा होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन भूमि में वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?" आदि, आदि। तृतीय मुख्य भाग 'परिञ्चा-वार (अन्तर्ज्ञान-भाग) में प्रश्नोत्तर के रूप में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि धम्मों का अन्तर्ज्ञान किस प्रकार पैदा होता है। इसके प्रश्न इस प्रकार हैं — 'क्या जिसने रूप-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे वेदना-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ? क्या जिसने वेदना-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे रूप-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ?' आदि, आदि।

इससे अधिक 'यमक' की वीथियों में भ्रमण करना "सूखी हड्डियों की घाटी" में भ्रमण करना ही होगा, जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने उसे कहा है<sup>१</sup>। वास्तव में यह किसी भी पारिभाषिक शब्द-कोश के लिए कहा जा सकता है। 'यमक' भी अभिधम्म का शब्द-कोश ही है। अतः उसका सुझावन भी अभिधम्म के विद्यार्थियों के लिए एक सतत उपयोग और महत्व की वस्तु है।

पट्ठान<sup>२</sup>  
अभिधम्म-दर्शन धम्मों (पदार्थों-वस्तुओं) का एक परिपूर्ण दर्शन है। धम्म-संगणि में धम्मों का विश्लेषण, विभंग में उनका वर्गीकरण, धातुकथा में उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों पर अधिक प्रकाश, पुग्गलपञ्चाति में इस धम्म-दर्शन की पृष्ठ-भूमि में व्यक्तियों के प्रकारों का निरूपण, कयावत्तु में अभिधम्म-दर्शन संबंधी मिथ्या

१. इस ग्रन्थ की क्लिष्ट शैली और दुरूह विषय-वस्तु के कारण श्रीमती रायस डेविड्स जैसी महाप्राज्ञा एवं अभिधम्म-दर्शन की मननशीला अध्येत्री को भी अनेक विप्रतिपत्तियों में पड़ जाना पड़ा। उनकी कठिनाइयों और सन्देहों का निवारण प्रसिद्ध बर्मी बौद्ध विद्वान् स्पेथिर लेवि सदाव ने किया था। लेवि सदाव के विचार एक पालि निबन्ध के रूप में 'यमक' के पालि टैक्सुट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में निहित है। ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त यह निबन्ध पालि-साहित्य के विद्यार्थियों द्वारा द्रष्टव्य है।

२. श्रीमती रायस डेविड्स ने इस ग्रंथ का अंशतः सम्पादन पालि टैक्सुट् सोसायटी के लिए किया है। डुक-पट्ठान, भाग प्रथम (१९०६) एवं तिक-पट्ठान, भाग १-३ (१९२१-२३)। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली एवं स्पामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न अनुवाद है, न मूल संस्करण।

धारणाओं के निरसन के द्वारा उसके विमल, मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में अभिधम्म-गृहीत पारिभाषिक शब्दावली की सदा के लिए भ्रम निवारण करने वाली निश्चित व्याख्या, अभिधम्म-दर्शन का इतना विकास अभी हम उनके छह ग्रन्थों में देख चुके हैं। सातवें ग्रन्थ (पट्ठान) में अब हम अभिधम्म-दर्शन की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि पर आते हैं। यही वह भूमि है जहाँ से वह नित्य, ध्रुव पदार्थ के गवेषक अन्य भारतीय दर्शनों का साथ छोड़ देता है। कम से कम उनकी सी गवेषणा में तो वह प्रवृत्त नहीं होता। निरन्तर परिणामों 'धर्मों' का विश्लेषण करने के बाद उनकी तह में किसी अ-परिणामी 'धर्मों' को भी क्या अभिधम्म ने देखा है? ऐसी जिज्ञासा हम अमरता के लालची अवश्य करेंगे। किन्तु लालच (तृष्णा) की अवकाश तथागत ने कब दिया, फिर चाहे वह अमरता का ही क्यों न हो? हमारा प्रश्न ही गलत है, ऐसा ही उत्तर यहाँ तो हम पायेंगे। अतः बुद्ध-अनुगामी स्थविरों ने भी धर्मों या पदार्थों की अवस्थाओं का ही अध्ययन किया है, प्रवाहों और घटनाओं (जिनमें ही संपूर्ण नाम (विज्ञान-तत्त्व) और रूप (भौतिक-तत्त्व) संनिहित हैं, के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप पर ही जोर दिया है। उनमें अन्तर्हित किसी कूटस्थ, नित्य, ध्रुव पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि पर उन्होंने जोर नहीं दिया। क्यों? क्योंकि उनके शास्ता के शब्दों में "यह न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है और न निर्वेद, धान्ति, परमज्ञान और निर्वाण के लिए ही आवश्यक है।" इस उद्देश्य को समझ लें तो पालि बुद्ध-दर्शन ने अपनी जिज्ञासाओं की जो मर्यादा बाँधली है, उसको हृदयंगम करना आसान हो जाता है। फिर भी अनात्मवादी बुद्ध-मत भौतिकतावादी नहीं है।

जहाँ तक दार्शनिक परिस्थिति की पूर्णता का सवाल है, उसके लिए भी तथागत ने पर्याप्त अवकाश और आश्वासन दिया है। जिसे उन्होंने 'अनत्ता' (अनात्मा) के रूप में निषिद्ध किया है, उसे ही उन्होंने 'निव्वाण' (निर्वाण) के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी भौतिक और मानसिक अवस्थाएँ अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, सापेक्ष हैं, कार्य और कारण की शृंखला से बद्ध हैं। किन्तु निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह कार्य-कारण भाव से बद्ध नहीं है। वह उससे ऊपर है। अनपेक्ष है, परमार्थ है। किन्तु दुःख-निवृत्ति की साधना तो भव-प्रवाह में ही करनी है, जो कार्य-कारणभाव से संचालित है। अतः उसी की गवेषणा प्रधान रूप से करनी इष्ट है। भगवान् बुद्ध ने समय मानसिक और भौतिक जगत् में यदि किसी

नियामक को नहीं तो नियम को तो अवश्य ही देखा है, यदि किसी ऋतु-धारी वरुण को नहीं तो स्वयं ऋतु को तो अवश्य देखा ही है। यमरेणु से भी सहस्रांश छोटे पदार्थों से लेकर महापिण्ड नीहारिकाओं तक और दृश्य इन्द्रिय-व्यापारों से लेकर सूक्ष्म अन्तश्चेतना की गहरी अनुभूतियों तक, इस सारे संसार-चक्र को तथागत ने नियम और ऋतु से बँधा हुआ अवश्य देखा है। भगवान् को इस सत्य का ज्ञान सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्ति के समय ही हुआ था, इसके लिए त्रिपिटक में प्रभूत प्रमाण है।<sup>२</sup> क्या है वह ऋतु, क्या है वह नियम, जिसका ज्ञान भगवान् बुद्ध ने सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही किया ? यही है वह गम्भीर<sup>३</sup> प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुत्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। यह कोई कोरा दार्शनिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि यह है सम्यक्-सम्बुद्ध की प्रत्यक्षतम अनुभूति। यदि यह कोरा दार्शनिक सिद्धांत होता तो तथागत के लिए इसका उपदेश करना ही अनावश्यक होता। उस हालत में तथागत भी अफलातू, अरस्तू, शंकर या नागार्जुन की समकोटि के ही दार्शनिक होते। वे 'कठना के देव' किस प्रकार होते, जिस रूप में मानवता को उनका एकमात्र सहारा मिला है ? वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद भगवान् की कठना का ही ज्ञानमय परिणाम है। भगवान् ने अशेष जीव-जगत् को दुःख की चक्की में पिसते देखा। जहाँ बुद्ध-नेत्रों से देखा, अखिल लोक में जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दोमंतस्य और उपायासों का ही अखंड साम्राज्य देखा। जिज्ञासा हुई यह किसके कारण ? स्मूल कारण अनेक थे जिन्हें साधारण आदमी आज भी देखते हैं और कुछ उन्हीं पर अधिक जोर भी देते हैं। किन्तु बुद्ध-नेत्रों से देखा गया कि जन्म ही इन दुःखों का मूल कारण है। जन्म का कारण क्या ? भव। भव का कारण क्या ? उपादान। उपादान का कारण क्या ? तृष्णा ! तृष्णा का कारण क्या ? वेदना ! वेदना का कारण क्या ? स्पर्श। स्पर्श का कारण क्या ? षडायतन ! षडायतन का कारण क्या ? नाम-रूप। नाम-रूप का कारण क्या ? विज्ञान। विज्ञान का कारण क्या ? संस्कार। संस्कार का कारण क्या ? अविद्या। "भिक्षुओ ! अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ

२. देखिये विशेषतः त्रिनय-पिटक—महावग्ग १, उदान, प्रथम (बोधि) वर्ग।

३. महानिदान-सुत्त (बोधि. २।२) में भगवान् ने स्वयं इसकी गम्भीरता का वर्णन सारिपुत्र के प्रति किया है।



का पता नहीं चलता ।" आवागमन के चक्र को अविद्या ही गति प्रदान करती है । यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाय तो संस्कारों का निरोध ! संस्कारों का निरोध कर दिया जाय तो विज्ञान का निरोध । विज्ञान का निरोध कर दिया जाय तो नाम-रूप का निरोध । नाम-रूप का निरोध कर दिया जाय तो छह आयतनों का निरोध । छह आयतनों का निरोध कर दिया जाय तो स्पर्श का निरोध । . . . . . वेदना का निरोध ! . . . . . तृष्णा का निरोध ! . . . . . उपादान का निरोध ! . . . . . भव का निरोध ! . . . . . जन्म का निरोध ! . . . . . जरा, मरणशोक, रोदन-विलाप, दुःख, मानसिक कष्ट एवं सारे दुःख-मूज का निरोध ! यही बुद्धोक्त प्रतीत्य समुत्पाद है, जिसे दुःख के आगमन और अस्तंगमन को हेतु-पूर्वक दिखाने के लिए भगवान् ने कठणापूर्वक उपदेश किया ।<sup>१</sup>

इस प्रतीत्य समुत्पाद का ही पूरे विस्तार के साथ विवेचन 'पट्टान' में किया गया है । किन्तु सुतन्त्र की अपेक्षा पट्टान की विवेचन-पद्धति की एक विशेषता है । जैसा प्रतीत्य समुत्पाद के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, प्रतीत्य समुत्पाद की कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरी से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं । सुतन्त्र में अधिकांश इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है । पट्टान में इन कड़ियों की व्याख्या पर जोर न देकर उन प्रत्ययों पर जोर दिया गया है, जिनके आश्रय से वे पैदा होती और निवृद्ध होती रहती हैं । पट्टान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है । यही उसकी एकमात्र विषय-वस्तु है । जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'पट्टान' (पञ्चय + ण) वास्तव में प्रत्ययों का स्थान ही है ।

आकार और महत्त्व की दृष्टि से पट्टान अभिधम्म-पिटक का एक महाग्रन्थ है । महत्त्व में उसका स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है । स्वामी संस्करण की ६ जिल्दों में ३१२० पृष्ठ हैं । यह हालत तब है जब ग्रन्थ के चार मुख्य भागों में से अन्तिम तीन अत्यंत संक्षिप्त कर दिये गये हैं । यदि उतका भी विवरण प्रथम भाग के समान ही किया जाता तो महास्ववित्र जामातिलोक का यह अनुमान ठीक है कि कुल ग्रन्थ का आकार १४००० पृष्ठ से कम न होता । जैसा अभी कहा जा चुका है, संपूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है, यथा

१. वेणिये विशेषतः महानिदान-सुत्त (वीथ. २।१५), महाहत्थियपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।८) आवि



(१) अनुलोम-पट्टान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक अध्ययन ।

(२) पञ्चनिय-पट्टान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक अध्ययन ।

(३) अनुलोम-पञ्चनिय पट्टान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक और निषेधात्मक अध्ययन ।

(४) पञ्चनिय-अनुलोम पट्टान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक और विधानात्मक अध्ययन ।

ग्रन्थ के आरम्भ में एक भूमिका है, जिसका नाम 'पञ्चय-निर्देश' (प्रत्यय निर्देश) है । इसमें उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवरण है, जिनके आधार पर धम्मों का उदय और अस्तंगमन सारे ग्रन्थ में दिखाया गया है । स्वामी संस्करण की पहली जिल्द में यह भूमिका-भाग ही आया है । मूल ग्रन्थ के उपर्युक्त ४ भागों में से प्रत्येक की विषय-प्रतिपादन शैली समान ही है । केवल प्रथम भाग के आधार पर शेष तीन में विषय-विवरण संक्षिप्त अवश्य दिया गया है । स्वामी संस्करण की २, ३, ४, और ५ जिल्दों में केवल प्रथम भाग आया है । शेष तीन भाग छठी जिल्द में हैं । प्रथम भाग की अध्याय-संख्या इस प्रकार है— $22 + 49 + 132 + 94 + 42 + 40 = 320$  । इससे पट्टान के बृहत् आकार को कुछ कल्पना की जा सकती है ।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययन-क्रम से २४ प्रत्ययों का संबंध धम्मों के साथ दिखाया है । प्रत्येक भाग में यह अध्ययन-क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त किया गया है । इसका अर्थ यह है कि इन चार भागों में से प्रत्येक छह-छह उपविभागों में और भी बटा हुआ है, जैसे कि

(१) तिक-पट्टान—धम्मसंगणि में प्रयुक्त २२ त्रिकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध-निरूपण ।

(२) दुक-पट्टान—धम्मसंगणि में प्रयुक्त १०० द्विकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध निरूपण ।

(३) दुक-तिक-पट्टान—उपर्युक्त १०० द्विकों और २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

(४) तिक-दुक-पट्टान—उपर्युक्त २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

(५) तिक-तिक-पट्टान—परस्पर मिश्रित २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

(६) दुक-दुक-पट्टान—परस्पर मिश्रित १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

इस प्रकार संपूर्ण महाग्रन्थ चौबीस भागों में बटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्टान' कहलाता है । इसीलिए 'पट्टान' को अट्ठकथा में कहा गया है—चतुर्वीसति-समन्त-पट्टान-समोधान-पट्टान-महाप्रकरणं नामाति । अर्थात् 'पट्टान' महाप्रकरण में कुल मिलाकर २४ 'पट्टान' या प्रत्यय-स्थान है ।

'पट्टान' के दीर्घ आकार को देखते हुए उसके विषय या शैली का लघु से लघु संक्षेप देना भी कितना कठिन है, यह आसानी से समझा जा सकता है । किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उसकी भूमिका (पञ्चय-निर्देश) में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवेचन है, जिसके आधार पर संपूर्ण ग्रन्थ में प्रतीत्य समुत्पाद को समझाया गया है । प्रत्यय-दर्शन का विवेचन पट्टान की एक मुख्य विशेषता है । जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने कहा है, संपूर्ण अभिधम्म दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के लिये वह एक महत्व पूर्ण रचनात्मक दान है ।<sup>१</sup> हमारा उद्देश्य वहाँ इन २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण देना ही है । इनके नाम इस प्रकार हैं—

- |                     |                        |
|---------------------|------------------------|
| १. हेतु-प्रत्यय     | ८. निःश्रय-प्रत्यय     |
| २. आलम्बन-प्रत्यय   | ९. उपनिःश्रय-प्रत्यय   |
| ३. अधिपति-प्रत्यय   | १०. पूर्वजात-प्रत्यय   |
| ४. अनन्तर-प्रत्यय   | ११. पश्चात्जात-प्रत्यय |
| ५. समतन्तर-प्रत्यय  | १२. आसेवन-प्रत्यय      |
| ६. सहजात-प्रत्यय    | १३. कर्म-प्रत्यय       |
| ७. अन्योत्थ-प्रत्यय | १४. विपाक-प्रत्यय      |

१. देखिये तिक-पट्टान, प्रथम भाग (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी से प्रकाशित, लन्दन १९२१-२३) पृष्ठ ५ (भूमिका) एवं तिक-पट्टान, द्वितीय भाग की सम्पादकीय टिप्पणी ।

|                         |                                |
|-------------------------|--------------------------------|
| १५. आहार-प्रत्यय        | २०. विप्रयुक्त-प्रत्यय         |
| १६. इन्द्रिय-प्रत्यय    | २१. अस्ति-प्रत्यय              |
| १७. ध्यान-प्रत्यय       | २२. नास्ति-प्रत्यय             |
| १८. मार्ग-प्रत्यय       | २३. विगत-प्रत्यय               |
| १९. सम्प्रयुक्त-प्रत्यय | २४. अविगत-प्रत्यय <sup>१</sup> |

प्रत्येक प्रत्यय का क्या अर्थ है और किस प्रकार उसका आशय लेकर किसी एक धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध किसी दूसरे धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध-पर आधारित है, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक होगा ।

१. हेतु-प्रत्यय (हेतु पच्चयो)—हेतु का अर्थ है मूल कारण या आधार । अभिधम्म-दर्शन में लोभ, द्वेष, मोह एवं उनके विपक्षी अलोभ, अद्वेष और अमोह को मूल कारण या हेतु कहा गया है । इनमें से पहले तीन कर्म-विपाक को दृष्टि से अकुशल हैं और बाद के तीन कुशल हैं । और कहीं कहीं (जैसे कि अहेतु के संबंध में) अव्याकृत अर्थात् अनिरुक्त (नितान्त स्वाभाविक या कर्म-विपाक उत्पन्न करने में निष्क्रिय) भी । जितनी भी कुशल या अकुशल अवस्थाएँ मानसिक या भौतिक जगत् में हो सकती हैं, उनके मूल आधार या हेतु क्रमशः उपर्युक्त कुशल या अकुशल धम्म ही हैं । इन मूल आधारों या हेतुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ही अनिवार्यतः सब कुशल और अकुशल धम्मों की उपस्थिति या अनुपस्थिति निर्भर है । पट्ठान की भाषा में, "हेतुओं से संप्रयुक्त धम्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत् की सारी अवस्थाएँ, हेतुओं पर हेतु-प्रत्यय के रूप में अवलम्बित हैं ।" उत्पन्न होनेवाली वस्तु (पच्चयुपपन्न—प्रत्ययोत्पन्न) तो यहाँ धम्म और भौतिक जगत् की अवस्थाएँ हैं । जिनसे

१. इन चौबीस प्रत्ययों में अनेक एक दूसरे में सम्मिलित हैं । अभिधम्मस्यसंग्रह में इनको चार मुख्य भागों में विभक्त कर दिया गया है, यथा आलम्बन, उपनिःश्रय, कर्म और अस्ति । आरम्भणूपनिस्सयकम्मत्थिपञ्चयेत्तु च सव्वेपि पच्चया समोधानं गच्छन्ति । पृष्ठ १५१ (धम्मोदन्द कोसम्बो का संस्करण, नवनीत टोका सहित )

वे उत्पन्न होती हैं (पञ्चय-धम्म) वे 'हेतु' या कुशलादि मूल धम्म हैं। जिन प्रत्यय (पञ्चय) से वे पैदा होती हैं, वह हेतु-प्रत्यय (हेतु-पञ्चय) है। शेष प्रत्ययों में भी क्रमानुसार हम इन तीन बातों का उल्लेख करेंगे तथा (१) उत्पन्न होने वाली वस्तु (पञ्चयुत्पन्न) क्या है ? (२) जिस वस्तु से वह उत्पन्न होती है (पञ्चय-धम्म) वह क्या है ? (३) प्रत्यय क्या है ?

२. आलम्बन प्रत्यय (आरम्भण पञ्चयो)—आलम्बन का अर्थ है विषय या आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है तो उस दूसरी वस्तु के प्रति पहली वस्तु का संबंध आलम्बन प्रत्यय का होता है। उदाहरणतः चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूप-आयतन पर आधारित है। अतः रूप-आयतन आलम्बन है चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का। दूसरे शब्दों में, रूप आयतन आलम्बन-प्रत्यय के रूप में चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का प्रत्यय है। इसी प्रकार शब्दायतन, गन्धा-यतन, रसायतन और स्पृष्टव्यायतन क्रमशः श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और उनसे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) मिलकर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के तथा सब धर्म मिलकर मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। संक्षेप में, जो जो धर्म चित्त और चेतसिक धर्मों के आलम्बन हैं, वे सभी उनके प्रति आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। यहाँ (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिह्वा और (५) काय-संबंधी विज्ञान एवं उनसे संयुक्त धर्म तथा (६) मनोधातु और (७) मनो-विज्ञान-धातु और इनसे संयुक्त धर्म 'पञ्चयुत्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं। इनके 'पञ्चय-धम्म' अर्थात् वे वस्तुएँ जिनसे ये प्रत्ययों के आधार पर उत्पन्न होती हैं, क्रमशः ये हैं (१) रूप (२) शब्द (३) गन्ध (४) रस और (५) स्पृष्टव्य संबंधी आयतन और इनसे संयुक्त धर्म तथा (६) इन पाँचों आयतनों का सम्मिलित रूप और (७) संपूर्ण धर्म। जिस प्रत्यय के आधार पर यह उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन-प्रत्यय (आरम्भण-पञ्चयो) है।



३. अधिपति-प्रत्यय (अधिपति पञ्चमो)—किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इन चार पदार्थों यथा (१) इच्छा (छन्द) (२) उद्योग (विरिय) (३) चित्त और (४) मीमांसा (वीमंसा) की सहायता की अधिकता होती है तो इन चार धर्मों में से जिस किसी की अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपति-प्रत्यय के संबंध से संबंधित होता है। उदाहरणतः, जो धर्म इच्छा (छन्द) से संयुक्त है या उससे उद्भूत है, वह इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति) के साथ अधिपति-संबंध से संबंधित है। इसी प्रकार वीर्य, चित्त और मीमांसा अधिपतियों से जो धर्म संयुक्त हैं, वे क्रमशः इनके साथ अधिपति-संबंध से संबंधित हैं। यहाँ इच्छा, वीर्य, चित्त और मीमांसा से संयुक्त धर्म, उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ 'पञ्चयुष्मन्' हैं। क्रमशः इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति), वीर्याधिपति (विरियाधिपति), चित्ताधिपति, और मीमांसाधिपति (वीमंसाधिपति) इनके 'पञ्चय-धम्म' हैं अर्थात् ये वे वस्तुएँ हैं जिनसे उपर्युक्त धर्म उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय-अधिपति प्रत्यय हैं।

४. अनन्तर-प्रत्यय (अनन्तर पञ्चमो)—यदि कोई वस्तु अपने ठीक पीछे होने वाली वस्तु की उत्पत्ति में सहायक होती है, तो वह उसके साथ अनन्तर प्रत्यय के संबंध से संबंधित होती है। 'पट्ठान' में कहा गया है 'येसं येसं धम्मानं अनन्तरा ये ये धम्मा तेसं धम्मानं अनन्तरपञ्चयेन पञ्चमो' अर्थात् जिन जिन धर्मों के अनन्तर जो जो धर्म होते हैं, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। उदाहरणतः, पाँच विज्ञान-धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय सबंधी विज्ञान-धातुओं) और उनसे संयुक्त धर्मों के अनन्तर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति होती है। अतः पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्म मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के लिये, कुशल-धर्म, कुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए और अकुशल धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए, अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। यहाँ मनो-धातु, मनो-विज्ञान-धातु, कुशल और अव्याकृत धर्म, अकुशल और अव्याकृत

धर्म तथा इनमें संयुक्त धर्म 'पञ्चयुष्पन्न' अर्थात् प्रलयियों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। जिन धर्मों से इनकी उत्पत्ति होती है, वे हैं क्रमशः (१) पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म (२) मनो-धातु और उनसे संयुक्त धर्म (३) कुशल-धर्म (४) अकुशल-धर्म। अतः ये प्रत्यय-धर्म हैं। जिस प्रत्यय के कारण उनकी उत्पत्ति होती है, वह है अनन्तर-प्रत्यय।

५. समनन्तर-प्रत्यय (समनन्तर पञ्चयो)—विलकुल अनन्तर-प्रत्यय के समान।

६. सहजात-प्रत्यय—(सहजात पञ्चयो)—जब कोई धर्म किन्हीं अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं तो उनके बीच सहजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान एक दूसरे के साथ सहजात-प्रत्यय के रूप में सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

७. अन्योन्य-प्रत्यय—(अञ्जामञ्ज पञ्चयो)—एक दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होने वाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा आपस में सम्बन्धित होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण ही दिया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान आपस में एक दूसरे के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं।

८. निःश्रय-प्रत्यय—(निस्तय पञ्चयो)—निःश्रय का अर्थ है आधार। पृथ्वी वृक्ष का निःश्रय है। इसी प्रकार जिन धर्मों की उत्पत्ति जिन धर्मों के आधार पर होती है, उनके प्रति उनका निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः चक्षु-आयतन, श्रोत्र-आयतन, घ्राण-आयतन, जिह्वा-आयतन और काय-आयतन के आधार पर ही क्रमशः चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान और काय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उनके बीच निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

९. उपनिःश्रय-प्रत्यय—(उपनिस्तय पञ्चयो)—उपनिःश्रय का अर्थ है बलवान् आधार। कुशल-धर्मों के दुःख आधार पूर्वगामी कुशल-धर्म ही होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध उपनिःश्रय-प्रत्यय का है। अन्य अनेक उदाहरण भी मूल पालि में दिये हुए हैं।

१०. पुरेजात-प्रत्यय—(पुरेजात पञ्चयो)—जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो तो उनके बीच पुरेजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

उदाहरणतः, चक्षु-विज्ञान-धातु आदि की उत्पत्ति से पहले चक्षु-आपत्तन आदि की उत्पत्ति हो चुकी होती है। अतः उसके प्रति वह पुरेजात-प्रत्यय से सम्बन्धित है।

११. पश्चात्-जात-प्रत्यय—(पच्छाजात पञ्चयो)—शरीर की उत्पत्ति पहले हो जाती है। उसके बाद उसमें चित्त और भैतनिक पैदा होते हैं। अतः दोनों के बीच का सम्बन्ध पश्चात्-जात-प्रत्यय का है।

१२. आसेवन-प्रत्यय—(आसेवन पञ्चयो)—आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। किसी धर्म का बार बार अभ्यास जिस किसी दूसरे धर्म को जन्म देने का कारण बनता है, तो उसके साथ उसका आसेवन प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, प्रत्येक कुशल-धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के आसेवन या सतत अभ्यास से होती है। अतः दोनों के बीच आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१३. कर्म-प्रत्यय—(कम्म-पञ्चयो)—किसी भी कर्म-विपाक के पूर्व-गामी कुशल या अकुशल धर्म होते हैं, अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्म-प्रत्यय का होता है।

१४. विपाक-प्रत्यय—(विपाक पञ्चयो)—वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन चार स्कन्धों की उत्पत्ति पूर्व के वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों के विपाक-स्वरूप होती है, अतः इनके बीच विपाक-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१५. आहार-प्रत्यय—(आहार पञ्चयो)—भोजन से यह हमारा शरीर बनता है। अतः शरीर का भोजन के प्रति आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१६. इन्द्रिय-प्रत्यय—(इन्द्रिय पञ्चयो)—चक्षु-विज्ञान आदि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रिय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१७. ध्यान-प्रत्यय—(भान पञ्चयो)—ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं (धर्मों) की उत्पत्ति ध्यान के अंगों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यान-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१८. मार्ग-प्रत्यय—(मग्ग पञ्चयो)—उपर्युक्त के समान मार्ग से संयुक्त

अवस्थाओं की भी उत्पत्ति मार्ग के अंगों के प्रत्यय से है, अतः उनके बीच मार्ग-प्रत्यय का सम्बन्ध है ।

१९. संयुक्त-प्रत्यय—(सम्भूत-पञ्चयो)—पूर्वोक्त के समान ही संज्ञा वेदना, आदि से संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति क्रमशः संज्ञा, वेदना आदि के अंगों के प्रत्यय से ही है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध संयुक्त-प्रत्यय का ही है ।

२०. विद्युक्त-प्रत्यय—(विण्युक्त-पञ्चयो)—भौतिक धर्म मानसिक धर्मों के साथ और मानसिक धर्म भौतिक धर्मों के साथ विण्युक्त-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित है, क्योंकि दोनों का स्वभाव एक दूसरे से विद्युक्त रहने का है ।

२१. अस्ति-प्रत्यय—(अस्ति पञ्चयो)—जिस धर्म की उपस्थिति या विद्यमानता पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है तो दोनों के बीच अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है, यथा सम्पूर्ण भौतिक विकारों की उत्पत्ति के लिये चार महाभूतों की उपस्थिति, अनिवार्यतः आवश्यक है, अतः चार महाभूतों के साथ अस्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध के द्वारा सम्पूर्ण भौतिक विकार सम्बन्धित हैं ।

२२. नास्ति-प्रत्यय—(नस्ति पञ्चयो)—अपनी अनुपस्थिति या अविद्यमानता से ही जो कोई धर्म किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो तो वह उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है । जो चित्त और चेतसिक अभी निरुद्ध हो चुके हैं, वे अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चेतसिक धर्मों के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं ।

२३. विगत-प्रत्यय—(विगत पञ्चयो)—उपर्युक्त (२२) के समान ।

२४. अविगत-प्रत्यय—(अविगत-पञ्चयो)—उपर्युक्त (२१) के समान ।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के विषय और शैली का संक्षिप्त विवरण दिया गया है । सुत्तन्त में निहित बृद्ध-वचनों के प्रति उनका वही सम्बन्ध है, जो उत्तरकालीन वेदान्त-ग्रन्थों का उपनिषदों के प्रति । अन्तर्ज्ञान और अपरोक्ष-अनुभूति पर प्रतिष्ठित, जल और वायु के समान सब के लिये सुलभ, वृद्धों (जानियों) के वचन भी, पंडितवाद और शास्त्रीय विवेचनों के फन्दे में फँसकर कितने सूखे, आकर्षण-बिहीन और जन-साधारण के लिये कितने दुरुह हो जाते



हैं, इसके लिये अभिधम्म-पिटक के समान ही उत्तरकालीन वेदान्तियों एवं बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रज्ञान अच्छे उदाहरण हैं। चाहे नागार्जुन असंग, वसुवत्थु, दिङ्-नाग और धर्मकीर्ति हों, चाहे वात्स्यायन, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन और श्रीहर्ष हों, सब एक समान ही हैं। बूद्ध और उपनिषदों के ऋषियों की सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता एक में भी नहीं है। अभिधम्म-पिटक अति प्राचीन होते हुए भी बूद्ध-मन्तव्य को इसी ओर ले गया है। सन्तोष की बात यह है कि वहाँ बूद्ध के मौलिक सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है, संशोधन की तो कोई बात ही नहीं। अतः मूल बूद्ध-दर्शन को जानने के लिये उसका उपयोग बच रहता है। बूद्ध-मन्तव्य स्वयं एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि उसके कुछ विस्मयोंको खोलना है तो अभिधम्म-पिटक का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। यदि यह देखा है कि निरन्तर परिवर्तनशील, अनित्य, दुःख और अनात्म धर्मों (पदार्थों) के प्रवर्तमान रहने पर भी संसार के सर्व-ध्येष्ट साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिलाई है, नियामक को न मान कर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, ईश्वर-प्रणिधान न होने पर भी समाधि का विधान किस प्रकार किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस पर टिकाया है, 'अर्ता' (आत्मा) न होने पर भी पुनर्जन्म-वाद को किस पर अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय में मौन रखकर भी गम्भीर आश्वासन किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान् मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी दान का उसकी पूरी विभूति के साथ देखना है, तो अभिधम्म की अधियों में भ्रमण करना ही होगा। किन्तु बीसवीं सदी के मनुष्य के लिये, जो कामावचर-लोक (कामनाओं के लोक) की अभाव पूर्तिपथों के प्रयत्न में ही अभी संलग्न और सन्तुष्ट है, इतना अवकाश मिल सकेगा, यह कहना सन्देह से खाली नहीं है।

## छठा अध्याय

### पूर्व-बुद्धघोष-युग (१०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक)

तेपिटक बुद्ध-वचनों का अन्तिम संकलन तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व किया गया। तब से उनका रूप पूर्णतः निश्चित हो गया। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखीं। पालि-विपिटक के सुनिश्चित रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओं के रचना-काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिल्लिन्दपञ्च अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विवरण हम इस परिच्छेद में देंगे।

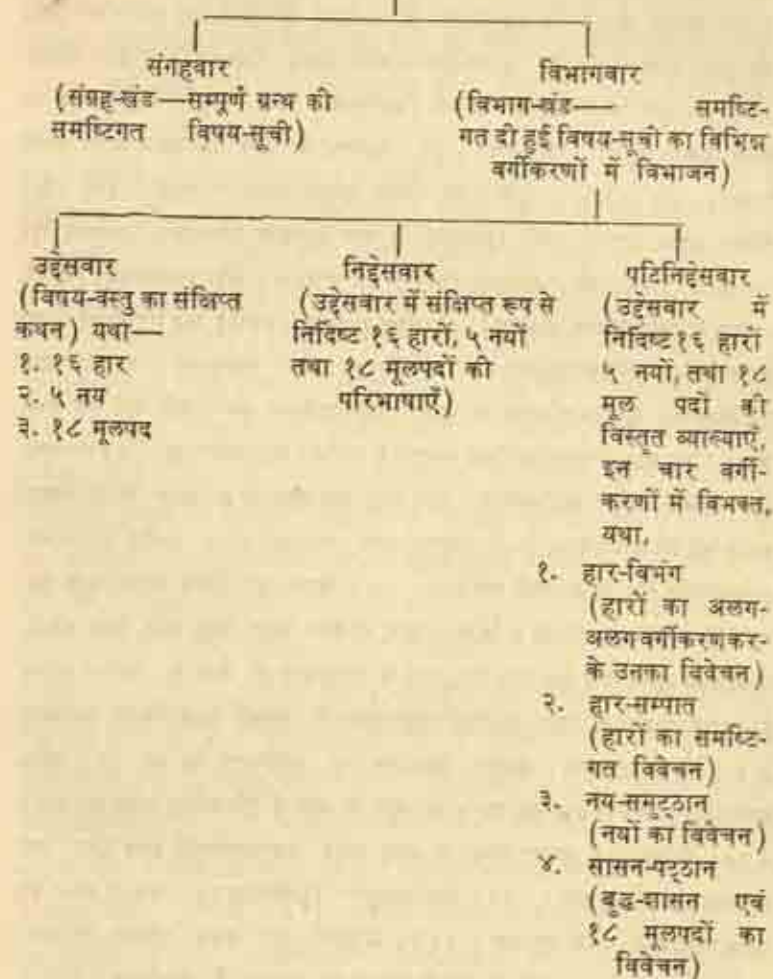
#### नेत्तिपकरण

‘नेत्तिपकरण’ का संक्षिप्त नाम ‘नेत्ति’ भी है। इसी को नेत्तिगन्ध’ (नेत्ति-ग्रन्थ) भी कहते हैं। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, ‘नेत्तिपकरण’ सद्धम्म की समझने के लिये नेतृत्व या मार्ग-दर्शन का काम करता है। ‘नेत्ति’ का अर्थ है मार्ग-दर्शिका। वास्तव में बुद्ध-वचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी हैं कि उनको समझने के लिये उनसे व्यतिरिक्त अन्य किसी सहायक की आवश्यकता नहीं। एकान्त-चिन्तन हो, बुद्ध-वचन हों, उनके बीच मध्यस्थता करने की किसी को आवश्यकता नहीं। किन्तु पंडितवाद बुद्ध-धर्म में भी चल पड़ा। सरल बुद्ध-उपदेशों का वर्गीकरण किया गया, उनके पाठ का नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बनाये गये, उनके मन्त्रव्यां को भिन्न भिन्न दृष्टियों से सूचीबद्ध किया गया, उनके शब्दों की व्याख्या और उनके तात्पर्य का निर्णय करने के लिये ग्रन्थ-रचना की गई। इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण हम अभिधम्म-पिटक में ही देखते हैं। उसी का प्रत्यावर्तन हमें ‘नेत्तिपकरण’ और ‘पेटकोपदेस’ जैसे ग्रन्थों में मिलता है। ‘नेत्तिपकरण’ का सम्बन्ध एक प्रकार से तेपिटक बुद्ध-वचनों से वही है जो यास्क-कृत निरुक्त का वेदों से। फिर भी निरुक्त की एक विशेष सापेक्षता भी है, क्योंकि आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व ही वेदों की भाषा इतनी प्राचीन हो चुकी थी और

उसमें रहस्यात्मक ज्ञान ('आचरिय-मुद्रिठ') भी इतना अधिक रक्खा हुआ बताया जाता था कि उसके उद्घाटन के लिये शब्द-व्युत्पत्ति-परक एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी भी। इसके विपरीत बुद्ध-वचनों की लोकोत्तर सरलता ने किसी भी व्युत्पत्ति-शास्त्र या निरुक्ति-शास्त्र की अपेक्षा प्रारम्भ से ही नहीं रखी। यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से जो अट्ट-क्याएँ भी लिखी गई, उन्होंने भी विशेषतः बुद्ध-वचनों की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को ही पूरा किया है, उत्तरकालीन संस्कृत भाष्यकारों या टीकाकारों की तरह शब्द-क्रीड़ाएँ नहीं कीं। फलतः बुद्ध-वचनों पर निरुक्ति-परक साहित्य पालि में अधिक नहीं पतप पाया। केवल 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' यही दो ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मिलते हैं और उन्होंने भी बुद्ध-वचनों की मौलिक सरलता को अधिक सरल बना दिया हो, या सद्धम्म को समझने वाले के लिये अधिक मार्ग प्रशस्त कर दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा अभी कहा गया, उनका उद्देश्य केवल त्रिपिटक के पाठ और उसके तात्पर्य-निर्णय-सम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन मात्र करना है।

'नेत्तिपकरण' की विषय-वस्तु और सैली बहुत कुछ अभिघम्म-पिटक से मिलती है। सुगमता के लिये उसे इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

## नेतिपकरण



इस तालिका से स्पष्ट है कि नेति-पकरण का विषय १६ हार (गुप्ते हुए विषयों की मालाएँ), ५ नय (तात्पर्य-निर्णय करने की युक्तियाँ) और १८ मूल पदों (मुख्य नैतिक विषयों) का विवेचन करना ही है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ इन तीनों वर्गीकरणों में निर्दिष्ट तत्त्वों का नाम-परिगणन मात्र कर देता ही



पर्याप्त होगा। नैतिककरण में विवेचित १६ हार ये हैं, (१) देसनाहार-इस हार में बताया गया है कि बुद्ध-देसना (धर्मोपदेश) की विधि छह प्रकार की होती थी (अ) घोल आदि का सुपरिणाम दिखाने वाली (अस्सादं) (आ) विषय-सोमो का दुष्परिणाम दिखाने वाली (आदिनवं), (इ) संसार से निवृत्तने का मार्ग दिखाने वाली (निस्सरणं), (ई) श्रामण्य के फल का वर्णन करने वाली (फलं), (उ) निर्वाण-प्राप्ति का उपाय बताने वाली (उपायं) और (ऊ) नैतिक उद्देश्य दिखाने वाली (आनत्तिं)। यहीं श्रुतमयी (सुतमयी—अनुश्रव पर आश्रित), चिन्तामयी—बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित और भावनामयी (पवित्र जीवन के विकास पर आश्रित), इन तीन प्रज्ञाओं (ज्ञानों) का भी निर्देश किया गया है। (२) विचय-हार या धर्म-चिन्तन और पर्यवेक्षण (३) युक्तिहार (युक्तिहार) अथवा युक्तियों के द्वारा धर्म-विश्लेषण कर उसके अर्थ को समझना, (४) पदट्ठानहार, मौलिक लक्षणों से पदों की व्याख्या करना, (५) लक्षण-हार, लक्षणों से अर्थ को समझना, यथा कहीं रूप शब्द के आ जाने से हो, वेदना आदि को भी समझना। (६) चतुब्बूह-हार (चतुर्व्यूह-हार) अर्थात् पाठ, शब्द, उद्देश्य और क्रम से अर्थ को समझना, (७) आवत्तहार, किस प्रकार बुद्ध-उप-देशों में सभी विषय किसी न किसी प्रकार अविद्या, चार आर्यं सत्य, आर्यं अष्टा-ंगिक मार्ग आदि जैसे मूल-भूत सिद्धान्तों में संनिविष्ट हो जाते हैं। वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय में जिसे 'अभ्यास' कहा गया है, उसकी इससे विशेष समानता है। (८) विभत्तिहार) अर्थात् विभाजन या वर्गीकरण का ढंग (९) परिवर्तन-हार) अथवा बुद्ध का अशुभ को शुभ के रूप में परिवर्तित करने का ढंग। (१०) वेवचन-हार अथवा शब्दों के अन्य अनेक समानार्थवाची शब्द देकर अर्थ को स्पष्ट करने का ढंग। (११) पञ्जात्तिहार (प्रज्ञप्तिहार)—एक ही धम्म को अनेक प्रकार से रखने का ढंग। (१२) ओत्तरण-हार अथवा इन्द्रिय, पटिच्च-समुत्पाद, पञ्च स्कन्ध आदि के रूप में सम्पूर्ण बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण। (१३) सोधन-हार, प्रश्नों को शुद्ध करने का ढंग, जिसे बुद्ध प्रयुक्त करते थे। (१४) अघिट्ठान-हार अथवा सत्य के आधार का निर्णय करना। (१५) पत्तिक्खान-हार अथवा हेतुओं और प्रत्ययों सम्बन्धी ज्ञान। यह 'हार' बिल्कुल अभिधम्म-पिटक, विशेषतः पट्ठान, का ही एक अंग जान पड़ता है। (१६) समारोपन-

हार अथवा चार प्रकार से बुद्ध का समझाने का ढंग, यथा (अ) मूल-भूत विचारों के द्वारा (आ) समानार्थवाची शब्दों के द्वारा (इ) चिन्तन के द्वारा (ई) अशुभ वृत्तियों के निरोध द्वारा । जिन पाँच नपों का विवेचन 'नेत्तिपकरण' में किया गया है, उनके नाम ये हैं (१) नन्दियावत्त (२) तीपुक्खल (३) सीहविकीलित (४) विसालोचन, तथा (५) अंकुस । १८ मूल-पद इस प्रकार हैं (१) तण्हा (तृष्णा), (२) अविज्जा, (अविद्या), (३) लोभ, (४) दोस (द्वेष), (५) मोह (६) सुभ सज्जा (शुभ-संज्ञा) (७) निच्च सज्जा (नित्यसंज्ञा), (८) अत्तसज्जा (आत्म संज्ञा), (९) सुक्ख-सज्जा (सुख-संज्ञा), तथा इन नौ के क्रमशः विपरीत यथा (१०) समथ (शमथ-आन्तरिक शान्ति) (११) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना), (१२) अ-लोभ (१३) अ-दोस (अ-द्वेष), (१४) अ-मोह (१५) असुभ सज्जा (अशुभ-संज्ञा) (१६) अनिच्च सज्जा (अनित्य-संज्ञा) (१७) अनत्त-सज्जा (अनात्म-संज्ञा), तथा (१८) दुक्ख-सज्जा (दुःख-संज्ञा) । विषय की दृष्टि से बुद्ध-उपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है, इसका भी निरूपण 'नेत्ति पकरण' में किया गया है । इस दृष्टि से विवेचन करते हुए उसने बुद्ध-वचनों को इन मुख्य सोलह भागों में बाँटा है, यथा (१) संकिलेस-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो चित्त-मलों (संकिलेस) का विवेचन करते हैं (२) वासना-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो वासना या तृष्णा का विवेचन करते हैं (३) निव्वेध-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो धर्म की तह का विवेचन करते हैं (४) असेख-भागिय, अर्थात् अर्हत्तों की अवस्था का विवेचन करने वाले (५) संकिलेस-भागिय तथा वासना-भागिय (६) संकिलेस-भागिय तथा निव्वेध-भागिय (७) संकिलेस-भागिय तथा असेख-भागिय (८) संकिलेस, असेख तथा निव्वेध-भागिय, (९) संकिलेस-वासना-निव्वेध-भागिय (१०) वासना-निव्वेध भागिय (११) तण्हासंकिलेस भागिय (१२) दिट्ठि-संकिलेस-भागिय (१३) दुच्चरित-संकिलेस-भागिय (१४) तण्हाबोदान-भागिय (तृष्णा की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) (१५) दिट्ठिबोदान भागिय (दृष्टि या मिथ्या मतवादों की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) तथा (१६) दुच्चरित-बोदान-भागिय अर्थात् दुराचरण की शुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन ।

ऊपर विषयों के अनुसार बुद्ध-वचनों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें पहले संक्षिप्त विवेचन कर के फिर उनमें निदिष्ट धर्मों को एक दूसरे से मिलाकर कर अन्य अनेक वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। संकिलेस, वासना, तण्हा और असेख के आधार पर ऐसे ही वर्गीकरण ऊपर किये गये हैं। निश्चयतः यह अभिधम्म की प्रणाली है। 'उद्देस' के बाद 'निद्देस' देने की अभिधम्म की निश्चित प्रणाली है, यह हम अभिधम्म-पिटक के विवेचन में देख चुके हैं। उसी का अनुवर्तन इस ग्रन्थ में किया गया है, जैसा उसकी ऊपर दी हुई विषय-तालिका से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सिद्धान्तों के विवेचन में भी अभिधम्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, परिक्रान्तार-हार के विवेचन में पट्ठान के हेतुओं और प्रत्ययों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। यहाँ 'नेत्ति' के लेखक ने उसे पूरी तरह न लेकर अपने निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन के अनुसार ही लिया है। इसीलिये 'हेतु' और 'प्रत्यय' का विभेद यहाँ इतना स्पष्ट नहीं हो पाया। लौकिक और अलौकिक का विभेद भी 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। यह भी अभिधम्म के प्रभाव का सूचक है। नेत्तिपकरण और अभिधम्म की ढाली के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक अर्थ क्या है? स्पष्टतः यही कि नेत्तिपकरण की रचना अभिधम्म-पिटक के बाद हुई। किन्तु श्रीमती रायस डेविड्स ने इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' कम से कम 'पट्ठान' से पूर्व की रचना है।<sup>१</sup> उनके इस मत का मुख्य आधार यही है कि नेत्तिपकरण में अभी हेतु और प्रत्यय का भेद उतना स्पष्ट नहीं हुआ है जितना 'पट्ठान' में। किन्तु क्या यह 'नेत्तिपकरण' के आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो सकता? क्या इस कारण नहीं हो सकता कि 'नेत्तिपकरण' के लेखक को यहाँ अभिधम्म की सूक्ष्मता में न जाकर केवल उसके निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन को ग्रहण करना था? अभिधम्म-पिटक के संकलन या प्रणयन के काल के सम्बन्ध में जो विवेचन हम पहले कर चुके हैं, उसकी पृष्ठभूमि में नेत्तिपकरण को उसके बाद

- 
१. जर्नेल ऑब रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १११-११२; चिटर-  
नित्त ने भी उनके इस साक्ष्य को स्वीकार किया है। देखिये उनका  
हिस्ट्री ऑब इंडियन लिटरेचर, जिल्ड दूसरी, पृष्ठ १८३



की रचना ही माना जा सकता है। ई० हाईने, जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन पालि टैक्स्ट सोसायटी के लिए किया है, आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' इसी सन् के आसपास की रचना है।<sup>१</sup> गायगर ने इस मत को स्वीकार किया है।<sup>२</sup> श्रीमती रायस डेविड्स के मत को अपेक्षा यही मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'गन्धर्वस' के वर्णनानुसार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता भगवान् बुद्ध के परम ऋद्धिमान् शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन (महाकात्यायन) ही थे।<sup>३</sup> स्वयं मज्झिम-निकाय के मच्चुपिडक-सुत्त (१।२।८) में महाकच्चान के अर्थ-विभाग की प्रशंसा की गई है "यह आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्बन्नाचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप से कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थ-विभाग करने में समर्थ है।" सम्भवतः इसी आधार पर 'नेत्तिपकरण' की गौरव देने के लिए उसे इन आर्य महाकात्यायन की रचना बतलाया गया है। किन्तु इन शास्त्रीय विवेचनों में पढ़ने की बुद्ध के उन प्रथम शिष्यों की आवश्यकता नहीं थी, यह निश्चित है। यह तो उत्तरकालीन वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रभाव का ही परिणाम था। जिस प्रकार कच्चान और मोगल्लान व्याकरणों का सम्बन्ध बुद्ध के प्रथम शिष्यों के साथ किया जाता है, उसी प्रकार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चान के विषय में भी हमें जानना चाहिए। वास्तव में 'नेत्तिपकरण' इसी सन् के आसपास की रचना है और उसके रचयिता कोई कच्चान नामक भिक्षु थे, जिनके विषय में अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है। पांचवीं शताब्दी ईसवी में धम्मपाल ने 'नेत्तिपकरण' पर 'नेत्तिपकरणस्स अत्थ संवण्णना' (नेत्तिपकरण का अर्थ-विवरण) नाम की एक अट्ठकथा भी लिखी, जिसका निबन्ध हम आगे के अध्याय में अट्ठकथा-साहित्य का विवरण देने समय करेंगे। बरमा और सिङ्गल की भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है, और इसके कई संस्करण भी निकले हैं।

१. नेत्तिपकरण (ई० हाईने द्वारा सम्पादित, लन्दन १९०२), पृष्ठ ८ (भूमिका)

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २६

३. पृष्ठ ४९



## पेटकोपदेस

'पेटकोपदेस' भी 'नेतिपकरण' के समान विषय-वस्तु वाली एक दूसरी रचना है। मेविल बोड ने हमें बताया है कि बरमा में इन दोनों ग्रन्थों का आदर त्रिपिटक के समान ही होता है।<sup>१</sup> 'पेटकोपदेस' का उद्देश्य त्रिपिटक के विद्याधियों को उसी प्रकार का उपदेश या शिक्षा देना है जैसा हम 'नेतिपकरण' में देख आये हैं। 'नेतिपकरण' की ही विषय-वस्तु को यहाँ एक दूसरे ढंग से उपन्यस्त कर विवेचित किया गया है। कहीं जो कुछ बातें 'नेतिपकरण' में दुरुह रह गई हैं, उनको यहाँ स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। 'पेटकोपदेस' की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यहाँ विषय का विन्यास प्रधानतः चार आर्य सत्त्यों की दृष्टि से किया गया है, जो बौद्ध-शासन के मूल उपादान हैं। 'पेटकोपदेस' के भी रचयिता 'नेतिपकरण' के लेखक महाकच्चान ही माने जाते हैं। अतः उनके काल और वृत्त के सम्बन्ध में भी वही जानना चाहिए, जो 'नेतिपकरण' के रचयिता के सम्बन्ध में।

## मिलिन्दपञ्च

'मिलिन्द पञ्च' 'मिलिन्द पञ्चो' या 'मिलिन्दपञ्चा' (क्योंकि इन तीनों प्रकार यह ग्रन्थ लिखा जाता है) \* इस युग की सब से अधिक प्रसिद्ध रचना है। सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में इस ग्रन्थ की समता अन्यकोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में त्रिपिटक के समान ही आदरणीय

१. दि. पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४

२. रोमन लिपि में सन् १८८० में ट्रैकनर का प्रसिद्ध संस्करण निकला था। आज तो नागरी लिपि में भी सौभाग्यवश इसके मूल पाठ और अनुवाद दोनों उपलब्ध हैं। मिलिन्द-पञ्चो: आर. डी. वदेकर द्वारा सम्पादित, बम्बई विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०; भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनुवादित, प्रकाशक भिक्षु उ० कितिमा, सारनाथ, बनारस, १९३७। इस ग्रंथ के स्वामी, सिंहली तथा बरमी अनेक संस्करण उपलब्ध हैं।

३. सिंहल में तो विशेषतः मिलिन्दपञ्चो ही कहा जाता है। हिन्दी में 'मिलिन्द-प्रश्न' के आधार पर 'मिलिन्दपञ्च' ही कहना हमने अधिक उचित समझा है।

मानते हुए उद्धृत किया है,<sup>१</sup> यह उसकी महत्ता का सर्वोत्तम सूचक है। साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से 'मिलिन्द पञ्च' स्थविरवाद बौद्ध धर्म का एक बड़ा गौरव है। पाश्चात्य विद्वान् तक उसके इस गौरव पर इतने अधिक मूग्ध हुए हैं कि उन्हें इस में ग्रीक प्रभाव और विशेषतः अफलातून के संवादों की गन्ध आने लगी है! 'मिलिन्द पञ्च' (मिलिन्द प्रश्न) जैसा उसके नाम से स्पष्ट है 'मिलिन्द' के 'प्रश्नों' के विवरण के रूप में लिखा गया है। 'मिलिन्द' शब्द ग्रीक 'मेनान्डर' नाम का भारतीयकरण है। मेनान्डर के प्रश्नों का विवरण मात्र इस ग्रन्थ में नहीं है। मेनान्डर के प्रश्नों का समाधान इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। यह समाधान भदन्त नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने किया। अतः मेनान्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। मेनान्डर या मिलिन्द और भदन्त नागसेन का यह संवाद ऐतिहासिक तथ्य था, इसके लिए प्रभूत इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है। 'मिलिन्द पञ्च' में ही मिलिन्द को यवनक (ग्रीस) - प्रदेश का राजा कहा गया है ('योनकानं राजा मिलिन्दो') और उसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) को बतलाया गया है। हम जानते हैं कि दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भारत का उत्तर-पच्छिमी भाग ग्रीक शासकों के हाथ में चला गया था। ग्रीक शासक मेनान्डर या मेनान्ड्रोस ही 'मिलिन्द पञ्च' का 'मिलिन्द' है, यह इतिहासवेत्ताओं का निश्चित मत है। किन्तु इस मेनान्ड्रोस के शासन-काल की निश्चित तिथि क्या है, इसके विषय में अभी एक मत नहीं हो सका है। स्मिथ के अनुसार १५५ ई० पूर्व मेनान्डर ने भारत पर आक्रमण किया।<sup>२</sup> राय चौधरी<sup>३</sup> तथा बार्नेट<sup>४</sup> के मतानुसार मेनान्डर का

१. अद्वैतसालिनी, पृष्ठ ११२, ११४, ११९, १२०, १२२, १४२ (पालि टेक्स्ट सोसायटी का संस्करण) में बृहघोष ने 'आयुष्मान् नागसेन' (आयस्मान् नागसेन) 'नागसेन स्थविर' (नागसेन थेर) 'आयुष्मान् नागसेन स्थविर' (आयस्मान् नागसेन थेर) आदि कह कर मिलिन्द-पञ्च के लेखक को स्मरण किया है।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, पृष्ठ २२७, २३९, २५८

३. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एशियायन्ट इंडिया, १९२३, पृष्ठ २०४

४. कलकत्ता रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २५०

शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि ९० वर्ष ईसवी पूर्व से पहले मेनाण्डर का समय नहीं हो सकता।<sup>१</sup> अधिकतर विद्वानों की आज मान्यता है कि मेनाण्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। अतः अपने मूल रूप में 'मिलिन्द पञ्च' इसी समय लिखा गया, यह निश्चित है। चूँकि ग्रीक-शासन मेनाण्डर के बाद शीघ्र भारत में ख़ुप्त हो गया था और उसकी कोई स्थायी स्मृति भारतीय इतिहास में अंकित नहीं है, अतः यदि 'मिलिन्द पञ्च' की रचना को मिलिन्द और नागसेन के संवाद के आधार पर एक बाद के युग में लिखी हुई भी मानें तो भी वह युग बहुत बाद का नहीं हो सकता। हर हालत में 'मिलिन्द पञ्च' की रचना ईसवी सन् के पहले ही हो गई थी<sup>२</sup>, और उसका आधार था ग्रीक राजा मेनाण्डर और भदन्त नागसेन का ऐतिहासिक संवाद। 'मिलिन्द पञ्च' की इस विषयक ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए एक और दृढ़तर साक्ष्य भी विद्यमान है। भारत के करीब २२ स्थानों में (विशेषतः मथुरा में) ग्रीक राजा मेनाण्डर के सिक्के मिले हैं, जिन पर खुदा हुआ है "बेसिलियस मेटिरस मेनण्ड्रोस"। एक आश्चर्य की बात यह है कि इन सिक्कों पर धर्म-चक्र का निशान बना हुआ है, जो उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का पक्का प्रमाण देता है। 'मिलिन्द पञ्च' में भी हम पढ़ते हैं कि भदन्त नागसेन के उत्तरी से सन्तुष्ट हो कर राजा मिलिन्द उनसे अपने को उपासक (बौद्ध गृहस्थ-शिष्य) के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है "उपासकं मं भन्ते नागसेन सारत्थ"।<sup>३</sup> बाद में हम वही यह भी देखते हैं कि राजा

१. विटरनिटज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७४, पद-संकेत ३ में उद्धृत
२. मिलाइये रायस डेविड्स-क्विशन्स ऑफ किंग मिलिन्द (मिलिन्द प्रश्न का अंग्रेजी अनुवाद), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ ४५ (भूमिका); विटरनिटज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५
३. पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

मिलिन्द ने बाद में अपने राज्य को अपने पुत्र को देकर प्रज्या ग्रहण कर ली और विवशना-ज्ञान की वृद्धि करते हुए उसने अहंस्व प्राप्त किया।<sup>१</sup> ग्रीक इतिहास-लेखक प्लूटार्क का कहना है कि मेनान्दर के मरने के बाद अनेक भारतीय नगरों में उसकी अस्त्रियों के ऊपर समाधियाँ बनाई गईं। स्पष्टतः यह मेनान्दर के बौद्ध होने का साक्ष्य देता है और 'मिलिन्द पञ्च' के वर्णनका समर्थन करता है। भगवान् बुद्ध (महापरिनिर्वाण सूत) और अनेक अर्हत्तों की अस्त्रियों पर ऐसा ही हुआ था। आचार्य बुद्धघोष के परिनिर्वाण पर इसी प्रकार का वर्णन 'बुद्धघोसुप्पत्ति' पृष्ठ ६६ (जैम्स ग्रैन्डारा सम्पादित) में मिलता है। अतः पूर्वोक्त विवरण, प्लूटार्क का साक्ष्य और सब से अधिक राजा मेनान्दर को सिक्कों पर धर्म-चक्र के चिह्न का पाया जाना, इन सब बातों के प्रकाश में हम 'मिलिन्द पञ्च' के इस साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मेनान्दर बौद्ध हो गया था। इतने ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया कि मेनान्दर बौद्ध हो गया था।<sup>२</sup> सम्भवतः पाश्चात्य संस्कृति की गौरव-रक्षा के अन्तर्हित भाव ने ही उन्हें इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से उन्मुख या उदासीन रक्खा है। ग्रीक राजा मेनान्दर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में 'मिलिन्द पञ्च' का लिखा जाता एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह किसके द्वारा लिखा गया, किस रूप में लिखा गया, बाद में उसमें क्या परिवर्तन या परिवर्द्धन किए गए, आदि समस्याएँ बाकी ही बच रहती हैं। इन समस्याओं पर आगे से पूर्व हमें इतना तो

१. पुत्तस्स रज्जं निध्यादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पव्वजित्वा विप्पस्सन् वड्ढेत्वा अरहत्तं पाप्पणीति । पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
२. मिलाइये रायस डेविट्स : मिलिन्द पञ्च का अंग्रेजी अनुवाद (क्विन्स ऑव किंग मिलिन्द), भाग प्रथम (सेफ्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ १९ (भूमिका); स्मिथ : अली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १८७, २२६; गायगरः पालि लिटरेचर एंड लेखेज, पृष्ठ २७; ये विद्वान् इतना तक तो स्वीकार करते हैं कि बौद्धों से उसकी सहानुभूति थी। इससे कुछ अधिक विंटरनिट्ज ने इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५, पद-संकेत १ में कहा है। परन्तु स्पष्ट साहस तो सत्य बात कहने का वह भी नहीं कर सके।



निश्चयपूर्वक समझ ही लेना चाहिए कि मूल रूप में 'मिलिन्द पञ्च' का प्रणयन, उत्तर-पश्चिमी भारत में, द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व हुए, भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मेनान्डर के संवाद के आधार पर, उसी समय या कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के निकट, बौद्ध धर्म सम्बन्धी शंकाओं के निवारणार्थ हुआ। उसके रचयिता भी भदन्त नागसेन ही माने जा सकते हैं। महा-स्वविर बुद्ध धोषाचार्य की भी यही मान्यता थी। ग्रन्थ के नायक होने के साथ-साथ उनके इस ग्रन्थ के रचयिता होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी निर्वैयक्तिकता भारतीय साहित्य में अनेक बार देखी जाती है। कम से कम श्रीमती रायस डेविड्स ने जो 'मिलिन्द पञ्च' के रचयिता का नाम 'माणव' बतलाया है<sup>१</sup>, उसके लिए तो कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता और उसे उनकी कल्पना से प्रसूत ही समझना चाहिए।

अक्सर (विशेषतः पश्चिमी विद्वानों द्वारा) यह कहा जाता है कि 'मिलिन्द पञ्च' एक इकाई-बद्ध रचना नहीं है और उसका प्रणयन भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न युगों में आते हैं। परिच्छेदों की एक-दूसरे से भिन्नरूपता एवं शैली और विषय-वस्तु की भी विभिन्नता के कारण यह मान लिया गया है कि मौलिक रूप में ग्रन्थ बहुत छोटा होगा, सम्भवतः वह मिलिन्द और नागसेन के संवाद के संक्षिप्त विवरण के रूप में था, और बाद में स्वविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से जो विषय महत्वपूर्ण थे उनको प्राचीन नमूनों के आधार पर इसमें जोड़ा जाता रहा। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप इसी परिवर्द्धन का परिणाम है। 'मिलिन्द पञ्च' के अनेकरूपतामय आन्तरिक साध्य के अलावा एक और प्रभावशाली बाह्य साध्य इस मत के प्रतिपादन में दिया गया है कि प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्च' एक मौलिक रचना न होकर अनेक परिवर्द्धनों का परिणाम है अथवा स्वयं मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ का पालि रूपान्तर है। वह है इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद, जो सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच किया गया। पालि 'मिलिन्द पञ्च' में ७ अध्याय हैं, यथा (१) बाहिर कथा, (२) लक्षण पञ्चो, (३) विमतिच्छेदन पञ्चो, (४) मण्डक पञ्चो, (५) अनुमान पञ्चो, (६) घुतंग कथा, तथा (७)

ओपम्मकवापण्हं। उपर्युक्त चीनी अनुवाद में, जिसका नाम वहाँ 'नागसेन सूत्र' दिया गया है, चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक नहीं है। इससे स्वाभाविक तौर पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मिलिन्द पञ्च' के पहले तीन अध्याय जो ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप के परिचायक हैं और बाकी बाद के परिवर्द्धन मात्र हैं। सेना और बायं आदि अनेक विद्वानों के अलावा गायगर<sup>१</sup> और विटरनिज<sup>२</sup> भी इसी मत के मानने वाले हैं। उन्होंने इसी के समर्थन में अन्य कारण भी दिये हैं। एक सब से बड़ा कारण तो यही है कि हमारे प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्च' में ही तृतीय अध्याय के अन्त में लिखा है "मिलिन्दस्स पञ्चानं पृच्छाविस्सज्जना निदिट्ठा अर्थात् "मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए।" इतना ही नहीं आगे चौथे अध्याय के प्रारम्भ में जो गाथाएँ आती हैं, वे एक नये ही प्रकार से विषय की प्रस्तावना करती हैं। "वक्ता, तर्कप्रिय, अत्यन्त बुद्धि-विशारद (राजा) मिलिन्द ज्ञान-विवेचन के लिए नागसेन के पास आया।"<sup>३</sup> जब पहले मिलिन्द के प्रश्न समाप्त हो कर दिये गए तो फिर इस प्रकार विषय का दुबारा अवतरण करने की क्या आवश्यकता थी? निश्चय ही निष्पक्ष समालोचक को इस चौथे अध्याय के बाद के भाग की मौलिकता और प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि आचार्य बृद्धघोष ने भी 'मिलिन्द पञ्च' के जिन अवतरणों को उद्धृत किया है वे प्रायः प्रथम तीन अध्यायों से ही हैं। अतः उन्हीं को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है। जहाँ तक इन प्रथम तीन अध्यायों की भी प्रामाणिकता का सवाल है, उनके विषय में भी कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। स्वयं विटरनिज ने प्रथम अध्याय के कुछ अंशों को मौलिक नहीं माना है। उनके मतानुसार ग्रन्थ की मौलिक प्रस्तावना अपेक्षाकृत कुछ छोटी थी।<sup>४</sup> गायगर भी इस मत में उनके साथ सहमत हैं।<sup>५</sup> इसी प्रकार तृतीय अध्याय (विमतिच्छेदन पञ्चो) में भी निरन्तर परिवर्द्धनों की सम्भावना स्वीकार की गई है। इस परिच्छेद

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २७

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिचरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६-१७७

३. भस्मप्यवेदो वेतंडी अतिबुद्धिचिञ्जणो। मिलिन्दो ज्ञानभेदाय नागसेनमुपागमि॥

४. ५. ऊपर उद्धृत कमरा: २ एवं १ पद-संकेतों के समान

में मिलिन्द के सन्दर्भों का निवारण किया गया है । जो-जो सन्देह स्थविरेन्द्राद बौद्ध-धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते थे उन सब का समाधान-सहित समावेश इस परिच्छेद में कर दिया गया है, ऐसा इन विद्वानों ने मान लिया है । गावे और श्रेडर ने तो इस पूरे अध्याय तक को बाद की जोड़ा हुआ मान लिया है,<sup>१</sup> जो ठीक नहीं है । पालि 'मिलिन्द पञ्च' और चीनी भाषा में प्राप्त 'नागसेन-सूत्र' में विभिन्नता होने के आधार पर तथा अन्य उपर्युक्त आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह मान लिया गया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्च' के अध्याय ४ से लेकर ७ तक बाद के परिवर्द्धन है । एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि 'मिलिन्द पञ्च' के प्रारम्भिक काल से ही अनेक संस्करण या पाठ-भेद थे । जर्मन विद्वान् श्रेडर ने उसके सात पाठ-भेदों का उल्लेख किया है । निश्चय ही ये सब बातें कल्पना पर आश्रित हैं और केवल चीनी अनुवाद से पालि 'मिलिन्द पञ्च' की विभिन्नता के आधार पर निकाले हुए अनुमान मात्र हैं । यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि 'मिलिन्द पञ्च' के प्रश्न को लेकर डा० गायगर जैसे विद्वान् को भी भ्रम में पड़ जाना पड़ा है । उन्होंने यह मान लिया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्च' मौलिक रूप से संस्कृत में लिखा गया था और इसी मनु के करीब उसका अनुवाद पालि में किया गया । उन्होंने यह भी मान लिया है कि यह अनुवाद लंका में किया गया और प्राचीन नमूनों के आधार पर उसमें अनेक परिवर्द्धन भी कर दिये गए, यथा पूरण कत्सप, मक्खलि गोसाल आदि की कयाएँ दीव-निकाय के सामञ्जस्य-सुत्त के आधार पर और रोहण और नागसेन के सम्बन्ध की कथा महावंस ५।१३१ में निर्दिष्ट सिग्गव और तिस्स की कथा के आधार पर जोड़ दी गई ।<sup>२</sup> परिवर्द्धनों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी (यद्यपि पूरण कत्सप और मक्खलि गोसाल आदि की 'मिलिन्द-पञ्च' में व्यक्तियों का बाचक न समझकर उनके सम्प्रदाय के आचार्यों या पदों का सूचक मान कर उन सम्बन्धी विवरणों को बाद का परिवर्द्धन मानने की भी अपेक्षा नहीं) 'मिलिन्द पञ्च' का मौलिक संस्कृत से लंका में पालि में रूपान्तरित किया

१. देविये विदरनिस्स : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७, पद-संकेत २

२. पालि लिटरेचर एंड सेंजेज, पृष्ठ २७, पद-संकेत २

जाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि यह मत डा० गायगर जैसे विद्वान् की ओर से आया है, इसलिए इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है। अन्यथा वह इस योग्य भी नहीं है। 'मिलिन्द पञ्च' निश्चयतः अपने मौलिक पालि रूप में उत्तर-पश्चिमो भारत की प्रथम शाताब्दी ईसवी पूर्व की रचना है। सम्भव है उसमें बाद में भी परिवर्द्धन हुए हों। किन्तु उसका मौलिक रूप आज का सा सात परिच्छेदों वाला हो रहा हो, इसके लिए भी कम अवकाश नहीं है, क्योंकि जैसा डा० टी० डेल्पू० रायस डेविड्स ने सुझाव रखा है संभवतः चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद में अन्तिम चार अध्यायों को छोड़ दिया हो।<sup>१</sup> यद्यपि विटरनित्ज ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया है<sup>२</sup> हमें चौथी शताब्दी ईसवी में (जिसमें पहले चीनी अनुवाद नहीं हुआ था बुद्धघोष के इस ग्रन्थ के प्रति आदर और श्रद्धा-भाव को देख कर सत्य की इसी ओर प्रवणता दिखाई पड़ती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'मिलिन्द पञ्च' की विषय-वस्तु सात भागों या अध्यायों में विभक्त है (१) बाहिर कथा, (२) लक्षण पञ्चों, (३) विमति-च्छेदन पञ्चों, (४) मेण्डक पञ्चों, (५) अनुमान पञ्च, (६) धृतंग कथा और (७) ओपम्मकथा पञ्च। 'बाहिर कथा', 'मिलिन्द पञ्च' की भूमिका है। सर्व प्रथम लेखक ने नागसेन की इस विचित्र कथा (चित्रा नागसेनकथा) को जो, अभिधर्म, विनय और सुत्तों पर समाश्रित है, और जिसमें विचित्र उपमाएँ और व्यक्तियाँ प्रकाशित की गई हैं, सावधान हो कर, ज्ञानपूर्वक, बुद्ध-शासन सम्बन्धी सन्देशों को निवारणार्थ, सुनने की आह्वान किया है—

अभिधम्मविनयोगात्तुहा सुत्तजालसमत्थिता ।

नागसेनकथा चित्रा ओपम्मोहि नयेहि च ॥

तत्थ ज्ञाणं पणिवाय हामपित्तवान मानसं ।

सुमाष निपुणे पञ्हे कड्ढाठानविदालनेति ॥

उसके बाद ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनाण्डर) की राजधानी सागल का रमणीय, काव्यमय वर्णन है। "अथ यं अस्थि योनिकानं नानापुटभवनं सागलं नाम नगरं

१. ऐन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द आठवीं, पृष्ठ ३६२,

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७ पद-संकेत १



नदीपञ्चतसोभितं रमणोयभूमिपदेसभागं आरामुध्यानोपवनतडागपौष्करणी  
सम्पन्नं नदीपञ्चतरामजेयकं" आदि । उसके बाद उपर्युक्त सात भागों में ग्रन्थ की  
विषय-सूची तथा फिर नामसेन और मिलिन्द के पूर्व-जन्म की कथा है । यह एक  
बड़े आश्चर्य की बात है कि भदन्त नागसेन ने अपने और अपने प्रतिवादी मिलिन्द  
के पूर्वजन्म (पुण्ययोग, पुण्यकर्म) के वर्णन में तो इतनी तत्परता दिखाई  
है, फिर भी अपने वर्तमान जन्म और कर्म के विषय में अधिक जानने का  
हमें अवकाश नहीं दिया । सम्भवतः जिसे हम इतना ठोस समझते हैं वह उनके लिये  
इतना आवश्यक नहीं था और जो कुछ हमें अपने विषय में वह बताना आवश्यक  
समझते थे उसे उन्होंने वहाँ बता भी दिया है । स्थविर नागसेन का जन्म मध्य  
देश की पूर्वी सीमा पर स्थित, हिमालय पर्वत के समीपवर्ती कज्जला नामक  
प्रसिद्ध कस्बे में हुआ था । उनके पिता का नाम सोमवृत्त था, जो एक ब्राह्मण  
थे । दोनों वेदों, इतिहासों और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नाग-  
सेन ने स्थविर रोहण से बुद्ध-शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्ध धर्म  
में प्रवेश किया । तदनन्तर वे वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुत्त (अध्वगुत्त)  
के पास गये और उनसे शिक्षा प्राप्त की । यहीं उनको सौतापत्त (सोत आपत्त)  
फल की प्राप्ति हुई । तदनन्तर उन्हें पाटलिपुत्र भेज दिया गया, जहाँ उन्हों-  
ने स्थविर धर्मरक्षित से बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया । यही उन्हें अहंस्व  
फल की प्राप्ति हुई । इसके बाद वे सागल (सियालकोट) के संश्लेष्य परिवेण  
में गये, जहाँ राजा मिलिन्द से उनको भेंट हुई । मिलिन्द की शिक्षा का  
वर्णन करते हुए उसे 'श्रुति, स्मृति, संख्यायोग (सांख्य योग), नीति, वैशेषिक  
(वैशेषिका) आदि १९ शास्त्रों का मननशील विद्यार्थी बतलाया गया है । वह  
पुरा तर्कवादी, वितंडावादी और वाद-विवाद में अजेय था, यह भी दिखाया गया  
है । मिलिन्द को दार्शनिक वाद-विवाद से बड़ा प्रेम था और उसने 'लोकायत'  
सम्प्रदाय आदि के अनुयायी सभी विचारकों को परास्त कर दिया था । उसने  
बुद्धकालीन ६ प्रभाव आचार्यों की गद्दियों पर प्रतिष्ठित उनके ही समान नाम  
धारण करने वाले छह प्रधान आचार्यों, यथा पूरणकस्सप, मन्वलि गोसाल, निगण्ड  
माटपुत्त, सज्जय वेळट्ठपुत्त, अजित केस कम्बली और पकुय-कच्चायन  
के नाम भी अपने मन्त्रियों से सुन रखे थे, और प्रथम दो से वह मिला भी

वा, <sup>१</sup> किन्तु उसकी शान्ति उनसे नहीं हुई थी। अन्त में श्रीक राजा को यह अभिमान होने लगा "तुच्छो वत भो जम्बुदीपो पलापो वत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोच्चिसमणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सत्तलपितुं सक्कोति कंथं पटिविनोदेतुंति।" "तुच्छ है भारतवर्ष ! प्रलाप मात्र है भारतवर्ष ! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ, मेरे सन्नेहों के निवारणार्थ, संलाप भी कर सके।" मिलिन्द के इन शब्दों में हम बुद्धिवादी श्रीक ज्ञान की गौरवमय हुंकार देखते हैं। भारतीय राष्ट्र का गौरव भदन्त नागसेन के रूप में अपनी सारी संचित ज्ञान-गरिमा को लिये हुए अन्त में उसे मिल गया। नागसेन के ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि उन्होंने अपनी अल्पावस्था में ही निघंटु आदि के सहित तीनों वेदों को पढ़ लिया था, और वे इतिहास, व्याकरण, लीकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे। <sup>२</sup> उसके बाद प्रव्रजित हो कर उन्होंने अभिधम्म के सात प्रकरणों तथा अन्य तैपिटक बुद्ध-वचनों को अपने गुरु रोहण से पढ़ा था। पहले उन्होंने धर्मरक्षित नामक भिक्षु के साथ पाटिलपुत्र में निवास किया। बाद में आयुपाल नामक भिक्षु के निमंत्रण पर वे हिमाचल-प्रदेश के संक्षेप्य परिवेण नामक विहार में चले गये। वहीं राजा मिलिन्द उनसे मिलने के लिए गया। 'अथ खो मिलिन्दो राजा सेनापस्मा नागसेनो तेनोपसंगमि' (तदनन्तर राजा मिलिन्द जहाँ आयुमान् नागसेन थे, वहाँ गया।)

कुशल-प्रश्न पूछने और परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक संलाप छिड़ गया। संवाद भी उस प्रश्न पर जो बुद्ध-दर्शन की आधार-भूमि है। अनात्म लक्षण ! राजा मिलिन्द नागसेन के पास जा कर बैठ जाता है और उनसे पूछता है—

१. यूरोपीय विद्वानों ने पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि के नाम देख कर ही यह समझ लिया है कि यहाँ 'मिलिन्द पञ्च' के लेखक ने इन बुद्धकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। यह एक भ्रम है। देखिये मिलिन्द प्रश्न, (हिन्दी अनुवाद) की बोधिनी में भिक्षु जगदीश कादयप की इस विषय-सम्बन्धी टिप्पणी
२. तोसु वेवेसु सनिघट्टकेटुभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपञ्चमेसु पदको वेध्याकरणो लोकाप्रतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयोअहोसि। पृष्ठ ११ (बम्बई विद्वद्विद्यालय का संस्करण)

“भन्ते! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं? आपका नाम क्या है?”

(किं नामोसि भन्तेति)

“महाराज! मैं ‘नागसेन’ नाम से पुकारा जाता हूँ। सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कह कर बुलाते हैं। माता-पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते हैं, जैसे ‘नागसेन’, ‘सूरसेन’ आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता।

(न हेत्व पुण्यलो उपलब्धोति)

यस, संप्रदान और संवाद का पूरा क्षेत्र खुल गया!

“भन्ते! नागसेन! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है? उन वस्तुओं का उपभोग कौन करता है? पुण्य कौन करता है? ध्यान कौन लगाता है? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है? ..... भले-बुरे का फिर तो कोई कर्ता ही नहीं? आपका कोई गुरु भी नहीं? आप उपसम्पन्न भी नहीं? आप कहते हैं आपको लोग ‘नागसेन’ नाम से पुकारते हैं। नागसेन है क्या?

“क्या केश नागसेन हैं?”

“केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं?”

“तो क्या नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं?”

“राजन्! ये भी नहीं।”

“तो क्या पञ्च स्कन्धों का संयोग नागसेन है?”

“नहीं महाराज।”

“तो क्या फिर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पांच स्कन्धों से कोई व्यतिरिक्त वस्तु नागसेन है?” (किं पन भन्ते अज्झत्त रूपवेदनासंज्ञा-संस्कारविज्झणं नागसेनोति)

“नहीं महाराज!” (नहि महाराजाति)

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रदान करना नहीं जानती।

“भन्ते! मैं पूछते पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि ‘नागसेन’ क्या है? तो क्या ‘नागसेन’ केवल एक नाम ही है? अन्ततः ‘नागसेन’ है क्या

वास्तव में ? भन्ते ! आप असत्य बोल रहे हैं कि 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व यथार्थ में विद्यमान नहीं है।"

बिण्डावादी मिलन्द की बुद्धि को परिश्रान्त जानकर भदन्त नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं।

"महाराज ! आपका जन्म तो क्षत्रिय-कुल में हुआ है। इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी आप इतनी गर्मी में दोपहर को यहाँ चले ही आये। मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गये होंगे। आप पैदल आये हैं या रथ पर ?"

"भन्ते ! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप रथ पर आये हैं तो कृपया मुझे यह बताइये कि रथ है क्या ?"

"क्या रथ के बाँस रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते ! रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते।"

"तो क्या घुरा, पहिये, रस्से, जुवा, पहियों के डंडे, अथवा बेल हाँकने की लाठी, रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते !"

"तो फिर कहिये कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है ?"

"नहीं भन्ते ! यह कैसे हो सकता है !"

"राजन् ! मैं पूछ पूछ कर हार गया। उस पर भी मैं न जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है ? तो फिर क्या आपका रथ केवल एक नाममात्र है ? राजन् ! आप असत्य बोल रहे हैं कि आप रथ पर आये हैं। आप इस सारे जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) में सब से प्रतापी राजा हैं। तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं ?"

"भन्ते ! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिये, रथ का डीचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी, इन भिन्न भिन्न हिस्सों पर 'रथ' का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। "रथोति संज्ञा समञ्जा पञ्जास्ति बोहारो नाममत्तं पवतीति।"

"ठीक है महाराज ! आपने यथार्थ 'रथ' को समझ लिया। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की भी हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है। यथार्थ में



‘नागसेन’ नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती “परमार्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलभसि।”

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के बिना मूल बुद्ध-दर्शन सम्बन्धी अनात्मवाद का कोई भी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध-मन्तव्य निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है, अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक डा० राधाकृष्णन् ने किया है,<sup>१</sup> जबकि इसी कारण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास लिखने की उनकी योग्यता को ही संदेह की दृष्टि से देखा है।<sup>२</sup> इस विवाद में भाग न लेकर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हो या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया हो, वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, बुद्ध-वचनों को छोड़कर, अनात्मवाद का उससे अधिक सुन्दर, उससे अधिक आकर्षक और उससे अधिक गम्भीर विवेचन कहीं नहीं मिल सकता। अतः बौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिये हर हालत में उसका जानना आवश्यक है।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्मवाद के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है, यह भी समस्या मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वह भदन्त नागसेन से पूछता है

“भन्ते नागसेन कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है? यो उप्पज्जति सो एव सो उदात्तु अज्जोति।”

“न तो वही और न अन्य हो—न च सो न च अज्जोति” स्थविर कहते हैं।

१. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८२-९०; कीव, श्रीमती रायस डेविड्स और विटरनित्स की भी कुछ कुछ इसी प्रकार की मान्यता है, देखिये विटरनित्स : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८, पद-संकेत ३।

२. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३१-५३२।

राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता । स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण युवा होता है, तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है ? नहीं ऐसा नहीं होता । बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अन्य होता है । किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है तो फिर न कोई किसी की माता रहेगी, न कोई किसी का पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा ..... ! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न भिन्न है, अन्य से अन्य हो गये हैं । क्या एक ही व्यक्ति के बालकपन की माँ भिन्न है उसकी युवावस्था की माँ से ? अञ्जा सुहृ-कस्त माता अञ्जा महन्तस्त माता ! विद्यार्थी जब पाठशाला में पढ़ने जाता है तब क्या वह अन्य ही है ? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त करता है अन्य ही है ? 'अञ्जो सिष्यं सिष्यति अञ्जो सिक्खितो भवति—' अन्य ही शिष्य सीखता है, अन्य ही शिक्षित होता है ? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध-स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते हैं ? राजा बबड़ा जाता है क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार कर चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य । अतः कुछ समझ नहीं सकता कि उसे क्या कहना चाहिए । विद्वेष होकर वह भदन्त नागसेन से कहता है "भन्ते ! आप ही मुझे बताइये कि क्या बात है ? त्वं पन भन्ते एवं वृत्ते कि वदेय्यासीति । भन्ते ! ऐसा पूछने पर आप स्वयं क्या कहेंगे ? स्थविर उसे समझाते हैं कि "धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके संचात रूप में आजाने से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और वह सब ऐसे होता है जैसे मानो युगपत्, एक-साथ ही । इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह और न सर्वथा अन्य की तरह, वह जीवन की अन्तिम चेतनावस्था पर आता है ।" फिर भी मिलिन्द पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूछता है

१. एवमेव खो महाराज धम्मसर्गति सन्दहति, अञ्जो उप्पज्जति, अञ्जो निसज्जति, अपुब्बं अचरिमं विप सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्जो पुरिस-

"भन्ते नागसेन ! पर क्या है वह जो जन्म ग्रहण करता है ? भन्ते नागसेन को पटिसन्वहति ?

"हे महाराज ! नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है । नाम-रूप खो महाराज पटिसन्वहति ।"

"क्या यही नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है ?" "महाराज ! यह नाम-रूप जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं और उन कर्मों के द्वारा जो अन्य नाम रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है।" २ आगे समझाते हुए स्वविर कहते हैं "हे राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह एक अन्य होता है । किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है ३... अतः हे राजन् ! धर्म-सन्तति ही संसारण करती है, जन्म ग्रहण करती है—एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्वहति ।"

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है । द्वितीय परिच्छेद (लक्षण पञ्चो) की मुख्य विषय-वस्तु इतनी ही है ।

तृतीय परिच्छेद (विमतिच्छेदन पञ्चो) में राजा के सन्देहों (विमति) का, जो उसे अनेक छोटे छोटे विषयों पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है । इस प्रकार के अनेक सन्देहों का इस परिच्छेद में विवरण किया गया है, जिनमें से कुछ का ही निदर्शन यहाँ किया जा सकता है । उदा-

विज्झाणे पच्छिमविज्झाणं संगहं गच्छतीति । मिलिन्दपञ्चो, लक्षणपञ्चो, पृष्ठ ४२ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

१. नाम अर्थात् सूक्ष्म चित्त और चैतनिक धर्म । रूप अर्थात् चार महाभूत और उनका विकार ।
२. न खो महाराज इमं येव नामरूपं पटिसन्विहति । इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्जं नामरूपं पटिसन्विहतीति
३. एवमेव खो महाराज किञ्चापि अञ्जं मरणान्तिकं नामरूपं अञ्जं पटिसन्विस्मिं नामरूपं अपि च ततो येव तं निव्वत्तं ति ।

हरणतः मिलिन्द पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या सभी लोग निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं (भन्ते नागसेन सर्वेव लभन्ति निव्वारणंति) ? भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध अनुत्तर हैं ? 'भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं ?' 'क्या बुद्ध ब्रह्मचारी हैं ?' 'क्या उपसंपदा (भिक्षु-संस्कार) ठीक (सुन्दर) हैं ? 'भन्ते नागसेन ! कितने आचार्यों से स्मृति उत्पन्न होती है ? 'भन्ते नागसेन ! आप कहते हैं स्वास-प्रस्वास का निरोध किया जा सकता है । कैसे भन्ते ?" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने क्या कार्य अत्यंत दुष्कर किया है ?" आदि, आदि । भदन्त नागसेन ने इन सब प्रश्नों और सन्देहों का अत्यंत मनोरम शैली में उत्तर दिया है । प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों ही अपने अपने प्रश्नों त्तरों से अन्त में संतुष्ट दिखाई पड़ते हैं । राजा मिलिन्द को ऐसा लगता है "जो सब मैंने पूछा, सबका भदन्त नागसेन ने मुझे उत्तर दिया (सब्बं मया पुच्छितंति सब्बं भदन्तेन नागसेनेन विस्सज्जितंति । भदन्त नागसेन को भी ऐसा होता है "जो सब राजा मिलिन्द ने मुझसे पूछा उस सब का मैंने उत्तर दे दिया (सब्बं मिलिन्देन रज्जा पुच्छितं, सब्बं मया विस्सज्जितंति ।" उठकर भिक्षु संघाराम में चले गये । राजा मिलिन्द भी अपने साधियों के साथ लौट गया । यह तीसरे परिच्छेद की विषय-वस्तु का संधेप है ।

कुछ दिन बाद राजा मिलिन्द फिर भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है । इस बार वह उन विरोधों को भदन्त नागसेन के सामने रखता है जो उसे त्रिपिटक बुद्ध-वचनों के अन्दर मालूम पड़े हैं । मिलिन्द ने मननपूर्वक एक बुद्धिवादी की तरह त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ा है । उसे उनके अन्दर अनेक पारस्परिक विरोधी बातें दिखाई पड़ी हैं । इन्हें वह भदन्त नागसेन के सामने एक-एक करके रख देता है । भदन्त नागसेन उनका उत्तर देते हैं । 'मिलिन्द-पञ्च' का चौथा परिच्छेद, जो इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है, इन्हीं संघर्ष प्रश्नोत्तरों का विवरण है । ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले त्रिपिटक के विभिन्न विवरणों या बुद्ध-वचनों के विरोध का परिहार और उनमें समन्वय-स्थापन, यही इस परिच्छेद का लक्ष्य है, जो त्रिपिटक के विद्यार्थियों के लिए सदा महत्वपूर्ण रहेगा । इस प्रकरण में राजा मिलिन्द ने जो प्रश्न पूछे हैं या सुलझाने के लिए विरोधी वाक्य रखे हैं, वे इतने साना



प्रकार के हैं कि उनका संक्षेप देना बड़ा कठिन है। केवल कुछ उदाहरण देकर हम उनके स्वरूप और शैली की ओर संकेत भर कर सकेंगे। भदन्त के चरणों में गिर रखकर, हाथ जोड़कर राजा ने कहा, "भन्ते नागसेन, "भगवान् ने यह कहा 'आनन्द ! पाँच सौ वर्ष तक सद्धर्म ठहरेगा ।' पुनः जब परिनिर्वाण के समय सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से पूछा तो उन्होंने कहा 'सुभद्र ! यदि भिक्षु ठीक तरह विहार करेंगे तो यह लोक अहंतों से कभी शून्य नहीं होगा ।' यदि भन्ते नागसेन ! तदागत से यह कहा कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा तब तो यह वचन कि यह लोक कभी अहंतों से शून्य नहीं होगा, मिथ्या ठहरता है । और यदि तदागत ने यह कहा कि यह लोक कभी अहंतों से शून्य नहीं ठहरेगा, तो फिर यह वचन कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा, मिथ्या ठहरता है ? भन्ते नागसेन ! यह दोनों ही ओर से कठिनता पैदा करने वाला, गहन से भी गहनतर, बलवान् से भी बलवत्तर, जटिल से भी जटिलतर, प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है ।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओं ! मैं जानकर ही धर्मोपदेश करता हूँ, बिना जाने नहीं ।' पुनः उन्होंने वित्तय प्रज्ञप्ति के समय यह भी कहा 'आनन्द ! यदि संघ चाहे तो मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दे । भन्ते नागसेन ! क्या क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद बिना जान बूझकर ही दिये हुए उपदेश हैं जो भगवान् ने उन्हें अपने बाद छोड़ देने के लिए कहा । भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् का यह कहना ठीक है कि मैं जान बूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने-बूझे नहीं, तो भगवान् का यह वचन मिथ्या है 'यदि संघ चाहे तो मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, और यदि सचमुच ही भगवान् ने यह कहा कि मेरे बाद संघ क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, तो उनका यह कहना मिथ्या है कि 'मैं जानबूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने बूझे नहीं । यह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला सूक्ष्म, निपुण, गंभीर और उलझन पैदा करने वाला प्रश्न है जो आपकी सेवा में उपस्थित है । आप मुझे समझावें ।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने कहा है 'तदागत को धर्मों में आचार्य-मुष्टि (न बताने योग्य बात) नहीं है ।' किन्तु जब मालुवधपुत्र ने उनसे प्रश्न पूछा तो भगवान् ने उसकी व्याख्या नहीं की, उसे नहीं

बताया । क्या भगवान् जानते नहीं थे, इसलिए नहीं बताया, या भगवान् को वह रहस्य ही रखना था, इसलिए नहीं बताया । भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् ने यह ठीक ही कहा था कि तथागत को रहस्य रखना नहीं है तो फिर क्या उन्होंने न जानने के कारण ही (अज्ञानसेन) ही उसे नहीं बताया । यदि जानने पर भी नहीं बताया, तब तो फिर तथागत की आचार्य-मुष्टि (रहस्य-रखना) है ही । यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है । "भन्ते नागसेन ! आप कहते हैं कि तथागत को भोजन, वस्त्र, निवास-स्नान, पथ्य-औषधादि सामग्री सदा मिल जाती थी । फिर आप कहते हैं एक बार पञ्चशाल नामक ब्राह्मण-ग्राम में से भगवान् बिना भिक्षा प्राप्त किये ही धुले-धुलाये भिक्षापात्र को लेकर लौट आये । . . . भन्ते नागसेन यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है ।" भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा 'आनन्द ! तुम तथागत के शरीर की पूजा की चिन्ता मत करो ।' पुनः उन्होंने यह भी कहा 'पूजनीय पुरुष की धातुओं की पूजा करो' . . . दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है ।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्मत् सम्बुद्ध नवीन मार्ग का उद्घाटन करने वाले हैं ।' पुनः एक दूसरी जगह उन्होंने यह भी कहा है, 'भिक्षुओ ! जिस प्राचीन मार्ग पर पूर्वकाल में जानी पुरुष चले, उसी का ही मैंने दर्शन प्राप्त किया है ।' . . . यह दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है ।" इस प्रकार के अनेक विरोधाभास-मय प्रश्न राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के सामने रखे हैं, जिनका उन्होंने अपनी अद्भुत शैली में उत्तर दिया है । प्रत्येक बौद्ध दर्शन के विद्यार्थी के लिए उनका पढ़ना अनिवार्य है । साहित्य की दृष्टि से भी वे अपने महत्व में अद्वितीय हैं ।

'मिलिन्द पञ्च' के पाँचवें परिच्छेद का नाम है 'अनुमान पञ्च' (अनुमान प्रश्न) । एक बार फिर मिलिन्द राजा भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ जाता है । वह उनसे पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या आपने बुद्ध को देखा है (कि पन् बुद्धो ऽया दिट्ठीति) "नहीं महाराज" (नहि महाराजाति) "क्या आपके

आचार्यों ने बुद्ध को देखा है (किं पन ते आचरियेहि बुद्धो दिद्दुंति)" "नहीं महाराज ! " "भन्ते नागसेन ! यदि आपने भी बुद्ध को नहीं देखा, आपके आचार्यों ने भी बुद्ध को नहीं देखा, तो भन्ते ! मैं समझता हूँ बुद्ध हैं ही नहीं, बुद्ध का कुछ पता ही नहीं ।" यदि किसी आधुनिक विद्वान् के सामने यह प्रश्न रखा जाता तो वह उन ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करता जिनके आधार पर बुद्ध का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है । किन्तु नागसेन कालवादी नहीं है । वे धर्मवादी हैं । उनके लिए बुद्ध का धर्म ही बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है । 'धम्म' के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, यही इस संपूर्ण परिच्छेद की मूल ध्वनि है । "महाराज ! उन भगवान् सम्मक्क सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ये वस्तुएँ जैसे कि चार स्मृति-प्रधान, चार सम्मक्क-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग अभी विद्यमान हैं । उनको देखकर ही पता लगा लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अवश्य हुए हैं ।" "बहुत जनों को तारकर उपाधि (आवागमन-कारण) के मिट जाने से भगवान् निर्वाण को प्राप्त कर चुके । इस अनुमान से ही जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए हैं ।" "संसार के मनुष्य और देव-ताओं ने धर्माभूत को प्राप्त किया है, यही देखकर पता लगा लेना चाहिए कि धर्म की बड़ी लहर अवश्य बही होगी ।" "उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते हैं कि जैसी गन्ध बह रही है उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित अवश्य हुए होंगे । वैसे ही यह शील की गन्ध जो देवताओं और मनुष्यों में बह रही है, इसी से समझ लेना चाहिए कि लोकोत्तर बुद्ध अवश्य हुए होंगे "आदि, आदि । इसी प्रसंग में 'धम्म-नगर' (धम्म रूपी नगर) के सुन्दर सांगोपांग रूपक का भी वर्णन किया गया है ।

छठे परिच्छेद में फिर राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन के पास जाता है और इस बार वह उससे फिर एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या कोई गृहस्थ बिना घर को छोड़े, विषम का भोग करते हुए, स्त्री-पुत्रादि से घिरा हुआ, माला-माल्य-विलेपन को धारण करता हुआ, सोम-चाँदी का आस्वादन लेता हुआ, .... शान्त, निर्वाणपद को साक्षात्कार कर सकता

हैं ?" इसी के उत्तर में आगे बढ़ते बढ़ते भदन्त नागसेन १३ अवधूत नियमों (धुतंग) के विवेचन पर आ जाते हैं। इस परिच्छेद का नाम ही 'धुतङ्ग कथा' अर्थात् 'अवधूत-व्रतों का विवरण' है। वास्तव में 'मिलिन्द-पञ्च' की विषय-वस्तु की अपेक्षा यह 'विसुद्धि-मग्ग' (द्वितीय परिच्छेद) की विषय-वस्तु का अधिक अभिलिखित अंग है। अतः इन अवधूत-व्रतों अधिक विवरण न देकर यहाँ उनके नाम निर्देश कर देना ही आवश्यक होगा। अवधूत-व्रतों की संख्या १३ है, जो इस प्रकार हैं—(१) पांशुकूलिक (फटे-पुराने वस्त्रों को साफ कर उनसे सीये हुए वस्त्र पहनने का नियम (पंसुकूलिकंग) (२) तीन चीवर (भिधु-वस्त्र) पहनने का नियम (ते चीवरिकंग) (३) भिक्षात्र मात्र पर ही निर्वाह करने का नियम (विण्डपातिकंग) (४) एक घर से दूसरे घर, बिना किसी घर को छोड़े हुए, भिक्षा माँगने का नियम (सपदानचारिकंग) (५) भोजन के लिए दूसरी बार न बैठने का नियम (एकासनिकंग), (६) केवल एक भिक्षापात्र में जितना भोजन आ जाय उतना ही भोजन करने का नियम (पत्तपिडिकंग) (७) एक बार भोजन समाप्त कर लेने पर फिर कुछ न खाने का नियम (खलुपच्छाभित्ति कंग) (८) वनवासी होने का नियम (आरञ्जिकंग) (९) वृक्ष के नीचे रहने का नियम (सुक्खमूलिकंग) (१०) खुले आकाश के नीचे रहने का नियम (अव्भोका-सिकंग) (११) धमशान में वास करने का नियम (सोसानिकंग) (१२) यथा-प्राप्त निवास-स्थान में रहने का नियम (यथासन्धतिकंग) और (१३) न लेटने का नियम (नेसज्जिकंग)।

सातवें परिच्छेद (ओपम्मकथापञ्च) में उपमाओं के द्वारा यह बताया गया है कि अहंत्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार माना गुणों का सम्पादन करना चाहिये। किस प्रकार उसे कछुए के पाँच गुण ग्रहण करने चाहिये, कौए के दो गुण ग्रहण करने चाहिये, हिरन के तीन गुण ग्रहण करने चाहिये, आदि, आदि। संवाद के आरम्भ से लेकर अन्त तक भदन्त नागसेन के गौरव की रक्षा की गई है। आरम्भ से ही उन्होंने राजा से तय कर लिया है कि संवाद 'पंडितवाद' के ढंग से होना, 'राजवाद' के ढंग से नहीं। राजा सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता है। प्रथम बार ही उनके उत्तर से सन्तुष्ट होकर वह उनका भक्त बन जाता है। वह उनके पैरों में अपने सिर को रख देता है और विनम्रता पूर्वक ही



प्रत्येकप्रश्न को पूछता है। अन्त में तो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, वह उनका उपासक ही बन जाता है, और बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण जाता है, जो इतिहास के साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित है।

'मिलिन्द पञ्च' दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से तो एक महाग्रंथ है ही। साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी उसका अल्प नहीं है। यद्यपि स्थविरवाद बौद्ध-धर्म का वह कण्ठहार है, जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ बुद्ध-वचनों के समान ही मान्य है, वह भारतीय साहित्य की भी अमूल्य निधि है। यद्यपि लंका, वरमा और म्याम के समान भारत में उसकी आधुनिक लोक-भाषाओं में 'मिलिन्द पञ्च' संबंधी प्रचुर साहित्य नहीं लिखा गया, किन्तु इस कारण उसे उस गौरव से, जो 'मिलिन्द पञ्च' ने भारतीय साहित्य को दिया है, वंचित कर देना ठीक नहीं होगा। 'मिलिन्द पञ्च' प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की प्रभावशाली भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम नमूना है। विवेचनात्मक विषयों के लिए उपयुक्त हिन्दी की गद्य शैली का ती विकसित हमारे साहित्य में अभी हुआ है। अंग्रेजी साहित्य की भी इस संबंधी परम्परा १००-२०० वर्ष से पहले नहीं जाती। बाण और वंशी का गद्य भी निश्चय ही इसके लिए उपयुक्त नहीं था। इस दृष्टि से 'मिलिन्द पञ्च' की विचारात्मक गद्य-बुद्ध शैली कितनी महत्वपूर्ण है, इसका सम्यक् अनुमान ही नहीं किया जा सकता। लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रवाहशीलता, उसका औजस्य शब्दचयन, प्रभावशाली कथन-प्रकार, उपमाओं और मुक्तियों के द्वारा उसका स्वाभाविक अलंकार-विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता और प्रसादगुण, ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी में बैठा देते हैं, जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है।<sup>१</sup> प्राचीन भारतीय गद्य-साहित्य में 'मिलिन्द पञ्च' के समान कोई रचना न पाकर ही

- 
१. पुष्प श्लोक डा० रायस डेविड्स 'मिलिन्द पञ्च' की गद्य शैली के बड़े प्रशंसक थे। देखिये उनके मिलिन्दपञ्च के अंग्रेजी अनुवाद, (वि क्विडान्स ऑफ किंग मिलिन्द, सेक्रेडनुकस ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३५ वीं का भूमिकांश तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स जिल्द ८, पृष्ठ ६३१; मिलाइये विटरनिश : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६।

संभवतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'मिलिन्द पञ्च' की शैली पर ग्रीक प्रभाव उपलब्धित है। यह एक बड़ा भ्रम है। भारतीय परा-धीनता के युग में अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यह विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि भारत ने भी विश्व-संस्कृति को कुछ मौलिक योगदान दिया है। इसी कारण उन्होंने अनेक प्राचीन भारतीय विशेषतापूर्ण बातों पर भी पश्चिमी प्रभाव की कल्पना कर ली है। अफलातुं के संवादों के प्रभाव को 'मिलिन्द पञ्च' की शैली पर चलाने के समान और कोई निरर्थक बात नहीं कही जा सकती। पहले तो ग्रीक भाषा और विचार से नागसेन के परिचित होने का साक्ष्य नहीं दिया जा सकता, फिर जब उनके सामने प्राचीन उपनिषदों और स्वयं बृद्ध-वचनों के रूप में गम्भीर संवादों की परम्परा प्रस्तुत थी, तो वे उसे छोड़कर विदेश से उसे ग्रहण करने क्यों जाते ? वह समय तो भारतीय संस्कृति के गौरव का था और हम समझते हैं भारतीय ज्ञान का वह गौरव ही 'मिलिन्द पञ्च' में प्रतिध्वनित हुआ है, जिससे तमिल होकर ही बुद्धिवादी मिलिन्द राजा बृद्ध-वचन में उपासकत्व ग्रहण करता है। यह भारतीय ज्ञान की महान् विजय का चोतक है—उस ग्रीक ज्ञान पर जिसकी पाश्चात्य जगत् बड़ी दम भरता है और जिससे ही उसने अपना सारा ज्ञान वास्तव में प्राप्त भी किया है। 'मिलिन्दपञ्च' उस ज्ञान-विजय अथवा घम्म-विजय का स्मारक और परिचायक है, जिसे भारत ने उस समय के, अपने अलावा, सबसे अधिक ज्ञान-संपन्न देश पर प्राप्त किया था। इस दृष्टि से वह भारतीय बाहुमय के अमर रत्नों में से एक है। जहाँ तक 'मिलिन्द पञ्च' की शैली के स्रोतों या उसकी प्रेरणा का सवाल है, वह निश्चय ही लेपटिक बृद्ध-वचनों में ही निहित है। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों की जीवित संवाद-शैली उसकी प्रेरणा-स्वरूप मानी जा सकती है। 'कथावत्थु' के अप्रतिम आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के भी भदन्त नागसेन कम ऋणी नहीं हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं कर सकते, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि मोग्गलिपुत्त के समाधानों पर ही नागसेन के अधिकांश 'प्रश्न-व्याकरण' (प्रश्नों के उत्तर) आधारित हैं और जिस मन्तव्य को वहाँ 'स्वविरवाद' के रूप में अपनाया गया है, वही मन्तव्य 'मिलिन्द पञ्च' कार का भी है। यद्यपि

उपनिषदों की शैली या कोई स्पष्ट प्रभाव 'मिलिन्द पञ्च' पर उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्वेतकेतु आरुण्य और प्रवाहण जैबलि (जिनके संवाद छान्दोग्य १।८।३ और बृहदारण्यक ६।२।१ में आते हैं), आरुणि और पाञ्चबलक्य (जिनके संवाद बृहदारण्यक ३।७।१ में आते हैं), आरुणि और श्वेतकेतु (छान्दोग्य ३।१), आदि अनेक ऋषियों के संवाद अपनी विविध विशेषता रखते हुए भी मिलिन्द और नागसेन के प्रभावशाली संवादों में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। इतिहास की दृष्टि से, विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, 'मिलिन्द पञ्च' का यह महत्व है कि उसमें पालि त्रिपिटक के नाना ग्रन्थों के नाम दे देकर, पाँच निकायों, अभिधम्म पिटक के सात ग्रन्थों, और उनके भिन्न भिन्न अंगों के निर्देशपूर्वक अनेक अंश उद्धृत किये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व अपने उसी नाम-रूप में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।<sup>१</sup> इस प्रकार 'मिलिन्द पञ्च' का साक्ष्य अशोक के अभिलेखों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य का समर्थन करता है। 'मिलिन्द पञ्च' में अनेक स्थानों के वर्णन हैं, जैसे अल-सन्द (अलेक्जेंड्रिया) यवन (यूनान, वैंक्ट्रिया) भरुकच्छ, (भड़ौच) चीन (चीन-देश), गान्धार, कालिंग, कज्जला, कोसल, मधुरा (मधुरा) सागल, साकेत, सौराष्ट्र (सौराष्ट्र) वाराणसी, वंग, तक्षकोल, उज्जैनी, आदि। इनसे तत्कालीन भारतीय भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सारांश यह कि धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, सभी दृष्टियों से 'मिलिन्द पञ्च' का भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है और पालि अनुपिटक-साहित्य में तो उसके समान महत्वपूर्ण कोई दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही नहीं, यह तो निर्विवाद ही है।

### अन्य साहित्य

पालि त्रिपिटक के संकलन और अट्ठकथा-साहित्य के प्रणयन के बीच के युग में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों (नेत्तिपरकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्च)

१. देखिये रायस डेविट्स : दि क्विशनस ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्दपञ्च का अंग्रेजी अनुवाद), सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं, पृष्ठ १४ (भूमिका)।

के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (दीपवंस) भी है। यह भी प्राम्बूद्धघोष-कालीन पालि साहित्य की एक प्रमुख रचना है। 'वंश-साहित्य' का विवरण देते समय हम इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का परिचय देंगे। इसी प्रकार सिंहली अट्ठ-कथाएँ और पुराणाचार्यों (पौराणाचार्य) के ग्रन्थ आदि भी इन शताब्दियों में लिखे गये, जिनका विवरण अट्ठकथा-साहित्य के प्रकरण में ही दिया जायगा। इसी युग के साहित्य के रूप में गायगर ने 'सुत्त संग्रह' की भी चर्चा की है, जो किसी अज्ञात लेखक के द्वारा किया हुआ सुत्तों का संग्रह है और 'विमानवत्थु' आदि के समान अल्प महत्व की रचना है। बरमो परम्परा इसे 'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत मानती है, किन्तु इसके प्रणेता या प्रणयन-काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।



## सातवाँ अध्याय

### बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अर्थ कथा-साहित्य का उद्भव और विकास

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार स्वविर महेन्द्र और उनके साथी मित्र पालि-त्रिपिटक के साथ-साथ उसकी 'अट्ठकथा' को भी अपने साथ लंका में ले गये ।<sup>१</sup> यह निश्चित है कि जिस रूप में यह 'अट्ठकथा' लंका में ले जाई गई होगी वह पालि-त्रिपिटक के समान मौखिक ही रहा होगा । प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व जब लंकाधिपति बट्टगामणि अभय के समय में पालि-त्रिपिटक लेख-वृद्ध किया गया, तो उसकी उपर्युक्त 'अट्ठकथा' के भी लेख-वृद्ध होते की कोई सूचना हम नहीं पाते । अतः महेन्द्र द्वारा लंका में पालि-त्रिपिटक की 'अट्ठकथा' भी ले जाये जाने का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नहीं मिलता । उन अट्ठकथाओं का कोई अंग आज किसी रूप में सुरक्षित नहीं है । हाँ, एक दूसरी प्रकार की 'अट्ठकथाओं' के अस्तित्व का साक्ष्य हम सिंहल के इतिहास में अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही पाते हैं । ये प्राचीन सिंहली भाषा में लिखी हुई अट्ठकथाएँ हैं । जैसा हम आगे सभी इसी प्रकरण में देखेंगे, आचार्य बुद्धघोष इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये लंका गये थे । चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में न केवल बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल आदि के द्वारा रचित विस्तृत अट्ठकथा-साहित्य, बल्कि ग्राम्बुद्धघोषकालीन लंका का इतिहास-ग्रन्थ 'दीपवंस' और बाद में उसी के आधार-स्वरूप रचित 'महावंस' भी, अपनी विषय-वस्तु के मूल आधार और स्रोतों के लिये इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऋणी हैं । महावंस-टीका (६३।५४९-५५०) के आधार पर गायगर ने यह सिद्ध करने का

१. देखिये समन्तपासादिका की बहिरनिदानवण्णना ।

प्रयत्न किया है कि ये प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवीं शताब्दी ईसवी तक प्राप्त थीं। आज इनका कोई अंश सुरक्षित नहीं है।

जैसा अभी कहा गया, बुद्धघोष महास्वविर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये ढूँढ़ी लंका गये थे। उन्होंने अपनी विभिन्न अट्ठकथाओं में जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का निर्देश किया है, या उनसे उद्धरण दिये हैं, उनमें ये मुख्य हैं (१) महा-अट्ठकथा (२) महा-पच्चरी या महा-पच्चरिय (३) कुरुन्दी या कुरुन्दिय (४) अन्धट्ठकथा (५) संक्षेप-अट्ठकथा (६) आगमट्ठकथा (७) आचरियान् समानट्ठकथा। दीघ, मज्झिम, संयुत और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी 'अट्ठकथाओं' के अन्त में आचार्य बुद्धघोष ने अलग अलग कहा है, "सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निदिठ्ठा एसा" अर्थात् "इसे मैंने महा-अट्ठकथा के सार को लेकर पूरा किया है"। इससे निश्चित है कि बुद्धघोष-कृत 'सुमंगल विलासिनी' 'पंचसूदनी' 'सारत्थ पकासिनी' और 'मनोरथपूरणी' (क्रमशः दीघ, मज्झिम, संयुत और अंगुत्तर निकायों की अट्ठकथाएँ) प्राचीन सिंहली अट्ठकथा जिसका नाम 'महा अट्ठकथा' था, पर आधारित है। उपर्युक्त कथन के साक्ष्य पर 'सद्धम्म संगह' (१४वीं शताब्दी) का यह कहना कि 'महा-अट्ठकथा' सुत्त-पिटक की अट्ठकथा थी,<sup>१</sup> ठीक मालूम पड़ता है। इसी प्रकार 'सद्धम्म संगह' के अनुसार 'महापच्चरी' और 'कुरुन्दी' क्रमशः अभिघम्म और विनय की अट्ठकथाएँ थीं।<sup>२</sup> 'कुरुन्दी' 'विनय-पिटक' की ही अट्ठकथा थी, इसे आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से पूरा समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विनय-पिटक की अट्ठकथा (सगन्तपासादिका) के आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अट्ठकथा के मुख्य आधार के रूप में 'कुरुन्दी' का उल्लेख नहीं किया है। वहाँ उन्होंने केवल यह कहा है कि ये तीनों अट्ठकथाएँ (महा-अट्ठकथा, महापच्चरी, एवं कुरुन्दी) प्राचीन अट्ठकथाएँ थी और सिंहली भाषा में लिखी गई थीं। 'गन्धर्वस' में भी उपर्युक्त तीनों अट्ठकथाओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ 'महा-अट्ठकथा' (सुत्त-पिटक की अट्ठकथा) को इन सब में प्रधान

१, २. सद्धम्म संगह, पृष्ठ ५५ (जनेल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८९० में प्रकाशित संस्करण)

वतलाया गया है और उसे पुराणाचार्यों (पुराणाचरिया) की रचना बतलाया गया है, जब कि अन्य दो अट्ठकथाओं की गन्धाचार्यों (गन्धाचरिया) की रचनाएँ बतलाया गया है। इससे स्पष्ट कि 'गन्धर्वस' के अनुसार 'महा-अट्ठकथा' की प्राचीनता और प्रामाणिकता अन्य दो की अपेक्षा अधिक थी। 'अन्धट्ठकथा' और 'संक्षेपट्ठकथा' तथा इनके साथ साथ 'बुलपक्खरी' और 'पण्णवार' नाम की प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख 'समन्तपासादिका' की दो टीकाओं 'वजिरवुद्धि' और 'सारत्थदीपनी' में भी किया गया है<sup>१</sup>। किन्तु इनके विषय में भी हमारी कोई विशेष जानकारी नहीं है<sup>२</sup>। 'आचरियानं समानट्ठकथा' जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' के आदि में किया है, किसी विशेष अट्ठकथा का नाम न होकर केवल अनेक अट्ठकथाओं के समान सिद्धान्तों का सूचक है, यही मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है। 'आगमट्ठ-कथा', जिसका उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' और 'समन्तपासादिका' दोनों के आदि में किया है, सम्पूर्ण आगमों या निकायों की एक सामान्य अट्ठकथा ही रही होगी। कुछ भी हो, बुद्धघोष ने जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है, वे किन्हीं लेखकों की व्यक्तिगत रचनाएँ न होकर महाविहार-वासी भिक्षुओं की परम्पराप्राप्त कृतियाँ थीं जो उनकी सामान्य सम्पत्ति के रूप में बची आ रही थीं। आचार्य बुद्धघोष ने इन महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि को लेकर ही अपनी समस्त अट्ठकथाएँ और 'विसुद्धिमग्ग' लिखे, यह उन्होंने सब जगह स्पष्ट कर दिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' के सार्व का हम पीछे विवरण देंगे, अभी केवल 'समन्तपासादिका' और 'अट्ठसालिनी' के इस सार्व को देखें—

“महाविहारवासीनं दीपयन्तो वितिच्छयं

अत्थं पकायसयिस्सामि आगमट्ठकथासु पि”

१. पृष्ठ ५१ एवं ६८ (जनरल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)
२. देखिये गायगर : इंडियन लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २५
३. इनके कुछ अनुमानाश्रित विवरण के लिए देखिये लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्ह दूसरी, पृष्ठ ३७६; श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइको-लोजिकल एथिक्स, पृष्ठ २२ (भूमिका)

आगे बुद्धघोष के जीवन-विवरण से भी यही स्पष्ट होगा कि 'महाविहार' की परम्परा पर आश्रित सिद्धान्तों के अनुसार ही उन्होंने अपने विशाल अट्ठ-कथा साहित्य की रचना की है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'महाविहार' के अलावा 'उत्तर विहार' नामक एक अन्य विहार के भिक्षुओं की परम्परा भी उस समय प्रचलित थी। बुद्धदत्त का 'उत्तरविनिच्छय' उसी पर आधारित है।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं को अपनी रचनाओं का आधार स्वीकार करने के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने 'प्राचीन स्थविरों' (पोराणकत्थेरा) या 'प्राचीनों' 'पुराने लोगों' (पोराणा) के मतों के उद्धरण अनेक बार अपनी अट्ठकथाओं में दिये हैं<sup>१</sup>। ये 'प्राचीन स्थविर' या 'पुराने लोग' कौन थे? 'गन्धर्वस' के मतानुसार प्रथम तीन धर्म-संगीतियों के आचार्य भिक्षु, आर्य महाकात्यायन को छोड़कर, 'पोराणा' या 'पुराने लोग' कहलाते हैं<sup>२</sup>। सम्भवतः प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं में इन प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख था। वहीं से उनका पालि रूपान्तर कर आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में ले लिया है। इन 'पोराणों' के उद्धरणों की एक बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रायः पद्य-मय हैं और अनेक उद्धरण जो बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में मिलते हैं, विलकुल उन्हीं शब्दों में 'महावंस' में भी मिलते हैं। इससे इस मान्यता को दृढ़ता मिलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ और 'महावंस' दोनों के मूल स्रोत और आधार प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ ही हैं। 'यथाहु पोराणा' (जैसा पुराने लोगों ने कहा) या 'तेने वे पोराणकत्थेरा' (इसी प्रकार प्राचीन स्थविर) आदि शब्दों से आरम्भ होने वाले इन 'पोराण' आचार्यों के उद्धरणों को बुद्धघोष की अट्ठकथाओं और 'विसुद्धि-मग्ग' से यदि संग्रह किया जाय और 'दीपवंस' आदि के इसी प्रकार के शब्दों से उसका मिलान किया जाय तो प्राचीन बौद्ध परम्परा सम्बन्धी एक व्यवस्थित

१. 'पोराणों' के कुछ उद्धरणों के लिए देखिये विमलाचरण लाहा : वि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्ध कोय, पृष्ठ ६५-६७

२. देखिये आगे नवें अध्याय में गन्धर्वस की विषय-विस्तु का विवेचन।



और अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री हाथ लग सकती है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी अल्प न होगा ।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और पुराने आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य बृद्धघोष ने अपने पूर्वगामी सभी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है । 'दीपवंस' और 'मिलिन्द पञ्च' तो ग्राम्बुद्धघोषकालीन रचनाएँ हैं ही, बृद्ध घोष ने अपनी व्याख्याओं के लिये सब से अधिक मूल्यवान् सामग्री तो बृद्ध और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के वचनों के स्वकीय मन्थन से ही प्राप्त की है । इसी में उनकी मौलिकता भी है । वृत्ति इसमें उन्हें इतनी अधिक सफलता मिली है, इसीलिये पालि-साहित्य में उनका दान अमर हो गया है । स्वयं त्रिपिटक-साहित्य में ऐसी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, जिससे बृद्धघोष जैसे अगाध विद्वान् चाहे जितनी सहायता ले सकते थे । स्वयं भगवान् बृद्ध के सहायतम विभंग (मज्झिम. ३।४।७) अरण विभंग (मज्झिम. ३।४।९) धातु विभंग (मज्झिम. ३।४।१०) एवं दक्षिण-विभंग (मज्झिम. ३।४।१२) आदि सुत्रों में निहित व्याख्यात्मक उपदेश, तथा उनके प्रधान शिष्यों यथा सारिपुत्र, महाकात्यायन, महाकौटिल्य आदि के व्याख्यापरक निवेदन, अभिधम्म-पिटक और उसके अन्तर्गत विशेषतः 'कथावर्यु' की विवेचन-प्रणाली, ये सभी स्रोत और साधन बृद्धघोष के लिये खुले पड़े थे, जिनका पूरा उपयोग कर उन्होंने पालि-साहित्य में उस विशाल अट्ठकथा-साहित्य का प्रवर्तन किया, जो अपनी विशालता और गम्भीरता में भारतीय साहित्य में उपलब्ध समान कोटि के प्रत्येक साहित्य से बड़कर है ।

**अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना—**  
**अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ**

वास्तव में पालि के अट्ठकथा-साहित्य के समान भारतीय भाष्य-साहित्य में अन्य कुछ नहीं है । संस्कृत में भाष्य और टीकाएँ अवश्य हैं, किन्तु उनकी तुलना सर्वांग में पालि अट्ठकथाओं से नहीं की जा सकती । भाष्य की परिभाषा संस्कृत में इस प्रकार की गई है—

“सूत्रायाँ वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।” शब्द-कल्पद्रुम

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाष्य का मुख्य उद्देश्य सूत्र के अर्थ का वर्णन करना है और इसी की पूर्ति के लिये वह कुछ स्व-कथन भी करता है जिसकी भी व्याख्या में वह प्रवृत्त होता है। संस्कृत के भाष्य इस परिभाषा पर पूरे उतरते हैं। किन्तु यदि पालि अट्ठकथाओं का सम्बन्ध त्रिपिटक या बुद्ध-वचनों से उसी प्रकार का माना जाय जैसे भाष्यों का सूत्रों से, तो यह पालि के अट्ठकथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता को व्यक्त न करेगा। अर्थ की व्याख्या के साथ साथ पालि अट्ठकथाओं का एक बड़ा उद्देश्य उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट रूप से विवृत कर देना है। किसी संस्कृत के भाष्यकार ने ऐसा किया हो, यह हम नहीं कह सकते। कम से कम जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय पालि अट्ठकथाकारों ने दिया है, वह संस्कृत के भाष्यकारों में तो उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत भाष्यों में अर्थ की व्याख्या पर जोर होता है। यही काम उनकी टीकाएँ भी करती हैं। अनेक सिद्धान्तों या विचार-धाराओं के विवरण वहाँ आते हैं, किन्तु 'इत्येके' 'इत्यपरे' कह कर ही छोड़ दिये जाते हैं। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ, अथवा वह किन का था, आदि की गवेषणा वहाँ नहीं की जाती। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिकतर किया जाता है। इसके विपरीत पालि-अट्ठकथाओं में पूरे विवरण की सूची रहती है। 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को इस दृष्टि से देखें तो आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तों में से कौन किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था और वह कब उत्पन्न हुआ, आदि का पूरा विवरण वहाँ दिया गया है। वेदों के भाष्यों में ऋषियों की जीवनियों के विषय में उतना भी नहीं कहा गया, जितना पालि अट्ठकथाओं में बुद्ध और उनके शिष्यों के विषय में कहा गया है। निश्चय ही उन्होंने जो ऐतिहासिक व्योरे दिये हैं वे पूरे भारतीय साहित्य के लिये एक दम नई चीज हैं और उनकी इस विशेषता को हमें उनका महत्त्वांकन करते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये।

### पालि साहित्य के तीन बड़े अट्ठकथाकार: बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का प्रारम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठकथाएँ लिखी गईं। निश्चय ही काल के इस इतने लम्बे व्यवधान के कारण इन

अट्ठकथाओं की प्रामाणिकता उतनी सबल नहीं होती, यदि ये परम्परा से प्राप्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित नहीं होती। चूंकि ये उनकी ऐतिहासिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः इतनी आधुनिक होते हुए भी बृद्ध-युग के सम्बन्ध में इनका प्रामाण्य मान्य है, यद्यपि स्वयं त्रिपिटक के बाद। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में प्रायः समकालिक ही तीन बड़े अट्ठकथाकार पालि साहित्य में हुए हैं, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। इनके बाद कुछ और भी अट्ठकथाकार हुए, जिनका विवरण हम बाद में देंगे। अभी हम इन तीन आचार्यों के जीवन और कार्य पर विहंगम दृष्टि डालें।

### बुद्धदत्त की जीवनी और रचनाएँ

बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालिक थे, यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति' (बुद्धघोष की जीवनी) और 'मग्घवंस' तथा 'सासनवंस' (१९वीं शताब्दी के वंश-ग्रन्थ) के वर्णनों से ज्ञात होता है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णनानुसार आचार्य बुद्धदत्त, बुद्धघोष से पहले लंका में बुद्ध-वचनों के अध्ययनार्थ गये थे। अपने अध्ययन को समाप्त कर जिस नाव से लौट कर वे भारत (जम्बुद्वीप) आ रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया जिसमें बैठकर इधर से आचार्य बुद्धघोष लंका को जा रहे थे। दोनों स्वविरो में धर्म-संलाप हुआ। कुशल-मंगल और एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने के बाद, आचार्य बुद्धघोष ने उन्हें बताया "बुद्ध-उपदेश सिंहली भाषा में है। मैं उनका मागधी रूपान्तर करने लंका जा रहा हूँ"। बुद्धदत्त ने उनसे कहा "आवुस बुद्धघोष ! मैं भी तुमसे पूर्व इस लंका द्वीप में भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषामें रूपान्तरित करने के उद्देश्य से आया था। किन्तु मेरी आवु थोड़ी रही है। मैं अब इस काम को पूरा नहीं कर सकूंगा।"<sup>१</sup> जब इस प्रकार दोनों स्वविरो में आपसमें बातचीत चल रही थी तभी दोनों नावें एक दूसरी

१. "आवुसो बुद्धघोस अहं तथा पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोमिह ति वत्था अहं अप्पायुको . . ." बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ६० (जेम्स पे का संस्करण), यही वर्णन बिलकुल 'सासनवंस' में भी है, देखिये पृष्ठ २९-३० मेबिल बोड का संस्करण)



को छोड़कर चल दी।<sup>१</sup> इस विवरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोष से पहले लंका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु में बुद्धघोष से बड़े थे, क्योंकि उक्त संलाप में उन्होंने बुद्धघोष को 'आचुस' कह कर पुकारा है जो बड़ों के द्वारा छोटों के लिये प्रयुक्त किया जाता है।<sup>२</sup> बुद्धदत्त ने अपने विनय-विनिच्छय (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ में ही बुद्धघोष के साथ अपने मिलन और संलाप का वर्णन किया है। उससे प्रकट होता है कि बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की थी कि जब वे अपनी अट्ठकथाएँ समाप्त कर लें तो उनकी प्रतियाँ उनके पास भी भेज दें, ताकि वे उन्हें संधिस्त रूप प्रदान कर सकें। आचार्य बुद्धघोष ने उनकी इस प्रार्थना के अनुसार बाद में अपनी अट्ठकथाएँ उनके पास भेज दीं। आचार्य बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष-कृत अमिषम्म-पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मवतार' में और विनय सम्बन्धी अट्ठकथा का संक्षेप 'विनय-विनिच्छय' में किया। इस सूचना में सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि यह स्वयं बुद्धदत्त द्वारा दी हुई है। हाँ, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ उसका कुछ विरोध अवश्य है, क्योंकि लंका से लौटने के समय ही वे 'अल्पायु' तक जीने की आशा रखते थे, फिर इतने काल तक बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के संक्षेप लिखने के लिये किस प्रकार जीवित रहे? फिर भी इसमें कुछ वैसा विरोध नहीं है, जिस पर विश्वास ही नहीं किया जा सके। हर हालत में 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन की अपेक्षा 'विनय-विनिच्छय' का वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है, और यदि दोनों स्वविरों को हम प्रायः समवयस्क मान सकें, तब तो उनमें कुछ ऐसा अन्तर भी नहीं है। आचार्य बुद्धदत्त चोल-राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरडपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने

१. एवं तेसं द्वित्रं धेरानं अञ्जमञ्जं सल्लपन्तानं पेव हे नावा सर्व एव अपनेत्वा गच्छिंसु। बुद्धघोसुप्पत्ति एवं सासनवस, ऊपर उद्धृत के समान।

२. मिलाइये बुद्धदत्त के ग्रन्थों के सम्पादक उसी नाम के आधुनिक सिंहली भिक्षु (बुद्धदत्त) का यह कथन "अयं पन बुद्धदत्ताचरियो बुद्धघोसाचरियेन समानवस्सिको वा थोकं बुद्धदत्तरो वा ति सल्लपत्तेम" (आचार्य बुद्धदत्त बुद्धघोष के समवयस्क या कुछ ही बड़े थे, ऐसा लगता है)



भी लंका के अनुराधपुर-स्थित महाविहार में जाकर भगवान् (बुद्ध) के शासन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लंका से लौट कर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना कावेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास (कण्हुदास) या विष्णुदास (वेण्णुदास) नामक वैष्णव द्वारा निर्मित विहार में बैठ कर की,<sup>१</sup> जो वैष्णवों और बौद्धों के मधुर सम्बन्ध के रूप में पालि-साहित्य में सदा स्मृत रहेंगे।

बुद्धदत्त द्वारा रचित ग्रन्थ या अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं (१) उत्तरविनिच्छय (२) विनयविनिच्छय (३) अभिघम्मावतार (४) रूपारूपविभाग और मधुरत्थविलामिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा)। 'उत्तरविनिच्छय' (उत्तर विनिश्चय) और 'विनय-विनिच्छय' दोनों बुद्धचोपकृत समन्त-पासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के पञ्चबद्ध संक्षेप हैं। विनय-विनिच्छय में ३१ और उत्तर विनिच्छय में २३ अध्याय हैं। उत्तर-विनिच्छय के २३ अध्यायों में ९६९ गाथाएँ हैं। विनय-पिटक की विषय-सूची का अनुसरण करते हुए इसमें भी पहले महाविभंग या भिक्षु-विभंग सम्बन्धी नियमों का विवरण है, यथा पाराजिक-कथा, पटिदेसनिय कथा, सेलिय कथा, आदि। इसके बाद भिक्षुनी-विभंग के विषय हैं, यथा पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय कथा, अधिकरण पञ्चय कथा, खन्धक पुच्छा, आपत्ति समुट्ठान कथा, आदि। 'उत्तर-विनिच्छय' सिंहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखी गयी अट्ठकथा है, यह पहले कहा जा चुका है। विनय-विनिच्छय के ३१ अध्यायों में कुल मिलाकर ३१८३ गाथाएँ हैं। इसकी भी विषय-वस्तु उत्तर-विनिच्छय से ही मिलती जुलती है। केवल व्याख्या में कहीं कुछ अन्तर है। पहले महाविभंग (भिक्षु विभंग) के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, अनियत कथा, निस्सग्गिय पाचित्तिय कथा, पटिदेसनिय कथा तथा सेलिय-कथा का विवरण है। इसी प्रकार भिक्षुनी-विभंग के अन्तर्गत पाराजिक कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय कथा और पटिदेस-

---

१. 'अभिघम्मावतार' में उन्होंने स्वयं कहा है "विनय-विनिच्छयो ... चोत्तरदुडे भूतमंगलगामे वेण्णुदासस्स आरामे वसन्तेन ... कावेरीपट्टने रम्मे नानारामो-पसोभिते कारिते कण्हुदासेन दस्सनीये मनोरमे।"

निय कथा के विवेचन है।<sup>१</sup> फिर खन्धक-कथा, कम्म कथा, पकिण्णक कथा, कम्मट्ठान-कथा आदि के विवेचन हैं। इस प्रकार उत्तर-विनिच्छय<sup>२</sup> और विनय-विनिच्छय<sup>३</sup> दोनों ही अट्ठकथाएँ विनय-पिटक की विषय-वस्तु का समन्त-पासादिका के आधार पर, पद्य में विवेचन करती हैं। इन पर क्रमशः 'उत्तर लीनत्व दीपनी' और 'विनय सारत्थ दीपनी' नामक टीकाएँ भी बाद में चल कर वाचिस्सर महासामि (वागीश्वर महास्वामी) द्वारा लिखी गई, जिनका उल्लेख हम आगे चल कर टीका-साहित्य के विवेचन में करेंगे। 'अभिधम्मावतार' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है। किन्तु बुद्धघोष का अन्धानुकरण लेखक ने नहीं किया है। बुद्धघोष ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में धर्मों (पदार्थों) का विवेचन किया है, जब कि बुद्धदत्त ने 'अभिधम्मावतार' में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण, इस चार प्रकार के वर्गीकरण को लिया है। श्रीमती रायस डेविड्स ने बुद्धदत्त के वर्गीकरण को अधिक उत्तम माना है।<sup>४</sup> 'अभिधम्मावतार'<sup>५</sup> के समान 'रूपारूप-विभाग'<sup>६</sup> भी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है। इसका भी विषय रूप, अरूप, जित्त, चेतसिक आदि का विवेचन करना है। 'मधुरत्थ विलासिनी' 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा है, जिसका साहित्यिक दृष्टि से कुछ अधिक महत्त्व नहीं है।

### बुद्धघोष की जीवनी

अब हम पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य बुद्धघोष पर आते हैं।

१. इन विभिन्न शब्दों के अर्थों के लिए देखिये पीछे विनय-पिटक का विवेचन (चौथे अध्याय में)

२. ३. इन दोनों का रोमन लिपि में सम्पादन स्वविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैंक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है। इन ग्रन्थों के सिंहली, बरमी और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं, जो क्रमशः कोलम्बो, रंगून और बंकाक से प्रकाशित हुए हैं।

४. बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृष्ठ १७४

५. ६. इनका भी रोमन लिपि में सम्पादन स्वविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैंक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है।

'बुद्धघोष' अनुपिठक साहित्य का सब से बड़ा नाम है। आचार्य बुद्धघोष ने बुद्ध-शासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिये जितना अधिक काम किया है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। पालि साहित्य की जो कुछ उन्होंने दिया है वह आकार और महत्त्व दोनों में ही इतना महान् है कि वह समझना कठिन हो जाता है कि एक जीवन में इतना काम कैसे कर लिया गया। इन महापुरुष की जीवनी की पावन अनुस्मृति पहले हम करें। आचार्य बुद्धघोष ने अन्य अनेक भारतीय मनीषियों की तरह अपने जीवन के विषय में हमें अधिक नहीं बताया है। केवल अपनी अट्ठकथाओं के आदि और अन्त में उन्होंने कुछ मनुष्याणुं दो हैं, जो उनकी रचना आदि पर ही कुछ प्रकाश डालती हैं अथवा जिनकी प्रेरणा पर, और जिस उद्देश्य से वे लिखी गईं, उनके विषय में वे कुछ संक्षेप से कहती हैं, किन्तु मनुष्य रूप में बुद्धघोष के विषय में हमें उनसे कुछ सामग्री नहीं मिलती। यह पक्ष सम्भवतः बुद्धघोष के लिये इतना अमहत्त्वपूर्ण था कि उसे उन्होंने अपने महत् उद्देश्य में ही लो दिया है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी ऐसा ही किया है और भारतीय मनीषियों की यह एक निश्चित परम्परागत प्रणाली ही रही है कि अपने साधारण व्यक्तित्वगत जीवन के विषय में उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा है। उनकी यह निर्व्यक्तिकता उनके सन्देश को निश्चय ही एक अधिक बल प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मनुष्य होने के नाते हम उनके मानव-रूप की भी जानना चाहते ही हैं। और उससे इस अवस्था में जानने का अवकाश नहीं रह जाता। बुद्धघोष की जीवनी को जानने के लिये उनकी अट्ठकथाओं में दी हुई थोड़ी बहुत सामग्री के अतिरिक्त प्रधान साधन है (१) महावंस या ठीक कहें तो चूलवंस<sup>१</sup> के सैंतीसवें परिच्छेद की २१५-२४६ गाथाएँ (२) बुद्धघोसू-त्पत्ति या महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु (३) मन्ववस (४) नासतवंस (५) सद्धम्म संगह। 'महावंस' का उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश जिसमें बुद्धघोष की जीवनी वर्णित है धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु की रचना है, जिसका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। चूंकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौबीसवीं

४. ३७।५० तक महावंस है। उसके बाद का परिवर्द्धित अंश चूलवंस के नाम से प्रसिद्ध है। देखिये आगे नवें अध्याय में बंध-साहित्य का विवेचन।

शताब्दी इसकी है, अतः उनके आठवीं नौ सौ वर्ष बाद लिखी हुई उनकी जीवनी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, यह तो निश्चित ही है। फिर भी सब से अधिक प्रामाणिक वर्णन जो हमें बुद्धघोष की जीवनी का मिलता है वह यही है। 'गन्धर्वस' और 'सासन वंस' तो ठीक उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, अतः उनका इस सम्बन्ध में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। 'बुद्धघोष-प्यत्ति' धम्मकित्ति महासाभि (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है, जो महावंस के उपर्युक्त अंश के बाद किन्तु गन्धर्वस और सासन वंस से पहले की रचना है। इस रचना में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि इसके भी प्रामाण्य को सर्वांश में नहीं माना जा सकता। केवल महावंस के उपर्युक्त अंश का वर्णन ही प्रायः इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धघोष की जीवनी की रूपरेखा यह है—आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया के समीप बोधिवृक्ष के पास हुआ। बाल्यावस्था में ही जिल्प और तीनों वेदों में पारंगत होकर यह ब्राह्मण विद्यार्थी बाद-विवाद के लिये भारतवर्ष भर में घूमने लगा। ज्ञान की बड़ी उत्कट जिज्ञासा थी। योगान्यास में भी बड़ी रुचि थी। एक दिन रात में किसी विहार में पहुँच गया। वहाँ पातञ्जल मत पर बड़ा अच्छा प्रवचन दिया। किन्तु रेवत नामक बौद्ध स्थविर ने उन्हें बाद में पराजित कर दिया। इन बौद्ध भिक्षु के मुख से बुद्ध-शासन का वर्णन सुनकर बुद्धघोष को विश्वास हो गया 'निश्चय ही (मोक्ष का) यही एक मात्र मार्ग है' (एकायनो अयं मग्गो) और उन्होंने प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने पिटक-त्रय का अध्ययन किया। वास्तव में भिक्षु होने से पहले बुद्धघोष एक ब्राह्मण विद्यार्थी (ब्राह्मणमाणवो) मात्र थे। बाद में भिक्षु-संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान गम्भीर जानकर उन्हें 'बुद्धघोष' की पदवी दे दी।<sup>१</sup> जिस विहार में उनकी प्रव्रज्या हुई थी वहीं उन्होंने ज्ञानोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं उन्होंने 'धम्मसंगणि' पर 'अट्ठसाळिनी' नाम की अट्ठकथा भी लिखी

१. बुद्धस्स विष गम्भीरघोसत्ता नं वियाकर्ह।

बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विष महीतले॥



और अन्त में त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखने का उपक्रम किया, जिसे देख कर उनके गुरु महास्वविर रेवत ने उनसे कहा<sup>१</sup>, "लंका से यहाँ भारत में केवल मूल पालि-त्रिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं हैं। विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, लंका-दीप में महास्वविर महेंद्र (महिन्द) द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, और वाद में मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सब के लिये हितकारी हों।"<sup>२</sup> इस प्रकार अपने गुरु से आज्ञा पाकर आचार्य बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासन-काल में लंका में गये। अनुराधपुर के महाविहार के महापद्धान्त नामक भवन में रह कर उन्होंने संघ-पाल नामक स्वविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्वविरवाद की परम्परा की सुना। बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी (बुद्ध) का यही ठीक अभि-प्राय है।<sup>३</sup> तब उन्होंने महाविहार के भिक्षु-संघ से प्रार्थना की "मे अट्ठकथाओं का (मागधी) रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे अपनी पुस्तकों को देखने की अनुमति दे।"<sup>४</sup> इस पर भिक्षुओं ने उन्हें दो गाथाएँ परीक्षा-स्वरूप व्याख्या

१. तस्य आपोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।

धम्मसंगणियाकासि कण्ठं सो अट्ठसालिनिं॥

परित्तट्ठकथं चैव कातुं आरभि बुद्धिमा।

तं विस्वा रेवतो धेरो इदं वचनं अश्रुवि॥

२. पालिमत्तं इवानीतं तस्य अट्ठकथा इय।

तयाचरियवादा व भिन्नरूपा न विज्जरे॥

सोहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन मतीमता।

संगीतित्तयं आकळ्हं सम्मासम्बुद्धवेसितं॥

कता सोहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।

तं तस्य गत्वा सुत्वा त्वं मागवानं निरुत्तिया।

परिवत्तेहि सा होति सम्बलोकहितावहा॥

३. धम्मसा मिस्स एसो व अधिप्पायो ति निच्छियं।

४. कातुं अट्ठकथं मम पोत्वके देयं।

करने के लिये दी। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की। 'विसुद्धिमग्ग' की विद्वत्ता को देख कर भिक्षुओं को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हें अपनी सब पुस्तकें देखने की अनुमति दे दी।<sup>१</sup> अनुराधपुर के गन्यकार (ग्रन्थकार) विहार में बैठ कर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपांतर करने सम्बन्धी अपने कार्य को पूर्ण किया।<sup>२</sup> इसके बाद वे अपनी जन्म-भूमि भारत लौट आये और यहाँ आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।<sup>३</sup> इस वर्णन से एक बड़े महत्व की बात यह निश्चित हो जाती है कि बुद्धघोष महास्फविर लंका के राजा महानाम के समय में लंका में गये। यह राजा महानाम चौथी शताब्दी के अन्तिम और पाँचवीं शताब्दी के आदि भाग में लंका में शासन करता था। अतः निश्चित है कि बुद्धघोष का जीवन-कार्य इसी समय किया गया। बुद्धघोष ने किसी भी ऐसे ग्रन्थ आदि का उद्धरण नहीं दिया है जो उस काल के बाद का हो। बरमी परम्परा भी यही मानती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लंका द्वीप में गमन किया। चूँकि उस समय उनकी अवस्था कम से कम तृण तो रही ही होगी, अतः उनका जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी कहा जा सकता है। हाँ 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश में आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थान बुद्ध गया के समीप बतलाया गया है।<sup>४</sup> आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्धघोष महास्फविर संभवतः उत्तर भारत के नहीं हो सकते थे। उनकी किसी भी कथा की पृष्ठभूमि उत्तर भारत में नहीं रखी गई है। इसके अतिरिक्त विसुद्धिमग्ग १।८६ ( धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) में 'वन-दाह' की उनके द्वारा व्याख्या तथा मज्झिम-निकाय के गोपालक-सुत्त की व्याख्या में

१. निस्संसयं स मेत्तेय्यो ति वत्त्वा पुनप्पुनं ।

सद्धि अट्ठकथायादा पोत्थके पिटकत्तये ॥

२. गन्यकारे वसन्तो सो विहारे दूरसंकरे ।

परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा ॥

३. वन्दितुं सो महाबोधि जम्बुद्वीपं उपागमि ॥

४. बोधिमण्डसमीपम्हि जा तो ब्राह्मणमाणवो ।

उनके द्वारा किया हुआ गंगा का विवरण, सब यही दिखलाते हैं कि जिस वन-दाह का उन्होंने वर्णन किया है वह भी दक्षिण की वस्तु है और जिस गंगा का उन्होंने वर्णन किया है वह उत्तर भारत की गंगा न होकर दक्षिण भारत की महाबली गंगा है। इस प्रकार आन्तरिक साक्ष्य के आधार आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आचार्य बुद्धघोष उत्तरी भारत की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित नहीं थे, अतः वे वहाँ के निवासी नहीं हो सकते। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उस ब्रह्मी परम्परा को प्रामाणिक माना है जो बुद्धघोष को दक्षिण भारत का ब्राह्मण मानने की पञ्जपातिनी है। 'विसुद्ध-मार्ग' के निगमन (उपसंहार) में अपना परिचय देते हुए आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त निर्व्यक्तिकता पूर्वक कहा है "बुद्धघोसी ति गहहि गहित नामधेयेन धरेन मोरण्डखेटक-वत्तध्वेन कत्तो विसुद्धिमार्गो नाम" (वहाँ के द्वारा 'बुद्धघोष' नाम दिये हुए, मोरंड खेटक के निवासी, स्थविर (बुद्धघोष) ने इस विसुद्धि-मार्ग को लिखा।) इसके आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह मत प्रकट किया है कि आचार्य बुद्धघोष दक्षिण-भारत के मोरण्डखेटक (मोरंड नामक खेटक, खेड़ा) नामक गाँव के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष कुछ दिन, जैसा उन्होंने अपनी मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा में कहा है मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन में भी रहे थे और वहीं बुद्धमित्र नामक स्थविर के साथ रहते हुए उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखा था।<sup>१</sup> आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी की धारणा है कि यह मयूरसुत्त-पट्टन या मयूररूपपट्टन कहीं तेलंग प्रदेश में था। इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष कांचीपुर आदि दक्षिण के नगरों में भी रहे थे, जैसा उनके अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा के अन्त में इस वाक्य से प्रकट होता है—

१. आयाचितो सुमतिना धरेन भवन्त-बुद्धमित्तेन।

पुब्बे मयूरसुत्तपट्टनम्हि तद्धि वसन्तेन॥

यमहं पपञ्चसूदनमट्ठकथं कातुमारद्धो॥

“स्थविर ज्योतिपाल के साथ काञ्चीपुर तथा अन्व स्वानों में रहते हुए मनें उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखना आरम्भ किया”<sup>१</sup> इस प्रकार बुद्धघोष ने नूँकि अपने जीवन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य दक्षिण के इन नगरों में ही किया, अतः वे दक्षिण के ही निवासी थे, ऐसा निष्कर्ष आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनकी अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर निकाला है,<sup>२</sup> जो उस हद तक ठीक कहा जा सकता है। फिर भी उनका जन्म-स्थान भी दक्षिण-प्रान्त था, यह उपर्युक्त विवरणों से प्रमाणित नहीं हो जाता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उनका जीवन-कार्य अधिकतर दक्षिण-भारत में किया गया। ‘महावंस’ के ऊपर उद्धृत अंश और ‘बुद्धघोसुप्पत्ति’ आदि में भी बुद्धघोषाचार्य को ब्राह्मण कहा गया और उन्हें तीनों वेद, नाना शिल्पों तथा पातञ्जल योग आदि मतों का पारङ्गत कहा गया है।<sup>३</sup> आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनके ब्राह्मण होने में भी सन्देह किया है और इसी प्रकार उनके वेद तथा पातञ्जल मत आदि शास्त्रों में पारंगत होने के में भी सन्देह प्रकट किया है। बुद्धघोष के ब्राह्मण न होने के विषय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह तर्क दिया है कि बुद्धघोष को वेद के पुरुष-सूक्त जैसे महत्वपूर्ण अंश से भी जानकारी नहीं थी, क्योंकि इस सूक्त को एक ऋचा में अत्रिय को ब्रह्मा के वाहु से उत्पन्न बताया गया है, जब कि बुद्धघोष ने इसी सूक्त की ओर संकेत करते हुए उसे हृदय से उत्पन्न बताया है।<sup>४</sup> नूँकि वाहु और हृदय दोनों ही साहस

१. आयाचितो सुमतिना धेरेन भदन्त-ज्योतिपालेन।

कञ्चीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धि वसन्तेन ॥

अट्ठकथं अंगुत्तरमहानिकायस्त कातुमारब्धो ॥

२. देखिये उनके द्वारा सम्पादित ‘विसुद्धिमग्ग’ का अंग्रेजी-प्राक्कथन, पृष्ठ १५-१८।

३. मिलाइये बुद्धघोसुप्पत्ति “सत्तवस्सिककाले सो तिण्णं वेदानं पारगू अहोसि” (सात वर्ष की अवस्था में ही वह (बुद्धघोष) तीनों वेदों का पारंगत हो गया)

४. पुरुष सूक्त में शब्द है—वाहु राजन्यः कृतः जब कि बुद्धघोष ने लिखा है ‘स्रतिया उरतो निक्खन्ता’ (अत्रिय हृदय से निकले)। विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा



के प्रतीक है अतः सम्भव है आचार्य बुद्धघोष से, जो स्मृति में लिख रहे होंगे, दोनों के साधर्म्य के कारण यह गलती हो गई हो। यदि इस गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह उनके ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण होने से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकता है ? यह सूक्त-विषयक अनभिज्ञता तो बुद्धघोष के ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण दोनों के ही होते हुए हो सकती थी। अतः इसके कारण आचार्य कोसम्बी का बुद्धघोष को अ-ब्राह्मण ठहराना ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार चूंकि बुद्धघोष ने 'गृहपति' या ऋषक-वर्ग की प्रशंसा की है, उनको किसी किसान के घर उत्पन्न हुआ मानना भी ठीक नहीं होगा, जैसा मानने का आचार्य कोसम्बी ने प्रस्ताव किया है।<sup>१</sup> संस्कृत शास्त्रों का बुद्धघोष का ज्ञान अपूर्ण था, यह भी उद्धरण देकर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने दिखाने का प्रयत्न किया है।<sup>२</sup> उच्चर वा० विमलाचरण लाहा ने कोई ऐसा भारतीय ज्ञान-शास्त्र ही नहीं छोड़ा है जिस पर बुद्धघोष का पूर्ण अधिकार न दिखा दिया हो।<sup>३</sup> हम समझते हैं कि सत्य इन दोनों कोटियों के बीच में है। आचार्य बुद्धघोष को संस्कृत-साहित्य से अवगति अवश्य थी, किन्तु वह उस अगाध पांडित्य के रूप में नहीं था जिसे हम एक वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ संयुक्त कर सकते हैं। वरन् परम्परा को यह मान्यता है कि आचार्य बुद्धघोष वरमा में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गये थे। किन्तु इसका अब तक कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला। उसके अभाव में हम यही मान सकते

सम्पादित) के प्राक्कथन, पृष्ठ १३ में उद्धृत।

१. विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३ एवं १६ (प्राक्कथन)
२. विसुद्धिमग्ग (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण), के प्राक्कथन में पृष्ठ १३-१४
३. उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष' में एक पूरा परिच्छेद (छठा) ही आचार्य बुद्धघोष की विद्व-कोश जैसी बहुज्ञता के विवरण के लिए दिया है, पृष्ठ १०४-१३५।
४. उन्होंने पाणिनि के नियम के अनुसार अनेक पालि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि व्याकरण-साहित्य का विवेचन। बुद्धघोष-व्युत्पत्ति (पृष्ठ ६१, प्रे का संस्करण) के अनुसार सिंहली भिक्षुओं ने भी बुद्धघोष के संस्कृत-ज्ञान के विषय में सन्देह किया था, जिसका उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण दे कर निराकरण भी कर दिया था। देखिये लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष, पृष्ठ ३८-३९।

हैं कि बुद्धघोष की रचनाओं के अत्यधिक प्रसार और आदर के कारण ही उनके नाम के साथ इतनी आत्मीयता वहाँ प्रचलित हो गई है । आचार्य बुद्धघोष के निर्वाण के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं । किन्तु कम्बोडिया के निवासियों का यह विश्वास है कि बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश में ही हुआ था । वहाँ 'बुद्धघोष विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार आज तक उनकी स्मृति को सँझहर के रूप में खड़ा रह कर सुरक्षित बनाये हुए है ।<sup>१</sup> हमें कम्बोडिया-निवासियों के विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता ।

### बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष की रचनाएँ ये हैं—

१. विसुद्धिमग्ग — संयुक्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति
२. समन्तापासादिका — विनय-पिटक की अट्ठकथा
३. कल्लावितरणी — पातिमोक्ख की अट्ठकथा
४. सुसंगलविलासिनी — दीघ-निकाय की अट्ठकथा
५. पपञ्चनसुदनी — मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा
६. सारत्थपकासिनी — संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा
७. मनोरथपूरणी — अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
८. परमत्थजोतिका — खुट्क-निकाय के खुट्क-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा
९. अट्ठसालिनी — धम्मसंगणि की अट्ठकथा
१०. सम्मोहविनोदनी — विभंग की अट्ठकथा
- ११-१५. पञ्चपणकरणट्ठकथा — धम्म संगणि और विभंग को छोड़कर शेष ५ अभिधम्म ग्रंथों की अट्ठकथाएँ
१६. जातकट्ठवण्णना — जातक की अट्ठकथा

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पद-संकेत २

१७. धम्मपदट्ठकथा — धम्मपद की अट्ठकथा  
 १८. अन्य ग्रन्थ — ज्ञानोदय आदि (जो प्राप्त नहीं)  
 इनका कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक होगा ।

### विसुद्धिमग्ग<sup>१</sup>

'विसुद्धिमग्ग' या 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्धि-मार्ग) सम्भवतः आचार्य बुद्धघोष का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसे बुद्ध-धर्म का विश्वकोश ही समझना चाहिये । बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है जिसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में न किया गया हो । अपने पूर्वगामी सम्पूर्ण पिटक और अनुपिटक साहित्य का मन्थन ही जैसे आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ में किया है । आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी रचनाओं में इस ग्रन्थ को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है । दीघ, मज्झिम, संपुत्त और अंगुत्तर इन चारों निकायों की अपनी अट्ठकथाओं की प्रस्तावनाओं में उन्होंने पुनरुक्तिपूर्वक यह कहा है "चारों आगमों (निकायों) के बीच में स्थित होकर यह 'विसुद्धि-मग्ग' उनके ग्रन्थों अर्थ को प्रकाशित करेगा ।"<sup>२</sup> ऐसा मालूम पड़ता है उन्होंने पहले 'विसुद्धि मग्ग' की रचना की और फिर चार निकायों की अट्ठकथाओं की । इसीलिए जिस विषय का विस्तृत निरूपण उन्होंने पहले 'विसुद्धि मग्ग' में कर दिया है, उसे

१. इस ग्रन्थ का देव-नागरी लिपि में सम्पादन आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने किया है, जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई, (१९४०), से प्रकाशित भी हो चुका है । इस महत्त्वपूर्ण संस्करण का उल्लेख कर देने के बाद अन्य किसी संस्करण के उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रह जाती । निश्चय ही यह इतना ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन है और हिन्दी का तो विशेष गौरव है । 'विसुद्धि-मग्ग' का अभी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ । इस लेखक ने इसके 'शील-स्कन्ध' का अनुवाद किया है, जो 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशनीय है । इसी प्रकार त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्म-रक्षित का भी इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद ज्ञान-मंडल, काशी से छपने वाला है ।

२. मज्जे विसुद्धिमग्गो एस चतुस्रम्पि आगमानं हि  
 ठट्ठा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं ॥

फिर निकायों की अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया है। इसके विषय में भी उन्होंने प्रत्येक निकाय की अट्ठकथा के आरंभ में कहा है "चूँकि मैंने इस सबका बुद्ध निरूपण 'विसुद्धि-मग्ग' में किया है, इसलिए उसके संबंध में फिर यहाँ पुनरावृत्ति विचार नहीं करूँगा।" निश्चय ही आचार्य बुद्धघोष ? 'विसुद्धि मग्ग' को अपनी संपूर्ण रचनाओं का मध्यस्थ बिन्दु मानते थे और अपनी अट्ठकथाओं के अध्ययन से पहले पाठक से वे उसके अध्ययन की अपेक्षा रखते थे।

यद्यपि 'विसुद्धि-मग्ग' (विशुद्धि मार्ग) पूरे अर्थों में एक मौलिक रचना है, किन्तु वह दो भाषाओं की व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। वे दो भाषाएँ हैं—

"अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा। तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं ति।"

दूसरी भाषा है—

"सोले पटिठाय नरो समञ्जो चित्तं पञ्जञ्च भावये।

आतापो निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति।"

पहली भाषा प्रश्न के रूप में है और दूसरी भाषा उसका उत्तर है। विसुद्धि-मग्ग के प्रारंभ में ही कहा गया है कि एक बार जब भगवान् श्रावस्ती में विचरते थे तो किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे प्रथम भाषा के रूप में प्रश्न पूछा जिसका अर्थ है "अन्दर भी उलझन है, बाहर भी उलझन है। वह जनता उलझन में जकड़ी हुई। अतः हे गोतम ! मैं तुमसे पूछता हूँ—कौन इस उलझन को सुलझा सकता है ?" भगवान् ने दूसरी भाषा के द्वारा इसका उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह है "शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान् मनुष्य जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तो इस प्रकार उद्योगी और ज्ञानवान् भिक्षु होकर वह उस उलझन को सुलझा देता है।" वस इस भगवान् के उत्तर को लेकर ही आचार्य बुद्धघोष ने संपूर्ण बौद्ध ज्ञान और दर्शन को एक एक निश्चित उद्देश्य के सूत्र में पिरो दिया है। वह उद्देश्य क्या है ? साधना के मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्ट-

१. इति पन सच्चं यस्मा विसुद्धिमग्गो मया सुपरिसुद्धं।

वुत्तं तस्मा भिद्यो न तं इध विचारयिस्तामि॥



तम निर्देश कर देना । दूसरे शब्दों में 'विसुद्धिमग्ग' बौद्ध मोग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है । हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य बुद्धघोष बुद्ध-मत में प्रवर्जित होने से पहले पातञ्जल-योग-दर्शन में निष्णात थे । निश्चय ही उन्होंने 'विसुद्धि-मग्ग' के रूप में बौद्धों के योगदर्शन को ही साधकों के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है । पातञ्जल योग-दर्शन की अपेक्षा 'विसुद्धि-मग्ग' अधिक सुव्यवस्थित और नियम-बद्ध है,<sup>१</sup> यह कहा जाय तो यह अतिरंजना नहीं होगी । बुद्धघोष महात्सविर ने साधकों के कल्याण के लिए ही इस महाग्रन्थ की रचना की है, इसे उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में यह कहकर दुहराया है 'साधुजनपामुञ्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे' 'साधुजनों की प्रसन्नता के लिये रचित 'विशुद्धि-मार्ग' में, आदि) । इसी प्रकार इस ग्रन्थ के आदि में भी उन्होंने कहा है "मे विसुद्धि के मार्ग का भाषण कहेंगा । सभी साधु पुरुष, जिन्हें पवित्रता की इच्छा है, मेरे कहे हुए को आदरपूर्वक सुनें"<sup>२</sup> (विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सब्बकच्च भासतो । विसुद्धिकामा सत्त्वे पि निसामपथ साधवो ति) । यह ग्रन्थ महाविहारबासी भिक्षुओं की उपदेशविधि पर ही आधारित है, इसे भी बुद्धघोष ने यही दिला दिया है "महाविहारबासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित 'विशुद्धि-मार्ग' का मैं कबन कहेंगा (महाविहारबासीनं देसनानयनिस्सितं विसुद्धिमग्गं भासिस्सं) ।

जैसा अभी कहा गया, 'विशुद्धि-मार्ग' साधना-मार्ग की नाना भूमियों का क्रमबद्ध वर्णन करता है । 'विशुद्धि' का अर्थ किया है आचार्य बुद्ध-घोष ने 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण' और 'मग्ग' या मार्ग का अर्थ किया है 'प्राप्ति का उपाय' । अतः 'विशुद्धिमार्ग' का अर्थ है 'सर्वमल-रहित,

१. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप: पालि महाव्याकरण, पृष्ठ सैंतालिस (वस्तुकथा)
२. 'विसुद्धिमग्ग' के अन्त में उन्होंने फिर अपनी इसी अभिलाषा को दुहराया है 'तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्जेहि योगिहि । विसुद्धिमग्गे एतस्मिं करणीयो व आदरो ति' (विशुद्धि के इच्छुक, शुद्ध ज्ञान वाले योगी इस विशुद्धि-मार्ग में आदर-बुद्धि करें) पृष्ठ ५०६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

अत्यन्त पीरशुद्ध, निर्वाण की प्राप्ति का उपाय"। इस उपाय की मुख्य तीन भूमियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर कमिक साधन के द्वारा प्राप्त की जाती हैं। इन तीन भूमियों के नाम हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान् बूद्ध के शब्दों में यही तीन धर्म-स्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में साधना के पूरे मार्ग का विवरण करना ही 'विसुद्धि-मग्ग' का लक्ष्य है।<sup>१</sup> इस महापर्व में कुल मिलाकर २३ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम दो परिच्छेद शील या सदाचार का निरूपण करते हैं। १-३—१३ परिच्छेद समाधिका निरूपण करते हैं। १४—२३ परिच्छेद प्रज्ञा का निरूपण करते हैं। शील का निरूपण करने वाले प्रथम दो परिच्छेदों के नाम हैं क्रमशः 'शील-निर्देश' (सीलनिर्देशो) और 'अवधूत-व्रतों का निर्देश' (धुतंग निर्देशो)। प्रथम परिच्छेद में आचार्य बूद्धघोष ने अपने विवेच्य विषय की प्रशनों के रूप में वर्गीकृत किया है—

- (१) शील क्या है ?
- (२) किस अर्थ से 'शील' है ?
- (३) शील के लक्षण, सार, प्रकटित स्वरूप और आसन्न कारण क्या हैं ?
- (४) शील का सुपरिणाम क्या है ?
- (५) शील कितने प्रकार का है ?
- (६) शील का भेला होना क्या है ?
- (७) शील का निर्मल होना क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर जो बूद्धघोष ने दिये हैं, उनका यदि यहाँ संक्षेप भी दिया जाय तो वह भी कई पृष्ठ लेगा। फिर इनके साथ अनेक अवान्तर विषय भी 'विसुद्धि मग्ग' में सम्मिलित हैं—जिनका साधकों के लिए अपना महत्त्व है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में जिन्हें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं किया जा

१. 'विसुद्धि मग्ग' की विषय-वस्तु का विस्तार विश्लेषण भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपनी अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१८-२५७ में किया है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु पमरसित ने भी "धर्म दूत" अप्रैल-मई १९४७ पृष्ठ ६१-६६ में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है।

सकता । उदाहरणतः बुद्धघोष द्वारा शील की प्रशंसा,<sup>१</sup> ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श का प्रकाशन,<sup>२</sup> और सबसे बढ़कर कुछ बौद्ध साधकों के पवित्र-जीवन संबंधी अभ्यास के उदाहरण,<sup>३</sup> आदि बड़े मार्मिक प्रसंग हैं । तेरह अवधूत व्रतों (जो दूसरे परिच्छेद के विषय हैं) के नामों का विवरण हम 'मिलिन्द पञ्च' का विवरण करते समय दे चुके हैं । उन्हीं का यहाँ भी विस्तृत विवरण है । प्रत्येक अवधूत-नियम के विषय में यहाँ इतनी दृष्टियों से विचार किया गया है (१) अर्थ (२) लक्षण (३) ग्रहण की विधि (४) विभिन्न प्रकार, यथा उत्तम, मध्यम, हीन (५) भंग होना (६) व्रत-रक्षण की प्रशंसा (७) कुशल-त्रिक के रूप में वर्गीकरण (८) समष्टिगत विवरण (९) व्यक्तिगत विवरण । अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों की वृद्धि के लिए ही इन नियमों के अभ्यास का विधान किया गया है । वास्तव में ये चित्त के मूल को शुद्ध करने के लिए ही हैं । अतः इनका अभ्यास सब के लिए अनिवार्य नहीं है । आचार्य बुद्धघोष ने इन कठिन नियमों के विवेचन में तथागत के मध्यम मार्ग को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है । इसीलिए उन्होंने एक महत्वपूर्ण प्रश्न किया है 'कस्स धृतंगसेवना सप्पाया ति' अर्थात् किसका अवधूत-व्रतों का अभ्यास अनुकूल है ? उत्तर दिया है 'रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च' अर्थात् उस व्यक्ति का जिसके आचरण में अभी राग वर्तमान है, मोह वर्तमान है । उन्होंने स्वीकार किया है 'धृतंगसेवना हि दुक्खा पटिपदा चेव सल्लेखविहारो च' अर्थात् अवधूत-व्रतों का अभ्यास दुःख का मार्ग है और तपस्चर्या का जीवन है । उनका उपयोग साधक के लिए केवल इसीलिए है कि वे चित्त-मलों को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार वे भिक्षु के अंग ही बन जाते हैं । दुःख-मार्ग के आश्रय लेने वाले का राग शान्त हो जाता है, तप-श्चर्या से रहने वाले अप्रमादी व्यक्ति का मोह नष्ट हो जाता है\* । इसीलिए राग

१. पृष्ठ ६-७

२. पृष्ठ ३४-३५

३. देखिये विशेषतः पृष्ठ १४, २२, २६-२८, ३१-३२ आदि, आदि

४. दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसमति । सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति । पृष्ठ ५४-५५

द्वेषादियुक्त व्यक्तियों का चित्त-शुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक इन श्रुतों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उनके दोष शान्त हो जाते हैं।

शील या सदाचार के बाद विशुद्धि-मार्ग उस दूसरी ऊँची भूमिका का वर्णन करता है, जिसका नाम समाधि है। समाधि की परिभाषा करते हुए आचार्य बृद्धघोष ने कहा है 'कुशलचित्तेकगता समाधि' अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। किसी एक आलम्बन (विषय) में चित्त और चेतनिक कर्मों को समान और सम्यक् रूप से बिना विक्षेप और विकीर्णता के रखना ही चित्त की समाधि या समाधान (सम्यक् आधान) कहलाता है।<sup>१</sup> समाधि के विषय में भी आचार्य बृद्धघोष ने वही प्रश्न किये हैं जो शील के विषय में, यथा (१) समाधि क्या है? (२) किस अर्थ में 'समाधि' है? (३) समाधि के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या हैं? (४) समाधि कितने प्रकार की है? (५) समाधि का मलिन होना क्या है? (६) समाधि का निर्मल होना क्या है? और (७) समाधि की भावना किस प्रकार करनी चाहिए? इनके उत्तरों का संक्षेप देना तो यहाँ असंभव ही होगा। केवल कुछ मोटी बातें ही कही जा सकती हैं। आचार्य बृद्धघोष ने समाधि का प्रधानतः दो भागों में विवरण किया है, यथा उपचार समाधि (२) अर्पणा समाधि। चार भागों में भी, यथा—

(१) दुक्खा पटिपदा दग्धाभिञ्जा।

(२) दुक्खा पटिपदा खिप्पाभिञ्जा।

(३) सुखा पटिपदा दग्धाभिञ्जा।

(४) सुखा पटिपदा खिप्पाभिञ्जा।

जैसा अभी कहा गया, समाधि-स्कन्ध का विवरण 'विसुद्धिमग्ग' के ३-१३ परिच्छेदों में है। इन परिच्छेदों के नाम-विवरण के अलावा उनकी विषय-वस्तु का तो संक्षिप्त निर्देश भी यहाँ प्रायः असंभव ही है, अतः हम उनके नाम देकर उनकी विषय-वस्तु को इंगित मात्र करेंगे।

१. एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविविक्खपमान अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिदुत्तन्ति, इदं समाधानं ति वेदितव्वं (पृष्ठ ५७)



## समाधि-स्कन्ध (परिच्छेद ३-१३)

३. कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) को ग्रहण करने का निर्देश (कम्मट्ठानग्रहण निद्देशो)—समाधि-भावना की दस बाधाओं<sup>१</sup> (पलिबोवा) को छोड़ने का उपदेश ।

४. पृथ्वी-कृत्स्न (ध्यान-विशेष) का निर्देश (पववीकसिणनिद्देशो)—पृथ्वी-कृत्स्न नामक ध्यान का विवरण । समाधि के अर्थात् १८ स्थानों<sup>२</sup> को छोड़ने का आदेश एवं चार ध्यानों का विस्तृत विवरण ।

५. शेष कृत्स्नों (ध्यान विशेषों) का निर्देश (सेसकसिणनिद्देशो)—पृथ्वी-कृत्स्न से अतिरिक्त शेष आपो-कृत्स्न (जल-कृत्स्न) आदि ९ ध्यानों का विवरण ।

६. असुभ कर्मस्थान का निर्देश (असुसकम्मट्ठान निद्देशो)—शरीर की गन्धनिषों के ध्यान के द्वारा अर्पणा-समाधि की प्राप्ति का उपाय ।

७. छह अनुस्मृतियों का निर्देश (छ अनुस्सति निद्देशो)—बुद्ध, धर्म, संघ, श्रील, त्याग और देवताओं की अनुस्मृतियाँ ।

८. अनुस्मृति और कर्म-स्थान का निर्देश (अनुस्सति कम्मट्ठान निद्देशो)

१. यथा आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, जाति-बन्धु, रोग, पन्थ (-रचना) और ऋद्धि (योग-विभूति)

२. यथा (१) बहुत बड़ा विहार, (२) बिलकुल नया विहार, (३) बहुत पुराना विहार, (४) सड़क के किनारे स्थित, (५) तालाब के किनारे स्थित, (६-८) पेड़, फूल और फलों वाले बागों से युक्त, (९) अति प्रसिद्ध, (१०) नगर के बीच में स्थित, (११) अधिक पेड़ों के बीच स्थित, (१२) खड़ी फसलों वाले खेत के समीप, (१३) भगडालू-भिक्षु जहाँ रहते हों, (१४) जहाँ के व्यक्ति अधार्मिक हों, (१५) सीमा-प्रान्त में अवस्थित, (१६) अ-रक्षित स्थान में स्थित और (१८) जहाँ कल्याण-मित्र (आध्यात्मिक गुरु या मार्ग द्रष्टा) न मिल सके ।

मरण, कायगतासति, आनापान-सति और उपशम इन चार अनुस्मृतियों तथा योग-आलम्बनों का विवरण ।

९. ब्रह्मविहार का निर्देश (ब्रह्मविहार निर्देशो)—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यही चार भावनाएँ 'ब्रह्म-विहार' कहलाती हैं । इनका विशद विवरण । इन भावनाओं का निर्देश पतंजलि ने भी अपने योग-दर्शन में किया है ।

१०. अ-रूपता का निर्देश (आरूप्य निर्देशो)—अरूपता-सम्बन्धी ध्यानों का विवरण, यथा आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवस्तज्ञानासंज्ञायतन ध्यानों का विवरण ।

११. समाधि का निर्देश (समाधि निर्देशो) समाधि-भावना का उपदेश एवं शरीर की अशुभता आदि पर ध्यान । आहार में प्रतिकूल-संज्ञा आदि का विवेचन भी ।

१२. ऋद्धिषु का निर्देश (इद्धिषु निर्देशो)—दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य वशु इन चार योग-विभूतियों का विवरण ।

१३. अभिज्ञा (उच्चतम ज्ञान) का निर्देश (अभिज्ञा निर्देशो)—पूर्वजन्म की स्मृति आदि का ही विस्तृत विवरण ।

प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए आचार्य बृद्धलोप ने कह, है 'कुशलचित्तसम्प-युक्तं विपस्सनाज्ज्ञाणं पञ्ज्ञा' अर्थात् कुशल-चित्त से युक्त विषयना-ज्ञान ही प्रज्ञा है । प्रज्ञा-स्कन्ध के परिच्छेदों की विषय-वस्तु इस प्रकार है—

१४. स्कन्ध-निर्देश (स्कन्ध-निर्देशो)—पञ्च-स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान) का विवेचन ।

१५. आयतन और धातुओं का निर्देश (अयतन-धातु निर्देशो)—१२ आयतन और अठारह धातुओं का विवरण ।

१६. इन्द्रिय और सत्त्वों का निर्देश (इन्द्रिय-सत्त्वनिर्देशो)—पाँच इन्द्रिय और चार आर्य-सत्त्वों का विवरण ।

१७. प्रज्ञा की भूमियों का निर्देश (पञ्ज्ञाभूमिनिर्देशो)—स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्त्व और प्रतीत्य समुत्पाद ये प्रज्ञा की भूमियाँ हैं । प्रथम पाँच का वर्णन पहले हो चुका है । यही प्रतीत्य समुत्पाद का विस्तृततम विवरण उपलब्ध होता है ।

१८. दृष्टि की विशुद्धि का निर्देश (दिट्ठिविसुद्धि निद्देशो)—नाम और रूप का यथावत् दर्शन ही दृष्टि-विशुद्धि है—इसका विस्तृत विवरण ।

१९. संशय को पार करने के रूप में विशुद्धि का निर्देश (कंखावितरण-विसुद्धि निद्देशो)—यथाभूत ज्ञान, सम्यक् दर्शन और संशय को पार करना, यह सब एक ही वस्तु है, केवल शब्द नाना हैं ।

२०. मार्ग और अमार्ग के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (मग्गामग्गज्झाणदस्सनविसुद्धि निद्देशो) पदार्थों के उदय और व्यय को देखना एवं विषयनाश-प्रज्ञा की भावना करना ।

२१. प्रतिपदा (मध्यम-मार्ग) के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (पटिपदाज्झाणदस्सनविसुद्धि निद्देशो)—‘न मे, न मेरा, न मेरा आत्मा,’ अर्थात् अनात्म तत्त्व की भावना का विवरण ।

२२. ज्ञान और दर्शन स्वी विशुद्धि का निर्देश (ज्झाणदस्सनविसुद्धि निद्देशो)—स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अहंत, इन चार मार्गों सम्बन्धी ज्ञान का विवरण । बोधिपक्षीय धर्मों का भी इन्हीं के अन्दर समावेश ।

२३. प्रज्ञा की भावना के सुपरिणामों का निर्देश (पञ्चा भावनानिसं-निद्देशो)—नाना चित्त-मलों का विध्वंस, आर्य-फल के रस का अनुभव, निरोध-समाधि को प्राप्त करने की योग्यता और लोक में पूज्य होने की पात्रता, प्रज्ञाकी भावना के इन चारसुपरिणामों का विवरण ।

उपर्युक्त विषय-सूची के संकेत-मात्र से स्पष्ट है कि ‘विशुद्धि-मार्ग’ का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत है । अतः यदि इतने निरूपण से हम केवल यह भी इंगित करने में सफल हो सके कि ‘विशुद्धि-मार्ग’ बुद्ध-धर्म सम्बन्धी महान् ज्ञान-कोश को संचित किये हुए है, तो भी हमने पालि साहित्य की दृष्टि से अपना कर्तव्य पूरा कर दिया । विवरण में आगे चले जाने पर तो इस विषय का अन्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि पातञ्जल योग के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किये बिना कोई इस सम्बन्धी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता । अब हम बुद्ध धर्म की अट्ठकथाओं पर आते हैं ।

### समन्तपासादिका

समन्तपासादिका पूरे त्रिनय-पिटक की अट्ठकथा है । आचार्य बुद्धघोष की रची हुई यह सम्भवतः प्रथम अट्ठकथा है । बुद्ध धी (बुद्धमिरि) नामक

स्वविर की प्रार्थना पर उन्होंने यह अट्ठकथा लिखी थी। प्राचीन भारत को सामाजिक, राजनैतिक, और धार्मिक अवस्था का इस अकेले ग्रन्थ से ही एक पूरा इतिहास निर्मित किया जा सकता है। प्रथम तीन बौद्ध संगीतियों के विवरण में हमने इस ग्रन्थ से कितनी सहायता ली है, यह पूर्व के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा। भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरणों के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों के विवरण जो हमें यहाँ मिलते हैं, बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस अट्ठकथा के बाद ही बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक के निकायों पर अट्ठकथाएँ लिखीं।

### कंखावितरणी

‘कंखावितरणी’ ‘पाति मोक्ख’ पर अट्ठकथा है। इस अट्ठकथा में हमें न केवल बुद्धकालीन भिक्षु-संघ के जीवन की ही झलक मिलती है, अपितु उसके उत्तरकालीन विकास का भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

### सुमंगलविलासिनी

‘सुमंगल विलासिनी’ दीघ-निकाय की अट्ठकथा है। संघस्थविर दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने यह अट्ठकथा लिखी, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।<sup>१</sup> बुद्धकालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति के अनेक चित्रों एवं अनेक प्रकार के आख्यानों से यह अट्ठकथा भरी पड़ी है। सुत्तों के अनेक प्रकार के विवेचन, बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन सम्बन्धी अनेक विवरण, इस अट्ठकथा में भी भरे पड़े हैं। उदाहरणतः भगवान् बुद्ध ‘तथागत’ क्यों कहलाते हैं, उनकी दैनिक चर्या क्या थी, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में हैं। इसी प्रकार बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों यथा जीवक कामार भूत्य, तिष्य धामणेरे, अम्बट्ठ आदि के विषय में अधिक जानकारी यहाँ दी गई है। इसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अंग-मगध, दक्षिणा-

### १. आप्याचितो सुमंगलपरिवेणनिवासिना धिरगुणेन

दाठानाग संघत्थेरेन धेर वंसम्बधेन।

यं आरभि सुमंगलविलासिनि नाम नामेन।



पद्म, घोषिताराम, कोसल, राजगृह आदि के प्राचीन आख्यान-बद्ध इतिहास और उनके विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण दिये गये हैं, जो पालि-त्रिपिटक में नहीं मिलते। इन सब के अलावा 'सुमंगलविलासिनी' में दीर्घ-निकाय के कठिन शब्दों की निरुक्तियाँ और उनके अर्थ-निर्वाचन भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसका सब से अधिक आकर्षक महत्त्व तो ऐतिहासिक ही है, इसमें संदेह नहीं।

### पपञ्चसूदनी

सुमंगलविलासिनी की ही शैली में लिखित पपञ्चसूदनी मज्झिम-निकाय की विस्तृत अट्ठकथा है। यह अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने बुद्धमित्र नामक स्वविर की प्रार्थना पर लिखी थी।<sup>१</sup> ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस अट्ठकथा का भी प्रभूत महत्त्व है। कुरु-प्रदेश, आरवस्ती (सावत्य), हिमवन्त-प्रदेश आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में मिलते हैं। विषय-विन्यास मज्झिम-निकाय के समान ही है और उसी के अनुसार बुद्ध-वचनों की क्रमानुसार आख्या भी यहाँ की गई है, जो उस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

### सारत्थपकासिनी

ज्योतिपाल नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने सारत्थपकासिनी या समुत्त-निकाय की अट्ठकथा लिखी।<sup>२</sup> अर्थ और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टियों से यह अट्ठकथा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अलावा यहाँ इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

### मनोरथपूरणी

मनोरथपूरणी या अमृतर-निकाय की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने भदन्त नामक स्वविर की प्रार्थना पर लिखी। इस अट्ठकथा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भगवान् बुद्ध के शिष्य अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों की ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः पिंडोल भारद्वाज, पुष्प मन्तानिपुत्त, महा-

१. आयाचितो सुमतिना धरेण भदन्त बुद्धिमित्तेन, आदि।

२. आयाचितो सुमतिना धरेण भदन्त-ज्योतिपालेन।

कंबीपुरादिसु मया पुम्बे सद्धिं यस्सन्तेन, आदि ॥

कच्चान, सोण कोळिवीस, राहुल, रट्ठपाल, बंगीस, कुमार कस्सप, उपाल, उल्वेल कस्सप आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण दिये हुए हैं। इसी प्रकार महाप्रजापती गौतमी, संघमित्रा तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के भी विवरण हैं। भगवान् बुद्ध के वर्षावासों का भी बड़ा अच्छा विवरण यहाँ दिया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण तक के ४५ वर्षावासों को भगवान् ने कहाँ-कहाँ बिताया, इस ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में यहाँ कहाँ गया है—“तथागत प्रथम बोधि में बीस वर्ष तक अस्थिरवास हो, जहाँ जहाँ ठीक रहा वहीं जाकर वास करते रहे। पहली वर्षा में ऋषिपत्तन में धर्म-चक्र प्रवर्तन कर वाराणसी के पास ऋषिपत्तन में वास किया। दूसरी वर्षा में राजगृह वेणुवन में। तीसरी और चौथी में भी वहीं। पाँचवी वर्षा वैशाली में महावन कुटुआर-शाला में। छठवी वर्षा में मंकुल-पर्वत पर। सातवी चायस्त्रिंश भवन में। आठवीं भग्न-देश में सुंसुमार-तिरि के भेस कलावन में। नवीं कौशाम्बी में। दसवी पारिलेय्यक वनखंड में। ग्यारहवीं नाला ब्राह्मण-ग्राम में। बारहवीं केरंजा में। तेरहवीं चालिय पर्वत पर। चौदहवीं जेतवन में। पन्द्रहवीं कपिलवस्तु में। सोलहवीं आलवी में। सत्रहवीं राजगृह में। अठारहवीं चालिय पर्वत पर। उन्नीसवीं भी वहीं। बीसवीं वर्षा राजगृह में। इस प्रकार तथागत ने बीस वर्ष, जहाँ जहाँ ठीक हुआ, वहीं वर्षावास किया। इससे आगे दो ही निवास-स्थान सदा रहने के लिये किये। कौन से दो? जेतवन और पूर्वाराम . . . . .।”<sup>१</sup> अतः इस अट्ठकपा के अनुसार, बुद्ध के वर्षा-वासों का यह प्रामाणिक व्योरा इस प्रकार होगा।

| वर्षा-वास | जहाँ बिताया |
|-----------|-------------|
| १         | ऋषि पत्तन   |
| २-४       | राजगृह      |
| ५         | वैशाली      |
| ६         | मंकुलपर्वत  |
| ७         | चायस्त्रिंश |

१: महापरिनिर्वाण संहिता द्वारा बुद्धचर्या पृष्ठ ७५ में अनुवाचित।

|       |                    |
|-------|--------------------|
| ८     | सुसुमार गिरि       |
| ९     | कौशाम्बी           |
| १०    | पारिलेय्यक         |
| ११    | नाला               |
| १२    | वेरंजा             |
| १३    | चालिय पर्वत        |
| १४    | श्रावस्ती (जेतवन)  |
| १५    | कपिलवस्तु          |
| १६    | आलवी               |
| १७    | राजगृह             |
| १८-१९ | चालिय पर्वत        |
| २०    | राजगृह             |
| २१-४५ | श्रावस्ती (जेतवन)  |
| ४६-   | बैशाली (पूर्वोराम) |

### परमत्थजोतिका

परमत्थजोतिका खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा है। इसमें लिच्छवियों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथा है, जिसका विवरण हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं दे सकते। परमत्थजोतिका के अन्तर्गत खुद्दक-पाठ की अट्ठकथा के प्रसंग में अनार्थापिडिक के आराम जेतवन, राजगृह के १८ विहारों, सप्तपर्णी गुफा और बैशाली आदि के विशेष में विशेष सूचना दी गई है। महाकाश्यप, आनन्द और उपालि आदि भिक्षुओं तथा विद्याखा, धम्म-दिन्ना आदि भिक्षुणियों के विषय में भी कुछ अधिक सूचना दी गई है।

### धम्मपदट्ठकथा

धम्मपदट्ठकथा या धम्मपद की अट्ठकथा में जातक के डंग की कहानियों का प्राधान्य है। चार निकायों और जातक आदि से ही ये कहानियाँ संगृहीत की गई हैं। जातक की अनेक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की गई हैं और उसकी कहानियों

में से अनेक यहाँ उसी रूप में रखी हुई हैं। वास्तव में धम्मपदट्ठकथा कहानियों का एक संग्रह ही है। वासवदत्ता और उदयन की कथा भी इस अट्ठकथा में एक जगह मिलती है। अनेक कथाएँ जातक के अलावा विनय-पिटक से भी ली गई हैं, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार, छन्न आदि की कथाएँ। निश्चय ही जातक और धम्मपदट्ठकथा का पारस्परिक सम्बन्ध पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धम्मपदट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष की रचना है या नहीं, इसके विषय में सन्देह प्रकट किया गया है। डा० गायगर ने इसे आचार्य बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।<sup>१</sup> उन्होंने धम्मपदट्ठकथा को जातकट्ठवण्णना से भी बाद की रचना माना है, क्योंकि दोनों में अनेक कहानियाँ समान हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि जो कहानियाँ यहाँ दी गई हैं और जिनके आधार पर धम्मपद की प्रत्येक गाथा को समझाया गया है, उन्हें भी साक्षात् बुद्धोपदेश (बुद्ध-देसना) ही यहाँ बताया गया है, जो ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं हो सकता। कुछ भी हो धम्मपदट्ठकथा की कहानियों में जातक के समान ही प्राचीन भारतीय जीवन, विशेषतः सामान्य जनता के जीवन, की पूरी झलक मिलती है और भारतीय कथा-साहित्य में उसका भी एक स्थान है।

### जातकट्ठवण्णना

जातकट्ठवण्णना का जातक-गाथाओं की अट्ठकथा है। इसके भी बुद्धघोष-कृत होने में सन्देह किया गया है। डा० गायगर ने इसे किसी सिंहली भिक्षु की रचना माना है, फिर चाहे वह भले ही बुद्धघोष क्यों न हों।<sup>२</sup> प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं से लेखक ने अपनी सामग्री का संकलन किया है। इन कहानियों या आख्यानों की अपेक्षा धम्मपदट्ठकथा की कहानियाँ अपने स्वरूप में बुद्ध-उपदेशों की भावना से अधिक प्रभावित हैं। वास्तव में यहाँ तो लोक-विश्वासों की ही झलक अधिक मिलती है। भूत और वर्तमान के (बुद्ध-) जीवन की कहानियों

१. उन्होंने इसे किसी मौलिक सिंहली अट्ठकथा का पालि अनुवाद माना है।

बेल्लिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३२

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३१



की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः उत्तरकालीन शोधकों और परिवर्द्धनों की भी इस चर्च में आशंका की गई है। भारतीय कथानक-साहित्य के प्राचीन रूप को जानने के लिये जातक के समान उसकी इस अट्ठकथा को भी पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं।

### अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण हैं। इनमें सब से पहला स्थान 'अट्ठसालिनी' का है, जो 'धम्मसंगणि' की अट्ठकथा है। वास्तव में इसके समान गम्भीर और दुरूह दूसरी रचना अनुपि्टक साहित्य में नहीं है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'महावेस' के धम्मकित्ति-विरचित परिवर्द्धित अंश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की रचना लंका से प्रस्थान करने के पहले ही की थी। यह बात ठीक नहीं हो सकती। लंका जाकर बुद्धघोष महास्यविर ने 'विसुद्धिमग्ग' लिखा, यह तो निश्चित ही है। उसके बाद ही 'अट्ठसालिनी' लिखी गई, यह हमें जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि 'अट्ठसालिनी' के आरम्भ की गाथाओं में स्वयं आचार्य बुद्धघोष ने कहा है "सब कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन) चर्या, अभिज्ञा और विपश्यना का प्रकाशन से 'विसुद्धि-मग्ग' में कर चुका हूँ, इसलिये फिर उनका यहाँ विवरण नहीं करूँगा"<sup>१</sup> आदि। अतः 'अट्ठसालिनी' को 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की ही रचना मानना चाहिये। यह हो सकता है कि उसकी एक प्राथमिक रूपरेखा आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ बनाई हो। प्रस्तुत रूप में तो वह निश्चित रूप से 'विसुद्धिमग्ग' से बाद की रचना है। अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये 'अट्ठसालिनी' का कितना अधिक महत्त्व है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि प्रो० वाण्ट द्वारा सम्पादित इस अट्ठकथा का देव-नागरी संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिये एक मंगलकारी चिन्ह है। 'अट्ठसालिनी' के अलावा 'सम्मोह-विनोदनी' नाम की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने विमंग

१. कम्मट्ठानानि सत्त्वानि धरियाभिज्झा विपस्सना।

विसुद्धिमग्गे पनिदं यस्मा तच्च पकासितं ।।आदि।

पर लिखी। अन्य पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर भी उन्होंने अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनके नाम हैं क्रमशः धातुकथापकरणट्ठकथा, पुग्गल-पञ्जातिपकरणट्ठकथा, कथा-वत्थु-पकरण-अट्ठकथा,<sup>१</sup> यमकपकरणट्ठकथा और पट्ठान पकरणट्ठकथा। यह पाँचों अट्ठकथाएँ मिलकर पञ्च-पकरणट्ठ कथा, भी कहलाती हैं।

### अन्य रचनाएँ

जैसा बुद्धघोष की जीवनी के प्रसंग में कहा जा चुका है, लंका-गमन से पूर्व आचार्य बुद्धघोष ने 'आणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ और सम्पूर्ण त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखी थी। ये रचनाएँ आज नहीं मिलतीं। 'सामन्त-वंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष 'पिटकत्तयल्लक्षण ग्रन्थ' (पिटकात्रयलक्षण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थ के भी रचयिता थे, किन्तु यह ग्रन्थ भी आज नहीं मिलता। महाकाव्य की शैली पर बुद्ध-जीवनी के रूप में लिखित 'पच्चच्चूडामणि' नामक ग्रन्थ भी जिसे मद्रास सरकार ने प्रकाशित करवाया था, उसके सम्पादक कुप्प-स्वामी शास्त्री के द्वारा अट्ठकथाचरित बुद्धघोष की रचना बतलाया गया है। उसकी भिन्न शैली के साक्ष्य पर डा० विमलान्तरण लाहा ने उसे पालि अट्ठकथा-कार बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।<sup>२</sup> हमें भी यही मत समीचीन जान पड़ता है।

### पालि-साहित्य में बुद्धघोष का स्थान

इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष के विशाल ज्ञान की कुछ झलक हम ने देखी हैं। वास्तव में पालि साहित्य के एक पूरे युग के वे विधायक हैं जिसका प्रभाव अभी भी निःशेष नहीं हुआ है। उनके 'विसुद्धि-मग्ग' की ज्ञान-गरिमा पालि-साहित्य

२. इस अट्ठकथा के अनुसार अशोक के काल तक उत्पन्न १८ बौद्ध सम्प्रदायों और उनके मतों का उल्लेख हम पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' के विश्लेषण के प्रसंग में कर आ चुके हैं।

२ पच्चच्चूडामणि की विषय-वस्तु और शैली के विवरण तथा डा० लाहा के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष के लिए देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष',

में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसी प्रकार उनकी अट्ठकथाओं का अर्थ-सम्बन्धी महत्त्व तो है ही, उनमें जो महान् ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री भरी पड़ी है, जिसने सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पुनरुज्जीवित हो उठता है, वह तो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये निरन्तर उपयोग की वस्तु ही है। आचार्य बुद्धघोष उन प्राचीन भारतीय आचार्यों की परम्परा में से थे जो ज्ञान के क्षेत्र को मौलिक दान देते हुए भी भाष्यकार के विनीत रूप में रहना ही पसन्द करते थे। आचार्य बुद्धघोष ने हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, ज्ञान के क्षेत्र को अपने ढंग से काफी विस्तृत किया है, फिर भी सदा अपने को महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि का अनुगामी ही बताया है। यह उनकी विनम्रता का सूचक है। बुद्धघोष महास्थविर ने सद्धम्म की चिरस्थिति के लिये जो काम किया है, उसी के कारण हम आज बुद्ध और उनके युग को इतनी सजीवता के साथ समझ सके हैं। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से लुम्बिनी, कौशाम्बी, राजगृह, उरुवेला और कपिलवस्तु की स्मृतियों को आज भी नया बनाया जा सकता है और चित्त को राग, द्वेष और मोह से मुक्त किया जा सकता है। जब तक 'विमुद्धिमग्ग' और 'अट्ठ-सालिनी' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ और 'सुमंगल विलासिनी' और 'समन्त-पासादिका' जैसी ऐतिहासिक सामग्री-परिपूर्ण अट्ठकथाएँ पालि में विद्यमान हैं, तब तक ज्ञान और इतिहास के गवेषक सदा उसके दरवाजे पर आते रहेंगे और प्रसंगवश उस विनीत, साक्षात् मैत्रेय, महास्थविर की अनुस्मृति करते भी रहेंगे, जो ज्ञान-पिपासावश भारत से लंका दौड़ा गया था और जिसने वहाँ महा-पद्मान-भवन में बैठकर दिन-रात बुद्ध-शासन का चिन्तन किया था और उसके मर्म को भी पाया था। हम आचार्य बुद्धघोष की इसी अनुस्मृति के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

### धम्मपाल और उनकी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष के समकालिक बुद्धदत्त (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार धम्मपाल है। वास्तव में बुद्धदत्त और धम्मपाल दोनों ने बुद्धघोष के काम को ही पुरा किया है। धम्मपाल

का जन्म तामिल-प्रदेश में काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी भी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई थी। आचार्य धम्मपाल की रचनाएँ ये हैं—

१. परमत्वदीपनी—सुद्धक-निकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा हैं जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी। इस प्रकार धम्मपाल की इस अट्ठकथा के अन्तर्गत उदान, इतिवृत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, धेरगाथा, धेरीगाथा एवं चरिया पिटककी अट्ठकथाएँ सम्मिलित हैं। इनमें विशेषतः धेर-धेरी गाथाओंकी अट्ठकथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ लेखक ने भगवान् बुद्ध के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनियों को अनुविद्ध किया है।<sup>१</sup>

२. नेत्तिपकरण-अट्ठकथा या नेत्तिपकरणस्स अत्यसंवण्णता (नेत्ति पकरण की अट्ठकथा)

३. नेत्तित्थ कथाय टीका या लीनत्थवण्णता (उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठकथा की टीका)

४. परमत्वमञ्जुसा या महाटीका—विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा।

५. लीनत्थपकासिनी—प्रथम चार निकायों की बुद्धघोष-कृत अट्ठकथाओं की टीका।

६. जातकट्ठकथा की टीका (जिसका भी नाम लीनत्थ पकासिनी है)

७. बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका।

धम्मपाल-कृत उपर्युक्त ग्रन्थों में सब से अधिक प्रसिद्ध परमत्वदीपनी है। ओष में से कुछ प्राप्त भी नहीं हैं। कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वे किस धम्मपाल की हैं, क्योंकि इस नाम के कई भिक्षु कई शताब्दियों में हो चुके हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की उपर्युक्त ग्रन्थः सभी अट्ठकथाओं के रोमन, बरमी, सिंहली और स्वामी संस्करण मिलते हैं। विशेषतः हैवावितरणेतिधि की ओर से प्रकाशित सिंहली संस्करण उल्लेखनीय हैं। नागरी लिपि में अभी कोई संस्करण नहीं हुए, अनुवादों की तो कोई बात ही नहीं!

**बुद्धघोष-युग के अन्य पालि अट्ठकथाकार**

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अलावा इस युग के अन्य पालि अट्ठकथाकारों

१. प्रस्तुत लेखक ने अपने धेरीगाथा-अनुवाद जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुआ है, परमत्वदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों को ग्रथित किया है।



में इनके नाम मुख्य हैं—(१) आनन्द (२) चूल धम्मपाल (३) उपसेन (४) महानाम (५) काश्यप (कस्तप) (६) वज्रवुद्धि (वजिर बुद्धि) (७) क्षेम (खेम) (८) अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) (९) धर्म श्री (धम्मसिरि) और (१०) महास्वामी (महासामि) । आनन्द भारतीय भिक्षु थे और सम्भवतः यह बुद्धघोष के समकालीन थे । इन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं की सहायक स्वरूप 'मूल-टीका' या 'अभिधम्म-मूल टीका' लिखी है । यही इनकी एक मात्र प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना है । चूल धम्मपाल इन्हीं आनन्द के शिष्य थे और इन्होंने 'सच्च संखेप' (सत्य संक्षेप) लिखा है । उपसेन 'सद्धम्मण्यजोतिका' या 'सद्धम्म-दूठटीका' नामक निवेस की टीका के लेखक हैं । महानाम ने पटिसम्भिमदाग्ग की अट्ठकथा 'सद्धम्मण्यकासिनी' शीर्षक से लिखी । काश्यप ने मोहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी नामक विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की । वज्र बुद्धि ने 'वज्र-बुद्धि' नाम की ही टीका 'समन्तपासादिका' पर लिखी । क्षेम ने 'खेमण्यकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की । अनिरुद्ध अभिधम्म-साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधम्मत्वसंगह' के रचयिता हैं । अनिरुद्ध ने ही अभिधम्म-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और लिखे हैं (१) परमत्व-विनिच्छय और (२) नामरूप-परिच्छेद । अनिरुद्ध के ग्रन्थों पर बाद में एक बड़ा सहायक साहित्य लिखा गया, जिसका विवरण हम आगे टीकाओं के युग में देखेंगे । धर्मश्री ने विषय-सम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य को 'सुद्धक सिक्खा' (सुद्धक शिक्षा) नामक ग्रन्थ दिया और महास्वामी ने इसी विषय सम्बन्धी 'मूल सिक्खा' (मूल शिक्षा)

बुद्धदत्त, बुद्ध घोष और धम्मपाल के बाद जिस अट्ठकथा-साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें अनिरुद्ध-कृत 'अभिधम्मत्वसंगह' का एक अपना स्थान है । पालि-साहित्य के इतिहास की किसी भी योजना में वह एक स्वतन्त्र परिच्छेद का अधिकारी है । उतना अवकाश तो इस कृति को यद्यपि हम यहाँ नहीं दे सकते, फिर भी अन्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित है । वह भी न केवल इसकी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से ही बल्कि इसलिये भी कि इसकी विषय-वस्तु का उल्लेख या विवेचन करते समय न केवल सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही विषय-वस्तु बल्कि उसकी अट्ठकथाओं का भी बहुत कुछ सारांश यहाँ स्वतः आ जाता है ।

## अभिधम्मसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण

'अभिधम्मसंगह'<sup>१</sup> में परमार्थ रूप से चार पदार्थों (धर्मों) की संज्ञा मानी गई है, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण<sup>२</sup>। हेतुओं से युक्त चित्त को 'सहेतुक' और उनसे विमुक्त चित्त को 'अ-हेतुक' कहते हैं। हेतु का अर्थ है अभिधम्म में लोभ, द्वेष, मोह या अ-राग, अ-द्वेष और अमोह। इन मूल प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है, अतः यही 'हेतु' कहलाते हैं। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के होते हैं यथा, कुशल, अकुशल और अव्याकृत। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से अभिधम्म में क्या तात्पर्य लिया जाता है, यह हम अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। अव्याकृत सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है 'विपाक-चित्त' और 'क्रिया-चित्त'। विपाक और क्रिया (किरिया) चित्तों से क्या तात्पर्य है, यह भी हम विस्तार-पूर्वक धम्म संगणि के विवेचन में दिख चुके हैं। 'विपाक-चित्त' अव्याकृत इसलिये है कि पहले किये हुए कर्म का फल होने के कारण उसे न 'कुशल' ही कहा जा सकता है और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया सहेतुक चित्त' वह चित्त है जिसमें 'अ-लोभ', 'अ-द्वेष', और 'अमोह' ये तीन हेतु रहते तो हैं किन्तु तृष्णा के शब्द के कारण इनका 'विपाक' नहीं बनता अर्थात् ये पुनर्जन्म के लिये कारण-स्वरूप नहीं बनते। 'क्रिया सहेतुक चित्त' अहेतु का ही हो सकता है। वह चाहे अ-लोभ, अद्वेष, और अमोह के कारण कुछ कुशल कर्म भले ही सम्पादन करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उनका वह सब कर्म केवल 'क्रिया' मात्र ही होता है। वह आगे के लिये विपाक पैदा नहीं करता।

१. अभिधम्मसंगह, मूल पालि तथा आचार्य धर्मानन्द कोत्तम्बी-रचित उसकी पालि टीका 'मवनीत टीका' के सहित, देव नागरी लिपि में महाबोधिसत्ता द्वारा प्रकाशित, सारनाथ, १९४१। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द पहली में अभिधम्मसंगह की विषय-वस्तु का अत्यन्त विशदतापूर्वक विश्लेषण किया है। साथ में रोमन-लिपि में पालि-पाठ भी दे दिया गया है।
२. तत्त्व वृथाभिधम्मात्था चतुधा परमत्वतो। चित्तं, चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सम्बन्धा। अभिधम्मसंगहो।

चित्त के साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले एवं एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय वाले चित्त के कर्मों को 'अभिधम्मत्थसंगह' में 'चेतसिक' कहा गया है।<sup>१</sup> इनकी संख्या ५२ है। चेतसिक धर्मों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) १३ 'अन्य समान' (२) १४ 'अकुशल' और (३) २५ 'शोभन'।<sup>२</sup> फिर इनका भी विदलेयन किया गया है। जब कोई 'चेतसिक' या चित्त-कर्म 'शोभन-चित्त' से युक्त होता है, तब वह 'अशोभन' के से अन्य होता है, और जब वह 'अशोभन' से युक्त होता है, तब शोभन से अन्य होता है। इसीलिये उसे 'अन्य समान' कहते हैं। इस 'अन्य समान' चेतसिक का भी द्विविध विभाजन है, यथा (१) साधारण चेतसिक (२) प्रकीर्ण चेतसिक। साधारण चेतसिक धर्म वे हैं जो सभी चित्तों में साधारण रूप से रहते हैं और ये संख्या में सात हैं (१) स्पर्श (२) वेदना (३) संज्ञा (४) चेतना (५) एकाग्रता (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार<sup>३</sup>। प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो केवल जब कभी होने वाले हैं। ये संख्या में छह हैं यथा (१) वितर्क (२) विचार (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य (५) प्रीति और (६) छन्द (इच्छा)<sup>४</sup>। विषयों को स्पर्श करनेवाले चेतसिक-धर्म को स्पर्श, विषयों के स्वाद भोगने वाले को वेदना, विषयों के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को संज्ञा, विषयों में प्रेरणा करने वाले को चेतना, विषय में स्थिर रहने वाले को एकाग्रता, प्राप्त विषयों की मन में रक्षा करनेवाले को 'मनसिकार' कहते हैं। इसी प्रकार विषय-चिन्तन करनेवाले चेतसिक को वितर्क, उस पर बार बार सोचने वाले को विचार, विषयों में प्रवेश कर निश्चय करने वाले

१. एकुत्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्युका । चेतोयुता द्विपञ्चासा धम्मा चेतसिका मता । अभिधम्मत्थ-संगहो, चेतसिक कण्ठो ।
२. तेरसञ्जासमाना च चुद्धसा कुसला तथा । सोभना पञ्चव्वीसाति द्विपञ्चास पवुच्चरे । अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्ठो ।
३. कस्सो वेदना सञ्जा चेतना एकगता जीवितेन्द्रियं मनसिकारो चेति सन्ति मे चेतसिका सव्वचित्त-साधारणा नाम । उपर्युक्त के समान ही ।
४. वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकिण्णका नाम । उपर्युक्त के समान ही ।



को अभिमोक्ष, उत्साह करने वाले को वीर्य, विषयों में आनन्द लेने वाले को प्रीति और उनकी इच्छा करने वाले चेतसिक धर्मों को 'छन्द' कहते हैं। पूर्वोक्त १४ अकुशल चेतसिक इस प्रकार हैं, मोह, निलज्जता (अहंता), अपाप-भयता (अनवपा), औद्धत्य, लोभ (मिथ्या-), दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, पश्चात्ताप-कारी कृत्य (कौकृत्य), स्त्यान (मन को भारी करनेवाला) मूढ़ (चेतसिकों को भारी करनेवाला) और विचिकित्सा (संशय)। शोभन-चित्त २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपवपा (पाप-कर्म में भय होना) (५) अलोभ, (६) अद्वेष (७) मध्यस्थता (८) काय-प्रश्रब्धि (कायिक शान्ति) (९) चित्त-प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) (१०) काय-लघुता (११) चित्त लघुता (१२) काय-मृदुता (१३) चित्त-मृदुता (१४) (१५) कार्य कर्मजता (१५) चित्त-कर्मजता (१६) काय प्रागुण्य (काया का समर्थ भाव) (१७) चित्त प्रागुण्य (चित्त का समर्थ भाव) (१८) काय श्रुता (१९) चित्त-श्रुता (२०) सम्यक् वाणी (२१) सम्यक् कर्मान्त, (२२) सम्यक् आजीव । (इन अंतिम तीन अर्थात् सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को 'धम्म संगणि' में 'तीन विरतियाँ' कह कर पुकारा गया है।) (२३) कष्टा (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)। इस प्रकार ५२ चेतसिक धर्मों की कुशल, अकुशल और अव्याकृत कर्म-मयी व्याख्या अभिधम्मत्थ संगह में की गई है। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक चित्त' के इन तीन प्रकारों यथा 'कुशल' 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चेतसिकों के साथ संबंध को व्यक्त किया है। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं अन्त-दृष्टि के साथ इनका विश्लेषण और व्याख्यान 'अभिधम्मत्थसंगह' में किया गया है उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहां चित्त के चार प्रकार के वर्गीकरण, कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर ! कहां फिर इनमें भी कामावचर-चित्त के ५४ प्रकार ! कहां फिर उनकी भी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त (जिसमें से भी

१. देखिये पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि का विवेचन ।



८ लोभ-मूलक, २ द्वेष-मूलक-और २ मोह-मूलक), १८ अहेतुक-चित्त (जिनमें भी फिर ३ अकुशल-विपाक, आठ कुशल-विपाक और ३ अहेतुक-चित्त) और २४ सहेतुक चित्त (जिनके भी फिर वेदनाविज्ञान और संस्कार के भेद से वर्गीकरण) । इतना ही नहीं, इन्हीं कामावचर भूमि में होने वाले चित्तों में फिर २३ विपाक चित्त, २० कुशल और अकुशल एवं ११ ११ क्रिया-चित्तों का विभाजन । ऊपर निदिष्ट द्वितीय भूमि के चित्त अर्थात् रूपावचर चित्त के फिर १५ प्रकार, जिसमें ५ कुशल-चित्त, ५ विपाक-चित्त और पांच क्रिया-चित्त । इसके बाद तृतीय भूमि के चित्त अर्थात् अरूपावचर-चित्त के बारह विभागों का निरूपण, जिनमें चार-कुशल-चित्त, चार विपाक-चित्त और चार क्रिया-चित्त । अन्त में चतुर्थ भूमि के चित्त अर्थात् लोकोत्तर चित्त के इसी प्रकार ८ भेद, जिनमें चार कुशल चित्त और चार विपाक चित्त । इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तों अर्थात् कुल ८९ प्रकार के चित्तों की परिभाषाएँ, व्याख्याएँ, और 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनके संबंध का निर्णय यह सब 'अभिधम्मत्वसंग्रह' की संख्याओं में भरने का प्रयत्न किया गया है । चित्त और चैतन्यिक धर्मों के इस निरूपण में कितनी सूक्ष्मता, कितनी विश्लेषण-प्रियता 'अभिधम्मत्वसंग्रह' ने अभिधम्म का अनुगमन कर दिखाई है, इसे देखकर साधारण विद्यार्थी का साहस छूट जाता है । फिर भी 'अभिधम्मत्वसंग्रह' के महत्व का यह कुछ कम बड़ा साध्य नहीं है कि अभिधम्म-मिटक पर बृद्धघोष जैसे आचार्य की अटूटकथाएँ रहते हुए भी बौद्ध विद्यालयों में अभिधम्म का अध्ययन प्रायः इसी ग्रन्थ के द्वारा होता आया है और विशेषतः बर्मा में तो इसके चारों ओर एक सहायक साहित्य की अटूट परम्परा ही १५ वीं शताब्दी से बनती चली आ रही है जिसका वर्णन हम ११०० ई० से वर्तमान समय तक के पालि के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण देने समय अभी आठवें अध्याय में करेंगे ।

बृद्धघोष-युग में अटूटकथाओं और व्याख्यापरक साहित्य के अतिरिक्त वंश-संबंधी कई ग्रन्थ भी लिखे गये, और इसी प्रकार काव्य और व्याकरण-संबंधी पर्याप्त रचनाएँ भी हुई । इनका विवरण हम अपनी योजना के अनुसार क्रमशः तब और दसवें अध्यायों में करेंगे ।

## आठवाँ अध्याय

### बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

#### विषय-प्रवेश

लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का शासन-काल पालि-साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास में बड़ा गौरवमय माना जाता है। इसी समय से पालि अट्ठकथाओं के ऊपर टीकाएँ लिखने की वह महत्वपूर्ण परम्परा चल पड़ी जो ठीक उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी तक अप्रतिहत रूप से चलती रही। न केवल टीकाओं के रूप में ही बल्कि, काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दः शास्त्र एवं 'वंश' (इतिहास) संबंधी साहित्य भी इन शताब्दियों में प्रभूत मात्रा में लिखा गया। इस सब साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र प्रधानतः लंका और बरमा ही रहे। बारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लंका का प्रमुख स्थान रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक बरमा पालि-साहित्य का युग कहा जा सकता है। टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखकर इस विशाल साहित्य-रचना का विवेचन हम इस अध्याय में करेंगे।

#### सिंहली भिद्धु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ

पराक्रम बाहु प्रथम के शासन-काल में लंका में एक बौद्ध सभा (संगीति) बुलवाई गई। इस सभा का उद्देश्य अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में टीकाएँ लिखवाना था। इस सभा के संयोजक प्रसिद्ध सिंहली स्वविर महा-कत्थथ थे। इस सभा के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर पालि-भाषा में टीकाएँ लिखी गईं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. सारत्थ दीपनी—समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की टीका

२. पठम-सारत्थमञ्जूसा—सुमंगल विलासिनी (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

३. दुतिय-सारत्थमञ्जूसा—पञ्चसूदनी (मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

४. ततिय-सारत्थमञ्जूसा—सारत्थप्पकासिनी (संयुत-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

५. चतुत्थ-सारत्थमञ्जूसा—मनोरथ पूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

६. पठम-परमत्थप्पकासिनी—अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा) की टीका

७. दुतिय-परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभंग की अट्ठकथा) की टीका

८. ततिय परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (घातुकथा, पुमंगल-पञ्चाति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा) की टीका

उपर्युक्त टीकाओं में से केवल 'सारत्थ दीपनी' आज उपलब्ध है। यह तत्कालीन सिहली भिक्षु सारिपुत्त की रचना है। इस रचना के अतिरिक्त इन स्वविर की तीन कृतियाँ और प्रसिद्ध हैं। (१) लीनत्व पकासनी—बुद्धघोष-कृत मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका (२) विनय संग्रह—विनय-संबंधी नियमों का संग्रह। इस रचना का दूसरा नाम 'पालिमुत्तक विनयसंग्रह' (पालिमुत्तक विनयसंग्रह) या 'महाविनय संग्रह-प्पकरण' (महाविनयसंग्रह प्रकरण) भी है। (३) सारत्थ मञ्जूसा—बुद्धघोषकृत अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा की टीका। स्वविर सारिपुत्त के शिष्यों ने भी इस टीका-रचना-कार्य में बड़ा योग दिया। उनके शिष्यों में ये प्रधान थे—(१) संघरत्थित, (२) बुद्धनाग, (३) वाचिस्सर (४) सुमंगल, (५) सद्धम्मजोतिपाल या छपद (६) धम्मकित्ति, (७) बुद्धरत्थित और (८) मेघंकर। स्वविर संघरत्थित की एकमात्र रचना 'बुद्धक सिक्खा-

टीका' है जो धम्मसिंघ (धर्मश्री) रचित 'खुदक-सिक्खा' की टीका है। स्थविर संघरत्नित से पहले महायास ने भी 'खुदक-सिक्खा' पर 'खुदक सिक्खा-टीका' नाम से ही एक टीका लिखी थी। इन दोनों में भेद करने के लिए स्थविर संघ-रत्नितकृत टीका को 'अभिनव-खुदक सिक्खा-टीका' और महायास कृत टीकाको 'पौराण-खुदक-सिक्खा टीका' भी कहा जाता है। ये दोनों टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में आज भी सिन्धु में सुरक्षित हैं। स्थविर बुद्धनाग की रचना 'विनयत्थ संजुसा' है, जो कंसा वितरणी (पातिमोक्ख पर बुद्धघोष कृत अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी सिन्धु में हस्तलिखित प्रति के रूप में सुरक्षित है। प्रसिद्ध सिन्धुली भिक्षु वाचिस्सर (वागीश्वर) अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। 'गन्धर्वस' में उनके १८ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र और इन स्थविर (वाचिस्सर) के नाम या उपनाम में समानता होने के साथ साथ दोनों की विद्वत्ता भी प्रायः समान रूप से गहरी और विस्तृत है। स्थविर वाचिस्सर की प्रधान रचनाएँ ये हैं—(१) मूलसिक्खा-टीका—यह टीका महास्वामी (महासामी) कृत 'मूल-सिक्खा' की टीका है। वाचिस्सर से पहले विमलसार ने भी इसी (मूलसिक्खा टीका) नाम की एक टीका 'मूल-सिक्खा' पर लिखी थी। अतः विमलसार कृत टीका 'मूल सिक्खा-पौराण टीका' कहलाती है और वाचिस्सर-कृत टीका 'मूल-सिक्खा-अभिनव टीका' (२) सीमालंकार संग्रह (विनय-संबन्धी ग्रन्थ, जिसमें विहार की सीमा का निर्णय किया गया है। जहाँ तक के भिक्षु विशेष संस्कारों में सम्मिलित होने के लिए किसी एक विहार में एकत्रित हों, वह उस विहार की सीमा कहलाती है)। (३) खेमपकरणटीका—यह टीका भिक्षु खेम (खेम) कृत 'खेमपकरण' की टीका है। (४) नामरूप परिच्छेद टीका—यह अनिरुद्ध (पालिः अनुरुद्ध) कृत 'नाम रूप परिच्छेद' की टीका है। (५) सच्चसंक्षेप टीका—यह स्थविर आनन्द के शिष्य चूल धम्मपाल-कृत 'सच्च संक्षेप' की टीका है। (६) अभिधम्मावतार-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'अभिधम्मावतार' की टीका है। (७) 'रूपारूप-

१. इस विषय पर पन्द्रहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु-संघ में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। देखिये आगे इससे अध्याय में कल्याणी-अभिलेख का विवरण।



विभाग—यह अभिधम्मसम्बन्धी रचना है। (८) विनया, विनिच्छय-टीका—यह टीका बुद्धदत्त-कृत 'विनय विनिच्छय' की टीका है। (९) उत्तरविनिच्छय-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'उत्तर विनिच्छय' की टीका है। (१०) सुमंगलपसादिनी—यह रचना धम्मसिरि (धर्म श्री)-कृत 'सुहुक-सिक्खा' की टीका है। इन रचनाओं के अलावा 'योग विनिच्छय', 'पञ्चय संग्रह' जैसे अनेक ग्रंथ भी वाचिस्सर द्वारा रचित बताये जाते हैं। चूंकि 'वाचिस्सर' उपाधि-धारि अनेक भिक्षु सिंहाल के ही गये हैं, अतः निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सी रचनाएँ किस 'वाचिस्सर' की हैं। फिर भी ऊपर जिन प्रधान दस रचनाओं का उल्लेख किया जा चुका है, वे सिंहाली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य 'वाचिस्सर' की ही मानी जाती हैं। सुमंगल-कृत तीन रचनाएँ हैं। (१) अभिधम्मत्वविभावनी, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्व-संग्रह की टीका है। (२) अभिधम्मत्व विकासिनी, जो बुद्धदत्त अभिधम्मावतार की टीका है। (३) सत्त्वसंश्लेष-टीका है—जो चूल धम्मपाल-कृत सत्त्वसंश्लेष की टीका है। ये तीनों ग्रंथ हस्त लिखित प्रतिपों के रूप में सिंहाल में सुरक्षित 'अभिधम्मत्व विभावनी' का महाबोधि प्रेम कोलम्बो से सन् १९३३ में सिंहाली अक्षरों में प्रकाशन भी हो चुका है। सद्धम्मजोतिपाल या छपद का नाम सारिपुत्त के शिष्यों में विशेषतः प्रसिद्ध है। ये वरमा-निवासी भिक्षु थे जिन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ सिंहाल में प्रवास किया था। सारिपुत्त के शिष्यत्व में वे वहाँ ११७० से ११८० ई० तक रहे। उनको ये रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। (१) विनय समुद्धान दीपनी (विनय सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ) (२) पातिमोक्ख विसी-धनी (३) विनय गुडत्त दीपनी विनय पिटकके कठिन शब्दोंकी व्याख्या (४) सीमालङ्कार संग्रह-टीका, जो वाचिस्सर-कृत सीमालङ्कार संग्रह की टीका है। इस प्रकार चार रचनाएँ छपदकी विनय-सम्बन्धी हैं। अभिधम्म साहित्य को भी इन्होंने पाँच टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं। (१) मातिकत्व दीपनी (२) पट्ठान-नाणनानय (३) नाम-चार दीप (४) अभिधम्मत्वसंग्रह संश्लेष टीका, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्व संग्रह की टीका है और (५) ग्रन्थसार, जिसमें तिपिटक के ग्रन्थों का सार है। धम्म-कित्ति की रचना 'दाडावंस' है जिसका विवेचन हम वंश-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। इसी प्रकार वाचिस्सर (उपपुत्र सारिपुत्त के शिष्य ही) के धूप-वंस है, जिसका विवेचन भी हम वही करेंगे। बुद्धरत्नज और मेधंकर की रचनाएँ

कमलः 'जिनालंकार' और 'जितचरित' हैं, जो काव्य-ग्रंथ हैं। इनका विवरण हम पालि-काव्य का विवेचन करते समय दसवें अध्याय में देंगे। सारिपुत्त और उनके शिष्यों का यह उपर्युक्त साहित्य पराक्रमवाद् प्रथम के शासन-काल में लिखा-गया, अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग ही है। इसी समय 'वंसत्त्वदीपनी' नामकी 'महावंस' की टीका भी लिखी गई। किन्तु उसके रचयिता का नाम अभी अज्ञात ही है।

### तेरहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तेरहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के प्रसिद्ध नाम वैदेह स्वविर 'विदेह थेर' बुद्धपिय और धम्मकित्ति हैं। वैदेह थेरकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'समन्त कूट वण्णना'<sup>१</sup> और 'रसवाहिनी' हैं।<sup>२</sup> बुद्धपिय की रचना 'पञ्चमधु' है। यह एक काव्य-ग्रन्थ है। इसका विवेचन हम दसवें अध्याय में करेंगे। इस शताब्दी की सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'महावंस' का 'चूलवंस' के नामसे परिवर्द्धन है। 'महावंस' का इस प्रकार प्रथम परिवर्द्धन तेरहवीं शताब्दी में और दूसरा परिवर्द्धन १८ वीं शताब्दी के मध्यभाग में किया गया। बारहवीं शताब्दी में इस परिवर्द्धन को करने वाले 'धम्मकित्ति' नामक भिक्षु थे। सिंहल और बरमा में इस नाम के अनेक शताब्दियों में इतने अधिक भिक्षु हुए हैं कि यह धम्मकित्ति उनमें से कौन से थे, इसका सम्बन्ध रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यह वही स्वविर धम्मकित्ति थे, जिन्होंने महावंस ८४।१२ के अनुसार बरमा से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था इस प्रकार जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। इसी समय 'अत्तनगलु विहारवंस' नामक वंश ग्रंथ भी लिखा गया, जिसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम या चौदहवीं शताब्दी के आदि भाग के पालि-साहित्य के इतिहास में सिद्धत्थ और धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महा-स्वामी) इन दो भिक्षुओं के नाम प्रसिद्ध हैं। सिद्धत्थ 'पञ्चमधु' के रचयिता बुद्धपिय के शिष्य थे। इनकी रचना 'सारसंगह' है जो गद्य-पद्य-मिश्रित बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है। धम्मकित्ति महास्वामी की रचना का नाम 'सद्धम्मसंगह' है। इसमें चालीस अध्याय

१. २. इनके विवरण के लिए देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि-काव्य का विवरण।

हैं। यहाँ लेखक ने बुद्ध-काल से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन किया है। कोई नवीन सूचना न देने पर भी लेखक ने जितने विस्तृत साहित्य का उपयोग किया है, वह उस समय तक के पालि-साहित्य की प्रगति की दृष्टि से उसके इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, इसमें सन्देह नहीं।

### चौदहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी की पाँच रचनाएँ हैं, जिसमें चार काव्य ग्रंथ हैं और एक वंश-ग्रन्थ। इनका विशेष विवरण तो हम कमशः दसवें और नवें अध्यायों में करेंगे, किन्तु यहाँ नामोल्लेख करना आवश्यक है। चार काव्य-ग्रन्थ हैं (१) सिंहल-प्रबामी तर्मा भिक्षु मेधंकर-कृत लोकपदीपसार या लोकदीपसार (२) पंचगतिदीपन, जिसके लेखक का पता नहीं (३) सद्धम्मोपायन, जिसके भी लेखक का ठीक पता नहीं और (४) तेलकटाहगाथा, जिसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। वंश-ग्रन्थ, भिक्षु महामंगल-कृत 'बुद्धधोमुत्पत्ति' है, जिसमें बुद्धधोष की जीवनी का वर्णन किया गया है।

### बरमी पालि-साहित्य—पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पन्द्रहवीं शताब्दी से बरमा पालि-साहित्य के अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का प्रधान केन्द्र हो गया। जिस विषय की ओर बरमी बौद्ध भिक्षुओं की विशेष दृष्टि गई वह था अभिधम्म। वास्तव में यह उनके अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का एक मात्र मुख्य विषय ही बन गया। फलतः एक लंबी परम्परा हम इस साहित्य संबंधी रचना की वहाँ देखते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बरमी पालि-साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं अरियवंस, सद्धम्मसिरि (सद्धमं श्री) सीलवंस और रट्ठसार। अरियवंस की रचनाएँ ये हैं (१) मणिसारमञ्जूसा—सुमंगल-कृत अभिधम्मत्वविभावनी की टीका (२) मणिदीप—बुद्धचोपकृत अट्ठसालिनी की टीका (३) जातक-विसोधन—जातक-संबंधी रचना। सद्धम्मसिरि अरियवंस के ही समकालिक थे। इनकी एकमात्र प्रसिद्ध रचना 'नेत्तिभावनी' है जो नेत्तिपकरण की टीका है। सीलवंस का काल अरियवंस और सद्धमसिरि से कुछ बाद का है किन्तु है पन्द्रहवीं शताब्दी ही। इनकी प्रसिद्ध रचना 'बुद्धालंकार' है

जो निदान-कथा की सुमेध-कथा का काव्यमय रूपान्तर है। रट्टसार ने कुछ जातकों के काव्यमय रूपान्तर किये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी की ही एक रचना 'काव्यविरतिगाथा' है, किन्तु उसके लेखक के नाम आदि का अभी पता नहीं चला है।

### सोलहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

सोलहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में सद्धम्मालंकार और महानाम, इन दो भिक्षुओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सद्धम्मालंकार की रचना 'पट्ठान-दीपनी' है, जो पट्ठानप्पकरण की टीका है। महानाम ने 'मधूसारत्थदीपनी' लिखी, जो बुद्धबोध के समकालिक भिक्षु आनन्द द्वारा लिखित 'अभिघम्ममूलटीका' या संक्षेपतः 'मूल-टीका' की अनुटीका है।

### सत्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तिपिटकालंकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप, ये चार भिक्षु सत्रहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास के प्रकाश-स्तम्भ हैं। तिपिटकालंकार (त्रिपिटकालंकार) की ये तीन रचनाएँ हैं (१) बीसतिवण्णना—अट्ठसालिनी के आरंभ की २० गाथाओं की टीका (२) यमवड्डनवत्थु (३) विनयालंकार—सारिपुत्त-कृत 'विनय-संगह' की टीका। तिलोकगुरु की चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दोनों धातु-कथा की ही टीका और अनुटीका स्वरूप हैं, यथा (१) धातुकथाटीका—वण्णना (२) धातुकथा-अनुटीका—वण्णना। शेष दो रचनाएँ हैं (१) यमकवण्णना (२) पट्ठान-वण्णना। सारदस्सी की रचना 'धातुकथा-योजना' है जो धातु कथा की टीका है। महाकस्सप की प्रसिद्ध रचना 'अभिघम्मत्थ सण्ठिपद' है जो अभिघम्म के कठिन शब्दों की व्याख्या है।

### अठारहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी के एकमात्र प्रसिद्ध लेखक ज्ञानाभिवंस (ज्ञानाभिवंश) हैं जो वरमा के संघराज थे। इनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं (१) पेट्ठालंकार—नेत्तिपकरण की टीका (२) साधुविलासिनी—दीप-निकाय की आंशिक



व्याख्या (३) राजाधिराज-दिलासिनी—काव्य-ग्रन्थ<sup>१</sup> । इन्हीं ज्ञानाभिवंश-संघराज ने 'चतुसामणेरवत्थु' और राजवादवत्थु' नामक भाव-मयी रचनाएँ भी लिखी हैं । अठारहवीं शताब्दी में ही 'मालालंकारवत्थु' नामकी बृद्ध-जीवनों भी लिखी गई, किन्तु उसके लेखक के नाम के विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है ।

### उन्नीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

मलाटधातुवंस, छकेसधातुवंस, सन्देसकथा और सीमा-विवाद-विनि-च्छय उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, जिनके लेखकों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है । इस शताब्दी की दो बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'गन्धवंस' और 'मासत-वंस' हैं । चूंकि ये दोनों वंश-ग्रन्थ हैं, इनका विस्तृत विवरण हम नवें अध्याय में इस सम्बन्धी साहित्य का विवेचन करते समय करेंगे । उन्नीसवीं शताब्दी में लंका और बरमा में पालि-साहित्य सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनके नाम-परिगणन मात्र से कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता । हाँ, प्रसिद्ध बरमी भिक्षु लेदि सदाव की 'परमत्वदीपनी' नामक अभिवम्मत्व संग्रह की टीका और उगका यमक-सम्बन्धी पालि निबन्ध जो उन्होंने श्रीमती रायस डेविड्स की कुछ शंकाओं के निवारणार्थ लिखा था, अवश्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं और उन्नी-सवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं ।<sup>२</sup> इसी प्रकार लंका में समरसेकर श्री धम्मरत्न, विक्रम सिंह, स्वविर नारद, और युगिरल पञ्जानन्द महाशेर आदिने जो महत्त्वपूर्ण कामें आज तक कियी हैं, वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हैं ।

### बीसवीं शताब्दी की कुछ महत्त्वपूर्ण टीकाएँ

बीसवीं शताब्दी में भी पालि-भाषा में टीकाओं का लिखा जाना कुछ आवश्यक-मय अवश्य लगता है, किन्तु वह एक तथ्या है । वह एक ऐसी परम्परा का सूचक है जो अभी विच्छिन्न नहीं हुई है । भारत में पालि-अध्ययन की जो दुरवस्था है,

१. देखिये दसवें अध्याय में पालि-काव्यग्रन्थों का विवेचन ।

२. देखिये पीछे पाँचवें अध्याय में 'यमक' का विवरण ।

वह लंका, बरमा और स्वाम जैसे देशों की परिस्थिति की भी जहाँ बौद्ध धर्म आज एक जीवित धर्म के रूप में विद्यमान है, सूचक नहीं है। वहाँ पालि का अध्ययन आज भी उसी उत्साह के साथ किया जाता है, जैसा उन्नीसवीं या उसकी पूर्व की शताब्दियों में। फिरभी भारतकी ओरसे यह आश्वासन है कि वहाँ ज्ञानकी ज्योति क्षीण भले ही हो गई हो किन्तु बुझी फिरभी नहीं है। आचार्य धम्मपानन्द कोसम्बी के रूप में हम फिर भी कुछ गौरव अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने पालि साहित्य को, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, दो अमूल्य टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं (१) विसुद्धिमग्गदीपिका, जो विसुद्धिमग्ग पर विद्याधियों के उपयोग के लिये लिखी गई उत्तम टीका है, और (२) अभिघम्मत्वसंगह की 'नवनीत-टीका'। अपने वर्षों के प्रयास के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ज्ञान यहाँ आचार्य धम्मपानन्द कोसम्बी ने अभिघम्म के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है। अभिघम्म का अध्ययन करने वालों के लिये इससे अधिक अच्छा सहायक ग्रन्थ नहीं बताया जा सकता। इसी के प्रसाद-स्वरूप भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस विषय का निरूपण अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'अभिघम्म-फिलासफी' में किया है, किन्तु यह इस विषय से सम्बन्धित नहीं है।

### इस युग की अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पालि-स्वाध्याय की जो परम्परा बुद्धधोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने पाँचवीं शताब्दी में छोड़ी वह अविच्छिन्न रूप से बीसवीं शताब्दी तक चलती आरही है। यद्यपि उसमें मौलिकता न हो, किन्तु वह एकसतत साधना की सूचक तो है ही। यहाँ हमने बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के टीका-साहित्य का ही प्रधानतः दिग्दर्शन किया है। कहीं कहीं काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इसी प्रकार वंश-सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर भी संकेत मात्र कर दिया है। उनका विवरण हमें काल-क्रम और विकास की दृष्टि से अलग देना इष्ट है। व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत साहित्य का निर्माण इन्हीं शताब्दियोंमें अर्थात् १२वीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक लंका और बरमा दोनों देशों में किया गया। उसका हमने बिलकुल उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया है। उसके विकास की परम्परा को हम अलग से (इसके

अध्याय में) लेंगे, क्योंकि वह काफी विस्तृत है और अलग विवेचन की ही अपेक्षा रखती है। पालि में इन्हीं शताब्दियों में ही धर्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई। तेरहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु सारिपुत्त ने 'धम्मविलास-धम्मसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जो वहाँ संविधान-सम्बन्धी मामलों में अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इसी के आधार पर सोलहवीं शताब्दी में 'मनु-सार' की रचना हुई, जिसके आधार पर अठारहवीं शताब्दी में 'मनु-वर्णना' की रचना हुई। पुनः इसी के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी में 'मोह-विच्छेदनी' लिखी गई। पालि के इस धर्म-शास्त्र सम्बन्धी विकास का इतिहास पालि और बरमी बौद्ध धर्म के स्वरूप की समझने के लिये महत्वपूर्ण होने के साथ साथ इस दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है कि वह बौद्ध सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में मनुस्मृति के प्रभाव का साक्ष्य देता है, जिस पर ही सम्पूर्ण बरमी धर्म-शास्त्र साहित्य, जो अंशतः बरमी भाषा और अंशतः पालि में निबद्ध है, आधारित है। काव्य, व्याकरण, वंश और धर्मशास्त्र के अलावा छन्दःशास्त्र, काव्य-शास्त्र, कोश आदि पर इन शताब्दियों में लिखे गये साहित्य का भी इस प्रकार से विवेचन नहीं किया गया है। उसका संक्षेपतः निदर्शन हम आगे के प्रकरणों में करेंगे।

## नवाँ अध्याय

# वंश-साहित्य

### ‘वंश’ शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद

‘वंश’ साहित्य पालि साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि ‘वंश’ (पालि ‘वंस’) नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु जिसे छान्दोग्य-उपनिषद् में ‘इतिहास-पुराण’ कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि ‘वंस’ ग्रन्थों से की जा सकती है। ‘इतिहास-पुराण’ या ठीक कहें तो ‘पुराण-इतिहास’ ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही हैं। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाओं के साथ साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी संनिवेश है। इनका निश्चित आधार ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी-जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में) ओत-प्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता है। पाजिटर आदि विद्वानों को उनका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में कितना परिश्रम करना पड़ा है, यह इसी से जाना जा सकता है। जो बात संस्कृत के पुराण-इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के ‘वंस’ ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का यह अवश्य है कि पालि ‘वंस’-कारों ने भारतीय ‘पुराण’-कारों को अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में केवल ‘राजतरंगिणी’ को छोड़कर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास-पुराण के पाँच लक्षण



कहे गये हैं, सगं (सृष्टि-कम-वर्णन) प्रतिसगं (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि-कम-का वर्णन), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित । इनमें वंश और वंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं । राजाओं की विस्तृत वंशावलियाँ विष्णु, वामु, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दी हुई हैं । पालि का वंश-साहित्य भी प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इनके अलावा बहुत कुछ है । धर्म-वृत्त और कथाएँ दोनों के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं । इतने सामान्य कथन के बाद अब हम पालि के वंश-साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते हैं ।

### पालि 'वंश'-ग्रन्थ

पालि में 'वंश'-साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आती है और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक मिलता है । पालि के मुख्य वंश-ग्रन्थ ये हैं, (१) दीपवंस (२) महावंस (३) चूलवंस (४) बुद्धघोसुत्पत्ति (५) मद्धम्मसंगह (६) महाबोधिवंस (७) थूपवंस (८) अत्तगलुविहारवंस (९) दाठावंस (१०) छकेसपातुवंस (११) गन्धवंस और (१२) सासनवंस । इनका अलग अलग संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन आवश्यक होगा ।

### दीपवंस'

'दीपवंस' पालि वंश-साहित्य की सर्व-प्रथम रचना है । यह लंका-द्वीप का इतिहास है । लंका-द्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है । 'दीपवंस' प्रामुद्धघोषकालीन रचना है । इसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है । आरम्भिक काल से लेकर राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इस ग्रन्थ में वर्णित है । बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ की अपनी अट्ठकथाओं में कई जगह (विशेषतः कथावत्पुष्पकरण की

---

१. रोमन लिपि में ओल्डनबर्ग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८७९ । हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई मूल संस्करण या अनुवाद नहीं निकला । इस ग्रन्थ के बरमो और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं ।

अट्ठकथा में) उद्धृत किया है। बुद्धघोष का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। अतः यह निश्चित है कि 'दीपवंस' का प्रणयन-काल ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल, जब तक का वर्णन 'दीपवंस' में मिलता है) और ४५० ई० के बीच ही होना चाहिये। 'दीपवंस' की ऐतिहासिक परम्परा और विषय-वस्तु प्राचीन सिहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधारित है। ये सिहली अट्ठकथाएँ अत्यन्त प्राचीन काल में सिहल में लिखी गई थीं। इनकी भाषा सिहली गद्य थी, किन्तु बीच-बीच में कहीं कहीं पालि-भाषाएँ भी इनमें सम्मिलित थीं। इन्हीं अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की पालि-अट्ठकथाएँ आधारित हैं और इन्हीं पर 'दीपवंस' भी। 'महा-अट्ठकथा' 'महापञ्चरी' 'कुरुन्दी' 'बुल्ल-पञ्चरी' 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिहली अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने सामग्री ली, उन्हीं पर 'दीपवंस' भी आधारित है। विशेषतः जिसे 'महावंस-टीका' में 'सिंहलट्ठकथा-महावंस' कहा गया है, उससे भी सम्भवतः 'दीपवंस' में अधिक सहायता ली गई है। अनेक स्रोतों से सहायता लेने के कारण और उनमें निदिष्ट परम्पराओं को उनके मूलिक रूप में ही रख देने की प्रवृत्ति के कारण, 'दीपवंस' में अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। विभिन्न स्रोतों से सामग्री संकलित की गई है, किन्तु उस संकलन की व्यवस्थित एवं एकात्मतापरक रूप प्रदान नहीं किया गया। एक ही घटना का वर्णन एक जगह संक्षिप्त रूप से कर दिया गया है। दूसरी जगह उसी घटना का वर्णन विस्तृत रूप से दे दिया गया है। यह विभिन्न स्रोतों से संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप न दे सकने के कारण ही है। अतः साहित्यिक कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाया। भाषा और छन्द दोनों ही इस ग्रन्थ के निर्दोष नहीं हैं। जबकि ऐतिहासिक सामग्री इस ग्रन्थ ने उपर्युक्त सिहली अट्ठकथा-साहित्य से ली है, भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ निपिटक पर भी आधारित कहा जा सकता है। बुद्धवंस, चरियापिटक, जातक, परिवार-पाठ आदि ग्रन्थों की शैली की 'दीपवंस' की भाषा-शैली से पर्याप्त समानता है। फिर भी, जैसा अभी निदिष्ट किया जा चुका है, भाषा पर लेखक का अधिक अधिकार दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक अव्यवस्थित, पुनरुक्ति-मय, भाषा और शैली के दोषों से परिपूर्ण एवं नीरस गद्य-पद्यात्मक (विशेषतः पद्यात्मक) रचना है।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोष-मय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीप-वंस' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ्रैंक जैसे कुछ-एक विद्वानों ने उसकी साहित्यिक अपूर्णताओं के कारण या उनसे अधिक प्रभावित होकर ही उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के गौरव से भी वंचित रखना चाहा है।<sup>१</sup> निश्चय ही यह सन्तु-लन को खो देता है। 'दीपवंस' के ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ होने में सन्देह की गुंजायश नहीं, यह डा० गायगर की इस सम्बन्धी खोजों ने अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया है।<sup>२</sup> 'दीपवंस' में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जिसको सिंहली में सदा आदर और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। यह इसी से जाना जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में सिंहली के राजा धातु-सेन ने इस ग्रन्थ का पाठ राष्ट्रीय गौरव के साथ एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर करवाया था। सिंहली इतिहासों में निश्चय ही इस ग्रन्थ को पहला और अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। ग्रन्थ की विषय-वस्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, लंका के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर वहाँ के राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक है। सर्वप्रथम बुद्ध के तीन बार लंका-गमन का वर्णन किया गया है। यहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावली का भी वर्णन किया गया है, और उनके वंश के आदि पुरुष का नाम महासम्मत्त बतलाया गया है। फिर प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का का वर्णन है। यहाँ विनय-पिटक—चुल्लवग्ग आदि के वर्णनों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। वही मगधराज अजातशत्रु के तत्त्वावधान में, महाकाश्यप के सुभाषित्व में, प्रथम संगीति का होना, एवं आनन्द और उपालि के द्वारा क्रमशः धम्म और विनय का संगायन किया जाना, यहाँ भी प्रथम संगीति के विवरण में दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय संगीति के प्रसंग में वज्जिपुत्तक

१. वया स्मिथ : इंडियन एंटीक्वेरी, ३२, १९०३, पृष्ठ ३६५; फ्रैंक : जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ १

२. देखिये विशेषतः उनका महावंस (अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ १२-२०; गायगर से पहले मैक्समुलर तथा डा० रायस डेविड्स ने भी सिंहली इतिहास ग्रन्थों की प्रमाणवत्ता को प्रतिपादित किया था। देखिये क्रमशः सेकेड बुक्स ऑव वि ईस्ट, जिल्द १० (१), पृष्ठ १३-२५ (भूमिका); बुडिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४



भिक्षुओं का अलग होकर 'महासंघिकों' के रूप में विकसित हो जाना आदि वर्णित है। अशोक के काल तक, स्वविरवाद सम्प्रदाय को सम्मिलित कर, बुद्ध-धर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, यह भी 'दीपवंस' का वर्णन अन्य इस सम्बन्धी स्रोतों के साक्ष्य से अनुमत है, यह सब हम द्वितीय अध्याय में बौद्ध संगीतियों के विवरण में देख चुके हैं। प्रथम दो संगीतियों का वर्णन करने के बाद 'दीप-वंस' तीसरी संगीति के वर्णन पर आता है। किन्तु यहाँ सम्बन्ध मिलाने के लिये वह पहले लङ्का-द्वीप के उस समय तक के इतिहास को अङ्कित करता है। लङ्का-द्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में लाल-नरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की। वह अपने पिता के द्वारा अपनी उच्छृंखल व्यवहार के कारण देश से बाहर निकाल दिया गया था। अपने कुछ साथियों को लेकर विजय लङ्का द्वीप आया। यात्रा के प्रसंग में सुधारक, भक्तकष्ट आदि बन्दरगाहों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो ग्रन्थकार की ऐतिहासिक वृद्धि का पर्याप्त साक्ष्य देता है। किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि लङ्का में उस समय यश, दानव और राक्षस रहते थे, जो 'पुराण-इतिहास' शैली का एक अच्छा नमूना कहा जा सकता है। विजय सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ। उसके बाद अनेक राजा हुए। जिस समय भारत में अशोक राजा राज्य करता था, सिंहल में विजय का वंशधर देवानपिय तिसस नामक राजा था। अशोक ने तृतीय संगीति के बाद अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और सघमित्रा को बुद्ध-धर्म का संदेश लेकर लङ्का में भेजा। वे अपने साथ बोधि-वृक्ष की शाखा भी ले गये। देवानपिय तिसस ने उनका स्वागत किया और बुद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार देवानपिय-तिसस के शासन-काल में बौद्ध धर्म सर्व प्रथम लङ्का में प्रविष्ट हुआ। बोधि-वृक्ष की शाखा, जिसे महेन्द्र और सघमित्रा अपने साथ ले गये थे, बड़े सम्मान के साथ अनुराधपुर में लगाई गई और वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गई। देवानपिय तिसस के बाद लङ्का के ऊपर एक बड़ी विपत्ति आई। दक्षिण

१. प्राचीन लाट अर्थात् गुजरात-प्रदेश। गायगर ने इसे बंग-प्रदेश माना है, जो निश्चय ही गलत है। देखिये महावंश, पृष्ठ ६ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौस्तुभायन का अनुवाद)



भारत में द्रविड़ों (द्रमिल) ने वहाँ जा कर उसकी राष्ट्रीय एकता को भंग करना आरम्भ कर दिया और बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। द्रविड़ों के द्वारा निरन्तर तंग किये जाने पर भी सिंहल के मैत्री-भावना-धरायण बौद्ध राजाओं ने उनसे युद्ध करने की नहीं सोची। जो भाग द्रविड़ों ने अपने अधिकार में कर लिया था उस प्रदेश की सिंहली जनता उनके अत्याचारों से दुःखी थी। अन्त में उन्हें 'दुट्ठगामणि' के रूप में उपयुक्त नेता मिला। दुट्ठगामणि का वास्तविक नाम 'गामणि' था। वह तत्कालीन बौद्ध लङ्काधिपति काकवण तिसस का पुत्र था। बड़ा उद्यत और वीर स्वभाव का था। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसने द्रविड़ों से लड़ने के लिये अपने पिता से आज्ञा माँगी। अहिंसक बौद्ध पिता ने नर-हिंसामय युद्ध की आज्ञा नहीं दी। गामणि उसी समय से विद्रोही हो गया। पिता के आदेश को न मानने के कारण उसके नाम के साथ इसी कारण 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द भी लगने लगा। बाद में पिता के मरने के बाद वह शोषित सिंहली जनता का स्वाभाविक नेता हुआ। उसने एक सुसंगठित सेना तैयार कर द्रविड़ों को परास्त किया और सिंहल को एक सूत्र में बाँधा। दुट्ठगामणि सिंहल का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म की भी बड़ी सेवा की। नौ मंजिलों का 'लीह प्रासाद' नामक विहार उसने बनवाया। 'महाभूप' (महास्तूप) तथा अन्य अनेक स्तूप और विहार भी उसने बनवाये। दुट्ठगामणि के बाद उसके वंशजों में कई राजाओं के बाद प्रसिद्ध सिंहली राजा वट्ठगामणि हुआ। उसी के समय में पालि त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया। अतः उसका शासन-काल (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) पालि-साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। वट्ठगामणि के बाद अनेक राजाओं और उनकी वंशावलिओं का वर्णन करता हुआ 'दीपवंस' लङ्काधिपति महासेन (३२५-३५२ ई०) के शासन-काल तक आकर समाप्त हो जाता है।

'दीपवंस' के वर्णनों का वास्तविक ऐतिहासिक महत्वाङ्कन क्या है, लङ्का के निश्चित इतिहास के रूप में वह कहाँ तक मान्य है, भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है, पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं, इन सब समस्याओं का विवेचन हम यहाँ अलग से न कर 'दीपवंस' पर ही आश्रित

और सम्भवतः उसकी व्याख्या-स्वरूप लिखित एक अन्य वंश-ग्रन्थ के साथ करेंगे, जिसका नाम 'महावंस' (महावंश) है।

### महावंस'

'महावंस' भी 'दीपवंस' के समान ही लङ्का का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है। उसकी न केवल विषय-वस्तु किन्तु क्रम भी बिल्कुल 'दीपवंस' के समान ही है। सम्भवतः 'दीपवंस' के आधार पर ही यह लिखा गया है। उसके स्रोत बिल्कुल 'दीपवंस' के समान ही हैं। 'दीपवंस' और अन्य प्राचीन सिंहली अट्ठ-कथाओं के अलावा 'सौहलट्ठकथा-महावंस' नामक अट्ठकथा का भी उसने अधिक आश्रय लिया है, यह हमें उसकी टीका जिसका नाम 'महावंस-टीका' (बारहवीं शताब्दी) है, से विदित होता है। 'महावंस' की विषय-वस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उससे अधिक विस्तृत है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि 'दीपवंस' की सी अव्यवस्थित भाषा या नीरस शैली यहाँ बिल्कुल नहीं मिलती। 'महावंस' सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है। उसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भी कहा जा सकता है। उसकी भाषा और शैली में वही उदात्तता है, जिसे हम महाकाव्यों की शैली से सम्बन्धित करते हैं। देवानंपियतिसस (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक) और दुट्ठगामणि (१०१ ई० पू० से ७७ ई० पू० तक) के विस्तृत, उदात्त वर्णन निश्चय ही महाकाव्योचित प्रभावशीलता से ओतप्रोत हैं। 'महावंस' अपने मौलिक रूप में ३७ वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद ही 'महावंसी निट्ठितो' ('महावंश समाप्त') इस प्रकार के शब्द लिखित थे। किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा में आगे के परिवर्द्धित स्वरूप

- 
१. डाक्टर गायगर द्वारा सम्पादित, पार्ल टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १९०८। इस ग्रन्थ के अनेक सिंहली संस्करण हो चुके हैं। बम्बई विश्व-विद्यालय ने इस ग्रन्थ का देवनागरी-संस्करण भी प्रकाशित किया है। हिन्दी में भदन्त आनन्द कौस्तुभायन ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा १९४२, में प्रकाशित

का नाम 'बृलवंस' है। इस परिवर्द्धित संस्करण के ३८वें परिच्छेद की उनसठवीं गाथा में यह प्रसिद्ध पाठ आता है 'दत्त्वा सहस्रं दीपेत्' दीपवंसं समाविमि'। इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है, "उसने सोने की एक सहस्र मुद्राएँ देकर 'दीपवंस' पर एक दीपिका लिखवाने की आज्ञा दी।" जिस राजा के विषय में ऐसा कहा गया है, वह धातुसेन है। इस धातुसेन का काल ऐसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का आदि भाग है। जिस दीपिका की ओर उपर्युक्त पाठ में संकेत किया गया है, उसे यहाँ 'महावंस' ही मान लिया गया है। यह मान्यता पहले फ्लीट नामक विद्वान् ने प्रचारित की।<sup>१</sup> गायगर<sup>२</sup> और उनके बाद विमलाचरण लाहा<sup>३</sup> महोदय ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। बिटरनित्त्व अवश्य इसे मानने को प्रस्तुत नहीं।<sup>४</sup> यदि वास्तव में 'दीपवंस' पर लिखित उपर्युक्त 'दीपिका' से तात्पर्य 'महावंस' से ही हो तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि 'महावंस' की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग ही है। बिटरनित्त्व ने उपर्युक्त 'दीपिका' को 'महावंस' न मान कर भी 'महावंस' का रचना-काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही माना है। कुछ भी हो, 'महावंस' का 'दीपवंस' पर आश्रित होना एक निश्चित तथ्य है। अनेक पद्य दोनों में समान हैं। समान उपादानों का अवलम्बन कर के भी 'महावंस' का रचना को अपनी उच्चतर भाषा और शैली से एक विशेष गौरव दे दिया है, इसमें सन्देह नहीं। 'महावंस' के रचयिता का नाम महावंस-टीका के अनुसार महानाम था। स्थविर महानाम दीघसन्द सेनापति द्वारा निमित्त बिहार में रहते थे,<sup>५</sup> यह भी वही कहा गया है। इससे अधिक 'महावंस' के रचयिता और उनके काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

१. जर्नेल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०९, पृष्ठ ५, पद संकेत १
२. पालि लिटरेचर एंड सेन्सेज, पृष्ठ ३६
३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५२२ एवं ५३६
४. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२, पद संकेत ४
५. उद्धरण के लिए देखिये महावंस, पृष्ठ २ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्या-यन का अनुवाद)

## दीपवंस और महावंस की तुलना

'दीपवंस' और 'महावंस' का विषय एक समान है, यह पहले दिनाया जा चुका है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के लक्ष्मण के इतिहास का वर्णन दोनों का विषय है। किन्तु 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक काव्यमय है। 'महावंस' के आदि में ही इस कवि-इतिहासलेखक ने कहा है "पुराने लोगों ने भी इस (महावंस) का वर्णन किया है। उसमें कहीं अति विस्तार, कहीं अति संक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है। उन सम्पूर्ण दोषों से मुक्त, समझने और स्मरण रखने में सरल, सुनने पर प्रसन्नता और वैराग्य को देने वाले, परम्परागत, प्रसाद-जनक स्थलों पर प्रसाद और वैराग्य-जनक स्थलों पर वैराग्य उत्पन्न करने वाले, इस महावंस को सुनो।"<sup>१</sup> महावंस-टीका ने भी इसी का अनुमोदन करते हुए स्वीकार किया है "आचार्य (महानाथ) ने पुरानी सिंहल अट्ठकथा में से अति विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषों को छोड़ सरलता से समझ में आने योग्य 'महावंस' को लिखा।"<sup>२</sup> महावंस का लेखक निश्चय ही एक कवि-हृदय का व्यक्तित्व था। उसने जिस स्थल को स्पर्श किया है, प्रत्येक को रसात्मकता प्रदान की है। इस 'महावंस' या महान् पुरुषों (राजाओं, आचार्यों) के वंश-इतिहास<sup>३</sup> लिखने में उसका मन्तव्य उनके उदय-व्यय को दिखाकर पाठकों के हृदय में निर्वेद प्राप्त कराना भी था, यह उसने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट कर दिया है। 'महावंस' का प्रत्येक परिच्छेद इन शब्दों के साथ समाप्त होता है "सृजनों के प्रसाद और वैराग्य के लिये रचित 'महावंस' का ... परिच्छेद समाप्त।" 'दीपवंस' के साथ 'महावंस' के वर्णित विषयों की तुलना करना के लिये यहाँ 'महावंस' की विषय-सूची का दिग्दर्शन मात्र बरा देना आवश्यक होगा। ऊपर दीपवंस के

१. महावंस १-२-४ (भवन्त आनन्द कौस्तुभायन का अनुवाद)

२. "अयं हि आचारियो एत्थ पोरणकम्हि सीहलट्ठकथा महावंसे अतिवित्थार-पुनरुत्तदोसभायं पहायत्तं सुखगहणादिपयोजन सहितं कत्वा कथेसि। महावंस, पृष्ठ १ (परिचय) में उद्धृत।

३. "महन्तातं वंसो तन्ति पवेणि महावंसो", महावंस-टीका।



विषय का जो संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में वह स्पष्ट भी हो जायगा। 'महावंस' के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध के तीन बार लङ्का में आगमन का वर्णन है। विशेष विस्तार के अलावा 'दीपवंस' के वर्णन से इसकी कुछ भी भिन्नता नहीं है। दूसरे परिच्छेद में भगवान् बुद्ध के पूर्वतम कुल-पुरुष महासम्मत्त का वंश-वर्णन है। यह भी 'दीपवंस' के आधार पर और उसके समान ही है। तीसरे, चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में, क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीतियों का वर्णन है। इन वर्णनों में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है। चूँकि इनका विस्तृत विवरण हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं, अतः फिर 'महावंस' के आधार पर उसी वर्णन को दुहराना उपयुक्त न होगा। अन्य स्रोतों से जो कुछ भी अन्य विभिन्नताएँ यहाँ हैं, वे वही (द्वितीय अध्याय में) निर्दिष्ट कर दी गई हैं। 'महावंस' के छठे परिच्छेद में विजय के लङ्का-आगमन का तथा सातवें में उसके राज्याभिषेक का वर्णन है, जो भी 'दीपवंस' के इस सम्बन्धी वर्णन का विस्तृत और क्रम-बद्ध वर्णन ही है। आठवें, नवें और दसवें परिच्छेदों में विजय के वंशानुक्रम का वर्णन है, जिसमें अनेक राजाओं के नाम और शासन-काल आते हैं। ग्यारहवें अध्याय में देवानं पिय तिस्स के अभिषेक का वर्णन आता है। इसी समय बुद्ध-धर्म का प्रवेश लङ्का में होता है। 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' में विस्तार बहुत अधिक है और उसकी सूचना भी उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। 'महावंस' के वर्णनानुसार "देवानं पिय तिस्स और धम्मासोक (धर्माशोक-अशोक-राजा) दोनों राजा एक दूसरे को न देखने पर भी चिरकाल से मित्र चले आ रहे थे।" देवानं पिय तिस्स ने अपने राज्याभिषेक के समय अनेक नीलम, हीरे, लाल, मणि आदि की भेंट अशोक के पास भेजी। 'महावंस' के वर्णनानुसार "राजा (देवानं पिय तिस्स) ने अपने भानजे महारिष्ठ प्रधान मंत्री, पुरोहित, मन्त्री और गणक, इन चार व्यक्तियों को दूत बना, बहुमूल्य रत्नादि . . . . . देकर सेना सहित वहाँ (पाटलि पुत्र) भेजा।" इन दूतों के मार्ग का वर्णन भी महावंस में किया गया है "जम्बुकील (लङ्का के उत्तर में सम्बलहुरि नामक स्थान से नाक

१. महावंस ११।१९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।२०-२२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

पर चढ़कर सात दिन में वे वन्दरगाह पहुँचे । वहाँ से फिर एक सप्ताह में पाटलि-  
पुत्र पहुँचे । वहाँ जाकर राजा को भेंट समर्पित की, जिसे देख कर वह प्रसन्न हुआ ।<sup>११</sup>  
अशोक राजा ने अन्य प्रभूत भेंट-सामग्री के साथ सद्धर्म की यह भेंट भी  
भेजी, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-गुप्त के शासन  
में उपासक हुआ हूँ । हे नरोत्तम ! आप भी आनन्दपूर्वक श्रद्धा के साथ इस उत्तम रत्नों  
की शरण ग्रहण करें ।"<sup>१२</sup> तृतीय धर्म-संगीति के बाद देश-विदेश में बुद्ध-धर्म  
के प्रचार के लिए अशोक ने जो कार्य किया उसका वर्णन 'महावंस' के एक अलग  
परिच्छेद में ही किया गया है । बारहवें परिच्छेद का शीर्षक है 'नाना देश-प्रचार ।'  
इस नाना देश-प्रचार की योजना के अन्तर्गत ही आगे चल कर तेरहवें परिच्छेद  
में महेन्द्र के लंका-आगमन का वर्णन है । 'नाना-देश-प्रचार' के वर्णन में हम पढ़ते  
हैं, "संगीति समाप्त कर के बुद्ध-धर्म के प्रकाशक स्थविर मोद्गलिपुत्र तिस्र  
(मोगलिपुत्र तिस्र) ने भविष्य को देखते हुए, प्रत्यन्त-देशों (पड़ोसी देशों) में  
(धर्म) शासन की स्थापना का विचार कर, कार्तिक मास में स्थविर  
मज्झन्तिक को काश्मीर और गन्धार को भेजा और महादेव स्थविर को महिष-  
मण्डल भेजा । रक्षित नामक स्थविर को वनबास (पैसूर का उत्तरी भाग) की ओर  
भेजा और यवन (चीन) धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश)  
देश में भेजा । महाधर्मरक्षित स्थविर को महाराष्ट्र में तथा महारक्षित स्थविर को  
यवन देशों में भेजा । हिमालय-प्रदेश में मज्झिम स्थविर को भेजा और स्वर्णभूमि  
(बरमा) में सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों को भेजा । अपने शिष्य महा  
महेन्द्र स्थविर तथा इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भट्साल—इन पाँच स्थविरों  
को यह कर लंका भेजा—तुम मनोज्ञ लंका-द्वीप में, मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना  
करो ।"<sup>१३</sup> इन सब भिक्षुओं के अलग अलग कार्य का वर्णन करने के बाद महेन्द्र के

१. महावंस ११।२३-२४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।३४-३५; मूल इस प्रकार है—अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो  
उपासकत्तं वेदोत्तं साधयपुत्तस्स सासने  
त्थंपि भानि रतनानि उत्तमानि नत्तम,  
चित्तं पसादयित्वान सद्भाव्य सरणं भज

३. महावंस १२।१-८

लंका-समन का वर्णन बड़े चमत्कृत और काव्य-मय ढंग से 'महावंस'-कारने किया है "अन्तिम शय्या पर सोये हुए लोक-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिये जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, वही लंका के लिए दूसरे बुद्ध, लंकावासी देवताओं द्वारा पूजित, महेंद्र, लंका के हितार्थ वहाँ पधारे।" <sup>१</sup> चौदहवें अध्याय में उनके नगर-प्रवेश का वर्णन है। राजा देवानंघ्रिय तिस्र को अपना परिचय देते हुए स्वविर महेंद्र उन्हें कहते हैं "महाराज ! हम धर्मराज (बुद्ध) के अनुयायी भिक्षु हैं। आप पर ही अनुग्रह करने के लिए हम भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ (लंका में) आये हैं।" <sup>२</sup> पन्द्रहवें अध्याय से लेकर बीसवें अध्याय तक क्रमशः महाविहार-निर्माण, सैन्यपवैत-विहार-प्रतिग्रहण, महाबोधि-ग्रहण, बोधि-आगमन, एवं स्वविर-परिनिर्वाण आदि के वर्णन हैं, जो उस काल तक लंका में बौद्ध धर्म की प्रगति के चरण-चिन्ह हैं। इक्कीसवें अध्याय में देवानंघ्रिय तिस्र के बाद और दुट्ठगामणि से पहले आने वाले पाँच राजाओं का वर्णन है। बाईसवें परिच्छेद से लेकर बत्तीसवें परिच्छेद तक अर्थात् पूरे म्पारह परिच्छेदों में दुट्ठगामणि का इतिहास वर्णित है, जब कि 'दीपवंस' में इस वर्णन को केवल १३ गाथाएँ दी गई हैं। दुट्ठगामणि ने किस प्रकार सैनिक बल का संग्रह कर इविड़ों का निष्कासन किया, यह हम पहले देख चुके हैं। बुद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद उसने बौद्ध धर्म की सेवा भी की और 'लोह-प्रासाद' 'महा-प्रासाद' नामक अनेक विहार और स्तूप भी बनवाये। इस विजेता राजा को इस प्रकार बुद्ध-धर्म का उपानम दिला कर उसे एक राष्ट्रीय नेता और महापुरुष के रूप में 'महावंस' में चित्रित किया गया है और उसके आधार पर म्पारह परिच्छेदों में एक महाकाव्य की ही सृष्टि कर दी गई है। बाईसवें अध्याय से ३२वें अध्याय तक की विषय-सूची उसके इन विभिन्न क्रियाकलापों को अच्छी प्रकार दिखाने सकती है। वह इस प्रकार है (२२) रामणी कुमार का जन्म (२३) शोढाओं की प्राप्ति (२४) दो भाइयों का बुद्ध (२५) दुष्ट रामणी की विजय (२६) मरिचवट्ट-विहार-पूजा (२७) लोह-प्रासाद-पूजा, (२८) महास्तूप की साधन-प्राप्ति, (२९) १. महावंस १३।२१

२. महावंस १४।८; मूल पालि-पाठ इस प्रकार है—समणा मयं महाराज धम्म-राजस्स सावका। तवेव अनुकम्माय जम्बुद्वीपा इधागता।



महास्तूप का आरम्भ (३०) धातुगर्भ की रचना, (३१) धातु-निधान और (३२) तुषितपुर-नग्नत। दुट्ठगामणि के जीवन का सब से बड़ा काम उसकी विजयों के बाद उसके द्वारा ९ मंजिलों वाले लोह-प्रासाद तथा मरीच वट्टी और महास्तूप आदि विहारों और स्तूपों का बनवाना था। लोह-प्रासाद के पूर्ण होने के पहले ही उसे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ और उसे निश्चय हो गया कि उसका अन्त काल समीप है। अपने छोटे भाई तिसस को बुलवा कर स्तूप के बचे हुए कामों को समाप्त करवाने का आदेश दिया, जिसे उसने पूरा किया। मृत्यु से पूर्व अशक्त होने पर भी इस श्रद्धालु राजाने पालकी में बैठ कर इस चैत्य की प्रदक्षिणा की और वक्षिण-द्वार पर आ कर बुद्ध-वन्दना की। "किर भिनु-संघ से घिरे हुए राजाने बाई करवट लेटे हुए उत्तम महास्तूप को और बाई करवट लेटे हुए उत्तम लोह-प्रासाद को देख कर चित्त प्रसन्न किया।"<sup>१</sup> मरण-शय्या पर पड़ा हुआ राजा अपने पूर्व के युद्ध के साथियों को सम्बोधित कर कहने लगा, "पहले मैंने तुम दस मोड़ाओं की साथ ले कर युद्ध किया था, अब मृत्यु के साथ अकेले ही युद्ध आरम्भ कर दिया। इस मृत्यु रुखी-सत्रु को मैं पराजित नहीं कर सका।"<sup>२</sup> शरीर छोड़ने से पहले दुट्ठगामणि ने अपने छोटे भाई तिसस को आदेश दिया "हे तिसस ! असमाप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करवाना। स्वयं प्रातःकाल उस पर पुष्प चढ़ाना। प्रति दिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन के सत्कार-सम्बन्धी जो कृत्य मैंने निश्चित किए हैं, उन सभी कृत्यों को हे तात ! तुम अविच्छिन्न रूप से चलाते रहना। संघ-सम्बन्धी कार्य मैं हे तात ! कभी प्रमाद (आलस्य) न करता।"<sup>३</sup> धर्म-श्रवण करने के बाद, रथ पर खड़े होकर तीन बार महास्तूप की प्रदक्षिणा कर, स्तूप और संघ को प्रणाम कर, दुट्ठगामणि तुषित-लोक को गया। इस प्रकार दुट्ठगामणि की जीवन-गाथा को यहाँ एक पूरे राष्ट्र के आदर्शों से व्याप्त महाकाव्य-गत महत्ता और प्रभावशीलता दी गई है, यह उसकी उपर्युक्त शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। दुट्ठगामणि के बाद

१. महावंस ३२।२-३

२. महावंस ३२।१६-१७

३. महावंस ३२।५९-६२



उसके उत्तराधिकारी राजाओं की एक क्रमबद्ध लम्बी क्रमशः 'दश राजा' 'एकादश राजा' 'द्वादश राजा' 'त्रयोदश राजा' इस प्रकार क्रमशः तेतीसवें, चौतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें परिच्छेदों में दो हुई है, जब कि 'दीपवंस' में इस सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध है। सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक (जहाँ तक ही मौलिक 'महावंस' की विषय-सीमा है) 'राजा महासेन के शासन-काल का वर्णन है। इस प्रकार 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों एक ही जगह से प्रारम्भ कर महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक जा कर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते हैं। 'महावंस' से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की रचना होने के कारण 'दीपवंस' जब कि अपने स्रोतों अर्थात् सिंहली अदृष्टकथाओं के अधिक समीप है, 'महावंस' ने उसे विस्तृत काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर उसकी भाषा और शैली में भी अधिक परिष्कार और व्यवस्थापन कर दिया है। दोनों के द्वारा वर्णित विषयों के विवरणों में अद्भुत समानता होते हुए भी कहीं कुछ वंशावलिओं के कालानुक्रमों में अन्तर भी है, जिस पर हम अभी आयेगे। 'महावंस' को चाहे 'दीपवंस' की अर्थकथा या टीका स्वीकार किया जाय या नहीं, उसकी शैली अपनी एक मौलिक विशेषता रखती है, यद्यपि उसकी विषय-वस्तु अन्ततोगत्वा 'दीपवंस' पर ही आधारित है।

### क्या 'दीपवंस' और 'महावंस' इतिहास हैं ?

'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों ही इतने अतिरंजनामय और अलौकिक वर्णनों से भरे हुए ग्रन्थ हैं कि उन्हें शब्दशः तो इतिहास नहीं माना जा सकता। पाल्निपिटक से हम जानते हैं कि शास्ता मध्य-मंडल को छोड़कर शायद ही कहीं गये। किन्तु 'महावंस' में तथा उससे पूर्व 'दीपवंस' में भी उनका तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो कल्पना-प्रसूत ही हो सकता है। विजय का उसी दिन लंका पहुँचना जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, यह भी वास्तविक घटना-वृत्ति नहीं दीखता। नाना चमत्कार-मय वर्णन जो 'दीपवंस' और 'महावंस' में भरे पड़े हैं, उनकी तो कोई इफता ही नहीं। महेन्द्र और उनके साथी मिथुओं का आकाश से उड़ कर लंका में पहुँचना, लोह-श्रापाद और महा-स्तूप के निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कारों का होना, आदि बातें निश्चित घटनापरक

ऐतिहासिक शैली को व्यक्त नहीं करती। यदि इन सब बातों को उचित अवकाश देकर 'दीपवंस' और 'महावंस' की मूल विषय-वस्तु का परीक्षण किया जाय तो वहाँ से हम निश्चय ही बहुत कुछ निश्चित इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। न केवल लंका के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में ही बल्कि भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओं के सुलझाने में भी, विशेषतः उसके काल-क्रम की समस्या के सुलझाने में, इस प्रकार के अध्ययन से काफी सहायता मिल सकती है। चाहे 'दीपवंस' और 'महावंस' के अन्य विवरण कितने ही अधिक अतिरंजनामय हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य और महत्त्व निर्विवाद है। उनकी इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रो० रायस डेविड्स ने कहा है कि सिंहल के इतिहास-ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका इंग्लैण्ड और फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिकाओं से भी, जो उन देशों में बहुत शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी भी प्रकार कम महत्त्व वाली नहीं हैं।<sup>१</sup> यद्यपि विजय से लेकर देवानंपिय तिस्र तक की कालानुक्रमणिका के विषय में तो उतना निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु देवानंपिय तिस्र और हर हालत में बुद्धगामणि से लेकर महासेन तक की कालानुक्रमणिका तो प्रामाणिक ही मानी जा सकती है। 'महावंस' में दो हुई इस पूरी कालानुक्रमणिका को हम यहाँ विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सकते।<sup>२</sup> यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि चूँकि बुद्ध-परिनिर्वाण से काल-गणना कर यहाँ विभिन्न राजाओं के शासन-काल की गणना की गई है, अतः उससे न केवल बुद्ध के परिनिर्वाण अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं के तिथि-विनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है। इस विषय का अधिक विवेचन करना तो यहाँ पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त समस्या में ही प्रवेश करना होगा, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन को देखते हुए अप्रासंगिक

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४

२. 'महावंस' के आधार पर विजय से लेकर महासेन तक के लंका के ६१ राजाओं की तथा बिम्बिसार से लेकर अशोक तक के १३ भारतीय राजाओं की कालानुक्रमणिकाओं के उद्धरण के लिए देखिये महावंस (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७-९ (भूमिका)

होगा। काल-क्रम के अलावा भारतीय इतिहास के लिए इन लंका के इतिहास-ग्रन्थों का और भी प्रभुत्व महत्त्व है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं का वे अद्भुत रूप से समर्पण करते हैं। उदाहरणतः अशोक के पहले के राजाओं तथा मन्दों, चन्द्रगुप्त (चन्द्रगुप्त) और बिम्बिसार के वर्णन, बिम्बिसार और अजात-शत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त और उसके ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य (चणक्य) के विवरण, और सब से अधिक अशोक का बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अभिषिक्त होना, आदि तथ्य ऐसे हैं जो इन सिंहली इतिहास-ग्रन्थों ने भारतीय इतिहास के समर्पण स्वरूप दिये हैं। 'महावंस' में वर्णित तृतीय बौद्ध संगति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्र और उनके द्वारा देश-विदेश भेजे हुए मज्झिम (हिमवन्त-प्रदेश के धर्मोपदेशक) आदि धर्मोपदेशकों की बात सही है, इसे साँची स्तूप में प्राप्त धातु-लिपियों के ऊपर उत्कीर्ण लेखों से समर्पण प्राप्त होता है। वहाँ प्राप्त एक लिपिया पर लिखा हुआ है "सपूरिसस मज्झिमस" (सत्पुरुष मज्झिम का) और एक दूसरी पर लिखा है "सपूरिसस मोग्गलिपुत्तस" (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का)। साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्टनी पर उध्वेला से लंका को बोधि-वृक्ष की टहनी ले जाये जाने का चित्र अंकित है। उससे भी 'महावंस' में वर्णित महेंद्र द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य को ऐतिहासिक समर्पण प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के वर्णनों से अशोक तथा देवातपिय तिस्र का समकालिक होना भी प्रमाणित होता है। तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण भी जो 'महावंस' और 'दीपवंस' में दिया हुआ है, तत्त्वतः ऐतिहासिक आधार पर ही आश्रित है। अतः इन इतिहास-ग्रन्थों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाश्रमणीय हैं। विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है ही। 'महावंस' का विशेष महत्त्व तो लंका के धार्मिक इतिहास के रूप में ही है। सर्व-प्रथम तो उपालि से लेकर महेंद्र तक के विनय-धरो को जो कालानुक्रम-पूर्वक परम्परा यहाँ दी हुई है, वह लंका और भारत दोनों देशों में बुद्ध-धर्म के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह परम्परा इस प्रकार है, (१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, (५) मोग्गलिपुत्त तथा (६) महिन्द्र। सर्वोक्तिवादियों के मतानुसार

एक दूसरी परम्परा है,<sup>१</sup> जो उनके सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाणिक मानी जाती है। चूंकि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने अपने अपने सम्प्रदायों के अनुसार इन परम्पराओं का उल्लेख किया है, अतः उनमें कम या अधिक प्रामाणिक होने का सवाल ही नहीं उठता। वे सब अपनी अपनी दृष्टि से प्रामाणिक हैं और आदिम स्रोत तो हर हालत में बूढ़ और उनके प्राथमिक शिष्य हैं ही। सिंहल के स्तूप, विहार और चैत्यों के तो बड़े ही चिस्तून विवरण 'महावंस' में उपलब्ध हैं। महाविहार, अभयगिरि विहार, भूपाराम, महामेघवण्णाराम, लोहपासाद आदि विहारों के वर्णन लंका में बौद्ध धर्म के विकास पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन के अच्छे विषय हैं। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवों के भी बड़े चित्रमय वर्णन उपलब्ध हैं। सब से बड़ी बात तो भारत और सिंहल के सत्ताधियों तक के पारस्परिक आदान-प्रदान का इन ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर चित्रण है। तत्कालीन भारतीय इतिहास और भूगोल मानो इन ग्रन्थों में पुनर्ज्जीवित हो उठता है। राजगृह, कोशाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, पुष्पपुर, नालन्दा आदि भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों की स्मृति 'दीपवंस' और 'महावंस' में कितनी हरी-भरी है, यह उन्हें पढ़ते ही देख बनता है। कपिलवस्तु, कुशावती, कुशीनारा, गिरिव्रज, जेतवन, मधुरा (मधुरा), उरुवेला, काशी, ऋषिपत्तन (इतिपत्तन), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि बुद्ध-स्मृति से अंकित भारतीय नगरों, तथा इसी प्रकार अंग, मगध, चम्पा, मल्ल, वेल्लवन, दम्प्रप्रस्थ, भरुकच्छ, सुप्पारक, सक्षसिला, सागल (स्यालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग (पयाग) आदि स्थानों तथा उतने ही अधिक लंका-द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रों और स्थानों से, जो इन ग्रन्थों में वर्णित हैं, तत्कालीन भूगोल का ही निर्माण किया जा सकता है। पालि साहित्य के इतिहास में भी इन ग्रन्थों का साक्ष्य त्रिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है जिसके वर्णन हम पहले अशोक के अभिलेखों और 'मिलिन्द पञ्च' में करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में ही तीनों पिटकों, पाँचों निकायों और उनके विभिन्न ग्रन्थों के नाम ले लेकर, उनके वर्गों, पञ्चासकों, संयुक्तों और वर्गों के पूरे व्योरे दे देकर

१. जिसके उद्धरण के लिए देखिये राहुल सांकृत्यायन : अभिधर्मकोश पृष्ठ ८ (भूमिका)



उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक ] इनके प्रणयन-काल में उसी नाम और वर्गीकरण में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।

### चूलवंस'

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'महावंस' ३७वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है और वह लंका के इतिहास का महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक वर्णन करता है। उसके बाद का लंका का क्रमबद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्द्धित अंश के रूप में बाद में उसके साथ ही जोड़ दिया गया। यह जुड़ा हुआ अंश अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अबवा यदि उसके आधुनिकतम रूप को भी उसी के साथ संयुक्त मानें तो ठीक १९३५ ई० तक लंका के इतिहास का क्रम-बद्ध निरूपण करता है। 'महावंस' के ३७ वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा के बाद का यह परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। 'चूलवंस' सन् ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल) से लेकर ठीक आधुनिक काल तक (उसके आधुनिकतम विकसित रूप को सम्मिलित कर) लंका के इतिहास का वर्णन करता है। यह रचना पाँच भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न कालों में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

- (१) सिंहल प्रवासी स्वविर घम्मकित्त (घर्मकीर्ति) नामक बरमी भिक्षु ने, जो प्रसिद्ध सिंहली राजा पराक्रमबाहु द्वितीय के समकालिक थे, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में सर्वप्रथम महानाम द्वारा ३७ वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा पर छोड़े हुए 'महावंस' का परिवर्द्धन किया। सैतीसवें अध्याय में १९८ गाथाएँ जोड़ कर उसे 'सात राजा' शीर्षक दिया और फिर ७९ परिच्छेद तक ग्रन्थ-रचना की। राजा महासेन के पुत्र सिरि-सेधवण्ण (श्री सेधवर्ण) से इन्होंने अपने विषय का प्रारम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु प्रथम (१२४०-१२७५) के शासन-काल तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने ७८ राजाओं का कालानुक्रम-पूर्वक वर्णन किया, जो

१. रोमन लिपि में डा० गायगर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, १९३५; इस ग्रन्थ के सिंहली और बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं।

निश्चिततम इतिहास ही है। अकेले पराक्रमबाहु प्रथम का ही वर्णन इस भाग में १८ अध्यायों में किया गया है। पराक्रम-बाहु ने द्रविड़ों को हराया था और बौद्ध धर्म के स्तूपों, विहारों आदि का निर्माण के द्वारा बड़ी सेवा की थी। महानाम ने जिस प्रकार दुट्ठगामणि के वर्णन से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना कर डाली है, उसी प्रकार यहाँ पराक्रमबाहु को एक महाकाव्योचित प्रभावशील वर्णन का विषय बनाया गया है।

(२) 'चूलवंस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने ८० वें परिच्छेद से लेकर ९० वें परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होंने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर छोड़ा। इस भाग में इन्होंने २३ राजाओं का वर्णन किया।

(३) 'चूलवंस' का तृतीय परिवर्द्धन सुमंगल स्वविर ने किया। इन्होंने ९१ वें परिच्छेद से १०० परिच्छेद तक रचना की। भुवनेकबाहु तृतीय के काल से लेकर इन्होंने अपने विषय की कीर्ति श्री राजसिंह (किति सिरिराजसीह) की मृत्यु (१७८५ ई०) तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने २४ राजाओं का वर्णन किया। इसी अंश में हमें ईसाई धर्म प्रचारकों के लंका में आने की सूचना भी मिलती है।

(४) 'चूलवंस' का चौथा परिवर्द्धन सुमंगलाचार्य तथा देवरक्षित ने किया। यह परिवर्द्धन केवल १०१ वें परिच्छेद के रूप में लिखा गया। इसमें लंका के दो अन्तिम राजा सिरि राजाधिराज सीह (श्री राजाधिराज सिंह) और सिरि विक्रम राज सीह (श्री विक्रमराज सिंह) का वर्णन है, और लंका के अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। यह अंश १७८५ और १८१५ ई० के बीच के लंका के इतिहास का वर्णन करता है।

(५) सन् १८१५ से १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सिंहली भिक्षु स्वविर सुमिरल पुञ्जानन्द नायक पाद-द्वारा लिखा गया है। यदि चाहें तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते हैं, और चाहें तो अलग स्वतंत्र ग्रन्थ भी मान सकते हैं। प्रकाशित (१९३६) तो यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में ही हुआ है। सिंहल की आधुनिक पालि-रचना की प्रगति पर इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

## बुद्धघोसुत्पत्ति<sup>१</sup>

बुद्धघोसुत्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गई रचना है। इसके प्रणेता महामंगल नामक सिंहली भिक्षु थे, जो 'गन्धट्ठि' नामक (उपसंगसम्बन्धी) व्याकरण-ग्रन्थ के भी रचयिता थे<sup>२</sup>। इनका काल चौदहवीं शताब्दी है। 'बुद्धघोसुत्पत्ति' में अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन नहीं किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्यावस्था और प्रारम्भिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करते समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो 'मिलिन्द पञ्च' के नागसेन और रोहण तथा 'महावंत' (परिच्छेद ५) के सिंग्गव तथा मोग्गल्लपुत्त तिसस सम्बन्धी प्रकरणों के तमूनों को ही रूपान्तर कर के रच दिया गया है।<sup>३</sup> यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु ऐतिहासिक बुद्धि का उसने अधिक परिचय नहीं दिया है। बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्म पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओं को ही क्रमशः अपने 'विनय विनिच्छय' और 'अभिधम्मभावतार' के रूप में संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुत्पत्ति' में बुद्धदत्त का प्रथम जन्म-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनय विनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढ़तर माना जा सकता है। इस प्रकार की एक-दो ऐतिहासिक भूलें 'बुद्धघोसुत्पत्ति' के रचयिता ने और भी की हैं।<sup>४</sup> वास्तव में बात यह है कि स्वविर

१. जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, लन्दन १८९२

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६, जे जाँयसा।  
कटेलग, पृष्ठ २३; देखिये आगे दसवें अध्याय में व्याकरण-साहित्य का विवेचन भी।

३. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४४-४७;  
देखिये उन्हीं का 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९;  
मिलाइये जेम्स ग्रे द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'बुद्धघोसुत्पत्ति' की भूमिका भी।

४. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४३-४४।

महामंगल ने केवल अनुश्रुति के आधार पर चौदहवीं शताब्दी में इस रचना को ग्रथित किया था, अतः साक्षात् जीवन से प्राप्त मौलिकता या सच्चाई उसकी रचना में नहीं आसकती थी। 'महावंस' के ३७ वें परिच्छेद के परिवर्द्धित संस्करण में सिंहल-प्रवासी बरमी भिक्षु धम्मकिति ( १३ वीं शताब्दी ) ने भी गद्यपि बृद्धघोष से शताब्दियों बाद अपने वर्णन को ग्रथित किया था किन्तु उसकी प्रामाणिकता फिर भी 'बृद्धघोषोत्पत्ति' से अधिक है। 'महावंस' (या ठीक कहे तो बृद्धवंस) के इस प्रकरण की तुलना में बृद्धघोषोत्पत्ति का वर्णन कम ऐतिहासिक मूल्य का ही मानना पड़ेगा। 'महावंस' के उपर्युक्त विवरण का साव्य स्वयं बृद्धघोष और बृद्धदत्त आदि की अदृक्कृतियों के कतिपय वर्णनों से मिल जाता है, जब कि बृद्धघोषोत्पत्ति के वर्णनों से उनका कहीं कहीं विरोध भी है, जैसा एक उदाहरण में हम ऊपर देख चुके हैं। अतः ऐतिहासिक रूप से वह उतना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। जो तथ्य उसके प्रामाणिक भी है, वे भी 'महावंस' के वर्णन पर ही आधारित हैं, यह उनकी शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि उसका वर्णन 'पूर्वाचार्यों' (पुब्बाचारिया) पर आधारित है। उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों यथा गद्यवंस,<sup>१</sup> सासन वंस<sup>२</sup> तथा सद्धम्मसंगह<sup>३</sup> में भी बृद्धघोष की जीवनी के साथ साथ उस ग्रन्थ का भी उल्लेख हुआ है (विशेषतः सासनवंस में)। ये सभी 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश पर इतने आधारित हैं कि इनमें कोई नई बात ही बूझना व्यर्थ है। 'बृद्धघोषोत्पत्ति' का दूसरा नाम 'महाबृद्धघोषात्म्य निदानकवस्तु' (महाबृद्धघोषात्म्य निदानवस्तु) भी है।

### सद्धम्मसंगह<sup>४</sup>

'सद्धम्मसंगह' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें बृद्ध-शास्त्र के सग्रह के साथ साथ प्रारम्भिक काल से लेकर १३ वीं शताब्दी तक के भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन है। दीप, मज्झिम, संपुत्त, अंगुत्तर और खुदक-निकायों का निर्देश इस

१. जर्नेल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ६६
२. पृष्ठ ३० (मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी, १८९७)
३. जर्नेल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी, १८९० में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ५५
४. सद्धानन्द द्वारा जर्नेल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी, १८९० में सम्पादित ।



ग्रन्थ में हुआ है। अभिवम्म-पिटक के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन में कोई नई बात यहाँ नहीं कही गई है। चुल्ल वग्ग (वितय-पिटक), बुद्धघोष की अट्ठ कथाओं और दीपवंस, महावंस के आधार पर संकलित सामग्री का उपयोग कर के ही इन वर्णनों को ग्रथित कर लिया गया है। तृतीय संगीति के बाद धर्म-अन्तर्गत कार्यों का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में भी दिया गया है और दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका के समान उन भिक्षुओं के नामों का उल्लेख भी किया गया है जिन्हें धर्म-अन्तर्गत के लिए देश-विदेश में भेजा गया था। इस प्रकार 'सद्धम्मसंगह' के वर्णनानुसार धेर मज्झन्तिक काश्मीर और गन्धार को भेजे गए, महादेव धेर महिष मंडल को भेजे गये, रत्नित्त धेर वनवासी-प्रदेश को, योनक (ग्रीक) धम्मरत्नित्त धेर अपरान्तक को, महाधम्मरत्नित्त धेर महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, महारत्नित्त धेर योनक (यवनक-ग्रीस) प्रदेश को, मज्झिम धेर हिमालय-प्रदेश को, सोणक और उत्तर सुवर्णभूमि (सुवर्णभूमि-पेगू-बरमी) को, और महेंद्र (महिन्द्र) तथा इत्थिय, उत्तिय, सम्बल और भट्टसाल भिक्षु लंका को भेजे गये। यह वर्णन महावंस के समान ही है। 'सद्धम्मसंगह' में कुल ४० अध्याय हैं। नवें अध्याय में अनेक ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का वर्णन है। 'सद्धम्मसंगह' धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की रचना है, जिसका काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है। बालावतार-व्याकरण को गन्धर्वस में वाचिस्सर की रचना बताया गया है, किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार उसके भी रचयिता सद्धम्मसंगह के रचयिता धम्मकित्ति महासामी नामक स्वविर ही हैं।

### महाबोधिवंस<sup>१</sup>

'महाबोधि वंस' या 'बोधिवंस' अनुराधपुर में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा है। यह ग्रन्थ गद्य में है। लेखक ने बोधि-वृक्ष के इतिहास के रूप में बुद्ध-धर्म के

- 
१. रोमन लिपि में एस० ए० स्ट्रॉंग द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८९१; इस ग्रन्थ का सिंहली संस्करण, इसके लेखक के नाम के भिक्षु (उपतिस्स) द्वारा सम्पादित किया गया है किया गया है कोलम्बो १८९१।

प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन किया है, जो निदान-कथा, दीपवंस, महावंस आदि प्राचीन स्रोतों पर आधारित है। बुद्ध दीपकर से प्रारम्भ कर, जैसा वंश-ग्रन्थकारों ने अक्सर किया है, तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण महेन्द्र का लंकागमन, महा-विहार, चेतियगिरि विहार आदि का प्रतिग्रहण, इन सब बातों का विवरण इस ग्रन्थ में भी किया गया है। 'महाबोधिवंस' के रचयिता सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) थे, जिनका समय डा० गायगर के मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।<sup>१</sup> एस० ए० स्ट्रांग ने इनका समय बुद्धकोप के समकालिक माना है,<sup>२</sup> जिसका प्रतिवाद डा० गायगर ने किया है।<sup>३</sup> वर्णन-शैली को देखते हुए 'महाबोधिवंस' की समानता उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों से ही अधिक दिखाई पड़ती है, अतः गायगर के मत की ठीक मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है।

### श्रृपवंस\*

'श्रृपवंस' सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। इन वाचिस्सर के विषय में हम आठवें अध्याय में काफी कह आये हैं। 'गन्धवंस' में इस ग्रन्थ का तो उल्लेख है<sup>४</sup> किन्तु इसके लेखक का कोई नाम वहाँ नहीं दिया हुआ है। वह ग्रन्थ गद्य में है। निदान-कथा, समन्त पासादिका, महावंस तथा महावंस-टीका आदि में यहाँ सामग्री संकलित की गई है। 'श्रृपवंस' की रचना

१. दीपवंस एंड महावंस, पृष्ठ ७९ (कुमारस्वामी का अंग्रेजी अनुवाद) ; देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३७

२. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'महाबोधिवंस' की प्रस्तावना।

३. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ३७, पद-संकेत १।

४. इस ग्रन्थ का सम्पादन डा० लाहा ने किया है जिसे पालि टैक्सट सोसायटी ने सन् १९३५ में प्रकाशित किया है। सिंहली लिपि में यह ग्रन्थ धम्मरतन द्वारा सम्पादित है, कोलम्बो १८९६। डा० विमलाचरण लाहा ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो विबलियोथैका इंडिका सीरीज (१९४५) में प्रकाशित हुआ है।

५. पृष्ठ ७०

१३ वीं शताब्दी के आदिम भाग में हुई थी। तेरहवीं शताब्दी में ही इस ग्रन्थ का सिंहली रूपान्तर भी किया गया था।<sup>१</sup>

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'धूपवंस' (स्तूपवंश) भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित 'स्तूपों' का इतिहास है। 'महापरिनिर्वाण-सुत्त' में ही हमने देखा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था। 'महावंस' के विवरण में भी हम देख चुके हैं कि किस प्रकार लंका के राजा दुट्ठगामिणि ने 'महा-स्तूप' आदि कई विशाल स्तूपों का निर्माण किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर दुट्ठगामिणि के समय तक निर्मित स्तूपों का कमबद्ध इतिहास वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। बुद्ध-भक्ति से प्रेरित हो कर लंका के अनेक राजाओं ने विशाल विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था, अतः उसके इतिहास में उसका भी एक विशेष महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। स्तूपों का वर्णन करना ही केवल एका मात्र विषय 'धूपवंस' का नहीं है। उसने इसे आधार मान कर बौद्ध धर्म के पूरे इतिहास का ही वर्णन दुट्ठगामिणि के समय तक कर दिया है। इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग हैं। पहले भाग में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन किया गया है। बोधिसत्त्वों की त्रयी का यह वर्णन प्रसिद्ध दीपंकर बुद्ध के समय में प्रारम्भ किया गया है, जैसा कि प्रायः अन्य सब वंश-ग्रन्थों ने भी किया है। दूसरे भाग में भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी है। जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवनी यहाँ बड़ी प्रभावशाली शैली में वर्णित की गई है। तीसरे भाग में, जिसे ग्रन्थ के 'दीपंक' को देखते हुए उसका प्रधान अंश ही कहा जा सकता है, भगवान् बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का और उनके उत्तरकालीन इतिहास का

१. कहीं कहीं इस सिंहली रूपान्तर की, पालि 'धूपवंस' से अल्प विभिन्नता भी है।

उदाहरणतः सिंहली 'धूपवंस' में 'धम्मचक्क पवत्तत-सुत्त' के उपदेश का विवरण है जब कि पालि 'धूपवंस' में केवल 'धम्मचक्कपवत्त-सुत्तो' कह कर उसका निर्देश कर दिया गया है। मौलिक रूप से दोनों समान हैं। देखिये 'महाबोधि' मई-जून १९४६, पृष्ठ ५७-६० में डा० विमलाचरण लाहा का 'धूपवंस' दीपंक लेख।

वर्णन किया गया है। जैसा अभी कहा जा चुका है 'धूपवंस' में 'महावंस', 'समन्त-पासादिका', 'निदान-कथा' आदि की अपेक्षा मधीन कुछ नहीं है। देवानं पिय तिस्र के काल से लेकर बुद्धगामणि के काल तक का वर्णन तो प्रायः शब्दशः 'महावंस' पर ही आधारित है। लेखक ने (स्तूपों के चारों ओर) व्यवस्थित कर उसे एक नया रूप अवश्य दे दिया है। उसकी विषय-वस्तु का कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित होगा।

ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने बताया है कि पूर्ववर्ती पालि वर्णनों को पूर्णता देने के लिए ही उसने इस ग्रन्थ की रचना की है। उसके बाद उसने बताया है कि चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपाहं हैं, यथा तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप से जानी, किन्तु लोकों के उपदेष्टा नहीं) तथागत के शिष्य, और राज-वधवर्ती। जिस ग्रन्थ में इनमें से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिह्न रखे जायें वही 'स्तूप' (धूप) है। इसके बाद गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन है। उनके सम्बन्ध में जो स्तूप बनाये गये उनका भी वर्णन है। यह सब इतना पौराणिक है कि इसका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। ग्रन्थ के दूसरे भाग में लेखक ने बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया है और तीसरे या अन्तिम भाग में उनके शरीर चिह्नों के उत्तर निर्मित स्तूपों का। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शरीर का दाह संस्कार-जिस प्रकार किया गया उसका यहाँ झिलकुल उसी प्रकार वर्णन है जैसा महापरिनिर्वाण-मुक्त में। अतः उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। महापरिनिर्वाण-मुक्त के मूल आधार पर ही यहाँ बताया गया है कि भगवान् की पातुओं को बाँटने के लिए कुशीनारा के मल्लों, मगध के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शालियों, अल्लकप्प के बुलियों, रामगाम के कोलियों, वेढदीपक के एक ब्राह्मण और पावा के मल्लों आपस में भगड़ा होने ही वाला था कि द्रोण नामक ब्राह्मण के सामयिक शब्दों (पास्ता वान्तिवादी थे, उनके शत्रुओं पर इस प्रकार का भगड़ा उचित नहीं) को मानकर उन्होंने उन्हें आठ भागों में विभक्त कर लिया, जिन पर आठ महास्तूपों का निर्माण राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामगाम, वेढदीप, पावा और कुशीनारा, इन आठ स्थानों में किया गया। रामगाम के स्तूप में निहित शत्रुपुं ही बाद में मिहल ले जाई गई। इसका इतिहास इस प्रकार है। स्वविर



महाकाश्यप के आदेश पर मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली, कपिलवस्तु, अल-कण, वेठदीप, पावा और कुशीनारा से बुद्ध की धातुओं को इकट्ठा करवाकर उन्हें राजगृह की धातुओं के साथ ही राजगृह के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक महा-स्तूप में स्थापित किया। धर्मराज अशोक के समय में इन्हीं धातुओं के विभक्त अंशों पर ८४ हजार चैत्यों का निर्माण हुआ। अशोक की राज्य-प्राप्ति, अभियेक, धर्म-परिवर्तन आदि का भी उल्लेख यहाँ, 'महावंस' के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। आमणेर न्यग्रोध से उपदेश ग्रहण कर सम्राट् अशोक ने ८४००० नगरों में ८४००० धर्म-स्कन्धों की स्मृति में ८४००० विहारों का निर्माण करवाया। राज-गृह में अजातशत्रु द्वारा पूर्व स्थापित धातुओं के विभक्त अंशों पर ही इन ८४००० विहारों का निर्माण हुआ था, यह हम पहले कह ही चुके हैं। तृतीय बौद्ध संगीत के बाद स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा देश-विदेश में नाना धर्मो-पदेशों का भिजवाना जना दिखाया गया है। भिक्षुओं के नामों की सूची तथा जिन-जिन प्रदेशों में वे भेजे गये थे, 'महावंस' से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'सद्धम्मसंगह' और महाबोधिवंस' जैसे ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। 'दीपवंस' महावंस' 'समन्त पासीदिका' 'महावंस-टीका' आदि में कही हुई बातों को ही यहाँ बार बार दुहराया गया है। स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार धेर मज्झन्तिक काश्मीर और गान्धार को, धेर महादेव महिसक मंडल को, धेर रक्खित वनवासी-प्रदेश को, धेर योनक (घीक) धम्मरक्खित अपुरान्तक को, महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र को, धेर महारक्खित योनक लोक को, धेर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश को, धेर सोण और उत्तर सुवर्णभूमि को और धेर महिन्द (महेन्द्र), इत्थिय, उत्तिय और भट्टसाल तम्बपणिदीप (लङ्कादीप) को भेजे गये। दीपवंस' और महावंस' के समान 'धूपवंस' में भी इस धर्म-प्रचार का श्रेय स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही दिया गया है और इस प्रसङ्ग में अशोक के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके विपरीत अशोक ने अपने दूसरे और तेरहवें शिलालेखों में अपने द्वारा किये हुए धर्म-प्रचार-कार्य का उल्लेख किया है और वहाँ स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः भिक्षु-संघ और धम्म-राजा दोनों की ओर से ही स्वतन्त्र रूप से धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ किया गया था। इन समस्या का विवेचन हम 'महावंस' का वर्णन करते समय कर

चुके हैं। किस प्रकार 'दीपवंस' 'महावंस' आदि के धर्म-प्रचार-कार्य का विवरण, जिसके आधार पर ही इन उत्तरकालीन-वंश-ग्रन्थों ने अपने वर्णन ग्रहित किये हैं, सची और भारत के स्तूपों से समर्थित प्राप्त करता है, यह भी हम वहाँ दिखा चुके हैं। अशोक और उसके समकालीन लङ्काधिपति देवानं पियत्तिस्स के बीच पार-स्परिक भेंटोंके आदान-प्रदानका वर्णन करनेके बाद 'धूपवंस' में महेन्द्रादि भिक्षुओं में धर्म-प्रचार कार्य का वर्णन किया गया है। देवानं पियत्तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसकी भतीजी अनुलादेवी की प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा हुई। इस विधि को सम्पन्न कराने के लिये सम्राट् अशोक की प्रव्रजित पुत्री संघमित्रा भारत से बुलाई गई। वह बोधिवृक्ष की डाली लेकर वहाँ पहुँची है। अनुला देवी की प्रव्रज्या के बाद देवानं पियत्तिस्स सम्पूर्ण लङ्का द्वीप (तम्ब-पणि द्वीप) में एक एक योजन के फासले पर स्तूपों का तैता फैला दिया। इन स्तूपों में रखने के लिए तथागत के शरीर में अवशिष्ट चिन्हों को उसने आम-गौर सुमन को भेंट कर अपने मित्र देव-प्रिय राजा अशोक ने मँगाया जिसे उसने बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भिक्षा पात्र में रखकर अपने कल्याणमित्र के पास आदर पूर्वक भेजा था। देवानं पियत्तिस्स के बाद दमिलों द्वारा लङ्का के सताये जाने का वर्णन है। यह वर्णन 'महावंस' के समान ही है। लङ्का के इतिहासों-ग्रन्थोंमें इसकी निरन्तर पुनरावृत्ति इसकी सत्यता की सूचक है। राजा दुट्ठगामणि इन दमिलों को परास्त कर लङ्का को एक अभिन्न राजनैतिक और सांस्कृतिक मूल में बाँध दिया है। 'लङ्का-दीप' 'एकछत्तमकासि'। लङ्का-द्वीप में उसने एक छत्र राज्य की स्थापना की। जिस प्रकार 'महावंस' के दुट्ठगामणि को एक राष्ट्रीय नेताके रूप में चित्रित किया गया है, वही बात यहाँ भी पाई जाती है। दमिलों और उनके नेता एलार की दुट्ठगामणि के हाथ पराजय आदिके ऐतिहासिक वर्णनोंके लिए इस ग्रन्थ का 'महावंस' आदि की अपेक्षा भी अतिरिक्त महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। राजा दुट्ठगामणि ने ९९ बिहार बनवाये, जिनमें मरीचवट्टि, लोहाप्रासाद और महास्तूप बड़े निर्माण-कार्य थे। किस प्रकार महास्तूप पर छत्र चढ़ने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई और अपने छोटे भाई को उसे पूरा करने का आदेश दे कर, भिक्षु संघ को बिहार को समर्पित कर तथा रोग-शय्या पर पड़े हुए ही स्तूप की तीन बार प्रव्रजिणा

कर, बुद्ध, धर्म और संग की वन्दना करते हुए इस श्रद्धालु राजा ने तुषित-लोक में गमन किया, यह हम 'महावंस' के वर्णन में देख चुके हैं। उसी के समाप्त यह यहाँ वर्णित है। महास्तूप का निर्माण दुट्ठगामणि ने बड़े प्रयास और रुचि से करवाया था। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अनेक चित्र तथा धर्म-तत्त्वप्रवर्तन महापरि-निर्वाण-प्राप्ति आदि दिखाये गये थे। महास्तूप में रखने के लिये बुद्ध-शरीर के अवशिष्ट चिह्न वही थे जिन्हें रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था और जो बाद में लङ्का में लाये गये थे। दुट्ठगामणि द्वारा निमित्त स्तूपों के वर्णन के साथ ही 'धूपवंस' का वर्णन समाप्त हो जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि लङ्का के धार्मिक इतिहास में 'धूपवंस' का बड़ा महत्व है। आज श्रद्धालुओं के रूप में भग्न या आधुनिक सहरों के नीचे बिलीन प्रभूत पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री का वह परिचय देता है। लङ्का की बुद्ध-भक्ति का भी वह परिचायक है। भारत और लङ्का के मधुर, धर्म-निश्चित सम्बन्धों का भी वह साद दिलाता है। दमिलों द्वारा लङ्का पर किये गये आक्रमणों की याद दिला कर वह इस परिच्छेद को कुछ दुःखानुविद्ध भी करता है, भारतीय संस्कृति के अशोषक तत्व की कटु व्याख्या भी करता है। फिर भी मनुष्यों के लोभ ने जिसे नष्ट किया, क्षत विक्षत किया, धम्म ने उसे पुनरुज्जीवित किया, यह आश्वासन भी हमें यहाँ मिलता है। लङ्का के राजा और उनको जनता आध्यात्मिक प्रेरणा के लिये सदा भारत की ओर देखते रहे। अनुलादेवी की प्रस्रज्या के लिये संघ-मित्रा बुलाई गई। बांधि-वृक्ष की डाल रोपी गई। तब से दोनों देश एक हो गये। भारत के देश-काल का, उसके गांधार, कादमीर और महिष-मंडल का, वनवासी, अपरान्तक, महाराष्ट्र और सुवर्ण भूमि का, उसके विदिशा, रामग्राम, पावा, राज-गृह, वैशाली और कपिलवस्तु का, लङ्का के इस ग्रन्थ में निरन्तर स्मरण यहाँ दिखाता है कि बुद्ध की स्मृति के साथ इस देश की स्मृति को भी लङ्कावासियों ने अपने इतिहास में कभी भूला नहीं है।

### अत्तनगलुविहार वंस

'अत्तनगलु विहार वंस' का दूसरा नाम 'हत्थवनगलुविहारवंस' भी है।

सिंहली संस्करण में वह इसी नाम से छपा है। तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग की यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ११ अध्याय हैं और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, स्वाभाविक वर्णन-शैली है। प्रथम आठ परिच्छेदों में लंकाधिपति सिरिम्बोधि (श्रीसंबोधि) का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में उन अनेक विहारों के निर्माण का वर्णन है, जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवासस्थान पर बनाये गये थे। 'अत्तनगल्ल' या 'अत्तनगलु' नामक स्थान पर निर्मित विहार इनमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण, इसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगलुविहारवंस' पड़ा है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी के अनुरोध पर, जिन्हें पराक्रमबाहु द्वितीय (१२२९-१२४६ ई०) ने, महावंस ८६-३७ के अनुसार, यह विहार समर्पित किया था, यह रचना लिखी गई थी।<sup>१</sup> इसके लेखक के नाम आदि का कुछ पता नहीं चलता।

### दाठावंस<sup>२</sup>

'दाठावंस' की रचना तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग में सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महास्वविर धर्मकीर्ति (धम्मकिर्त्ति महाधेर) ने की।<sup>३</sup> यह भिक्षु संस्कृत, मागधी भाषा (पालि), तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य और आगम आदि में निष्णात थे। इनका छन्दों पर अगाध अधिकार था, यह 'दाठावंस' में प्रयुक्त नाना छन्दों से विदित होता है। 'दाठा-वंस' बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसका दूसरा नाम 'दन्तधातुवंस' भी है। 'दाठावंस' की विषय-वस्तु बहुत कुछ 'धूपवंस' के समान ही है। उसके समान यहाँ यद्यपि गीतम बुद्ध के

१. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेखेज, पृष्ठ ४४

२. रोमन लिपि में डा० रायस ड्रेविड्स द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८४, में सम्पादित। देवनागरी लिपि में डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, पञ्जाब संस्कृत सरीख १९२५। सिंहली लिपि में असमतिस्स द्वारा सम्पादित, कोलनिय १८८३।

३. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ६२।



पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु अन्य वर्णन प्रायः समान ही हैं। 'धूपवंस' में कथा का अन्त दुट्ठगामणि पर लाकर कर दिया गया है जब कि 'दाठावंस' में वह लंकाधिपति कित्तिसिरि मेघवर्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) तक चलती है। बुद्ध के दौरे के इतिहास के चारों ओर यहाँ बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास का वर्णन किया गया है, जैसे "धूपवंस" में स्तूपों की कथा के चारों ओर। कालिंग के राजकुमार द्वारा लंका में बुद्ध के दौरे का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण द्वारा उनका आदर-पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर में लंका के राजा, भिक्षुसंघ और उपासक जनता के द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु है।

### छकेसघातुवंस<sup>१</sup>

'छकेसघातुवंस' १९ वीं शताब्दी की रचना है। यह किसी बरमी भिक्षु की रचना है, जिसके नाम का पता नहीं। इसमें भगवान बुद्ध के छः केशों के ऊपर बनवाये हुए स्तूपों का वर्णन है। यह एक गद्य-यद्य मिश्रित रचना है और इसकी शैली सरल है।

### गन्धवंस<sup>२</sup>

'गन्धवंस' (ग्रन्थ-वंश) उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में लिखा गया। इनकी उत्तरकालीन रचना होते हुए भी इसी कोटि के अन्य वंश-ग्रन्थों के समान इसका अल्प महत्व नहीं है। पालि-साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए तो यह एक बड़ा सहायक ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम से विदित है, यह पालि-ग्रन्थों का इतिहास है। पालि ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों का विवरण देना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। पुस्तकों और उनके रचयिताओं की सूची, रचना-स्थान और रचना के उद्देश्य यहाँ दिये गये हैं। पहले विषय-टिप्पणी का विश्लेषण दिया गया है। फिर ग्रन्थकारों की तीन श्रेणियों में

१. जर्नल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी १८८५ में मिनयेफ द्वारा सम्पादित।

२. मिनयेफ द्वारा रोमन लिपि में जर्नल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी, १८८६ में सम्पादित।

विभक्त किया गया है जो कालानुक्रम-यस्क भी हैं, (१) पौराणाचरिय (२) अट्ठकथाचरिय और (३) गन्धकाचरिय । पौराणाचरिय (पुराणाचार्य) धर्म-संगीतिकार प्राचीन भिक्षु थे जिन्होंने बृद्ध-वचनों का संग्रहण और संकलन किया । अट्ठकथाचरिय (अर्थकथाचार्य) वे भिक्षु थे जिन्होंने अत्यंत प्राचीन काल में पालि त्रिपिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं । उसके बाद गन्धकाचरियों (ग्रन्थकाचार्यों) का समय आता है जिनमें पहले कुल्लवी और महापच्चरी आदि सिहली अट्ठकथाओं के लेखक और बाद में बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल आदि आते हैं । जिन ग्रन्थों के लेखकों का पता नहीं है, उनकी भी सूची 'गन्धवंस' कार ने दी है । लेखकों में कौन से भारत-वासी थे, या कौन से लंका-वासी थे, किसने रचना अपनी प्रेरणा से की, या किसने दूसरों के अनुरोध से की, इस प्रकार का भी विवरण देकर रचनाओं के रचना-स्थान और रचनोद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है । 'गन्धवंस' में निर्दिष्ट ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

#### ग्रन्थकार

#### रचित ग्रन्थ

१. महाकच्चायन— (१) कच्चायनगन्धो, (२) महानिरुत्तिगन्धो (३) चुल्लनिरुत्ति गन्धो (४) नेत्तिगन्धो, (५) पैटकोपदेस-गन्धो, (६) वण्णनीतिगन्धो ।
२. बुद्धघोस— (१) विसुद्धिमग्गो, (२) सुमंगलविलासिनी, (३) पपंच सुदनी (४) सारत्वपकासिनी (५) मनोरथपूरणी, (६) समंतपासादिका, (७) धरमत्वकथा (८) कंठावितरणी (९) धम्मपदट्ठकथा (१०) जात-कत्ववण्णना, (११) सुद्धकपाठट्ठ कथा (१२) अपादानट्ठकथा ।
३. बुद्धदत्त— (१) विनिपविनिच्छयो (२) उत्तरविनिच्छयो, (३) अभिघम्मावतारो (४) मधुरत्वविलासिनी ।
४. आनन्द— मूलटीक
५. धम्मपाल— (१) नेत्तिपकरणट्ठ कथा (२) इतिवृत्तक-अट्ठकथा (३) उदानट्ठकथा (४) चरियापिटक-अट्ठकथा

(५) बरेगाथा-अट्ठकथा, (६) विमानवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (७) पेतवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (८) परमत्थमंजुसा (९) दीघनिकायट्ठकथादीनि चतुन्नं अट्ठकथानं लीनत्वपकासिनी नाम टीका (१०) जातक ट्ठकथाय लीनत्वपकासिनी नाम टीका, (११) परमत्थदीपनी (१२) लीनत्ववण्णना ।

विनय-गण्डि ।

६. महावजिरबुद्धि—

(महावज्र बुद्धि)

७. विमलबुद्धि— मुखमत्तदीपनी ।

८. चुल्लवजिरो— अत्यव्याख्यातं ।

९. दीपं करो— (१) रूपसिद्धिपकरणं (२) रूपसिद्धिटीकं (३) सम्मपञ्चसुत्तं

१०. चुल्लधम्मपालो— सच्चसंक्षेपं

११. कस्सपो— (१) मोह विच्छेदनी (२) विमतिच्छेदनी, (३) बुद्धवंस, (४) अनागतवंस

१२. महानाम— (१) सद्धम्मपकासिनी (२) महावंस (३) चुल्लवंस

१३. उपसेन— सद्धम्मट्ठटीकं ।

१४. मोग्गल्लान— मोग्गल्लान व्याकरणं ।

१५. संघरक्खित— सुबोधलङ्कार

१६. वृत्तोदयकार— (१) वृत्तोदय, (२) संबंध-चिन्ता (३) नवटीकं ।

१७. धम्मसिरि— खुद्द-सिक्खं ।

(धर्मश्री)

१८. अनुदड— खुद्द सिक्खं ।

१९. अनुदड— (१) परममत्थविनिच्छयं (२) नाम-रूप-परिच्छेद (३) अभिधम्मत्वसंगहणकरणं

२०. खेम— खेमं

२१. सारिपुत्त— (१) सारत्थदीपनी (२) विनयसंग्रहपकरणं, (३)  
(३) सारत्थमञ्जूसं (४) पञ्चकं ।
२२. बुद्धनाग— विनयत्थमञ्जूसं ।
२३. नव भोगलान— अभिधानपदीपिका ।
२४. वाचिस्सरो— (१) सर्वन्वाचिताटीका (२) भोगलान व्याकरणस्-  
टीका (३) नामरूपपरिच्छेदटीका (४) पदरूप-  
विभाषनं (५) सेमणपकरणस्स टीका (६) मूलसिक्खाय  
टीका (७) बुत्तोदयविवरणं (८) सुमंगलपसादनी  
(९) बालावतार (१०) योगविनिच्छयो (११)  
(११) सीमालकार (१२) रूपारूपविभाग (१२)  
पञ्चयसंगहो ।
२५. सुमंगल— (१) अभिधम्मत्थविकासनी (२) अभिधम्मत्थ-  
विभाषनी
२६. धम्मकित्ति— दन्तधातुपकरणं ।
२७. मेघंकारो— जिनचरितं ।
२८. सद्धम्मसिरि— सद्धत्थभेदचिन्ता ।
२९. देवो— सुभणकाटवण्णना ।
३०. चुल्लबुद्धधोसो— (१) आतत्तगीनिदानं (२) सोतत्तगीनिदानं ।
३१. रट्ठपाल— मधुरसवाहिनी ।
३२. अगगवंस— सहनीतिपकरणं ।
३३. विमलबुद्धि— महाटीकं ।
३४. उत्तम— (१) बालावतारटीकं (२) लिगत्यविवरणटीकं ।
३५. कयच्चामरञ्जो— (१) सद्धविन्दु (२) परमत्थविन्दुपकरणं  
(राजा कयच्चा—धरमी)
३६. सद्धम्मगुरु— सद्धवुत्तिपकासनं ।
३७. अग्गापंडित— लोकुप्पत्ति ।
३८. सद्धम्मजोतिपाल— (१) सीमालंकारस्स टीका (२) मात्तिकत्थदीपनी  
(३) विनयसमुट्ठान दीपनी (४) गन्धसारो (५)



पट्टानगणनानयो (६) संक्षेपवण्णना (७) सुत्त-  
निद्देशो (८) पात्तिमोक्खविसोधिनी ।

३९. नव विमलवुद्धि—अभिधम्मपण्णरसट्टानं ।  
 ४०. वेपुल्लवुद्धि (१) सद्दसारत्थ जालिनिया टीका (२) बुत्तोदयटीका,  
 (३) परमत्थमंजूसा (४) दसगण्डवण्णना (५)  
 मगधभूताविदग्गं, (६) विदधिमूखमंडनटीका  
 ४१. अरियवंस— (१) मणिसारमंजूसं, (२) मणिदीपं, (३) गण्डाभरणं  
 (४) महानिस्सरं (५) जातक विसोधनं  
 ४२. चीवरो— जंबदासस्स टीकं ।  
 ४३. नवमेधंकरो— लोकदीपसारं ।  
 ४४. सारिपुत्तो— सद्दबुत्तिपकासनस्स टीकं ।  
 ४५. सद्धम्मगुह— सद्धबुत्तिपकासनं  
 ४६. धम्मसेनापति— (१) कारिकं, (२) एत्तिमासमिदीपकं (३) मनोहरं ।  
 ४७. ज्ञानसागरो— लिगत्थविवरणपकासनं ।  
 (ज्ञानसागर)  
 ४८. अभय— सद्दत्थभेदचित्ताय महाटीकं ।  
 ४९. गुणसागरो— मुखमत्तसारं तट्टीकं ।  
 ५०. सुभूतचन्दन— लिगत्थविवरणपकरणं ।  
 ५१. उदुम्बरनामाचरियो—पेटकोपदेसस्स टीकं ।  
 ५२. उपतिस्साचरिय—अनागतवंसस्स अट्ठकथा ।  
 ५३. बुद्धपिय— सारत्थसंगहनाम गन्धो ।  
 ५४. धम्मानन्दाचरिय—(१) कच्चायनसारो (२) कच्चायनभेद (३)  
 कच्चायनसारस्स टीका ।  
 ५५. गन्धाचरियो— कुरुदिगन्ध ।  
 ५६. नागिताचरिय—सद्दसारत्थजालिनी ।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के अलावा नीचे लिखे ग्रन्थ भी  
 निर्दिष्ट हैं, जिनके ग्रन्थकारों के नाम आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया ।

(१) महापञ्चरियं (२) पुराणटीका (३) मूलसिक्ताटीका (४) लौक-  
 त्वपकासिनी (५) निसन्देहो (६) धम्मनुसारिणी (७) अय्यासन्दति (८)  
 अय्यासन्दतिय टीका (९) सुमहावतारो (१०) लोकपञ्चात्तिपकरणं (११)  
 तवागतुप्पत्तिपकरणं (१२) नलातघातुवण्णना (१३) सीहलवत्थु (१४)  
 धम्मदीपको (१५) पटिपत्ति संगहो (१६) विमुद्धिमग्गगन्धि (१७) अभि-  
 धम्मगन्धि (१८) नेत्तिपकरणगन्धि (१९) विमुद्धिमग्गचुल्लनवटीका (२०)  
 सोत्तप्पमालिनी (२१) पसाद जननी (२२) सुबोधालंकारस्स नवटीका (२३)  
 गूळत्पटीकं (२४) बालप्पबोधनं (२५) सद्धत्थभेदचिन्ताय मक्खिमटीकं  
 (२६) कारिकाय टीकं (२७) एत्तिमासमिदीपिकाय टीकं (२८) दीपवंस  
 (२९) धूपवंस तथा (३०) बोधिवंस । उपर्युक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में  
 से अधिकांश का विवेचन पिछले पृष्ठ में किया जा चुका है और कुछ का आगे  
 किया जायगा । निश्चय ही 'ग्रन्थवंस' की सूचीबद्ध सामग्री पालि-साहित्य के इति-  
 हासकार के लिए बड़ी सहायक है ।

### सासनवंस'

'सासनवंस' (शासन-वंश) भी 'ग्रन्थवंस' के समान महत्वपूर्ण रचना  
 है । उसका प्रणयन उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में हुआ । यह बरमी  
 भिक्षु पञ्जसामी (प्रजास्वामी) की रचना है । प्राचीन पालि साहित्य  
 पर आधारित होने के कारण इसका बड़ा महत्व है । 'सासनवंस', जैसा उसके  
 शीर्षक से स्पष्ट है, बौद्ध-शासन का इतिहास है । बौद्ध-काल से लेकर उन्नीसवीं  
 शताब्दी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है । 'सासन-  
 वंस' में दस अध्याय हैं । विशेषतः छठा अध्याय अधिक महत्वपूर्ण है । इस अध्याय  
 में बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन किया गया है । 'सासन वंस' का सबसे  
 अधिक महत्वपूर्ण भाग यही है । वैसे इस ग्रन्थ में बौद्ध की जीवनी तथा अजात-  
 शत्रु, कालाशोक और धर्माशोक के समय में हुई तीन बौद्ध संगीतियों आदि  
 का भी वर्णन है । तृतीय बौद्ध संगीति के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्र द्वारा

धर्मोपदेशकों को देश-विदेश में भेजने का भी विवरण यहाँ किया गया है । 'सासनवंस' के वर्णनानुसार तृतीय संगीति के बाद सुवर्णभूमि (बरमा) में धर्मोपदेशकों के जाने से पहले भी स्वयं मोग्गलिपुत्त तिस्स वहाँ धर्मोपदेश करने गये थे, जो उतना पूर्व परम्परा पर आधारित नहीं है । इसी प्रकार कुछ अन्य भी बातें उन्होंने बरमी बौद्ध संघ के गौरव को बढ़ाने वाली कहीं हैं, जो उतनी इतिहास पर आधारित नहीं हैं । बरमी राजा सिरि-महासीह सूरसुधम्मराजा (श्री महासिंह शूर सुधर्मराज) के समय में भिक्षु-संघ में हुए पारुपन (चीवर को दोनों कन्धों को ढँककर ओढ़ना) और एकंसिक (एक कन्धे को खोलकर रखते हुए चीवर को ओढ़ना) संबंधी विवाद हुआ जिसका निर्देश इस ग्रन्थ में किया गया है । इसी प्रकार विहार-सीमा संबंधी विवाद का उल्लेख किया गया है । संक्षेप में, बरमी बौद्ध धर्म के विकास एवं बरमी राजाओं और भिक्षु-संघ के पारस्परिक संबंध आदि को जानने के लिए 'सासन-वंस' का आज के विद्यार्थी के लिए भी प्रभूत महत्व है । बुद्ध-जीवनी और संगीतियों तथा अशोक के काल में मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार आदि के विवरण के लिए वह दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका आदि पर आधारित है, इसमें संदेह नहीं । तृतीय संगीति के बाद जिन जिन देशों में भारतीय बौद्ध भिक्षु उपदेश करने के लिए भेजे गये, उनके विवरणों में 'दीपवंस' और 'महावंस' की अपेक्षा यहाँ कुछ विभिन्नता भी है । उदाहरणतः अपरान्त राष्ट्र (अपरान्त-रट्ठ) को यहाँ इरावदी नदी का पच्छिमी भाग बतलाया गया है । उसी प्रकार महारट्ठ (महाराष्ट्र) को अहाँ स्थविर महाधर्मरक्षित उपदेशार्थ गये थे 'महानगर-राष्ट्र' (महानगर-रट्ठ) या स्वाम बतलाया गया है । इसी प्रकार मज्झिम स्थविर को चीन-राष्ट्र में धर्म-प्रचार करते बतलाया गया है, जबकि 'दीप-वंस' और 'महावंस' के वर्णनानुसार वे 'हिमवन्त' प्रदेश के धर्म प्रचारक थे । इसी प्रकार कुछ अन्य भी विभिन्न वर्णन हैं, जो उतने प्रामाणिक नहीं माने जा सकते । बरमी भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है, इसमें संदेह नहीं ।

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५९२-५९३

## दसवीं अध्याय

### काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

#### पालि काव्य

पालि का काव्य-साहित्य उतना विस्तृत, प्रौढ़ और समृद्ध नहीं है, जितना संस्कृत का या बौद्ध संस्कृत साहित्य का भी। कालिदास या अश्वघोष की सी काव्य-परम्परा यहाँ नहीं मिलती। निश्चय ही यदि काव्य का अर्थ मानव-जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की, शब्द और अर्थ की निर्व्याज सुन्दरता के साथ (सात्थं सव्यञ्जनं) 'बहुजन हिताय' अभिव्यक्ति ही है, तब तो सम्पूर्ण 'त्रिपिटक बुद्ध-वचन' ही सर्वोत्तम काव्य हैं। यह भगवान् बुद्धदेव का वह शास्वत और अनन्त सौन्दर्यमय काव्य है, जिसका जीवन में साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य के लिये जरा और मरण ही नहीं रह जाते। 'देवस्य काव्यं पश्यन् न जगार न मीयते।' जो पवित्र सौन्दर्य हिमनिर्गिर में नहीं है, जो निष्पापता उषा में नहीं है, जो सहनता महासमुद्र में नहीं है, संश्लेष में जो काव्यत्व विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है, वह ज्ञानी (बुद्ध) के एक स्मित में है, तथागत के एक ईर्यापथ में है, सम्यक् सम्बुद्ध के एक शब्द में है। पालि ने इस सब को ही तो प्रस्फुटित किया है। अतः यह काव्यत्व में हीन है, ऐसा कौन कहेगा? जब हम पालि के काव्य-साहित्य का विवेचन करते हैं और उसे संस्कृत की अपेक्षा कम उन्नत कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य त्रिपिटक-गत काव्य या भाव्यत्व से नहीं होता, बल्कि काव्य-शिल्पियों की उन रचनाओं से होता है जो उन्होंने बौद्ध विषयों को आधार मान कर पालि भाषा में की हैं। इस प्रकार की रचनाएँ प्रधानतः लङ्का और अशतः वरमा में दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक और उसके बाद तक भी होती रहीं। इन रचनाओं की विषय-वस्तु त्रिपिटक से ही ली गई हैं। त्रिपिटक में प्राप्त नमूनों का ही कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के साथ छन्दोबद्ध संस्करण



कर देना यहाँ कवियों का प्रधान व्यवसाय रहा है। वैसे तो पालि काव्य-ग्रन्थ है ही अल्प और जो है भी उनमें भी किसी महनीय काव्य-परम्परा का प्रवर्तन नहीं मिलता। सब से बढ़कर तो कला के उस सृजनात्मक सौन्दर्य एवं कल्पना के दर्शन यहाँ नहीं होते जो किसी साहित्य को विशेषता प्रदान किया करता है। सम्भवतः यह इस कारण भी हो कि कल्पनात्मक मनोरामों के प्रदर्शन को स्थविरवादी बौद्ध परम्पराने आरम्भ से ही अपनी साधना का अंग नहीं बनाया है। इतना ही नहीं, उसने इसे हेयता की दृष्टि से भी देखा है। इसलिये काव्य-प्रतिभा को वहाँ इतना प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। भाषा की दृष्टि से भी पालि के इस काव्य-साहित्य का अधिक महत्त्व नहीं है। पालि साहित्य की प्राचीन मौलिकता के स्थान पर वह साहित्य संस्कृतापेक्षी अधिक हो गया है। अतः पालि साहित्य के इतिहास में उसके काव्य-साहित्य का विवेचन एक गौण स्थान का ही अधिकारी हो सकता है।

### काव्य-ग्रन्थ

विषय की दृष्टि से पालि काव्य-ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, (१) वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ, (२) काव्य-आख्यान। यह भेद सिर्फ विषय के बाह्य स्वरूप का है। मुख्य प्रवृत्ति और शैली तो सब जगह एक सी ही है—नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली। हाँ, कहीं कहीं रसात्मकता के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। मुख्य वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ ये हैं (१) अनागतवंस (२) तेलकटाहमाथा (३) जिनालङ्कार (४) जिनचरित (५) पञ्चमधु (६) सद्धम्मोपायन (७) पञ्चगतिदीपन और (८) लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार। प्रधान काव्य आख्यान, जिनमें कुछ गद्य में भी हैं, ये हैं (१) रसवाहिनी (२) वृद्धालङ्कार (३) सहस्सवत्थुप्पकरण, और (४) राजाधिराजविलासिनी। इनका कुछ संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण देना यहाँ आवश्यक हो गया।

### अनागतवंस<sup>१</sup>

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'अनागत वंस' भविष्य (अनागत) में उत्पन्न

१. मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६, में रोमन अक्षरों में सम्पादित।

होने वाले भगवान् बुद्ध मैत्रेय के जीवन-इतिहास (वंस) के रूप में लिखा गया है। 'अनागत वंस' का वास्तविक स्वरूप अभी बहुत कुछ अनिश्चित है। बरभी हस्तलिखित प्रतिपों में उसके तीन रूप मिलते हैं, (१) गद्य-पद्य-मिश्रित रूप जो सूतों की शैली में लिखा गया है। इसका विषय बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करना नहीं है। बल्कि यह भविष्य में संघ पर आने वाले भयों का वर्णन करता है। बुद्ध और सारिपुत्र के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही इसके अन्त में उन दस भावी बुद्धों के नाम भी दिये हुए हैं, जो भविष्य में क्रमशः बोधि प्राप्त करेंगे।<sup>१</sup> डा० विमलाचरण लाहा का यह कहना कि 'अनागतवंस' का यह संस्करण पालि-त्रिपिटक के अनागत-मय सूत्रों और उन सूत्रों, जिनमें दस भावी बुद्धों का निर्देश हुआ है, के पुरक रूप में लिखा गया है,<sup>२</sup> ठीक मालूम पड़ता है। (२) गद्य-मय रूप, जिसमें दस अध्याय हैं और जिसका विषय दस भावी बुद्धों की जीवनी का वर्णन करना है। (३) पद्य-मय रूप, जो १४२ गाथाओं में केवल बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करता है। यह संस्करण भी भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के संवाद के रूप में लिखा गया है। भगवान् बुद्ध भावी बुद्ध मैत्रेय के विषय में भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं। 'अनागतवंस' का यह संस्करण ही उसका प्रामाणिक और वास्तविक रूप माना जाता है। अपने इस रूप में 'अनागत वंस' 'बुद्धवंस' का परिवर्द्धित और पुरक रूप माना जा सकता है। 'बुद्धवंस' पूर्व के चौबीस बुद्धों का वर्णन करता है। उत्तरीसवें बुद्ध अर्थात् गौतम बुद्ध की जीवन-गाथा के साथ ही वहाँ वर्णन समाप्त कर दिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से 'अनागतवंस' जो छब्बीसवें बुद्ध, बुद्ध मैत्रेय, की जीवन-गाथा को अपना विषय बनाता है, 'बुद्धवंस' की कथावस्तु

१. मेत्तेय्यो उत्तमो रामो पसेनवि कोसलोभिभू।

दीघसोणि च संकच्चो सुभो तोवेय्य ब्राह्मणो ॥

नालागिरिपल्लेय्यो बोधिसत्ता इमे वस।

अनुक्कमेण सम्बोधि पापुजिस्सन्तिनागतेति ॥

जमल ओष पालि टैक्सट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ३७

२. हिस्ट्री ओष पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१२

को पूर्णता देने की दृष्टि से ही लिखा गया जान पड़ता है। दोनों की शैली में भी पर्याप्त समानता है।<sup>१</sup> दीर्घ-निकाय के चक्रवर्ति सीहनाद-सुत्त (३।३) में भी बुद्ध मंत्रेय के भावी आविर्भाव के विषयमें उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब भगवान् बुद्ध मंत्रेय उत्पन्न होंगे तो मनुष्य ८०,००० वर्ष की आयु में तरुण हुआ करेंगे और कुमारियाँ ५०० वर्ष की आयु में विवाह-योग्य हुआ करेंगी। 'अनागतवंस' के भी वर्णनों की यही वागणी समझी जा सकती है। बुद्ध मंत्रेय जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में केतुमती नामक नगरी में ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होंगे। उनकी माता का नाम ब्रह्मवती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। उनका आरम्भ का नाम अजित होगा। वे बड़े समृद्धशाली होंगे। ८००० वर्ष तक गृहस्थ-सुख का उपभोग करेंगे। उसके बाद प्रव्रज्या लेंगे। बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के आधार पर ही ये अतिशयोक्तिमय वर्णन गढ़ लिये गये हैं, जिनमें काव्यत्व या विचार की अपेक्षा हम बौद्ध पौराणिकवाद के ही अधिक दर्शन करते हैं।

'अनागतवंस' की रचना कब और किसके द्वारा हुई, इसके विषय में निश्चित नहीं है। रामसविड्स ने इस ग्रन्थ को बहुत प्राचीन माना है—यहाँ तक कि बुद्धघोष से भी प्राचीन। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि 'विमुद्धिमग्ग' में बुद्धघोष ने बुद्ध मंत्रेय का वर्णन करते हुए उनके माता-पिता के विषय में कहा है 'सुब्रह्मा नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी माताति'।<sup>२</sup> 'अनागतवंस' में भी बिल्कुल इन्हीं शब्दों में बुद्ध मंत्रेय के माता-पिता का वर्णन मिलता है।<sup>३</sup> अतः रामस डेविड्स ने बुद्धघोष के शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानकर 'अनागतवंस' को प्राक्-बुद्धघोषकालीन ठहराया है।<sup>४</sup> विन्टर-

१. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये लाहा हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्व दूसरी, पृष्ठ ६१३

२. विमुद्धिमग्ग १३।१२७ (धर्मानन्द कोत्तम्बी का संस्करण), देखिये अट्ठसालिनी पृष्ठ ४१५ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)।

३. पृष्ठ ९६ (जर्नेल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

४. विमुद्धिमग्ग, पृष्ठ ७६१, ७६४ (रामस डेविड्स का संस्करण)

नित्त ने यह स्वीकार नहीं किया कि बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्द 'अनागतवंस' से ही उद्धृत किये गये हैं।<sup>१</sup> अतः उनको 'अनागतवंस' की इतनी प्राचीनता मान्य नहीं है। चूंकि बुद्धघोष ने अपने उपर्युक्त शब्दों में केवल बुद्ध मंत्रेय के माता-पिता के नाम का ही उल्लेख किया है, अतः यह कोई इतना विशेषतापूर्ण सैद्धान्तिक या अन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि बुद्धघोष जैसे आचार्य को 'अनागत-वंस' से इसका उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ती। यह तो बौद्ध परम्परा की एक अति सामान्य मान्यता थी जो 'अनागतवंस' के रचयिता के समान बुद्धघोष को भी मालूम हो सकती थी, फिर कालानुक्रम से कोई किसी का पूर्ववर्ती क्यों न रहा हो, शब्द-साम्य इस सम्बन्ध में अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः हम बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानने को बाध्य नहीं। 'गन्धवंस' में 'अनागतवंस' के रचयिता का नाम कस्सप (काश्यप) कहा गया है।<sup>२</sup> 'गन्धवंस' के वर्णन के अनुसार 'अनागतवंस' पर एक अट्ठकथा भी लिखी गई, जिसके लेखक उपतिस्स (उपतिथ्य) नामक भिक्षु थे। चूंकि कस्सप और उपतिस्स नाम के अनेक भिक्षु अनेक समयों में लंका और बरमा में हो गये हैं, अतः निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन से कस्सप और उपतिस्स क्रमशः 'अनागतवंस' के रचयिता और अट्ठकथाकार हैं। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में यही जानना पर्याप्त है कि डा० गायगर ने 'अनागतवंस' के रचयिता कस्सप और 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी' नामक ग्रन्थों के रचयिता कस्सप को एक ही व्यक्ति माना है।<sup>३</sup>

### तेलकटाहगाथा\*

१८ गाथाओं में लिखी हुई एक परिष्कृत, प्रौढ़ और रमणीय काव्य-रचना है। 'तेलकटाहगाथा' का अर्थ है (खौलते हुए) तेल की कड़ाई में लिखी हुई गाथाएँ

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२१, पद-संकेत १।
२. पृष्ठ ६१, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण)
३. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३६
४. ई० आर० गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी १८८४ में रोमन



(पालि श्लोक) । ये गाथाएँ बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणिय नामक भिक्षु के द्वारा लिखी गई थीं । अनुश्रुति है कि कल्याणी (पेगू-बरमा) के राजा तिष्य (ई० पू० ३०६—ई० पू० २०७) ने उपर्युक्त भिक्षु को अपनी रानी के साथ किसी षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के सन्देह में बन्दी बना लिया था और खोलते हुए तेल की कड़ाई में डाल देने की आज्ञा दी थी ।<sup>१</sup> भिक्षु निरपराध थे, किन्तु यह असह्य दुःख उन्हें सहना ही पड़ा । खोलते हुए तेल की कड़ाई में ही उनकी मृत्यु हो गई । किन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होंने बृद्ध-शासन का चिन्तन किया और ९८ गाथाओं को गाया । ये गाथाएँ क्या हैं, संसार की अनित्यता, जीवन की असारता और वैराग्य को महत्ता पर गम्भीर प्रवचन हैं । उपर्युक्त अनुश्रुति में सत्यांश कितना है, यह कह सकता कठिन है । हाँ, स्वयं 'तेलकटाहगाथा' में इसका कोई उल्लेख नहीं है । किन्तु 'महावंस' में इस कथा का निर्देश मिलता है ।<sup>२</sup> बाद में 'रसवाहिनी' में भी इस कथा का अविस्तर वर्णन किया गया है ।<sup>३</sup> सिंहली ग्रन्थ 'सद्धम्मालंकार' में भी इस कथा का वर्णन मिलता है ।<sup>४</sup> सिंहली साहित्य में यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी सत्यता पर सन्देह करना कठिन हो जाता है । फिर भी 'तेलकटाहगाथा' को मार्मिक गाथाओं को पढ़ जाने के बाद और कहीं भी उनमें उपर्युक्त घटना का निर्देश न पाने पर यही लगने लगता है कि यहाँ भिक्षुकल्याणिय ने खोलते हुए तेल वाली किसी विशेष कड़ाई से उत्पन्न होकर ही नहीं बल्कि इस 'महामोहमय' संसार रूपी उस खोलती हुई कड़ाई से व्यथित होकर ही अपने

अक्षरों में सम्पादित । इस ग्रन्थ का मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, जो सन् १९४८ में पुस्तकाकार रूप में महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित हो चुका है ।

१. मल्लसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६२ ।

२. २२।१२-१३ (गायगर का संस्करण)

३. २।५७ (सिंहली संस्करण)

४. देखिये जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ ४९; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेखेज, पृष्ठ ४६, पद-संकेत ४ भी ।

अन्तर्मन को इन गाथाओं में प्रवाहित किया है, जिसके विषय में महाभारतकार ने कहा है—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्दनेन,  
मासतुं दर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ।

‘तैलकटाहगाथा’ शतक-काव्य की सैली पर लिखी गई रचना है । अतः उसमें नैतिक ध्वनि प्रधान है । फिर भी काव्यमयता का उसमें अभाव नहीं है । वह एक सुन्दर रचना है जो बुद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों को एक भावनामय भिक्षु की पूरी तन्मयता और मार्मिकता के साथ उपस्थित करती है । ९८ गाथाएँ ९ वर्गों या भागों में विभक्त हैं, जिनके नाम हैं, (१) रतनतय (तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ) (२) मरणानुस्सति (मरण की अनुस्मृति) (३) अनित्यलक्षण (अनित्यता का लक्षण) (४) दुःखलक्षण (५) अनात्म लक्षण (अनात्म का लक्षण) (६) असुभ लक्षण (७) दुःचरित-आदीनवा (दुराचार के दुष्परिणाम) (८) चतुरारक्षा (चार आरक्षाएँ) (९) पटिच्च समुत्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद) इस विषय-सूची से यह देखा जा सकता है कि बुद्ध-धर्म के सभी महत्वपूर्ण विषय इन गाथाओं में आ गये हैं । किन्तु सब से बड़ी बात तो ग्रन्थकार की अपने विषय के साथ तल्लीनता है, जिसके दर्शन प्रत्येक गाथा में होते हैं । अनात्म-संज्ञा पर यह उक्ति देखिये—

पोसो यथा हि कदलीसु विनिष्पुजन्तो,  
सारं तदणमपि नोपलभेय्य काम ।  
बन्धेसु पञ्चसु छळायतनेसु तेसु,  
सुञ्जसु किञ्चिदपि नोपलभेय्य सारं ॥ गाथा ६०

(जिस प्रकार केले के तने को उधेड़ते हुए मनुष्य उसमें कुछ भी सार न पावे, उसी प्रकार इन शून्य पंचस्कन्धों और छः आपतनों में भी कुछ सार नहीं है)

प्रतिकूल-मनसिकार (गीता के शब्दों में ‘दुःखदोषानुदर्शन’) पर,

गंडूपमे विविधरोगनिवासभूते,  
काये सदा रुधिरभुत्तकरीसपुण्णे ।

यो एत्थं नन्दति नरो ससिगालभक्ते,

कामं हि सोचति परत्वं स बालबुद्धिः ॥ गाथा ६९

(जो मूर्ख आदमी फोड़े के समान, विविध बीमारियों के घर, खून, पेशाब और पाखाना से भरे हुए, गीदड़ों के भक्ष्य, इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक में दुःख पाता है)

उपर्युक्त गाथाएँ 'तेलकटाहगाथा' की काव्य-गत सुन्दरता का परिचय देने में अलं हैं। प्रथम बार पढ़ने पर ही उनमें भृगुहरि के वैराग्य-सम्बन्धी पदों का सा निर्वेद प्रकाशित होने लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इस तीसरी गाथा को देखिये—

सोपानमालं अमलं तिदसालयस्स  
संसारसागरसमुत्तरणाय सेतु ।  
सव्वागतीभय विवज्जितत्थेममग्गं  
धम्मं नमस्सथ सदा मूनिना पणीतं ॥

मुनि (बुद्ध) द्वारा प्रणीत उस धर्म की बन्दना करो, जो स्वर्ग की विमल सोड़ी के समान है, जो संसाररूपी सागर को तराने के लिये पुल के समान है और जो सम्पूर्ण आपत्तियों और भयों से रहित एवं कल्याण का मार्ग है।

'सोपानमालं अमलं' एवं 'संसारसागरसमुत्तरणाय' जैसे पदों में अनुप्रास की छटा तो देखने ही योग्य है, 'सव्वागतीभयविवज्जितत्थेममग्गं धम्मं नमस्सथ सदा मूनिना पणीतं' तो बिल्कुल संस्कृत श्लोक का अंश सा ही जान पड़ता है। संस्कृत का यह बड़ता हुआ प्रभाव 'तेलकटाहगाथा' की आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक है। विटरनित्त ने कहा है कि यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना नहीं हो सकता।<sup>१</sup> कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना तो 'तेल कटाहगाथा' मानी ही नहीं जा सकती। फिर भी भाषा और शैली का साध्य

१. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गायगर ने इस ग्रंथ का वास्तविक रचना-काल अज्ञात मानते हुए तेरहवीं-बीसवीं शताब्दी की रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६

किसी भी अवस्था में इतना दृढ़ और अन्तिम नहीं हुआ करता कि उसके आधार पर हम किसी ग्रन्थ की तिथि अतंदिग्ध रूप से निश्चित कर सकें। अतः विटर-नित्ज द्वारा निश्चित बारहवीं शताब्दी ईसवी भी 'तेलकटाहगाथा' की प्रामाणिक रचना-तिथि नहीं मानी जा सकती। विटरनित्ज की स्थापना केवल अनुमान पर आश्रित है। जब तक कोई और महत्वपूर्ण साक्ष्य साध्य न मिले, 'तेलकटाहगाथा' के रचयिता और रचना-काल का सुनिश्चित ज्ञान हमारे लिये अज्ञात ही रहेगा।

### जिनालङ्कार<sup>१</sup>

पालि काव्य-साहित्य की उसी कोटि की रचना है जिस कोटि के संस्कृत में किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्य हैं। काव्य-चमत्कार की प्रवृत्ति यहाँ बहुत अधिक उपलब्ध होती है और शैली में भी पर्याप्त कुत्रिमता है। 'जिनालङ्कार' की रचना बारहवीं शताब्दी में बुद्धरक्षित (बुद्धरक्षित) नामक भिक्षु के द्वारा हुई। ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने उसका रचना-काल बुद्ध-परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद दिया है।<sup>२</sup> इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना ११५६ ई० में हुई। यह तिथि विद्वानों को मान्य है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों की शैली का इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। एक पद्य में सिर्फ 'न्' व्यंजन का ही प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति किरातार्जुनीय जैसे संस्कृत-काव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के चमत्कारमय प्रयत्न चाहे भाषा सम्बन्धी विद्वत्ता के परिणाम भले ही हों, किन्तु संस्कृत काव्य-विवेचकों ने उन्हें 'अधम काव्य' ही माना है। यही बात हम 'जिनालङ्कार' की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५० गाथाएँ हैं। ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी कुत्रिम शैली, पौराणिक अतिरञ्जनामयी वर्णन-प्रणाली

१. जेम्स ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित (लन्दन १८९४)। सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का दीपेकर और धम्मपाल का उत्कृष्ट संस्करण (गैले, १९००) उपलब्ध है।
२. पृष्ठ २७१ (ग्रे का संस्करण) ; देखिये गन्धर्वसं, पृष्ठ ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित) ; सद्धम्मसंगह ९।२१ (सदानन्द द्वारा सम्पादित)



एवं विद्वत्ता-अवशंक प्रवृत्ति ही है। महायानी प्रभाव भी कहीं कहीं उपलक्षित है। बुद्धरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी। 'जिनालंकार' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी है, जिसकी रचना प्रसिद्ध अट्ठकवत्तकार बुद्धदत्त (चौथी शताब्दी ईसवी) ने की थी। प्रस्तुत 'जिनालंकार' से वह भिन्न है। 'ग्रन्थवंस' के वर्णनानुसार बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालंकार' पर बुद्धरक्षित ने एक टीका भी लिखी थी।<sup>१</sup> कुछ भी हो, हमें उपर्युक्त दोनों रचनाओं को मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिये।

### जिनचरित<sup>२</sup>

'जिनालंकार' के समान 'जिनचरित' का भी विषय बुद्ध-जीवनी का वर्णन करता है। 'जिनालंकार' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्बोधि प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया गया है। किंतु 'जिनचरित' में भगवान् बुद्ध के उपदेश-कार्य का भी वर्णन किया गया है और उनके ४५ वर्षावासों का औसतवार वर्णन किया गया है। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'जिनचरित' में कोई नवीनता नहीं है। बुद्ध-जीवन के विषय में उसने कोई नई बात हमें नहीं बताई है। उसके सारे वर्णन जातक-निदानकथा पर आधारित हैं। एक हद तक तो वह जातक निदान-कथा का छन्दोबद्ध संस्करण ही जान पड़ता है। चार्ल्स डुरोइसिल का यह कथन ठीक है कि जहाँ कवि इस अल्पांश-करण में बच सका है और उसने अपनी प्रेरणा से लिखा है, वहीं उसके काव्य में कुछ रसात्मकता भी आ सकी है।<sup>३</sup> यद्यपि काव्य-गुणों की दृष्टि से 'जिनचरित' की 'बुद्ध-चरित' से कोई तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी यह कहना ठीक है कि पालि-साहित्य में 'जिनचरित' का वही स्थान है जो बौद्ध संस्कृत साहित्य में 'बुद्धचरित' का। 'जिन-

१. पृष्ठ ६९, ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित, जर्नेल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६)

२. डबल्यू० एच० डो० राउस द्वारा जर्नेल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ में अंग्रेजी अनुवाद-सहित सम्पादित। चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा भी अंग्रेजी-अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित, रंगून १९०६।

३. जिनचरित (चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १-२ (भूमिका)

चरित' पर संस्कृत काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। चार्ल्स इरोमिसिल ने 'जिन-चरित' पर अश्वघोष और कालिदास के प्रभाव की बात कही है। उन्होंने 'जिन-चरित' और 'महाभारत' की कुछ पंक्तियों की भी तुलना की है।<sup>१</sup> यह सम्भव है कि 'जिनचरित' के रचयिता को संस्कृत काव्यों की जानकारी रही हो और उससे उन्होंने लाभ उठाया हो, किन्तु काव्य-शैली के लिए वे संस्कृत काव्यों के श्रेणी नहीं कहे जा सकते। जहाँ तक 'जिनचरित' के स्रोतों का सवाल है, हमें संस्कृत काव्यों की ओर नहीं जाना चाहिए। जैसा डा० लाहा ने कहा है, वात्सल-साहित्य और भुक्त-निपात के नालक-भुक्त जैसे सुतों की गाथाएँ 'जिनचरित' के लिए सर्वोत्तम नमूने हो सकते थे।<sup>२</sup> इतना ही नहीं, कालिदास के पूर्ववर्ती अश्वघोष को भी इन स्रोतों से अपने काव्य-शैली के निर्धारण में पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी, ऐसा हम मान सकते हैं। 'जिनचरित' के विषय और शैली के स्रोत मूलतः पालि साहित्य में हैं, संस्कृत साहित्य में नहीं।

'सद्धम्म संगह'<sup>३</sup> और 'गन्धर्वस'<sup>४</sup> के वर्णनों के अनुसार 'जिनचरित' के रचयिता का नाम मेघंकर था। मेघंकर नाम के अनेक व्यक्ति सिंहल में हो चुके हैं।<sup>५</sup> प्रस्तुत मेघंकर 'वनरत्न मेघंकर' के नाम से प्रसिद्ध थे। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार वनरत्न मेघंकर लंकाधिप भुवनेकबाहु प्रथम ( १२७७ ई०-१२८८ ई० ) के समकालीन थे। टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स<sup>६</sup> और बिन्दरमित्त<sup>७</sup> ने उनके इसी काल की प्रामाणिक माना है। किन्तु गायगर का दूसरा मत है। 'गन्धर्वस' में मेघंकर का उल्लेख

१. उवाहरगतः जिनचरित—कोयं सक्को नु सो ब्रह्मा मारो नागो ति आदिना।

महाभारत—कोऽयं देवोऽथवा यतो गन्धर्वो वा भविष्यति।

(वन-पर्व)

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१५

३. सद्धम्मसंगह, पृष्ठ ६३ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी, १८८६)

४. गन्धर्वस, पृष्ठ ६२, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी, १८८६)

५. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ २; विक्रम सिंह-केडेलॉग पृष्ठ २१, ३५, ११९

६. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ चार में डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स का 'नोट ऑन मेघंकर'

७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४

वाचिस्सर, सुमंगल और भस्मकिति के बाद किया गया है। अतः गायगर ने यह अनुमान लगाया है कि वे भी उपर्युक्त भिक्षुओं के समान सिंहली स्वधिर सारिपुत्त के शिष्य थे। 'जिनचरित' के अन्तिम पद्यों में लेखक ने कहा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में की। गायगर ने इससे अनुमान किया है कि यहाँ लेखक को लंका का राजा विजयबाहु तृतीय (१२२५ ई०-१२२९ ई०) अभिप्रेत था। उन्होंने आगे यह भी अनुमान किया है कि विजयबाहु तृतीय मेघनकर का समकालीन था, क्योंकि उसी हालत में उसकी प्रशंसा का कुछ अर्थ हो सकता है। इतने अनुमानों के बाद गायगर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मेघनकर विजयबाहु तृतीय के समकालीन और भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य थे। उन्होंने मेघनकर और वाचिस्सर का एक ही समय माना है।<sup>१</sup> जहाँ इतने अनुमानों के लिए अवकाश है वहाँ हमें यह भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि डुरोइसिल ने उपर्युक्त विजयबाहु को विजयबाहु द्वितीय माना है जो सन् ११८६ ईसवी में गद्दी पर बैठा था और जो लंका के प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का उत्तराधिकारी था।<sup>२</sup> विजयबाहु से तात्पर्य हम चाहे किसी विजयबाहु से ले, 'जिनचरित' के लेखक ने तो सिर्फ इतना कहा है कि विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में उसने 'जिनचरित' की रचना की। अतः समकालीनता का आरोप इतना आवश्यक नहीं जान पड़ता। इसलिए 'मन्धवंस' और 'सद्धम्मसंगह' के वर्णन, जो मेघनकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०-१२८८ ई०) के समकालीन बतलाने के प्रयासों हैं, 'जिनचरित' के वर्णन के विरोधी नहीं कहे जा सकते। अतः मेघनकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०-१२८८ ई०) का ही समकालीन मानना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

### पञ्चमधु<sup>३</sup>

१०४ गाथाओं में शतक डंग की रचना है। बुद्ध-स्तुति इसका विषय है। प्रथम ६९ गाथाओं में बुद्ध की सुन्दरता का वर्णन है, शेष में उनके ज्ञान की प्रशंसा है। शैली कुत्रिम और काव्योक्ति रसात्मकता से रहित है। कम से कम अपने नाम (पञ्चमधु-पञ्चमधु) को वह सार्थक नहीं करती। संस्कृत का बड़ता हुआ प्रभाव भी

१. पालिलेन्गेज एंड लिटरेचर, पृष्ठ ४२ ।
२. जिनचरित (डुरोइसिल का संस्करण, रंगून १९०६) पृष्ठ ३ (भूमिका)
३. गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८७ पृष्ठ १-१६ में सम्पादित; देवमिस्त द्वारा भी सम्पादित, कोलम्बो १८८७ ।

उसका एक विशेष लक्षण है। 'पञ्जमधु' बुद्धपिय (बुद्धिप्रिय) नामक स्थविर की रचना है, जो स्थविर वंदेह (वेदेह थेर) के समकालीन सिंहली भिक्षु थे। 'पञ्जमधु' की १०३ वीं गाथा में कवि-भिक्षु ने अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द का शिष्य बताया है।<sup>१</sup> आनन्द स्थविर वंदेह स्थविर के गुरु थे। अतः वंदेह स्थविर के साथ बुद्धपिय का समकालिक होना निश्चित है। इसलिए इनका काल भी वंदेह स्थविर के साथ तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिए, यह निश्चित है।<sup>२</sup> सम्भवतः यही 'बुद्धप्रिय' 'रूपसिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी हैं। उस रचना के अन्त में उन्होंने अपना नाम बुद्धपिय 'दोपकर' बताया है और अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। अतः दोनों का एक व्यक्ति होना असम्भव नहीं है।

### सद्धम्मोपायन<sup>३</sup>

६२९ गाथाओं में सद्धम्म के उपाय अथवा बुद्ध-धर्म के नैतिक मार्ग का वर्णन है। विषय नवीन न हों हुए भी शैली में पर्याप्त ओज और मौलिकता है। ग्रन्थ को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है, (१) दुराचार के दुष्परिणाम (२) सदाचार की प्रशंसा या उसके सुपरिणाम। इसके साथ साथ बुद्ध-धर्म के प्रायः सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश इस ग्रन्थ के अन्दर हो गया है, जिसे अत्यन्त प्रभावशाली और मननशील ढंग से कवि ने उपस्थित किया है। पाप-दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान-प्रशंसा, शील-प्रशंसा, अ-प्रमाद आदि के काव्यमय वर्णन काफी अच्छे हुए हैं। पल्लवद्ध होते हुए भी 'सद्धम्मोपायन' के विवेचन इस विषय-सम्बन्धी गद्य-ग्रन्थों से अच्छी तरह मिलाये जा सकते हैं। उनको काव्यमय रूप देने में और साथ ही

१. आनन्दरञ्जना रतनाविमहायतिन्दा निच्चप्पबुद्धं पदुमप्पिय सेवि नंगी। बुद्ध-  
प्पियेन धनबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रजितपञ्जमधुं पिवन्तु ॥

२. मिलाइये गायनरः पालिलिटरेचर एंड लेम्बेज, पृष्ठ ४४, ५१, विटरनिरत्ताः  
हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गुणरत्न ने  
बुद्धप्रिय का काल सन् ११०० ई० के लगभग बताया है। देखिये जर्नल ऑव  
पालिटैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ १।

३. ई० मॉरिस द्वारा जर्नल ऑव पालिटैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ ३५-९८  
में सम्पादित।



उनका विचारामक अंग अनुसूचित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। ग्रन्थ के आदि में कवि ने अपना नाम ब्रह्मचारी सोमपिय बताया है 'नामो ब्रह्मसोमस्य पियस ब्रह्मचारिनो'। इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञान हमें नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि ये सिंहली भिक्षु थे और इनका काल भी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए।

### पञ्चगतिदीपन<sup>१</sup>

११४ गाथाओं में उन पाँच गतियों या योनियों का वर्णन है जिन्हें प्राणी अपने भले या बुरे कामिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण प्राप्त करते हैं, यथा तरक-योनि, पशु-योनि भूत-प्रेतादिकी योनि, मनुष्य-योनि और देव-योनि। वर्णन अत्यन्त सरल और स्वभाविक एवं प्रसादगुणमय होते हुए भी यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की ही मानी जायगी। स्वर्ग-नरक के वर्णन काव्य के अच्छे विषय बनाये ही नहीं जा सकते, उनमें नैतिक तत्त्व चाहे जितना भी गहरा हो। वास्तव में बूढ़ ने भी स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भयके कारण अपने नातिवाद का उपदेश नहीं दिया था। उनके नैतिक आदर्शवाद की यही तो एक विशेषता थी। वहाँ विशुद्धि का मार्ग अपने आप में एक आचरणीय वस्तु थी। ब्रह्मचर्य का क्या उद्देश्य होना चाहिए, इसे शास्त्र ने अनेक बार स्पष्ट कर दिया था। किन्तु लोक-धर्म इसे कब सुनता है? वहाँ तो भय या पारितोषिक का प्रलोभन होना ही चाहिए। फलतः अशोक को ही हम अपनी जतता को स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से शुभ-कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हुए देखते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक भी है। बूढ़-मन्त्रव्य इसमें बहुत अधिक ऊँचा था। उसे लोक-धर्म की भूमि पर ला कर अर्थात् लोक-विश्वासों का उसमें समावेश कर, उसके नैतिक तत्त्व की व्याख्या का प्रारम्भ हन-स्वयं सुत-पिटक के कुछ अंशों में ही देखते हैं। बाद में कुछ बातों और पंक्तियों जैसे ग्रन्थों में तो वह बहुत ही स्फुट हो गया है। महापावन-नरम्भरा में जिस विस्तार के साथ स्वर्ग-नरक के वर्णन मिलते हैं, वह तो निश्चय ही एक आदर्श की वस्तु है। निश्चय ही इस प्रकार के बौद्ध-वर्णनों में चाहे वे स्थितिरवाधियों के हों, चाहे अन्य संप्रदायों के, पुराणों (वि-

१. लियोन फियर द्वारा जर्नल ऑफ पार्लियामेंट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ १५२-६१ में सम्पादित।

शेषतः ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, पद्मपुराण आदि) के इस विषयक वर्णनों से कुछ भी विशेषता नहीं है। किसी युग में जब मनुष्य अधिक विश्वास करने की क्षमता रखता हो इन सब का जाहे भले ही उपयोग रहा हो, किन्तु आज तो ये सभी मननशील व्यक्तियों के लिए विरतिकर हो चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। स्वभावतः 'पञ्चगतिदीपन' भी इसका अपवाद नहीं। प्रारंभ में ही कम से कम आठ प्रकार के नरकों का वर्णन किया गया है, यथा संजीव, काल-सूय (कालमुत्त) संधात, रौरव, (रोरुव) महा रौरव (महारोरुव) तप, महातर और अर्वाचि। इनकी यातनाओं का वर्णन तो निश्चय ही रोमांचकारी है। केवल महत्वपूर्ण भाग वह है जहाँ नाना-प्रकार के पाप-कर्मों के परिणाम-स्वरूप वहाँ जाना दिखलाया गया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं है। तुलनात्मक पौराणिक तत्व के विद्यार्थी के लिए 'पञ्चगति-दीपन' में प्रभूत सामग्री मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इसके रचयिता या उसके काल के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है।

### लोकपदीपसार या लोकदीपसार<sup>१</sup>

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु 'पञ्चगतिदीपन' के समान ही है। 'शासनवंस' के वर्णनानुसार यह चौदहवीं शताब्दी के बर्मी भिक्षु मेधकर की रचना है, जिन्होंने अध्ययनार्थ सिंहल में प्रवास किया था<sup>२</sup>। पाँच प्रकार की योनियों का वर्णन करने के अतिरिक्त यहाँ आख्यानों के द्वारा उनमें निहित नैतिक उप-देशों को समझाया भी गया है। 'महावंस' से इस ग्रन्थ में काफी सामग्री ली गई है। अन्य कुछ काव्यगत विशेषता इस ग्रन्थ की नहीं है।

### पालि आख्यान: रसवाहिनी<sup>३</sup>

उत्तरकालीन पालि-साहित्य में गद्य-पद्य मिश्रित कुछ आख्यानों की भी रचना

१. देखिये मेबिल बोड:पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५।

२. मेबिल बोड:पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५।

३. सिंहली लिपि में सरणतिस्स द्वारा दो भागों में सम्पादित, कोलम्बो १९०१ एवं १८९९; उसी लिपि में सिंहली व्याख्या सहित देवरक्षित द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १९१७।

हुई । नैतिक ध्वनि की प्रशानता के अतिरिक्त इन सब को एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जातक, अर्थकथाओं और कुछ अंश तक 'महावंश' आदि से पर्याप्त सामग्री ली है । पालि आख्यानों में 'रसवाहिनी' का नाम अधिक प्रसिद्ध है । मौलिक रूप में यह सिंहली भाषा की रचना थी । महा-विहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्वविर ने इसका प्रथम पालि रूपान्तर किया । बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वंदेह स्वविर (वंदेह चेर) ने इसको शुद्ध कर इसे तर्जुमन रूप प्रदान किया । अतः 'रसवाहिनी' का कर्तृत्व वंदेह स्वविर के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया है । वंदेह स्वविर का काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ही माना जाता है<sup>१</sup>, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे चौदहवीं शताब्दी मानने के भी पक्षपाती हैं<sup>२</sup> । संभवतः तेरहवीं शताब्दी के अंतिम और चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वे जीवित थे । वंदेह स्वविर का जन्म विप्रग्राम (विष्णुग्राम) के एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था । बाद में उन्होंने बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट होकर प्रब्रज्या ले ली थी । उनके गुरु प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्वविर थे, 'जो अरण्यायतन' (अरञ्जायतन-अरण्यवासी) भी कहलाते थे । वंदेह स्वविर ने भी स्वयं अपने को 'वनवासी' संप्रदाय का अनुयायी बतलाया है<sup>३</sup> । इन्हीं की रचना 'समन्तकूटवर्णना' नामक कविता भी है जिसमें बुद्ध के जीवन और विशेषतः उसके तीन बार लंका-गमन तथा उनके चरण (धीपद) जिन्हें द्वारा अंकित समन्त-कूट पर्वत का भी वर्णन है । इस ग्रन्थ में ७९६ पालि वृत्त हैं । किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसवाहिनी' ही है । 'रसवाहिनी' १०३ आख्यानों का संग्रह है । इनमें प्रथम ४० के देश और परिस्थिति का चित्रण भारत (जम्बुद्वीप) में और शेष ६३ का लंका में किया गया है । कहानियाँ प्रायः गद्य में ही हैं, किन्तु बीच-बीच में कहीं कहीं गाथात्मक अंश का भी छिटका दिखाई देता है । भाषा की दृष्टि से यह उतनी सफल रचना नहीं

१. गायगर:पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४३ पद-संकेत २; बिटरनित्वा: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर-जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४ ।
२. देखिये विमलाचरण लाहा: हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२५
३. मल्लसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१० ।
४. सिंहली अनुवाद सहित सिंहली लिपि में धम्मामन्द और ज्ञानिस्सर (ज्ञानेदवर) द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १८९० ।

कही जा सकती। किन्तु आख्यान-आत्मक कला के पर्याप्त दर्शन इस सुन्दर रचना में होते हैं। नैतिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी अनेक कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हुई हैं। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानी तो निश्चय ही विश्व-साहित्य की एक संपत्ति है। जातक, अपदान, पालि अट्ठकथाएँ और महावंश की पृष्ठभूमि में लिखा हुआ यह ग्रन्थ निश्चय ही भारतीय आख्यान-साहित्य का एक महत्वपूर्ण रत्न है। कुछ कहानियों के देशकाल को भारत और कुछ को लंका में रखकर, सिंहली और पालि दोनों भाषाओं में विरचित यह ग्रन्थ उक्त दोनों देशों की अभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक एकता को एक सुन्दर कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। खेद है कि इस ग्रन्थ का अभी कोई नागरी-संस्करण या हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। दोनों देशों के सांस्कृतिक संबंध और विशेषतः भारतीय साहित्य के सिंहली साहित्य पर प्रभाव के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अत्यंत आवश्यक है। वृद्ध-पूजा का तत्त्व इस ग्रन्थ की कुछ कहानियों में ध्वनित होता है, जो इस संबंधी महामानी प्रवृत्ति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक हो सकता है। 'रसवाहिनी' की एक 'रसवाहिनीगण्टि' नामक पालि-टीका भी लिखी गई। सिंहली भाषा में इसका शब्दशः अनुवाद भी मिलता है। उस भाषा में इस विषय-संबंधी अन्य भी प्रभूत साहित्य है।

### बुद्धालङ्कार

१५ वीं शताब्दी के आषा (बरमा)—निवासो शीलवंस (नीलवंस) नामक भिक्षु की रचना है<sup>१</sup>। यह पद्यबद्ध है। निदान-कथा की सुमेघ-कथा पर यह आधारित है। अन्य कुछ ध्यान देने योग्य विशेषता इसमें नहीं है।

### सहस्रसत्त्व्युपकरण

इस ग्रन्थ में एक हजार कहानियों का संग्रह है। संभवतः 'रसवाहिनी' का यही आधार था<sup>२</sup>। कम से कम इन दोनों का संबंध तो स्पष्ट ही है। बरमा से ही इस ग्रन्थ का लंका में प्रचलन हुआ। किन्तु संभवतः यह मौलिक रूप में लंका में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ की 'सहस्रसत्त्व्युपकरण' नामक

१. मेविल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३

२. मल्लसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १२९



एक टीका भी थी जिसका उल्लेख कई बार महावंश-टीका (ग्यारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों के बीच रचित) में किया गया है।

## राजाधिराजविलासिनी

१८ वीं शताब्दी के बरमी राजा बोदोमया (बुद्धप्रिय) की प्रार्थना पर लिखा गया एक गद्य-ग्रन्थ है। इसकी कहानियों का आधार प्रधानतः जातक ही हैं, यद्यपि अट्ठकथा तथा वंश-साहित्य से भी लेखक ने पर्याप्त सामग्री ली है। संस्कृत के व्याकरण और ज्योतिष शास्त्र से भी लेखक का पर्याप्त परिचय था, यह भी उसके विद्वत्तामय वर्णनों से विदित होता है<sup>१</sup>।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अल्प महत्व के भी ग्रन्थ कथा-साहित्य पर इस उत्तरकालीन युग में लिखे गये। इनकी प्रेरणा का मुख्य आधार जातक ही रहा, यह तो निश्चित ही है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में आवा (बरमा) निवासी रट्ठसार ने कुछ जातकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया<sup>२</sup>। तिपिटकालंकार ने १८ वीं शताब्दी में वैष्णव जातक का पद्यबद्ध अनुवाद किया<sup>३</sup>। अठारहवीं शताब्दी में 'मालालंकारवत्यु' नामक बुद्ध-जीवनी भी किसी बरमी भिक्कु ने लिखी<sup>४</sup>। जातक-अट्ठकथा और वंश-साहित्य के बाद इस दिशा में मौलिक कुछ नहीं किया गया, यह हम इस सब कथा-साहित्य के पर्यवेक्षण स्वरूप कह सकते हैं।

## पालि का व्याकरण-साहित्य: उसके तीन सम्प्रदाय

पालि-साहित्य के इतिहास में व्याकरण का विकास बहुत बाद में चलकर हुआ। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक हमें किसी पालि व्याकरण या व्याकरणकार का पता नहीं चलता।

१. मेविल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ७८

२.-३. मेविल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४३-५३

४. इस ग्रन्थ का विशप विगंडेट ने अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। देखिये सेन्ट्रेडवुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्ड ११, पृष्ठ ३२ (भूमिका) में डा० रायस डेविड्स द्वारा प्रदत्त सूचना।

जहाँ तक ज्ञात हुआ है आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी व्याख्याओं में किसी प्राचीन पालि व्याकरण का आश्रयन लेकर पाणिनीय अष्टाध्यायी का ही लिया है। 'विसुद्धिमग्ग' में उनके द्वारा की हुई 'इन्द्रिय' शब्द की व्याख्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'विसुद्धिमग्ग' के सोलहवें परिच्छेद 'इन्द्रियसत्त्व निर्देशो' (इन्द्रिय और सत्व का निर्देश) में आता है "को पन नेमं इन्द्रियट्ठो नामाति ? इन्द्र-लिगट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द्रदेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द्रविट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द्र-सिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द्रजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो"<sup>१</sup>। निश्चय ही यहाँ पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिध्वनित है "इन्द्रिय इन्द्रलिगं, इन्द्रवृष्टं, इन्द्रजुष्टं, इन्द्रदत्तम्, इतिवा" (५। २। ९३)। इसी प्रकार पाणिनीय सूत्र ३।३।१३१ सूत्तनिपात की अट्ठकथा<sup>२</sup> में प्रतिध्वनित हुआ है। दोनों मिलकर आपस में शब्दशः इतनी मिलती हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है, इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता<sup>३</sup>। इसी प्रकार पाणिनि ने 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्राप्ति' के अर्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने इस विषय में भी उनका अनुसरण कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) में अनेक बार किया है<sup>४</sup>। यहाँ हमारा यह कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव-स्वरूप उतना नहीं भी माना जा सकता, क्योंकि पालि-त्रिपिटक के स्वयं 'लोट आपत्ति' शब्द में यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह संभव है कि पालि और संस्कृत

१. विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देव नागरी संस्करण)
२. जित्त्वपहलो, पृष्ठ २३ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण); इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी का संस्करण) में "वण्णागमो वण्णविपरि-ययो" अक्षरशः 'काशिका' का उद्धरण है, जिसे बुद्धघोष ने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है।
३. इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डा० विमलाचरण लाहा ने की है। देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष', पृष्ठ १०४-१०५; हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जित्त्व दूसरी, पृष्ठ ६३२-३३; मिलाइये जर्नल ऑफ पालि टैक्सट सोसायटी, १९०६-०७, पृष्ठ १७२-७३।
४. 'दि लाइफ एंड वर्क ऑफ बुद्धघोष', पृष्ठ १०५; हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जित्त्व दूसरी, पृष्ठ ६३३।

का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। अतः बृद्धघोष ने ऐसे प्रयोगों को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर संभावतः पालि-त्रिपिटक से ही लिया होगा, ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है<sup>१</sup>। यहां तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तियां भी त्रिपिटक और विशेषतः अभिधम्म-पिटक के एतत्संबंधी विशाल भांडार पर ही आश्रित हैं। यद्यपि बृद्धघोष से पहले पारिभाषिक अर्थों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति-शास्त्र (पालि-निरुक्ति—पालि त्रिपिटक के शब्दों की व्याकरण-सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो, किन्तु त्रिपिटक के शब्दों की व्याख्या (वेद्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य हो रहे होंगे। सुस्त-पिटक के प्राचीनतम अंशों में भी 'ब्राह्मण' 'धम्म' 'भिक्षु' 'तथागत' आदि शब्दों की जो निरुक्तियां और व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ किये गये हैं उनसे यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। धम्मपद में महाप्राज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह 'निरुक्ति और पदों का ज्ञाता' हो और 'अक्षरों के सशिपाय' अर्थात् शब्द-योजना से परिचित हो<sup>२</sup>। इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दों की निरुक्ति और व्याकरण संबंधी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि-साहित्य के प्राचीनतम युग में भी रही अवश्य होगी। संभवतः इसी परम्परा का प्रवर्तन हमें नैतिपकरण और पेटकोपदेस में मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बृद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महा-कात्वायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्संबंधी साहित्य के अभाव में ठीक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बोधिसत्त्व और सव्व-गुणाकार नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा में सुना जाता है, आज उपलब्ध नहीं हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमें उप-

१. यह इससे भी प्रकट होता है कि बृद्धघोष ने शब्द-निरुक्ति करने वाले त्रिपिटक के अंशों, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, को 'वेद्याकरण' कहा है। देखिये "सकलं अभिधम्म-पिटकं वेद्याकरणं ति वेदितव्वं" सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २४ (पालि टैक्सट्स सोसायटी का संस्करण)

२. धम्मपद २४।१९



लब्ध है, तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (२) भोगल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (३) अम्गवंसकृत सद्दीनोति और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य । लंका और बरमा में ही इस प्रभूत पालि व्याकरण-संबंधी साहित्य का प्रणयन सातवीं शताब्दी के बाद से हुआ है । अब हम उपर्युक्त तीनों संप्रदायों की परम्परा का अलग अलग विवेचन करेंगे ।

### कच्चान-व्याकरण<sup>१</sup> और उसका उपकारी साहित्य

‘कच्चान-व्याकरण’ (या कच्चायन-व्याकरण-कात्यायन—व्याकरण) पालि साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण है । इसका दूसरा नाम ‘कच्चायत-गन्ध’ (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है । इस व्याकरण के रचयिता का बुद्ध के प्रधान शिष्य महा कच्चान (महाकात्यायन) से कोई सम्बन्ध नहीं, इसे बौद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं ।<sup>२</sup> इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन (तृतीय शताब्दी ईसवी) से भी ये भिन्न हैं, ऐसा भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है । नेतिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चान से भी व्याकरणकार कच्चान भिन्न हैं । व्याकरणकार कच्चान यदि बुद्धघोष के पूर्वगामी होते तो यह असम्भव था कि कच्चान-व्याकरण जैसे प्रामाणिक पालि-व्याकरण का वे अपनी व्याख्याओं में कहीं भी उद्धरण नहीं देते । इस निषेधात्मक साध्य के अलावा अन्य स्पष्ट साध्य भी कच्चान-व्याकरण के बुद्धघोष के काल से उत्तरकालीन होने के दिये जा सकते हैं । कच्चान ने अपने व्याकरण में सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण का अनुगमन किया है । उन्होंने स्पष्टतापूर्वक पाणिनि व्याकरण का उसकी काशिका-वृत्ति के साथ अनुसरण किया है । काशिका-वृत्ति की रचना का समय सातवीं शताब्दी है । अतः यह निश्चित है कि कच्चान-व्याकरण भी सातवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता । स्वयं कच्चान-व्याकरण में ही उसके संस्कृत सम्बन्धी ऋण को स्वीकार किया गया है । इस प्रकार सूत्र १।१।८ में कहा गया है ‘परमसञ्ज्ञापयोगे’ । इसकी व्याख्या करते हुए उसकी वृत्ति (वृत्ति) में कहा गया है ‘याच पन सक्कतगन्धेसु समञ्ज्ञा... आदि’ । इन ‘संस्कृत ग्रंथों’ (सक्कत गन्धेसु) जैसा हम अभी

१. डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, कलकत्ता

१८९१; डा० मेसन ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है ।

२. सूत्रोक्ति : नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)



कह चुके हैं कातन्त्र-व्याकरण और काशिका वृत्ति (सातवीं शताब्दी) प्रधान हैं। अतः कच्चान व्याकरण का काल सातवीं शताब्दी के बाद का ही है। कच्चान-व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। इस व्याकरण के अलावा कच्चान 'महानिरुक्ति ग्रन्थ' (महानिरुक्ति ग्रन्थ) और 'चुल्ल निरुक्ति ग्रन्थ' (संक्षिप्त निरुक्ति-ग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी ये रचयिता बताये जाते हैं।<sup>१</sup> कच्चान-व्याकरण का सहायक साहित्य काल-क्रमानुसार इस प्रकार है—(१) कच्चान-व्याकरण का सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमलदीपनी'<sup>२</sup> भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है, जिनका काल स्यारहवीं शताब्दी से पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (सातवीं शताब्दी) के बाद था। (२) 'न्यास' की टीका-स्वरूप 'न्यास-प्रदीप' बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे। यह बरमा भिक्षु थे, किन्तु इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। यह सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे, 'न्यास' पर अन्य साहित्य भी उत्तर कालीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाता रहा<sup>३</sup>। छपद ने कच्चान-व्याकरण साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया। (३) सुत्त-निर्देश—छपद-कृत कच्चान-व्याकरण की टीका-स्वरूप यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसका निश्चित रचना काल ११८१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है<sup>४</sup>। (४) स्थविर संघ-रक्षित (संघरक्षित) द्वारा रचित 'सम्बन्ध-चिन्ता'। यह ग्रन्थ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि शब्द-योजना या शब्द-संबन्धका विवेचन करता है। स्थविर संघ-रक्षित सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे, अतः निश्चित रूप से इनका काल १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक

१. गन्धर्वस, पृष्ठ ५९ (मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑफ पालि टेक्स्ट सोसायटी में सम्पादित) सुभूति ने इन ग्रन्थों को यमक की रचना बताया है। देखिये उनकी नाममाला, पृष्ठ २८ (भूमिका)
२. गन्धर्वस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ९ (भूमिका)
३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मा भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्तसार-संज्ञसा' नामक 'न्यास' की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)
४. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५; मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७

हैं। इन्होंने विनय-साहित्य पर भी 'सुद्धक-चिन्ता' (सुद्धक-विद्या-रचयिता भिक्षु धर्मवीर-धम्मसिंह) के टीका स्वरूप 'सुद्धकसिक्खा-टीका' लिखी थी। 'संबंध-चिन्ता' पर एक टीका भी पाई जाती है, किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। (५) स्वविर सद्धमथी (सद्धम्मसिंह) विरचित 'सहस्रभेदचिन्ता' (शब्दार्थभेदचिन्ता)। यह ग्रन्थ बरमा में १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है। (६) स्वविर बुद्धप्रिय दीपकर विरचित 'रूप-सिद्धि' या 'पद-रूप-सिद्धि'। स्वविर बुद्धप्रिय दीपकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने को सारिपुत्त (सिहली भिक्षु) का शिष्य कहा था। 'पञ्चमसू' के भी यही रचयिता हैं। इनका काल इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है। यह ग्रन्थ सात भागों में विभक्त है और कुछ अन्य परिवर्तनों के साथ कच्चात-व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है। 'रूप-सिद्धि' पर भी एक टीका लिखी गई और सिहली भाषा में उसका रूपान्तर भी किया गया। (७) बालावतार-व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है। लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं। यह भी कच्चात व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रन्थ 'धम्मकिति' (धर्म कीर्ति) की रचना माना जाता है। यह धम्मकिति (धर्मकीर्ति) डा० गाधगर के मतानुसार 'सद्धम्म संगह' के रचयिता 'धम्मकिति महासामि' (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं, जिनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है। ग्रन्थवंश के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वार्गीश्वर) की रचना है। वाचिस्सर सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर 'बालावतार' का रचना-काल भी

१. विशेषतः श्री धर्मराम द्वारा सम्पादित, पलियगोड, १९०२; बालावतार, टीका-सहित, सुमंगल महास्थविर द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १८९३; देखिये सुमूति : नाममाला, पृष्ठ २४ (भूमिका)
२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।
३. पृष्ठ ६२, ७१ (जर्मल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

उसी समय का मानना पड़ेगा । 'बालावतार' व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है, किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात है । (८) बरमी भिक्षु कष्टकस्त्रिपनागित या केवल नागित विरचित 'सदुसारत्थजालिनी' नामक कच्चात व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गई । (९) 'कच्चायन-भेद' नामक कच्चात-व्याकरण की टीका जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में स्वविर महायास ने की । इन्हीं स्वविर की एक और व्याकरण संबंधी रचना 'कच्चायन-सार' है ।<sup>१</sup> 'गणवर्म' के वर्णनानुसार 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' दोनों धम्म-नन्द नामक भिक्षुकी रचनाएँ हैं<sup>२</sup> । 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' पर टीकाएँ भी लिखी गईं । 'कच्चायन-भेद' की दो टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं, (१) सारत्थयिकामिनी जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) ले लगभग 'अरियालंकार' नामक बरमी भिक्षु ने की, (२) कच्चायनभेद-महाटीका, जिसके रचयिता उत्तम सिकख (उत्तम शिख) माने जाते हैं, जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं है । 'कच्चायन-सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायास ने एक टीका लिखी थी । गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार-पुराणटीका' थी<sup>३</sup> जो आज उपलब्ध है । सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है ।<sup>४</sup> 'कच्चायन-सार' की एक और टीका 'कच्चायनसार-अभिनवटीका' या 'सम्मोहविनाशिनी' बर्मी भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई । (१०) पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में कच्चात-व्याकरण पर 'सहविन्दु' (शब्द-विन्दु) नामक उपकारी ग्रन्थ बरमा में लिखा गया । 'सासनवंस' के वर्णनानुसार अरिमहन (अरिमदन—बरमा) का राजा क्यच्चा इसका रचयिता था<sup>५</sup> । सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना-काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५)

१. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ८३; मेबिल बोड : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर इन बरमा, पृष्ठ ३६ ।

२. पृष्ठ ७४ (जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५२ ।

४. नाममाला, पृष्ठ ८४-८५ (भूमिका)

५. पृष्ठ ७६ (पालि टेक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण)

बताया है<sup>१</sup>। 'सद्बिन्दु' पर 'लीलसुन्दरी' नामक टीका ज्ञानविलास (ज्ञान-विलास) नामक भिक्षु द्वारा १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखी गई। (११) सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में 'बालप्रबोधन' (बालप्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनवचुल्लनिरुति' नामक व्याकरण में, जिसके रचयिता या रचना-काल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कच्चान व्याकरण के नियमों के अपवादों का विवरण है। (१३) सत्रहवीं शताब्दी के आदि भाग में बरमो भिक्षु महाविजिताबी ने 'कच्चानववर्णना' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। कच्चान-व्याकरण के सन्धिकल्प (सन्धि-कल्प) का यह विवेचन है। 'कच्चान-वर्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है, जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न ही समझना चाहिए<sup>२</sup>। महाविजिताबी ने 'वाचकोपदेस' नामक एक और व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की है जिसमें उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का नैय्यायिक दृष्टि से विवेचन किया है। (१४) धातुमंजूसा—कच्चान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ में संगृहीत की गई है। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम स्थविर शीलवंस (शीलवंस) बताया है। यह एक पद्य-बद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि वांपदेव के कवि-कल्पद्रुम से इस ग्रन्थ में काफी सहायता ली गई है<sup>३</sup>। फ्रेक ने पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है।<sup>४</sup>

### मोगल्लान-व्याकरण और उसका उपकार साहित्य

कच्चान-व्याकरण के समान मोगल्लान या मोगल्लायन<sup>५</sup> व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। सर्व-प्रथम 'मोगल्लान-

१. नाममाला, पृष्ठ ९१-९२ (भूमिका)

२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ २३ (भूमिका)

३. देखिये नाममाला, पृष्ठ ९५।

४. देखिये मायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५६।

५. पालि-व्याकरण की दृष्टि से कच्चान और कच्चायन, मोगल्लान और मोगल्लायन, इन शब्दों के ये दोनों रूप ही शुद्ध हैं।



व्याकरण' को ही लेते हैं। इस व्याकरण का लंका और बरमा में बड़ा आदर है। पालि-व्याकरणों में निश्चय ही इसका एक ऊँचा स्थान है। कच्चान-व्याकरण के समान प्राचीन होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा-उपादानों को इसने अधिक विस्तृत रूप से संकलित और व्यवस्थित किया है। जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है "पालि व्याकरणों में 'मोगल्लान-व्याकरण' पूर्णता तथा गंभीरता में श्रेष्ठ है"¹। मोगल्लान-व्याकरण में ८१३ सूत्र हैं, जिनमें सूत्र-पाठ, धातु-पाठ, गण-पाठ, ष्वादि-पाठ आदि सभी व्याकरण के विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। मोगल्लान-व्याकरण की विषय वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप कृत 'महापालि व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्तय हिन्दी में पालि-व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी को उच्चकोटि की रचना है, एवं मोगल्लान-व्याकरण पर आधारित है। मोगल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागधसहलक्षण' भी है। ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरणकार ने कहा है "सिद्धमिदं गुणं साधु तमस्मिन्वा तप्रागतं। तवम्ममसर्वं भासिस्स मागधं सहलक्षणं ॥" पाणिनि, कार्तिक-व्याकरण और प्राचीन पालि-व्याकरणों का आधार लेने के अतिरिक्त मोगल्लान-व्याकरण पर चन्द्रगोमिन् के व्याकरण का भी पर्याप्त प्रभाव उपलब्ध होता है। मोगल्लान-व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोगल्लान महाश्वेर ने उसकी 'वृत्ति' (वृत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर 'पञ्चिका' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका भी। 'मोगल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने हमें सूचना दी है "परमपूज्य विद्वद्भर श्री धर्मानन्द नायक महास्वधिर को ताल-मय पर लिखी 'पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लंका के किसी विहार में मिल गई। उन्होंने उसे संपादित कर विद्यालंकार परिवेण, लंका से प्रकाशित करवाया है।"² निश्चय ही मोगल्लान-व्याकरण और मोगल्लान-पञ्चिका पालि-व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज भी बड़े आवश्यक ग्रन्थ हैं। मोगल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वृत्ति) के अन्त में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता है कि मोगल्लानमहाश्वेर अनुराधपुर (लंका) के अणाराम

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)

२. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ इक्कावन (वस्तुकथा)

नामक विहार में निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना पराक्रमभुज (पराक्रमबाहु) के शासन-काल में की थी । विद्वानों का अनुमान है कि इन पराक्रमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) से है, जिनके शासन-काल में लंका में पालि-साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई । अतः मोग्गल्लान महाधरे का काल बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही मानना चाहिए<sup>१</sup> । मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर बाद में चलकर अन्य व्याकरण-साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रन्थ ये हैं ।

(१) 'पद-साधन' जिसकी रचना मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी ने की । पियदस्सी मोग्गल्लान के समकालिक ही थे । 'पद-साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लान व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है । प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् के जायसा का कथन है कि पियदस्सी के 'पद-साधन' का मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ वही संबंध है जो बालावतार का कच्चान-व्याकरण के साथ<sup>२</sup> । १४७२ ई० में तित्थगाम (लंका) निवासी स्वविर श्री राहुल ने, जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर श्री) 'पद-साधन' पर 'पद-साधन-टीका' या बुद्धिप्पसादिनी नामकी टीका लिखी । (२) वनरतन मेधंकर-विरचित 'प्रयोग-सिद्धि' (प्रयोग-सिद्धि) । मोग्गल्लान व्याकरण-संप्रदाय पर लिखा गया यह संभवतः सर्वोत्तम ग्रन्थ है । डे जायसा ने मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ इसका वही संबंध दिखाया है जो 'रूपसिद्धि' का 'कच्चान-व्याकरण' के साथ<sup>३</sup> । वनरतन मेधंकर पराक्रम-बाहु के पुत्र भुवनेकबाहु तृतीय के समकालिक थे । अतः उनका जीवन-काल १३०० ईसवी के लगभग है<sup>४</sup> । हाँ, यहाँ यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि व्याकरणकार मेधंकर इसी नाम के जिनचरित के रचयिता और लोकण-दीपसार के कवि, इन दोनों व्यक्तियों से भिन्न हैं । (३) मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप—'मोग्गल्लान-पञ्चिका' की व्याख्या है । 'पदसाधन-टीका' के लेखक स्वविर राहुल 'वाचिस्सर' ही 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप' के लेखक है । 'गन्ध-

१. मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमिस्त द्वारा सम्पादित सिंहली संस्करण, कोलम्बो, १८९०, प्रसिद्ध है । अन्य भी बरमो और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं ।

२. केटेलान, पृष्ठ २५ ।

३. केटेलान, पृष्ठ २६ ।

४. पालि लिटरेचर एंड लेन्गेज, पृष्ठ ५४ ।

बंस' के वर्णानुसार 'वाचिस्सर' ने 'मोगल्लान-व्याकरण' पर एक टीका लिखी थी। डा० गायगर ने इन 'वाचिस्सर' को उसी नामके सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य (१२ वीं शताब्दी का उत्तर भाग) न मानकर 'मोगल्लान-पंचिकापदीप' के लेखक इन स्वविर राहुल को ही माना है, जिनकी भी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी<sup>२</sup>। डेजोयसा के मतानुसार 'मोगल्लान-पञ्चिकापदीप' व्याकरण-शास्त्र पर एक अत्यंत गंभीर और पांडित्यपूर्ण रचना है।<sup>३</sup> इसमें भाषा संबंधी बहुत मूल्यवान् सामग्री संकलित की गई है। अनेक प्राचीन संस्कृत और पालि-व्याकरणों के भी उद्धरण दिये गये हैं। इसकी रचना-तिथि १४५७ ई० है<sup>४</sup>। जैसा पहले कहा जा चुका है, आचार्य श्री धम्मारास नामक महाधर ने १८९६ ई० में सिहली लिपि में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो विद्यालंकार परिवेण, लंका, से उसी साल प्रकाशित भी हुआ। (४) धातुपाठ<sup>५</sup>—मोगल्लान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची है। कच्चा-व्याकरण को 'धातु-मंजूसा' की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक संक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यबद्ध न होकर यह गद्य में है। संभवतः काल-क्रम में यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु-मंजूसा' में इसी का आश्रय लिया गया है<sup>६</sup>। धातुपाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।

### सद्वनीति<sup>७</sup> और उसका उपकारी साहित्य

पालि-व्याकरण का तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय 'सद्वनीति' का है। यह वरमा में रचित पालि व्याकरण है। वरमा में भी सिहल की ही तरह पालि व्याकरण

१. पृष्ठ ६२, ७१।

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५३।

३. केटेलान, पृष्ठ २४, मिलाइये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ३४।

४. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४।

५. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ३६७-४१२ (मोगल्लान-धातुपाठो)

६. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५६।

७. हेमर स्मिथ ने तीन भागों में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४, पद-संकेत ६; लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३६, पद-संकेत १।

के अध्ययन की महती परम्परा चली, जिसके पूर्ण विकास को हम 'सदनीति' में देखते हैं। कहा जाता है कि बरमा के व्याकरण-ज्ञान की प्रशंसा जब सिंहल में पहुँची तो वहाँ से कुछ भिक्षु बरमा में आये और सदनीति-व्याकरण को देख कर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहाँ कोई नहीं है।<sup>१</sup> इसकी रचना ११५४ ई० में हुई। इसके रचयिता बरमी भिक्षु अग्गवंस थे जो 'अग्गपंडित तृतीय' भी कहलाते थे। 'अग्ग पंडित द्वितीय' उनके चाचा थे, जो 'अग्ग पंडित प्रथम' के शिष्य थे। अग्गवंस बरमी राजा नरपतिसिबु (११६७-१२०२) के गुरु थे। अग्गवंस-कृत 'सदनीति' एक प्रकार से कच्चान-व्याकरण पर ही आधारित है।<sup>२</sup> भोग्गल्लान-व्याकरण ती सम्भवतः उसके बाद की ही रचना है। संस्कृत व्याकरणों का भी अग्गवंस ने प्रचलित आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अंत में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचरिया) और त्रिपिटक-साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सदनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सदनीति' एक पांडित्यपूर्ण व्याकरण है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा सदनीति' और शेष ९ अध्याय 'ब्रूल सदनीति' कहलाते हैं। 'पद-माला' 'धातुमाला' और 'सुत्त-माला' इन ३ भागों में सम्पूर्ण सदनीति-व्याकरण विभक्त है।

'धात्वत्व दोषनी' नाम की पद्यबद्ध धातु-सूची में सदनीति-व्याकरण के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। कच्चान-व्याकरण की धातुसूची 'धातु-मंजूसा' और भोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। यह हिगुलवल जिनरतन नामक बर्मी भिक्षु की रचना बताई जाती है, जिसके काल का ठीक पता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सदनीति' पर और कोई विश्लेष साहित्य नहीं है। बरमा में यह ग्रन्थ आज भी शास्त्र की तरह पूजित है।

### अन्य पालि-व्याकरण

उपरोक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण-साहित्य उपलब्ध है, जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १६।

२. यह फ्रैंक का मत है जिसे गायगर ने पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५५ में उद्धृत किया है।



रखी जा सकती, किन्तु जो पालि व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सूत्रिकृत 'नाममाला' या डेज़ाँवसा के 'केटेलोग' में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे।

(१) बरमी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी-कृत 'वच्चवाचक'। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्म-नन्दो ने की।<sup>१</sup>

(२) मंगलकृत 'गन्धद्विड', जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है। यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है।<sup>२</sup>

(३) अरियवंस-कृत 'गन्धाभरण'। यह भी उपसर्गों का विवेचनपरक ग्रन्थ है। इसकी रचना १४३६ ई० में हुई।<sup>३</sup>

(४) विमत्तपत्थप्पकरण—२७ श्लोकों की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन करती है। सूत्रों के मतानुसार इसकी रचना बरमी राजा क्यन्त्रा की पुत्री ने १४८१ ई० में की।<sup>४</sup> इस पर बाद में 'विमत्तपत्थ-टीका' या 'विमत्तपत्थदीपनी' के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवतः ये दो अलग अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका 'विभक्तिकयावण्णना' के नाम से भी इस रचना पर लिखी गई।

(५) 'सर्वज्ञानायदीपना'—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुध्वज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ 'निष्ठति संगह' और 'सर्वज्ञानायदीपनी' भी प्रसिद्ध हैं।<sup>५</sup>

(६) सद्बुत्ति (शब्दबुत्ति) जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के सद्धम्म-

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २२।

२. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६।

३. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३।

४. देखिये नायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लेन्गेज, पृष्ठ ५७।

५. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५।

गुरु नामक बरमी भिक्षु ने की<sup>१</sup>। डे जॉयसा ने इस ग्रन्थ का रचना-काल १६५६ ई० माना है।<sup>२</sup>

(३) कारकपुष्प मंजरी—पालि शब्द-योजना पर लिखित यह रचना कैंडी (लंका) के अंतरगमबंदार राजगुरु नामक लेखक की है। वहाँ के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गई।<sup>३</sup>

(४) सुधीरमुखमंडन—यह रचना पालि-समास पर है।<sup>४</sup>

इसके भी लेखक 'कारकपुष्पमंजरी' के समान ही हैं।

(५) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।<sup>५</sup>

(१०-१२) सद्द्विन्दु (नारदधरे), सद्दकलिका, सद्दविनिच्छय आदि अनेक ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लंका और बरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण सम्बन्धी जो गहरी तत्परता और उनके परिणामस्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ-राशि हम देखते हैं, जिसका किञ्चित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है, उसका वास्तविक महत्वाकंन क्या है? निश्चय ही पालि-व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपिटक साहित्य एवं संस्कृत-व्याकरण, यही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः ही उनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता, जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु 'न्यास', 'रूप-काश्यप सिद्धि', 'सद्दनीति' और 'वालावतार' जैसे व्याकरण पांडित्य की दृष्टि से किसी भी साहित्य के व्याकरणों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चय ही जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, मोगल्लान की गिनती पार्श्वनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान्

१. मोविल बीड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २९।

२. केटेलंग, पृष्ठ २७।

३. जॉयसा : केटेलंग, पृष्ठ २४।

४. जॉयसा : केटेलंग, पृष्ठ २८।

५. जॉयसा : केटेलंग, पृष्ठ २५; देखिये माधुर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।

वैयाकरणों में करनी होगी।<sup>१</sup> भारतीय मूल स्रोत से इतने अलग रह कर भी इन बरमी और सिंहली आचार्यों ने संस्कृत के समकालिक पालि-भाषा का कितना सुन्दर और मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो, इसका इतिहास साक्ष्य नहीं देता। यह एकता राजाओं के दरबारों में न डाली जाकर भिक्षु-परिवेशों में डाली गई। इसीलिये वह इतनी स्थायी भी हुई है। एक ही ग्रन्थ (मोगल्लानपञ्चिका-पदीप) का अंशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा जाना, भारत और सिंहल के उस गौरवमय सम्बन्ध का सूचक है, जिसकी नींव बौद्ध धर्म ने डाली थी और जिसे उसके साहित्य ने दृढ़ किया है। भारत और स्वयं मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण-भूमि!) में ही पालि-अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देख कर इन दूरस्थित बौद्ध वन्धुओं के प्रति श्रद्धा से सस्तक झुक जाता है।<sup>२</sup> कारण, इन्होंने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रखा है, इन्होंने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया है। उनका पालि-व्याकरण-सम्बन्धी प्रभुत्व कार्य तो इसका एक बाह्य साक्ष्य मात्र है।

### पालि कोश : अभिधानपदीपिका एवं एकत्त्वर कोश

पालि-साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोश हैं, मोगल्लान-कृत 'अभिधानपदीपिका'<sup>३</sup> और बरमी भिक्षु सद्धम्मकिन्ति (सद्धर्मकीर्ति)-कृत 'एकत्त्वर-

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)

२. वस्तुतः हमसे अधिक पालि-भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए हैं। उनके इस संबंधी कार्य और उनकी व्याकरण-संबंधी रचनाओं के परिचय के लिए देखिये गाफगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५९-६०; लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३८-६४०; लाहा ने पाश्चात्य विद्वानों के साथ साथ, भारतीय विद्वानों के भी इस संबंधी कार्य का विवरण दिया है। बाव का प्रकाशन होने के कारण, खेद है, 'पालि महाव्याकरण' (भिक्षु जगदोश काश्यप कृत) का उल्लेख यहां नहीं किया जा सका। पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह हिन्दी की महत्त्वपूर्ण देन है।

३. सुभूति द्वारा सिंहली लिपि में संपादित, कोलम्बो १८८३; नागरी लिपि में

कोस' ।<sup>१</sup> 'अभिधानपदीपिका' ( अभिधानप्रदीपिका ) तीन भागों या कांडों में विभक्त है (१) सम्मकंड (स्वर्ग-कांड) जिसमें देवता, बुद्ध, चाक्यमुनि, देव-योनि, इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है । (२) भूकंड (भू-काण्ड) जिसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है । (३) सामञ्ज्य कण्ड (श्रामण्य-काण्ड) जिसमें प्रवक्ष्या सम्बन्धी और सौन्दर्य, उत्तम जैसे शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है । वास्तव में यह कोश पर्यायवाची शब्दों का संकलन ही है । वरमा और सिंहल में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है । इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के अमर-कोश के आधार पर हुई है,<sup>२</sup> इसे प्रायः सभी विद्वान् आज स्वीकार करते हैं । जैसा अभी कहा जा चुका है, अभिधानपदीपिका मोग्गल्लान धेर की रचना है । यह स्थविर लंकाविजयी भिज्जु थे । अभिधानपदीपिका में इन्होंने कहा है कि लंकाधिपति 'परक्कम-भुज नामक भूपाल' के शासन-काल में इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की ।<sup>३</sup> वहीं इन्होंने अपना निवास-स्थान 'महाजैतवन' नामक विहार बताया है<sup>४</sup> जो आज पोलोन्नववा नामक नगर में स्थित है । जिस 'परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन-काल में मोग्गल्लान स्थविर ने 'अभिधानपदीपिका' की रचना की वह विद्वानों के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-काल ११५३-११८६ ई. और जिसके समय में पालि के टीका-साहित्य की अद्भुत समृद्धि हुई । अतः मोग्गल्लान धेर का भी यही समय है । 'अभिधानपदीपिका' के लेखक मोग्गल्लान धेर को उसी नाम के और प्रायः उसी

मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद सं० १९८० वि० ।

१. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उपर्युक्त 'अभिधानपदीपिका' के संस्करण में ही 'एकवचर कोस' भी सम्मिलित है, अभिधानपदीपिका पृष्ठ १५७-१७० ।
२. मल्लसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १८८-१८९ ।
३. परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो । लंकायमासि तेजस्सीजसो केसरि-विष्कमो । पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा संपादित नागरी-संस्करण)
४. महाजैतवनास्थिं बहारे साधुसम्मते सरोयाम समूहं वसता सन्तवुत्तिना ॥ सद्धम्मदिठित्तिक्कामेन मोग्गल्लानेन धीमता । धेरेन रचित्ता एसा अभिधान-पदीपिका ॥ पृष्ठ १५६ (उपर्युक्त संस्करण)



समय के वैयाकरण भोगल्लान से भिन्न समझना चाहिये । वैयाकरण भोगल्लान, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनुराधपुर के धूपाराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार भोगल्लान ने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर या पोलोत्तरवा का जेतवन-विहार बतलाया है । 'गन्धर्वस' में कोशकार भोगल्लान को 'नव भोगल्लान' कहा गया है<sup>१</sup> और वह निश्चयतः वैयाकरण भोगल्लान से उनकी भिन्नता दिखाने के लिये ही । चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में 'अभिधानपदीपिका' पर एक टीका भी लिखी गई । 'एकवक्षरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकिंति (सद्धम-कीर्ति) की रचना है । १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गई । यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है । संस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोश का का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है । इसके अन्त में आता है— इति सद्धम्मकिंति नाम महावेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचित एकवक्षर-कोसं नाम सद्धप्पकरणे परिसमत्तं" (सद्धमकीर्ति नामक महास्वविर द्वारा संस्कृत भाषा से रूपान्तरित कर के विरचित 'एकाक्षरकोश' नामक शब्द-प्रकरण समाप्त) ।

### छन्दः शास्त्रः वृत्तोदय आदि

पालि में छन्दः शास्त्र पर 'वृत्तोदय' (वृत्तोदय) नामक एक मात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है । 'छन्दोविचित' 'कविसारपकरण' 'कविसार टीका निस्सय' नामक अल्प प्रसिद्धि के एक-आध ग्रन्थ और भी हैं । 'वृत्तोदय' की रचना, मिहली भिक्षु सारि-पुत्त के शिष्य, खुदुक सिक्खा-टीका और कच्चान-व्याकरण पर 'सम्बन्ध-चित्ता' के लेखक (जिनका निर्देश पहले ही चुका है) स्वविर संघरक्षित हैं, जिनका काल १२वीं शताब्दी का उत्तर भाग है । 'वृत्तोदय' पर 'वचनत्वजोतिका' नाम की एक टीका भी लिखी गई ।

### काव्य-शास्त्र—सुबोधालङ्कार

पालि काव्य-शास्त्र पर 'सुबोधालङ्कार' एक मात्र रचना है । इसके रचयिता उर्ध्वगत स्वविर संघरक्षित ही हैं ।

### पालि का अभिलेख-साहित्य

पालि का सबसे बड़ा गौरव बुद्ध-वचनों के बाद उसका अभिलेख-साहित्य

हैं। भारतीय साहित्य और इतिहास की ही नहीं, विश्व-संस्कृति के इतिहास की भी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है। मात्रा में स्वाभाविक रूप से अल्प होते हुए भी यह साहित्य अपनी उदात्त और गम्भीर वाणी, स्वाभाविक और सरल शैली, एवं जीवन के गम्भीरतम पहलुओं और अनुभवों पर निष्ठित होने के कारण उसी महत्ता को लिये हुए है, जिसे हम उपनिषत्कालीन ऋषियों की वाणी, बृद्ध-वचनों, मध्यकालीन सन्तों के उद्गारों या आधुनिक काल में महात्मा गांधी की सहज, आत्म-निर्मित वाणी से सम्बन्धित करते हैं। पालि का अभिलेख-साहित्य ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी तक मिलता है। अशोक के शिलालेख उसकी उपरली काल-सीमा और बरमा के राजा धम्मचेति के प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख उसकी निचली काल-सीमा निश्चित करते हैं। इन काल-कोटियों से वेष्टित प्रसिद्ध पालि अभिलेख-साहित्य यह है, अशोक के शिलालेख, सांची और भारहुत के अभिलेख सारनाथ के कनिष्क कालीन अभिलेख, मौगन (बरमा) के दो स्पणपत्र-लेख, बोबोगी पेगोडा (बरमा) के खंडित शिलालेख, प्रोम (बरमा) के वीस स्वर्णपत्र-लेख, पेगन के १४४२ ई० के अभिलेख, कल्याणी-अभिलेख। इनमें अशोक के शिलालेख सब के सिरमौर हैं और काल-क्रम में भी वे सर्व-प्रथम आते हैं।

### अशोक के शिलालेख

अशोक के शिलालेख उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से पच्छिम में काठियावाड़ तक पहाड़ी चट्टानों और पत्थर के विशाल स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिलते हैं। इन शिलालेखों का प्रधानतः तीन दृष्टियों से बड़ा महत्व है। (१) इन शिलालेखों में अशोक ने अपने शब्दों में अपनी जीवनी का वर्णन किया है। जीवनी किसी स्तुल अर्थ में नहीं। अशोक ने यहाँ अपने आन्तरिक जीवन के परिवर्तन का, अहिंसा के अपने प्रयोगों का, जीवन के अपने गम्भीरतम अनुभवों का, सारी से सारी भाषा में, बड़ी स्पष्टता और सच्चाई के साथ, वर्णन किया है। (२) अशोक-कालीन इतिहास को जानने के लिये ये शिलालेख प्रकाशगृह हैं। पालि-साहित्य के अन्य वर्णनों की अपेक्षा इन शिलालेखों का साध्य इतिहास-लेखकों को सदा अधिक मान्य रहा है। निश्चय ही ये शिलालेख स्वतः प्रमाण-सिद्ध हैं और इन्हीं के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्माण किया गया है। (३) अशोक के शिलालेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके

साहित्य के विकास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन के प्रसंग में उनका यह महत्व हमारे लिये सब से अधिक मूल्यवान् है। पहले हम अशोक के शिलालेखों का संक्षिप्त विवरण देंगे, फिर उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से उनके महत्व का विवेचन करेंगे।

### उनका वर्गीकरण

काल-क्रम के अनुसार बिसेन्ट स्मिथ ने अशोक के शिलालेखों को निम्न-लिखित आठ भागों में विभक्त किया है।<sup>१</sup>

(१) लघु शिलालेख—ये सात शिलालेख हैं, जो सहसराम, रूपनाथ, बैराट, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर और मास्की नामक स्थानों में मिले हैं। सहसराम बिहार में है; रूपनाथ जबलपुर के समीप मध्य-प्रान्त में है; बैराट जबलपुर रियासत में है; ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जतिंग रामेश्वर मैसूर रियासत में हैं, और मास्की हैदराबाद राज्य में है।

(२) भाद्र शिलालेख—जबलपुर रियासत में बैराट के पास मिला था।

(३) चतुर्दश शिलालेख (ई० पू० २५६ के लगभग)—ये लेख पहाड़ों की चट्टानों पर खुदे हुए इन स्थानों पर मिले हैं, शहवाजगढ़ी और मनसेहर (पेशावर जिले में), कालसी (देहरादून जिले में), गिरनार (काठियावाड़ में), घौली (कटक के पास) और जोगड़ (मद्रास-प्रान्त)।

(४) दो कलिग लेख (ई० पू० २५६)—कलिग में पत्थर की चट्टानों पर खुदे मिले हैं।

(५) तीन गुफा-लेख (ई० पू० २५७ और ई० पू० २५०)—गया के पास बाराबर नाम की पहाड़ी में मिले हैं।

(६) दो तराई स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४९)—नेपाल की तराई में कम्पन-देई और निग्लिवा नामक गाँवों के पास मिले हैं।

(७) सप्त स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४३-२४०)—ये लेख स्तम्भों पर खुदे हुए इन छ. स्थानों पर मिले हैं (१) मेरठ (२) अम्बाला के पास दोपरा। ये दोनों लेख दिल्ली में ले आये गये हैं। (३) प्रयाग (के किले का स्तम्भ-लेख)

१. ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ १०३-१०४।

(४) लौरिया अरराज, (५) लौरिया नन्दनगढ़ (६) रामपुरवा । अन्तिम तीन स्थान बिहार के चम्पारन जिले में हैं ।

(८) चार गीण स्तम्भ (ई० पू० २४२-ई० पू० २३२) — इनमें से दो लेख सांची और सारनाथ की लाटों पर खुदे हुए हैं और दो प्रयाग के स्तम्भ पर पीछे से जोड़ दिये गये हैं ।

अशोक का व्यक्तित्व, उसका राजनीति-दर्शन और तत्कालीन भारत की परिस्थिति, इन लेखों से स्पष्टतः व्यंजित होते हैं । सब से पहले अशोक की बुद्ध-भक्ति है, जिसने अशोक को अशोक बनाया । अशोक का विश्व-इतिहास में जो कुछ भी स्थान है<sup>१</sup> या अपने राजनीति-दर्शन के रूप में अशोक जो कुछ भी विश्व को दे गया है, वह सब बुद्ध का एक छोटा सा दान है । उससे अधिक भी बहुतों ने पाया है, यद्यपि इतिहास में उनका नाम नहीं है । अशोक ने बुद्ध से जो कुछ पाया, उसे वह स्वयं भी ज्ञानपूर्वक समझता था । भीषण कालिंग-युद्ध के बाद, उसके हृदय में जो ग्लानि पैदा हुई थी, उसका उसने अपने तेरहवें शिलालेख में मामिक वर्णन किया है । यह उसके लिये एक युगान्तकारी घटना थी । इसके बाद उसने निश्चय किया कि संसार में धर्म, संयम, चित्त-शान्ति और प्रसन्नता की ही वृद्धि करूँगा, शान्ति, सद्भाव और अहिंसा का ही प्रचार करूँगा । यही सर्वोत्तम विजय होगी । रणभेरी को छोड़कर उसने धर्म-घोष से ही दिशाओं को गुंजायमान करने का निश्चय किया । यही उसका 'प्रियदर्शी' स्व था । अशोक पहले नर-हत्यारा था, बंदाशोक था । बुद्ध-अनुभाव से वह देवताओं और मनुष्यों का प्यारा हुआ, धर्माशोक हुआ । अशोक के इस जीवन-परिवर्तन में कहाँ तक बौद्ध प्रभाव उत्तर-दायी था अथवा कहाँ तक यह उसके स्वतंत्र विचार और चिन्तन का परिणाम था, इसके विषय में विवाद करने की गुंजायमान नहीं है । विलेन्ट स्मिथ का यह कहना कि अशोक अपने धर्म-परिवर्तन का श्रेय किसी दूसरे को नहीं देना चाहता था,<sup>२</sup>

१. "Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of History: . . . the name of Asoka shines, and shines almost alone a star" एम० जी वेल्स अपनी 'आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री' में ।

२. स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अशोक ने जिस धर्म का अपने शिलालेखों में उपदेश दिया है वह तो संपूर्ण भारतीय धर्मों का वह समन्वित रूप



ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना होता है और पर्याप्त हृदय-मंथन के बाद उपयुक्त चित्त-भूमि भी उसे ही तैयार करनी होती है। यह सब अशोक ने भी किया था। कलिग-युद्ध के बाद उसके हृदय में धार्मिक पवित्रता और शान्ति के लिये उत्कट अभिलाषा (तिव्रे धम्मवय धम्म-कसट) उत्पन्न हुई थी। परन्तु कौन जानता है कि इतना होने पर भी अशोक को यदि स्वविर (या श्रामणेर<sup>१</sup>) न्यग्रोध न मिलते तो बिखरे हुए बादल की तरह, वह विनष्ट नहीं हो जाता। अतः अशोक को बुद्ध-शासन का प्रकाश अवश्य मिला था, जिसके लिये उसने अपने शिलालेखों में पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। भाब्रु शिलालेख में उसने भगवत् के भिक्षु-संघ का श्रद्धापूर्वक अभिवादन किया है, उनके कुशल-मंगल को कामना की है और कहा है, “भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है।” कलिग-युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था, और उसके बाद ही उसने न्यग्रोध नामक भिक्षु से उपासकत्व की दीक्षा ली थी।<sup>२</sup> उसके बाद ही तो अशोक नियमित रूप से बौद्ध गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हो गया। अपने ‘धर्म तथा शील में प्रतिष्ठित’ (धम्मभिसोलाभ्मि तिट्ठन्तो) होने की बात अशोक ने अपने छठे शिलालेख में भी कही

था जिसे अशोक ने अपने स्वतन्त्र विचार के परिणामस्वरूप उद्भावित किया था और उसका बुद्ध-धर्म से, जैसा कि वह त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों में निहित है, कोई संबंध नहीं है। देखिये उनका अशोक : पृष्ठ ५९-६६।

१. जिस व्यक्ति से अशोक को बुद्ध-मत की दीक्षा मिली, उनका नाम स्वविर-वाद परम्परा के अनुसार न्यग्रोध था। ‘दीपवंस’ के वर्णन के अनुसार न्यग्रोध स्वविर थे; ‘समन्त पासादिका’ में उन्हें स्वविर और श्रामणेर दोनों ही कहा गया है। महावंश (५।६४-६८) के अनुसार वे केवल श्रामणेर थे। चाहे स्वविर हों, चाहे श्रामणेर, भिक्षु न्यग्रोध एक कुशल योगी अचर्य्य थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अशोक को आकृष्ट कर लिया। ‘दिव्यावदान’ की महायानी परम्परा में अशोक के गुरु का नाम स्वविर समुद्र कहा गया है, जो उतना प्रामाणिक नहीं है।
२. यद्यपि पालि-वृत्तान्त के अनुसार अभियेक के चौथे वर्ष अशोक ने बुद्ध-मत की दीक्षा ली (चतुत्थे संवच्छरे बुद्ध-सासने पसीदि)

है। मैसूर के सोन लवु शिलालेखों में अशोक ने अपने उपासक-जीवन का वर्णन किया है। यहाँ उसके उपासक स्वरूप की दो अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें अशोक एक साधारण उपासक भाव है। 'य हकं उपासके' अर्थात् जब कि मैं उपासक था। दूसरी अवस्था वह है जिसमें अशोक संघ में जाने वाला (संघ उपधिते) उपासक बन गया है। अपनी इस अवस्था को सूचित करते हुए उसने कहा है 'यं मया संघे उपधिते' अर्थात् जब कि मैं संघ के दर्शनार्थ जाता था। अशोक के धर्म-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जब कि वह 'भिक्षुगतिक' हो जाता है, अर्थात् स्वयं भिक्षु तो नहीं होता, किन्तु अनासक्त भाव में राज्य-कार्य करता हुआ वह कभी कभी सत्संग पाने के लिये विहार में जाकर भिक्षुओं के साथ रहने लगता है।<sup>१</sup> यहाँ अशोक पूर्ण राजवि-मद प्राप्त कर लेता है। चीनी यात्री ह्वेन-त्संग ने, जो सातवीं शताब्दी में भारत में आया था, अशोक को एक मुनि भिक्षु-वेश में भी देखा था। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में भिक्षु हो गया था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बूढ़, धम्म और संघ में अशोक की असीम निष्ठा थी। अपने राज्याभिषेक के इक्कीसवें वर्ष वह भगवान् बुद्धदेव की जन्मभूमि लुम्बिनीवन में गया और वहाँ एक सुन्दर, गोलाकार स्तम्भ पर उगते अंकित करवाया "हिद बूधं जाते सक्कमनीति... हिद भगवा जातेति लुम्मिनिगामे" अर्थात् यहीं लुम्बिनी-ग्राम में शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे। अशोक की बुद्ध-निष्ठा का यह प्रबल उदाहरण है। उसने कपिलवस्तु, सारनाथ, धावस्ती, गया आदि अन्य स्थानों की भी, जो बुद्ध की स्मृति से अंकित थे, यात्रा की और अपनी अद्भुतजलि अंकित की। पहले अशोक की पाकशाला में हजारों जीव प्रतिदिन मारे जाया करते थे।<sup>२</sup> अपने प्रथम शिलालेख में उसने सूचना दी है कि इस समय सिर्फ दो मोर और एक हिरन ही मारे जाते हैं, जिनमें हिरन का मारा जाना निश्चित नहीं है और आगे

१. देखिये राधाकुमुद मुकुर्जी : मैत एंड थॉट इन एंग्लिशम्ट इंडिया, पृष्ठ १३०।
२. पुलुवं महान्नाति देवानं पियस पियदसिनें लाजिने अनुदिवसं बहन्ति पान सत सहस्रानि आलभियसु सुपठाये (पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में अनेक शत-सहस्र प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे) शिलालेख १ (जोगड़)

ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायेंगे।<sup>१</sup> मृगया और विहार-यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ करना प्रारम्भ किया,<sup>२</sup> क्योंकि अब उसे जीवन की गम्भीरता का ज्ञान हो चुका था। उसने देख लिया था कि संसार के सुख-भोग, प्रतिष्ठा और बढ़पन, परलोक में कुछ काम नहीं आते।<sup>३</sup> अशोक यद्यपि बौद्ध था, किन्तु सम्प्रदायवाद उसके हृदय में नहीं था। विद्वत् का होने के लिये ही वह बुद्ध का हुंसा था। ब्राह्मण और जैन साधुओं को भी वह बौद्धों के समान ही दान देता था और उनके तीर्थ स्थानों के भी समान आदर के साथ ही दर्शन करता था। अपने बारहवें शिलालेख में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का समस्पर्शी उपदेश दिया है। उसका कहना है कि सच्ची धर्माभिक्ति का मूल वाक्संयम है (इदं मूलं वचि मुति)। मनुष्य अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। जो अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अपने ही धर्म वालों की प्रशंसा करता है और अन्य धर्मानुयायियों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को बहुत हानि पहुँचाता है। वह इस प्रकार अपने धर्म का औण करता है और पर-धर्म का अपकार करता है। लोग एक दूसरे के धर्म को सुने और उसका सेवन करें। सब धर्म वाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। "प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्म वाले सर्वत्र मेल-मिलाप से रहें। वे सभी संयम और भाव-शुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं। कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अंशभाव पालन करेगा। जिसके यहाँ देने को बहुत दान नहीं है, उसमें भी संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य हो ही सकते हैं।"<sup>४</sup> सर्वधर्म-समभाव का इससे अधिक प्रभावशाली उपदेश विश्व-इतिहास में नहीं दिया गया। अशोक ने भारत और उसके बाहर ग्रीस आदि देशों में इस विश्व-धर्म का प्रचार करने के लिये जो महनीय कार्य किया वह उसके दूसरे और तेरहवें

१. सेअज अदा इयं धंसलिपी लिखिता तिनियेव पानानि आलभिषंति—बुद्धे मज्झा एके निगे। से पि च्च निगे नो धुवं। एतानि पि च्च तिति पानानि पछा नो आलभिषंसति। शिलालेख १ (जोगड़)

२. शिलालेख ८

३. शिलालेख १०

४. शिलालेख १२

शिलालेखों में अंकित है और दूसरे अध्याय में तृतीय बौद्ध संगीति का वर्णन करते समय हम उसका कुछ उल्लेख कर चुके हैं ।

अशोक ने बुद्ध-धर्म को जैसा समझा और जैसा उसका आचरण किया, वह कुछ प्रव्रजितों का ही धर्म नहीं था, बल्कि जीवन की पवित्रता पर आश्रित वह विस्तृत लोक-धर्म था, जिसका आचरण जीवन की प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है । अहिंसा, बड़ों का आदर, सत्य-भाषण, इन बातों को सिखाते हुए प्रियदर्शी राजा कभी थकता नहीं ।<sup>१</sup> माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और धर्मियों का आदर करना, दास और भूत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, यही सब अशोक की शिक्षाएँ थीं ।<sup>२</sup> अल्पव्ययता और अल्पभाण्डता (कम सामान इकट्ठा करना) की उसने बड़ी प्रशंसा की है ।<sup>३</sup> आत्म-निरीक्षण को उसने धर्म का प्रमुख साधन माना है । बुद्ध के समान अशोक ने भी धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर जोर दिया है । तत्कालीन लोकाचारों की एक सच्चे बुद्धिवादी के समान तुच्छता दिखाते हुए उसने कहा है— “धीमारी में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसंगों पर स्त्री-पुरुष बहुत से मंगल-कार्य करते हैं, परन्तु वे मंगल छोड़े फल के देने वाले होते हैं । किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनों की पूजा इत्यादि धर्म के मंगल-कार्य अनन्त-पुण्य उत्पन्न करते हैं ।”<sup>४</sup> अशोक ने धर्म-दान की बड़ी प्रशंसा की है । उसने कहा है कि सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म की यात्रा है, सच्चा मंगलचार धर्म-मंगल है ।<sup>५</sup> वास्तव में धर्म (धम्म) शब्द को यहाँ अशोक ने बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है ।

अशोक की शासन-नीति को जानने के लिये उसके अभिलेख बड़े सहायक हैं । कोई भी शासक अपनी आज्ञाएँ शिलालेखों पर खुदवा सकता है । किन्तु अशोक के अभिलेखों जैसा स्थायित्व, उनकी इतनी विश्वजनीनता, इतनी मामि-कता, इतनी गम्भीर सच्चाई, विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई । के

१, २. शिलालेख ३, ९ और ११ ।

३. शिलालेख ३ ।

४. शिलालेख ९

५. देखिये शिलालेख ९ (गिरनार, धौली और जोगड़ का पाठ); शिलालेख ११ भी; मिलाइये धम्मपद, ‘सब्बदानं’ धम्मदानं जिनाति ।’ ।



एकदम इतिहास को सामग्री है, उच्चतम साहित्य है, और सम्भीरुतम जीवन-दर्शन भी है। उनके अन्दर 'प्रियदर्शी' की लोक-कल्याण के लिये छटपटाती हुई आत्मा अभी तक निश्वास ले रही है और अतीत को जीवन प्रदान कर रही है। राजनीति जीवन से भिन्न नहीं है। बल्कि उसका ही एक अंग है। अशोक ने जो तत्त्व जीवन में देखा है, उसी का अपने राजनैतिक जीवन में अभ्यास किया है, उसी को अपनी प्रजाओं को सिखाया है और उसी को लेखों में अंकित करवाया है। क्या है यह तत्त्व ? यह वही तत्त्व है जिसे स्वविर न्यप्रोध ने उसे प्रथम बार सिखाया,<sup>१</sup> तथागत ने जिसे अन्तिम बार दृढ़राया,<sup>२</sup> अशोक ने जिसे जीवन भर निभाया—कल्याणकारी कार्यों में अप्रमाद, अतर्क्य और अनासक्त कर्म-योग का अभ्यास। यही तथागत का दीर्घारम्भ है, अशोक के लेखवद्ध शब्दों में यही "उत्तान"<sup>३</sup> (उत्थान) है, यही 'उयम'<sup>४</sup> (उद्यम) है, यही 'उसह'<sup>५</sup> (उत्साह) यही 'पकम'<sup>६</sup> या 'परक्कम'<sup>७</sup> (पराक्रम) है, जिसे सिखाते हुए 'पियदसी धम्म-राजा' कभी थकता नहीं। निरालस होकर परोपकार के लिये अदम्य कर्मयोग का अभ्यास ही अशोक के जीवन का मूल दर्शन है, जिसे उसने राजनीति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया है और उसे धर्म-साधना का अंग बना लिया है।<sup>८</sup> अपने छोटे

१. दीपवंस में कहा गया है कि न्यप्रोध ने अशोक को यह गाथा सुनाई "अप्रमाद अमृत-पद है। प्रमाद मृत्यु का पद है। अप्रमादी अनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, प्रमादी मनुष्य तो मृत ही हैं।" धम्मपद के द्वितीय वग्ग की यह प्रथम गाथा है। महावंस ५।६८ के अनुसार भी न्यप्रोध ने अशोक को यही गाथा सुनाई।
२. तथागत के अंतिम शब्द थे 'अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को सम्पादन-करो)' (अप्पमादेन सम्पादेय—महापरिनिब्बान-सुत्त—दीध. २।३); मिला-इये महासकुलुदायि-सुत्त—मज्झिम. २।३।७—आनापानसति सुत्त मज्झिम. ३।२।८; अप्पमत्तक वग्ग (अंगुत्तर-निकाय, एक = क निपात) सम्मपपधान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); थपति-सुत्त (संयुत्त-निकाय) (पधानिय-सुत्त (अंगुत्तर निकाय) आदि, आदि।

३. शिलालेख ६

४. शिलालेख १३

५. स्तम्भलेख १

६. लघू शिलालेख

७. शिलालेख १०

८. इसी को व्यक्त करते हुए उसने अमर शब्दों में कहा है "नास्ति हि कंमतरं

शिलालेख में उसने कहा है "मैंने यह प्रबन्ध किया है कि प्रत्येक समय, चाहे उस समय मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान में रहूँ, सब जगह ही प्रतिवेदक (पेशकार) जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं जनता के कार्य सब जगह करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उसके विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे तो हर घड़ी और हर समय मुझे सूचना दी जाय क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राज्य-कार्य कहूँ, फिर भी मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। मैं जो कुछ प्रयत्न (पराक्रम) करता हूँ, वह इसलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उच्छेद हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों की सुखी कसूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। अत्यधिक प्रयत्न (पराक्रम) के बिना यह कार्य कठिन है। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" इसी प्रकार अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने घोषणा की है "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण दाई के हाथ सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि वह धाय मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के लिये मैंने 'रज्जुक' नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इन वाणियों से अशोक के कार्य और नीति का पता लगसकता है। अहिंसा के सिद्धान्त को वह व्यावहारिक राजनीति के साथ समन्वित करने की कितनी क्षमता रखता था यह उसके उस अभिलेख से स्पष्ट होता है जो उसने सतत उपद्रव करने की ओर प्रवणता रखने वाली उत्तर-पच्छिम सीमा की जंगली जातियों को सम्बोधित करते हुए उनके प्रदेश में अंकित करवाया था, "सीमान्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हों, मुझ पर विश्वास रखें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें और विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है। राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यव-

---

सर्वलोकहितया य च किं चि" (शिलालेख ६, गिरनार संस्करण), (नहीं है निश्चय ही सब लोगों के हित से अधिक उपादेय काम)

हार करेंगे ।”<sup>१</sup> सम्राट् अशोक और उनके उच्च कर्मचारी समय समय पर पर जनता के सम्पर्क में आने और उसके दर्शन करने के लिये (जानपदस जनसदसनें) राज्य का दौरा (अनुसंधान) करते थे ।<sup>२</sup> अशोक चाहता था कि कानून के भय से ही लोग सदाचार का आचरण न करें, बल्कि उनके आन्तरिक जीवन को इस प्रकार शिक्षित किया जाय जिससे वे पाप की ओर प्रवण ही न हों । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने ‘महामात्र’ नामक उच्च कर्मचारी नियुक्त किये थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार भी दिये थे ।<sup>३</sup> इन कार्यों के अलावा अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में स्थान स्थान पर धर्मशालाएँ बनवाई, मनुष्यों और पशुओं को आराम देने के लिये छायादार पेड़ लगवाये, आश्र-वाटिकाएँ बनवाई और पानी के कुंड बनवाये ।<sup>४</sup> सब से बड़ा काम उसने औषधालय और चिकित्सालय खोलने का किया । अपने दूसरे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने रोगी मनुष्यों और पशुओं के लिये अलग अलग चिकित्सालय स्थापित किये हैं ।<sup>५</sup> यह काम उसने न केवल अपने ही राज्य में किया है, बल्कि विदेशों में भी अपने धर्मोपदेशकों द्वारा करवाया है ।<sup>६</sup> जहाँ-जहाँ मनुष्यों और पशुओं के प्रयोग में आने वाली औषधियाँ और औषधोपयोगी कन्द-मूल फल नहीं हैं, वहाँ-वहाँ वे भिजवाये गये हैं और लगवाये गये हैं ।<sup>७</sup> कहने की आवश्यकता

१. शिलालेख २ ।

२. शिलालेख ८ (गिरनार); शिलालेख १२ भी ।

३. शिलालेख ५, स्तम्भ लेख ७; धर्म महामात्रों के क्या कर्तव्य थे, इसके लिए देखिये ‘अशोक की धर्मलिपियाँ’ प्रथम भाग (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृष्ठ ५१-५२ ।

४. स्तम्भलेख ७ ।

५. डे चिकीछा कता मनुस चिकीछा च पसुचिकीछा च । शिलालेख २ ।

६. शिलालेख १३ एवं २ ।

७. ओमुडानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च । मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि रोपापितानि च । शिलालेख २ ।

नहीं कि यह काम अशोक ने जाति-धर्म-देश-निर्विशेष प्राणि-मात्र के कल्याणार्थ ही किया। उसी के द्वारा मानवता की दुन्दुभी विश्व में चारी और बजवाई गई। बौद्ध धर्म उसी समय से विश्व-धर्म बन गया।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब हमें उस महत्त्वपूर्ण साधन को देखना है जो अशोक के अभिलेख पालि-भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास के विषय में देते हैं। अशोक के अभिलेखों में तत्कालीन लोक-भाषा (मागधी भाषा) के कितने स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं और उनका तथ्याकथित पालि-भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत विवेचन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। गिरनार (पच्छिम) जौगड़ (पूर्व) और मनसेहर (उत्तर) के अभिलेखों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक विद्वानों के ऐतद्विषयक मतों की समीक्षा यहाँ की जा चुकी है। अतः यहाँ हम केवल पालि साहित्य के विकास पर इन अभिलेखों से जो प्रकाश पड़ता है उसी का विवेचन करेंगे। इस दृष्टि से अशोक के भात्रू शिलालेख का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विषय-गौरव की दृष्टि से भी यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः उसे यहाँ उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

### ( भात्रू शिलालेख )

प्रियदत्ति राजा मागध संघ अभिवादनं आहा, अपावाधतं च फामु विहालतं च। विदितं वे भन्ते आवतके हमा बुधसि धम्मसि संघसिति मल्लवेच पसादे च एके वि भते भगवता बुधेन भासिते सबे से सुभासिते वा एचु खो भते हमियाये दिसेया संघ में विलिठितोके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे। इमानि भते धम पलिया-यानि विनयसमुकते, अलिय वसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेय सूते, उपति-सपसिने ए च लाहुलोवादे मुसाबादं अबिगिच्च भगवता बुधेन भासिते। एतान् भते धमपलियायानि इच्छामि। किं ति बहुके भिखुपाये च भिखुनिये च अभिखिनं सूतयु च उपघालयेयु च। हेवं हेवा उपासका च उपासिका च एतेनि भते इमं लिक्कापयामि अभिहेतं म जानंताति।

### ( हिन्दी-अनुवाद )

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन करता है और उनका कुशल-मंगल चाहता है। भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के



प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है। भन्ते ! जो कुछ मुझे कहना है, उसे कहता हूँ, ताकि सद्वर्तमान चिरस्थायी हो ।

भन्ते ! ये धम्म-पलियाय हैं—विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंश, अनागतमय, मुनिगाथा, मोनेय्य-सूत्र, उपतिप्प्य प्रश्न, और राहुलोवाद-सूत्र, जिसमें भगवान् ने मूयावाद के विषय में उपदेश दिया है । भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक तथा उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और पालन करें । भन्ते ! इसीलिए मैं यह लेख लिखवा रहा हूँ, ऐसा समझे ।"

उपर्युक्त अभिलेख में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ अशोक ने कुछ बुद्ध-वचनों (धम्म-पलियाय) के नाम लेकर भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं सभी को उनका सतत स्वाध्याय करने की प्रेरणा की है । उसने बुद्ध-वचनों के कुछ ऐसे अंशों को चुना है जिनको महत्ता सार्वजनीन है और जिनमें सदाचार के उस रूप की प्रतिष्ठा की गई है जिसका आचरण स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं । जिन सात धम्म-परियायों या धम्म-पलियायों को अशोक ने गिनाया है, वे प्रायः उन्हीं नामों में वर्तमान पालि-त्रिपिटक में भी विद्यमान हैं । किस-किस धम्म-पलियाय की अनुरूपता पालि-त्रिपिटक के किस-किस अंश या सूत्र के साथ है, यह नीचे लिखे विद्वानों के एतद्विषयक मतों से, जिनमें कहीं कहीं कुछ अल्प विभिन्नता भी है, स्पष्ट होगा ।

## १—विनय-समुत्कर्षे (विनय-समुत्कर्ष)

१. विनय का उत्कृष्ट उपदेश या पातिमोक्ख—डा० रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग \*

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द तेरहवाँ पृष्ठ २६ (भूमिका), अलग अलग भी रायस डेविड्स : जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, जर्नल ऑफ पालि टेक्स्ट सोसायटी १८९६; बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९; इसी प्रकार ओल्डन बर्ग : विनय-पिटक, जिल्द पहली पृष्ठ ८० में टिप्पणी (विनय-पिटक का रोमन-लिपि में संस्करण, पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित) ।

२. बुद्ध की सामुक्कसिका 'धम्मदेसना' (ऊँचा उठानेवाला धर्मोपदेश) जिसका उपदेश वाराणसी में दिया गया (अर्थात् धम्मवक्कपवत्तन-सुत्त) — ए० जे० एडमंड्स<sup>१</sup>

३. सप्पुरिस-सुत्त (मज्झिम ३।२।३) या अंगुत्तर-निकाय का विनय-संबंधी उपदेश (अत्थवसवग्ग) — प्रो० मित्र<sup>२</sup>

४. 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) नाम से प्रसिद्ध सिंगालीवाद-सुत्त (दीघ ३।८) तथा 'भिक्षु-विनय' (भिक्षु-विनय) के नाम से प्रसिद्ध अनुमान-सुत्त (मज्झिम) — डा० वेणोमाधव वाडुआ<sup>३</sup>।

५. तुवट्ठक-सुत्त (सुत्त-निपात) — प्रो० भंडारकर

## २. अलियवसानि (आर्यवंश)

१. अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात में निर्दिष्ट चार आर्य-वंश — आचार्य चर्मनिन्द कोसम्बी<sup>४</sup>

२. अंगुत्तर-निकाय के दसक-निपात अथवा दीघ-निकाय के संगीति-परियाय सुत्त और दसुत्तर-सुत्त में निर्दिष्ट दस आर्य-वास — डा० रायस डेविड्स<sup>५</sup>

## ३. अनागत-भयानि

१. अंगुत्तर-निकाय के पंचक निपात में निर्दिष्ट पांच अनागत-भय — डा० रायस डेविड्स<sup>६</sup>

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१३, पृष्ठ ३८५

२. लाहा : हिन्दी ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५ में उद्धृत।

३. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. इंडियन ऐंटिक्वेरी ४१, ४०

५. ऊपर उद्धृत पद-संकेत १ के समान।

६. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी १९९८।

## ४. मुनि गाथा

१. मुनि-सुत्त (सुत्त-निपात)—डा० रायस डेविड्स<sup>१</sup>

## ५. मोनेय्य-सूते ( मोनेय्य-सूत्र )

१. नालक-सुत्त (सुत्त-निपात)—आचार्य परमानन्द कोसम्बी<sup>२</sup>

२. ब्रस्तावना को छोड़कर नालक-सुत्त का शेष भाग—डा० वेणीमाधव वाडुवा<sup>३</sup>

३. मोनेय्य-सुत्त—डा० रायस डेविड्स<sup>४</sup>

४. 'इतिवत्तक' के ६७ वें सुत्त एवं अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात में निर्दिष्ट मोनेय्यानि—डा० विटरनित्त<sup>५</sup>

६. उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न)<sup>६</sup>

१. सारिपुत्त-सुत्त (सुत्त-निपात)—कोसम्बी और वाडुवा<sup>७</sup>

२. मज्झिम-निकाय के रत्नविनीत सुत्त (१।३।४) में निर्दिष्ट उपतिष्य प्रश्न—यूसैन<sup>८</sup>

१. उपर्युक्त के समान

२. इंडियन एटिम्बेरी, ४१, ४०

३. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. उपर्युक्त पद-संकेत १ के समान

५. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

६. उपतिष्य सारिपुत्र का नाम है। चूंकि सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त में सारि-पुत्र में कुछ प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने दिया है, अतः यह प्रायः सुनिश्चित हो है कि अशोक का तात्पर्य इसी उपदेश से था।

७. इन विद्वानों के लेखों का निर्देश ऊपर हो चुका है। डा० विटरनित्त को भी यही मत मान्य है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

८. विटरनित्त : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०६ में उद्धृत।

### ७. लाघुलोवादे मुसावादं अभिगिच्छ भगवता बुधेन भासिते

(राहुल को उद्देश्य कर मुसावाद के संबंध में भगवान् बुद्ध का दिया हुआ उपदेश )

१. राहुलोवाद-मुत्तन्त (मज्झिम ३१५।५) — डा० रायस डेविडस<sup>१</sup>

२. अम्बलट्ठक-राहुलोवाद-मुत्तन्त (मज्झिम २।२।१) — एम० सेनो<sup>२</sup>

उपर्युक्त विवरण का ऐतिहासिक साक्ष और महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि भाषू-शिलालेख में निर्दिष्ट धम्म-परियायों की पालि-त्रिपिटक के विशिष्ट सूत्रों से पहचान करने में विद्वानों में कुछ मत-भेद अवश्य हैं, किन्तु यह मतभेद बहुत अल्प है और अधिकांश तो एक ही विषय के पालि-त्रिपिटक में अनेक स्थलों में प्रायः समान शब्दों में वर्णन करने के कारण ही है। अतः यह कहना इसके साक्ष्य को अतिरंजित करना नहीं होगा कि जिस समय अशोक का यह शिलालेख लिखा गया, अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व, पालि त्रिपिटक अपने उसी रूप में और अपने सूत्रों के प्रायः उन्हीं नामों के साथ, जिनमें वह आज पाया जाता है, विद्यमान था।<sup>३</sup> अशोक के प्रजापतों की भाव-शैली से भी यही परिलक्षित होता है। उन पर बुद्ध-वचनों का, जैसे कि वे आज पालि-त्रिपिटक में निहित हैं, पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हाँ, विशेषता केवल यही है कि उसने बुद्ध-वचनों के अथाह समुद्र में से केवल ऐसे सुवचनों को चुन लिया है, जिनका उपदेश सर्व-साधारण के लिये, जिनमें विशेषतः गृहस्थों की ही अधिकता होती है, उपकारी हो सकता था। यही कारण है कि चार आर्य-मत्त, आर्य-अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, निर्वाण जैसे गंभीर विषयों

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८

२. जर्नल एशियाटिक, १८८४, जिल्द तीसरी पृष्ठ ४७८

३. डा० वेणोमाधव वाहुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, किन्तु बिटरनिट्ज ने उनके इस निष्कर्ष को कुछ अतिरंजित माना है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०८; फिर भी बिटरनिट्ज ने उन विद्वानों के साथ भी सहमति नहीं दिखाई है जो अशोक के समय किसी भी प्रकार के पालि-त्रिपिटक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। देखिये वही पृष्ठ ६०८-०९।



का उल्लेख न कर उसने जन-साधारण के सामने इस लोक के साधारण सामाजिक, पारिवारिक और आधुनिक भाषा में कहे तो नागरिक कर्तव्यों का उपदेश रक्खा है जिसे पालि-त्रिपिटक के सिंगालोवाद (या सिंगालोवाद)-सुत्त (दीघ. ३।८) लक्षण-सुत्त (दीघ. ३।७) और महामंगलसुत्त (सुत्त-निपात) जैसे भागों में गृहस्थों को लक्ष्य कर सिखाया गया है। 'सिंगालोवाद-सुत्त' तो पूरे अर्थों में 'गृहि-विनय' (गृह-विनया) ही कहा गया है। अशोक ने जिस-धर्म को सिखाया है उसमें प्राणधारियों की अहिंसा (अनारम्भो प्राणानं) जीवों को कष्ट न पहुँचाना (अविहिंसा भूतानं) माता-पिता की सेवा (मातरि पितरि सुसूसा), बड़ों का आदर (वरं-सूसूसा), मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और शिष्टता का व्यवहार (मित-संस्तुत-अतिकानं ब्राह्मण समणानं दानं सम्पटिपत्ति), गुरुओं का सम्मान (गुरुन अपर्चिति), दासों और नौकरों के साथ शिष्टता और उदारता का व्यवहार (दास-भक्तकर्मिह सम्पटिपत्ति), मितव्ययता और अल्प संग्रह करना (अपव्ययता, अपभाण्डता) आदि सामान्य लोक-धर्म की बातें ही हैं। बुद्ध ने यही धर्म साधारण जनता को सिखाया था। 'सिंगालोवाद-सुत्त' के इस संक्षिप्त उद्धरण को ही देखिये—

"माता-पिता पूर्व दिशा है, आचार्य दक्षिण दिशा ।

पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा है, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा ।

दास-कर्मकर नीचे की दिशा है, श्रमण-ब्राह्मण ऊपर की दिशा

गृहस्थ को अपने कुल में इन दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिये ।"<sup>१</sup>

निश्चय ही अशोक ने अपने 'धम्म' को ऐसे ही बुद्ध-वचनों से पाया है। ऊपर भाग्य शिलालेख में उसकी बुद्ध-भक्ति दिखाई दी जा चुकी है। सांची प्रयाग और सारनाथ के अपने स्तम्भ-प्रज्ञापनों में संघ-भेद को रोकने के लिये जो तत्परता दिखाई है, वह भी स्पष्ट ही है। वास्तव में उसने अपने सारे जीवन-कार्यों में चक्र-वर्ती धर्मराज के उस आदर्श को पूर्ण करने का प्रयत्न किया जो पालि-त्रिपिटक

में उपदिष्ट किया गया है । लक्षण-सुत (दीर्घ ३१७) के अनुसार “चक्रवर्ती, धार्मिक, धर्मराज, चारों दिशाओं को जीतकर, सागर-पर्यन्त इस पृथ्वी (भारतभूमि) को दंड और शस्त्र से नहीं, किन्तु धर्म से जीतकर उसके ऊपर शासन करता है ।”<sup>१</sup> अशोक को धम्म-विजय का, उसकी प्राणि-अविहिंसा का, जाति-धर्म-निर्विशेष, संपूर्ण मनुष्य-जाति की सेवा के उसके उच्च आदर्श का, इसके अलावा और अर्थ हो क्या हो सकता था ? अतः यह निर्विवाद है कि अशोक की प्रेरणा का मूल-धारा बुद्ध-धर्म ही था । किस प्रकार धम्म-दान की प्रशंसा करते हुए अशोक ने धम्मपद की एक गाथा (२।१) को प्रतिध्वनित किया है, अथवा किस प्रकार उसके नवें शिलालेख के कालसी, शहवाजगढ़ी और मनसेहर के संस्करण के अन्तिम भाग की शैली ‘कथावत्थु’ से मिलती जुलती है, यह हम पहले दिखा चुके हैं । अतः यह निःसंदेह है कि अशोक के शिलालेखों का साक्ष्य उसके बुद्ध-वचनों या पालि-त्रिपिटक के उस रूप से परिचित होने के पक्ष में है जो हमें आज प्राप्त है और जिसमें से ‘गृह-विनय’ के ही लोक सामान्य आदर्श को लेकर अशोक ने स्वयं (अपने गृहस्थ शासक होने की अवस्था में) उसको अपनाया और उसी को अपनी प्यारी जनताओं को भी सिखाया ।

अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य प्रभूत पालि अभिलेख-साहित्य भी हमें आज प्राप्त है । यह बहुत पुराना भी है और उसकी परम्परा ठीक अर्धवीन काल तक चलती आ रही है । तीसरी और दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ठीक अठारहवीं शताब्दी तक के पालि अभिलेख हमें प्राप्त हैं । यद्यपि इन सब अभिलेखों का साहित्यिक महत्व और ऐतिहासिक साक्ष्य अशोक के अभिलेखों के समान महत्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं । उसकी विकास परम्परा के विभिन्न

१. चक्रवर्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजिता बीसो इमं पठावि सागर-परियन्तं अदण्डेन असत्थेन अभिविजिय अज्झावसति । लक्षणसुत (दीर्घ ३।७)

पहलुओं को समझने के लिए वे प्रकाशगृह का काम देते हैं। हम इन सात मुख्य अभिलेखों का यहाँ उल्लेख करेंगे (१) सांची और भारहुत के अभिलेख (२) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, (३) मौगन (वरमा) के दो स्वर्ण-पत्र लेख (४) सव्वा (प्रोम-वरमा) का पांचवीं-छठीं शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख (५) सव्वा (प्रोम-वरमा) के बोबोनी पेगोहा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख (६) १४४२ ई० का पेगन (वरमा) का अभिलेख, और (७) रामण्य-देश (पेगु-वरमा) के राजा धम्मचेति का १४७६ ई० का प्रसिद्ध कन्याणी-अभिलेख।

### सांची और भारहुत के अभिलेख<sup>१</sup>

प्रायः सभी पुरातत्वविदों का इस विषय में एक मत है कि सांची और भारहुत के स्तूप तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। इन स्तूपों की पाषाण बेल्ट-नियों पर जो लेख उत्कीर्ण हैं और प्राचीन बौद्ध गाथाओं के जो चित्र अंकित हैं, वे भारतीय पुरातत्व की तो अमूल्य निधि हैं ही, पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता और प्रामाणिकता को दिखाने के लिए भी उनका प्रमाण अन्तिम और पूर्णतम रूप से निश्चित है। हम पहले लिख चुके हैं कि इन स्तूपों के लेखों में भिक्षुओं के विशेषण-स्वरूप 'सुत्तन्तिक' 'पिटकी' 'धम्मकथिक' 'पञ्चानेकायिक' 'भाणक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि जिस समय ये लेख लिखे गये थे बौद्ध वचनों का "पिटक" 'सुत्त' 'पंच निकाय' आदि में वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उसका संगायन करने वाले (भाणक) भिक्षु भी गाये जाते थे। अतः पालि त्रिपिटक प्रायः अपने उसी विभाजन में जिसमें वह आज उपलब्ध है, तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भी पाया जाता था, यह निश्चित

---

१. सांची और भारहुत के अभिलेखों के अध्ययन के लिए देखिये विशेषतः वाहुआ और सिंह "भारहुत इन्सक्रिप्शन्स" कलकत्ता १९२६; में से : सांची और इट्स-रिमेन्स लन्दन १८९२, मार्शल : ए गाइड टू सांची, कलकत्ता १९१८; हिन्दी में अभी इस विषयक विशेषतापूर्ण अध्ययन नहीं किया गया।

है। एक और प्रमाण भी इन्हीं स्तूपों से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मिलता है। भारहुत और सांची की पाषाण-वेष्टनियों पर बौद्ध गाथाओं के चित्र अंकित हैं, जो जातक की अनेक गाथाओं से विचित्र समानता रखते हैं। इतना ही नहीं, भारहुत-स्तूप में तो कुछ जातक-गाथाओं के नाम तक भी उल्लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं (१) विनुर पुनकिय (२) मिग (३) नाग (४) यवमभकिय (५) मृगपकय, (६) लतुवा (७) छन्दन्तिय (८) इसिमिगिय, (९) यं वमणो अवसेसि, (१०) हस, (११) किनर (१२) इसिमिगो (१३) जनोको राजा, (१४) सिबला देवो (१५) उद (१६) सेछ (१७) मुजतो गहुतो (१८) बिडल जातक (१९) ककुट जातक (२०) मधादेविय (२१) भिस और (२२) हरनिय। इन जातकों की गाथाएँ और कहीं कहीं नाम भी आज प्राप्त 'जातक' की इन कहानियों से समानता रखते हैं (१) विधूर पंडित (२) निग्रोध (३) कक्कट, (४) महाउम्भग (५) मृगपक्ष (६) लतुकिा (७) छद्गन्त (८) अलम्बुस (९) अन्धभूत, (१०) नच्च, (११) चन्द, (१२) किन्नर, (१३) मिगपोतक, (१४) महाजनक, (१५) दव्व-गुप्फ, (१६) दूमिय मक्कट, (१७) मुजात, (१८) कुक्कुट, (१९) मत्तादेव और (२०) भिस जातक। भारहुत-स्तूप में कहीं कहीं दृश्य तो अंकित हैं किन्तु नीचे उनके नाम नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन चित्रों से विदित होता है कि वे पालि-जातक की कुछ कहानियों के चित्रों को ही अंकित करते हैं। इस प्रकार की 'जातक' की कहानियाँ जो यहाँ अंकित हैं, वे हैं (१) कुसंग-मिग (२) सन्धि-भेद, (३) असदिस, (४) इसरथ, (५) महाकपि, (६) चम्मसतक, (७) आराम-दूसक और (८) कपोत जातक। अतः इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट है कि न केवल पालि-त्रिपिटक बल्कि उसके उसके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ भी अपने उसी स्वरूप में, जैसे वे आज हैं, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व भी विद्यमान थे। इस प्रकार सांची और भारहुत के महत्वपूर्ण अभिलेख और चित्र अशोक के शिलालेखों के साक्ष्य का ही अनुमोदन करते हुए 'त्रिपिटक' बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता का साक्ष्य देते हैं।



## सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ संग्रहालय में लंबे आकार की बोधिसत्व की एक मूर्ति सुरक्षित है। उस पर तीन अभिलेख अंकित हैं, जो कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष अंकित किये गये थे। इन लेखों का विषय बुद्ध का 'धम्मचक्क-पवत्तन' है। पंचवर्गीय भिक्षुओं के प्रति भगवान् ने वाराणसी में चतुरार्य सत्य-विषयक जो उपदेश दिया वह यहाँ इन शब्दों में अंकित है "चत्तारि मानि भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि चत्तारि? दुक्खं दि भिक्खवे अरिय सच्चं। दुक्खसमुदयो अरियसच्चं दुक्ख निरोधो अरियसच्चं दुक्खनिरोधो गामिनीच पटिपदा।" इसका हिन्दी अनुवाद है—“भिक्षुओ! ये चार आर्य सत्य हैं? कौन से चार? भिक्षुओ! दुःख आर्य सत्य है, दुःख-समुदय आर्य-सत्य है, दुःख निरोध आर्यसत्य है, दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा (मार्ग) आर्य सत्य है।” ‘धम्मचक्क पवत्तनसुत्त’ का यह अक्षरशः उद्धरण ही है। कनिष्क ने इसे अंकित करवाकर उसी स्थान पर रखवा जहाँ पर कि वह ऐतिहासिक रूप से प्रथम बार दिया गया था, इससे स्पष्ट विदित होता है कि इसी सन् के लगभग (कनिष्क का समय) पालि-साध्यम में निहित बुद्ध-वचन ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। अशोक तथा सांची और भारहुत के अभिलेखों के कालक्रम से प्राप्त साक्ष्य का इस प्रकार यह अभिलेख भी अनुमोदन करता है।

## मौगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख

स्वर्णपत्रों पर लिखे हुए दो पालि-अभिलेख बरमा में प्रोम के समीप मौगन नामक स्थान पर मिले हैं। संभवतः ये पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के हैं और दक्षिण भारत की कदम्ब (कन्नड़-तेलुगू) लिपि में लिखे हुए हैं। प्रथम अभिलेख यह है “ये धम्मा हेतुपभवा तेसं हेतु तयागतो आह तेसं च निरोधो एवंवादी महासमणो ति, चत्वारो सम्मणधाना, चत्वारो सतिपट्ठाना, चत्वारि अरियसच्चानि, चतु वेसारज्जानि पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्च वक्खुनि, छ असङ्गारणानि, सत्त बोज्झंग, अरियो अट्ठंगिको मग्गो, नव लो-कुत्तरा धम्मा, दस बलानि, बुद्ध बुद्धज्जाणानि, अट्ठारस बुद्धधम्मा

ति ।" इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं उनके हेतु को तत्वागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, उन महाश्रमण का यही मत है, जैसे कि चार सम्यक् प्रधान, चार स्मृति-प्रस्थान, चार आर्य-सत्य चार वैशारद्य, पाँच इन्द्रिय, पाँच वक्षु, छह असाधारण, दस बल, चौदह बुद्ध-ज्ञान, एवं अठारह बुद्ध-धर्म ।" इस अवतरण का प्रथम भाग अर्थात् यह अंश "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं उनके हेतु को तत्वागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, यही उन महाश्रमण का मत है" बुद्ध के सारे मन्तव्य को जैसे एक संक्षिप्त सूत्र में ही रख देता है । पालि-त्रिपिटक में भी यह बहुत प्रसिद्ध है । अस्सजि (अश्वजित्) नामक भिक्षु ने यहीं कहकर प्रथम बार सारिपुत्र को बुद्ध-मन्तव्य का परिचय दिया था । बाद के अंश में बोधिपक्षीय धर्मों का परिगणन कराया गया है जो बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद को एक परिपूर्ण सूची हैं । स्वविरवाद बौद्ध धर्म बुद्ध-धर्म के नैतिक सिद्धांतों को आचार मानकर भगवान् बुद्ध द्वारा उप-दिष्ट बोधिपक्षीय धर्मों को ही उनका मुख्य मन्तव्य मानता है । पाँचवीं छठीं शताब्दी में बरमो बौद्ध धर्म की प्रगति पर यह स्वर्ण-पत्र लेख अच्छा प्रकाश डालता है । द्वितीय स्वर्णपत्र पर भी प्रथम लेख के आदि का अंश अंकित है किन्तु उसके बाद यहाँ विरल की वन्दना और अंकित है, यथा—'तिपि सो भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविद् अनुत्तरो पुरिसिद्धमसारवि सत्था देव मनुस्सानं बुद्धो भगवाति । यह भी पालि त्रिपिटक का ही एक उद्धरण है । इसका हिन्दी अनुवाद है "वे भगवान् अहंत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या-चरण सम्पन्न, सुगत, लोकविद, अद्वितीय पुरुष-दम्य सारथी, देव और मनुष्यों के शास्ता, भगवान् बुद्ध हैं)" बुद्ध-भक्ति के उद्गार-स्वरूप हो ये लेख लिखे गये हैं ।

### मब्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्णपत्र-लेख

बरमा में प्रोम के पास मब्जा नामक स्थान पर बीस स्वर्ण-पत्रों पर लिखा हुआ एक पालि अभिलेख पाया गया है । यह भी दक्षिण-भारत की कन्नड़-तेल्लू प्रकार की लिपि में लिखा हुआ है । इस अभिलेख में विनय और

अभिधम्म पिटक के कुछ उद्धरण अंकित हैं। बरमा में पालि-बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

### मन्त्रा के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख

बरमा में मन्त्रा (प्राचीन प्रोम) के बोबोगी पेगोडा में सन् १९१०-११ ई० में तीन खंडित पाषाण-लेख मिले, जो संभवतः छठी शताब्दी ईसवी के हैं। इनकी लिपि भी दक्षिण भारत की कन्नड़-तेलगू लिपि से मिलती जुलती है। इन अभिलेखों में पालि-त्रिपिटक विशेषतः अभिधम्म-पिटक के ही किसी ग्रन्थ का उद्धरण है, जिसका अभी निश्चयतः पता नहीं लगाया जा सका है। इस अभिलेख से बरमा को अभिधम्म-पिटक संबंधी अध्ययन को और विशेष रुचि का जो वहाँ प्रारंभ से ही रही है, पता चलता है।

### १४४२ ई० का पेगन (बरमा का अभिलेख)

बरमा के तौंगदिन नामक प्रान्त के प्रान्तपति बौद्ध उपासक और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षु-संघ को कुछ महत्वपूर्ण दान दिया था। उसी की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए यह लेख अंकित करवाया गया था। इस लेख में अन्य बातों के साथ साथ उन ग्रन्थों का भी उल्लेख है जिनका दान उक्त प्रान्तपति ने भिक्षु-संघ को दिया था। अतः बरमा में पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से इस अभिलेख का एक विशेष महत्व है। एक विशेष महत्वपूर्ण बात इस अभिलेख की यह भी है कि यहाँ पालि-ग्रन्थों की सूची में अमरकोष, वृत्तरत्नाकर जैसे कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं, जो बरमा में तद्विवेक अध्ययन की परम्परा का अच्छा साक्ष्य देते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक बरमा पालि साहित्य की प्रगति को दिखाने के लिए यद्यपि इस अभिलेख में निर्दिष्ट ग्रन्थों का अधिक विवेचन अपेक्षित है, किन्तु विस्तार भय से हम यहाँ ऐसा न कर केवल उनका नाम परिगणन मात्र ही करते हैं<sup>१</sup> जिनकी भी संख्या २९५ है। यथा—(१) पराजिककंड, (२) पाचिस्सिम, (३) भिक्खुनों, विभंग, (४) विसय-महावग्ग,

१. विशेष विवेचन के लिए तो देखिए मैबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १०१-१०९।

(५) विनय-बुलवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कांड अट्ठकथा,  
 (८) पाचित्तिवादि-अट्ठकथा (९) पाराजिककांड-टीका, (१०) तेरसकांड  
 टीका, (११) विनय-संग्रह-अट्ठकथा विस्तृत, (१२) विनय-संग्रह-अट्ठकथा  
 (संक्षिप्त), (१३) कंठा वितरणी-अट्ठकथा, (१४) खुदक सिकत्ता टीका,  
 (प्राचीन), (१५) खुदक सिकत्ता टीका (अभिनवा), (१६) कंठा-टीका  
 (अभिनवा), (१७) विनय सप्तिपद, (१८) विनय-उत्तर-सिचय-अट्ठकथा,  
 (१९) विनय-सिचय-टीका, (२०) विनयकस्सन्ध निदेस, (२१) धम्मसंगणि, (२२)  
 विभंग, (२३) घातुकथा, (२४) पुग्गलपञ्जत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६)  
 मूलवमक, (२७) इन्द्रिय वमक, (२८) तिक-पट्ठान, (२९) दुक्क-तिक-पट्ठान,  
 (३०) दुक्क-पट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी-अट्ठकथा, (३२) सम्मोह विनोदनी-  
 अट्ठकथा, (३३) पञ्चपकरण कथा, (३४) अभिधम्म-अनुटीका, (३५)  
 अभिधम्मत्वसंग्रह-अट्ठकथा, (३६) अभिधम्मत्वसंग्रह-टीका, (३७) अभिधम्मत्व  
 विभावनी-टीका, (३८) सोलकस्सन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य, (४१)  
 सोलकस्सन्ध-अट्ठकथा, (४२) महावग्ग-अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य-अट्ठकथा,  
 (४४) सोलकस्सन्ध टीका, (४५) महावग्ग-टीका, (४६) पाथेय्य-टीका, (४७)  
 मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास-अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास-टीका, (५०)  
 मज्झिमपण्णास, (५१) मज्झिमपण्णास-अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्ण  
 टीका, (५३) उपरिपण्णास (५४) उपरिण्णास-अट्ठकथा (५५) उपरिण्णास  
 टीका (५६) सगाथवग्ग-संयुत, (५७) सगाथवग्गसंयुत-अट्ठकथा, (५८)  
 सगाथवग्गसंयुत-टीका, (५९) निदानवग्ग-संयुत, (६०) निदानवग्ग संयुत-  
 अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग-संयुत, (६२) खन्धवग्ग संयुत-टीका, (६३)  
 सट्ठायतन वग्ग-संयुत, (६४) सट्ठायतनवग्ग संयुत-अट्ठकथा, (६५) चतुक्कि-  
 पात-अंगुत्तर, (६६) अट्ठ-नव-निपात-अंगुत्तर, (६७) महावग्गसंयुत, (६८)  
 पञ्चनिपात-अंगुत्तर (६९) छसत्तनिपात-अंगुत्तर, (७०) अट्ठ-नव-निपात-  
 अंगुत्तर, (७१) दस-एकादस-निपात-अंगुत्तर, (७२) एकनिपात अंगुत्तर-अट्ठकथा,  
 (७३) दुक्क-तिक-चतुक्क निपात-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७४) पञ्चादि-अंगुत्तर-  
 अट्ठकथा, (७५) अंगुत्तर-टीका, (७६) अंगुत्तर-टीका, (७७) खुदक-पाठ  
 अट्ठकथा सहित, (७८) धम्मपद अट्ठकथा सहित, (७९) उदान अट्ठकथा



सहित, (८०) इतिवृत्तक अट्ठकथा सहित, (८१) सुत-निपात, अट्ठकथा सहित  
 (८२) विमानवत्थु-अट्ठकथा-सहित, (८३) पेतवत्थु अट्ठकथा सहित, (८४)  
 खेरगाथा अट्ठकथा सहित, (८५) धेरीगाथा अट्ठकथा सहित, (८६) पाठचरित्र  
 (८७) एक निपात जातक-अट्ठकथा, (८८) दुकनिपात जातक-अट्ठकथा, (८९)  
 तिक निपात जातक-अट्ठकथा, (९०) चतुक-यन्त्र-छनिपात जातक अट्ठकथा,  
 (९१) सत्त-अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस निपात जातक अट्ठकथा, (९३) द्वादस-  
 तेरस-यकिष्णक निपात-जातक-अट्ठकथा, (९४) बीसतिजातक-अट्ठकथा,  
 (९५) जाततको-सोततको-निदान-अट्ठकथा, (९६) चूलनिहेस, (९७) चूल-  
 निहेस-अट्ठकथा, (९८) महानिहेस, (९९) महानिहेस, (१००) जातक-टीका,  
 (१०१) दुम-जातक-अट्ठकथा, (१०२) अपादान, (१०३) अपादान-अट्ठ-  
 कथा, (१०४) पटिसम्भिममग्ग, (१०५) पटिसम्भिममग्ग-अट्ठकथा, (१०६)  
 पटिसम्भिममग्ग-नाष्ठिपद, (१०७) विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा, (१०८) विसुद्धि-  
 मग्ग-टीका, (१०९) बुद्धवंस-अट्ठकथा, (११०) चरियापिटक-अट्ठकथा,  
 (१११) नामरूप टीका, (नवीन), (११२) परमत्थ विनिच्छय, (११३)  
 मोह विच्छेदनी, (११४) लोक-पञ्चाति, (११५) मोह नयन, (११६) लोक-  
 प्पत्ति, (११७) अरुणवत्ति, (११८) छगति दीपनी, (११९) सहस्सरसिगालिनी  
 (१२०) दसवत्थु (१२१) सहस्सवत्थु (१२२) सहिल वत्थु (१२३)  
 पेटकोपदेस, (१२४) तयागतुप्पत्ति, (१२५) घम्मचक्क (-पवत्तनमुत्त), (१२६)  
 भ्रम्मचक्क-टीका, (१२७) दाठाघातुवंस, (१२८) दाठाघातुवंस-टीका, (१२९)  
 चूलवंस, (१३०) दीपवंस, (१३१) धूपवंस, (१३२) अनागतवंस, (१३३)  
 बोधिवंस, (१३४) महावंस, (१३५) महावंस-टीका, (१३६) घम्मदान, (१३७)  
 महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) चन्-अयन्-टीका, (१४०) महाधेर-  
 टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४२) बालावतार, (१४४) वृत्ति  
 भोग्गल्लान, (१४५) पञ्चिक-भोग्गल्लान, (१४६) पञ्चिक भोग्गल्लान-टीका,  
 (१४७) कारिका (१४८) कारिका-टीका, (१४९) लिगत्थ विवरण (१५०)  
 लिगत्थ विवरण टीका, (१५१) मुखसत्तसार, (१५२) मुखभत्तसार-टीका,  
 (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान-  
 टीका, (१५७) सद्दीति, (१५८) चूलनिगति, (१५९) चूलसन्धि विसोधन,

(१६०) सद्बन्धभेदचिन्ता, (१६१) सद्बन्धभेद चिन्ता-टीका, (१६२) पद-सौधन,  
 (१६३) सम्बन्ध चिन्ता-टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सहावतार, (१६६)  
 सद्धम्मदीपिका, (१६७) सौतमालिनी, (१६८) संबन्धमालिनी, (१६९) पदा-  
 वहामहाचक्र, (१७०) पञ्चादि (मोगल्लान) (१७१) कतचा (१७२) महाका,  
 (१७३) बालतजन, (१७४) नृत्तावलि, (१७५) अक्षरसम्भोहच्छेदनी, (१७६)  
 चैतिद्वि नेमिपरिगाथा, (१७७) समासतद्धितदीपनी, (१७८) बीजवर्ण्य, (१७९)  
 कच्चायन-सार, (१८०) बालपबोधन, (१८१) अदृष्टमालिनी, (१८२) अदृष्ट-  
 तालिनी निस्सय, (१८३) कच्चायन निस्सय, (१८४) रुपसिद्धि निस्सय, (१८५)  
 जातक निस्सय, (१८६) जातकगणित, (१८७) धम्मपदगणित निस्सय, (१८८)  
 कम्मवाचा, (१८९) धम्मसत्त, (१९०) कलापपञ्चिका, (१९१) कलाप-  
 पञ्चिका-टीका, (१९२) कलापसुत्त प्रतिञ्जसकु, (१९३) त्रिन्दो-टीका,  
 (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७)  
 दशगुण, (१९८) दश गुण-टीका, (१९९) छन्दोविचिन्ति, (२००) चन्द्रप्रति  
 (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपञ्चिकर, (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपञ्ज-  
 पकरण, (२०४) महोसद्वि, (२०५) सुबोधालंकार, (२०६) सुबोधालंकार-  
 टीका, (२०७) तनोगवृद्धि, (२०८) तण्डि (संभवतः दण्डी), (२०९) तण्डि-  
 टीका, (२१०) चंकदास, (२११) अरियसच्चावतार, (२१२) विचित्रगन्ध,  
 (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सार संग्रह, (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटि-  
 पट्टि संग्रह, (२१७) सुलचारक, (२१८) पालतक, (२१९) वक्कमासा  
 (तर्कभाषा) (२२०) सद्धारिका, (२२१) कासिकाद्रुतिपालिनी, (२२२)  
 सद्धम्मदीपिका, (२२३) सत्यतत्वावबोध, (२२४) चूलनिर्हति मञ्जूसा, (२२५)  
 मञ्जूसाटीका व्याख्य, (२२६) चूलनिर्हति मञ्जूसा, (२२७) अत्यव्याख्य, (२२८)  
 अनुटीका व्याख्य, (२२९) पकिण्णक निकाय, (२३०) चत्थपयोग, (२३१)  
 मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्रा, (२३३) रोगयात्रा-टीका, (२३४) सत्त्वेक  
 विपसवप्रकास, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासव, (२३७) कोलद्वज,  
 (२३८) बृहज्जातक, (२३९) बृहज्जातक-टीका, (२४०) दाठा धातुवंस,  
 टीका-सहित, (२४१) पतिक विवेक टीका, (२४२) अलंकार-टीका, (२४३)  
 चलिन्द पञ्चिका, (२४४) वेदविधितिमित्तनिर्हति वर्णना, (२४५) निर्हति

व्याख्यं, (२४६) वृत्तोदय, (२४७) वृत्तोदय-टीका, (२४८) मिलिन्द-पञ्च,  
 (२४९) सारत्थ संग्रह, (२५०) अमरकोश निस्सय, (२५१) पिडो निस्सय,  
 (२५२) कलाप निस्सय, (२५३) रोगनिदान व्याख्यं, (२५४) दशगण टीका,  
 (२५५) अमरकोश, (२५६) दंडि टीका, (२५७) दंडिटीका (द्वितीय),  
 (२५८) दंडि-टीका (तृतीय), (२५९) कोलघ्वज टीका, (२६०) अलंकार,  
 (२६१) अलंकार-टीका, (२६२) भेसज्जमंजुसा, (२६३) युद्धवेव्य, (२६४)  
 यतन प्रभा टीका, (२६५) विरम्भ, (२६६) विरम्भ-टीका, (२६७) चूला मणि-  
 सार, (२६८) राजमत्तन्त टीका, (२६९) मृत्युवञ्चन, (२७०) महाकाल-  
 चक्क, (२७२) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविदेक, (२७३) कच्चायन  
 क्कावतार, (२७४) पुम्मारसारी, (२७५) तत्तवावतार (तत्त्वावतार), (२७६)  
 (२७७) न्याय बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु टीका, न्यायबिन्दु टीका, (२७९)  
 हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु टीका, (२८१) रिक्ख- णिय यात्रा, (२८२)  
 रिक्खणिय-यात्रा, टीका, (२८३) वरित्तरताकर (वृत्त रत्नाकर), (२८४)  
 श्यारामितकव्य, (२८५) युत्तिसंग्रह (२८६) युत्ति संग्रहटीका, (२८७)  
 सारसंग्रह निस्सय, (२८८) रोग यात्रा निस्सय, (२८९) रोग निदान निस्सय  
 (२९०) सदत्थमेद चिन्तानिस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) श्यार  
 मितकव्य-निस्सय, (२९३) बृहज्जातक-निस्सय, (२९४) रत्तमाला, (२९५)  
 नरयुत्ति संग्रह ।

**रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४६७ ई० का कल्याणी अभिलेख**

कल्याणी (पेगू-बरमा)-अभिलेख रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति ने सन् १४६७ ई० में अंकित करवाया था । बरमा में बौद्ध धर्म के विकास, विशेषतः भिक्षु-संघ की परम्परा, पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार की विधि एवं बिहार-सीमा के निर्णय करने के विषय पर राजा धम्मचेति के समय में बरमी भिक्षु-संघ में विवाद उपस्थित हो गया । इस विवाद का निश्चित समाधान करने के लिए प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषतः विनय पिटक और उसकी अट्ठकथा एवं उपकारी साहित्य

का काफी गवेषण किया गया । उसके परिणाम स्वरूप जो निश्चित मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ उसी का उल्लेख कल्याणी-अभिलेख में है । यह विषय बौद्ध क्रिया-काण्ड से इतना संबंधित है कि उसका उद्धरण देने से यहां कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । पालि-साहित्य के वरमा में विकास की दृष्टि से केवल इस अभिलेख पर अंकित उन पालि ग्रन्थों के नाम महत्वपूर्ण हैं जिनकी सहायता उपर्युक्त विवाद के समनार्थ ली गई थी । इन ग्रन्थों में ये मुख्य हैं—पातिमोक्ख खुदक-सिक्खा, विमति-विनोदिनी, विनय-पालि, वज्रवुद्धि स्थाविर (वजिरवुद्धि धेर) । कृत विनय टीका या सारत्वदीपनी मातिकट्टकचा या कंथा वितरणी विनय विनिच्छयप्पकरण, विनयसंगहप्पकरण, सीमालंकार पकरण, सीमालंकार संगह आदि । जैसा स्पष्ट है, विनय-पिटक संबंधी साहित्य ही इसमें प्रधान है ।

कल्याणी-अभिलेख इस दिशा में पालि-साहित्य सृजन का अंतिम काल सीमा निश्चित करता है । वह उस प्रभूत पाल-साहित्य की ओर भी संकेत करता है जो लंका की तरह वरमा में भी लिखा गया । पालि-साहित्य यद्यपि संस्कृत की तरह एक पूरा वाङ्मय नहीं है, फिर भी उसकी रचना भारत, लंका और वरमा तीन देशों में हुई है । उसकी अनेकविध बिलरी हुई सामग्री इसका प्रमाण है । पालि में विभिन्न ज्ञान-शाखाओं पर ग्रन्थ नहीं लिखे गये । जो कुछ लिखे भी गये उनका भी आधार विशाल संस्कृत वाङ्मय ही था और उनका अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं है ।



## उपसंहार

### भारतीय वाङ्मय में पालि साहित्य का स्थान

गत पृष्ठों में जिस साहित्य का पर्यालोचन किया गया है वह भारतीय साहित्य का अभी तक प्रायः एक उपेक्षित अंग ही रहा है। संपूर्ण मध्यकालीन भारतीय आयं साहित्य का ही वैसे तो यथावत् अध्ययन अभी हिन्दी में नहीं किया गया। किन्तु पालि-साहित्य के अतिशय गौरवशाली होने के कारण उसकी उपेक्षा तो अत्यंत हृदय द्रावक है। छठे शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक अर्थात् पूरे १२०० वर्ष के भारतीय इतिहास में जो कुछ भी सबसे अधिक स्मरणीय, जो कुछ भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह पालि-साहित्य में निहित है। इस युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को उसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि साहित्य में अंकित है। फिर भी इस महत्वपूर्ण साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन कोलम्बो (सिंहल), रंगून, (बरमा), बंकाक (स्याम) और पार्ल्टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन से हुआ है, उतना किसी भारतीय नगर या शिक्षा-केन्द्र के विषय में तो कहा भी नहीं जा सकता। संपूर्ण भारत की बात जानने भी दें तो भी मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण भूमि) में पालि स्वाध्याय की जो दयनीय अवस्था है उसे देखकर तो आश्चर्य होता है कि हम किस प्रकार अपनी संस्कृति के तत्त्वों के संरक्षण का दम भरते हैं। जिस संस्कृति के प्रभाव की चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया और अफगानिस्तान की भूमियाँ अभी नहीं भूली हैं, जिसकी स्मृतियाँ अभी तक लंका, बरमा और स्याम के निवासियों के हृदय में, उनके सारे सामाजिक संस्थान और राजनितिक विधान में सुधी हुई पड़ी हैं, उसे हम भारतवासी, जो उसके वास्तविक प्रतिनिधि हैं, भूल चुके हैं। यह एक दुःखद, किन्तु सत्य बात है। भगवान् बुद्ध के जिस शासन के माध्यम से हम संसार के संपर्क में आये

थे, उसे हम आज तोड़ चुके हैं। आज हम कच्ची दुनियादों पर महल बड़े कर रहे हैं। समय ही बतायेगा कि वे दुनियादें कितनी स्थायी होती हैं। हाँ इतिहास की ओर मुड़कर हम चाहें तो एक ऐसे आधार का भी आश्रय ले सकते हैं जिसकी परीक्षा पहले ही चुकी है। यह आधार उस साहित्य और संस्कृति का है जिसे हम बुद्ध के नाम से संयुक्त करते हैं। इस माध्यम की पूर्व परम्परा बड़ी शुभ रही है। इसके द्वारा हम जिस किसी से मिलें तो उसका शोषण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने संपर्क से केवल उसी को कृतार्थ करने के लिए उसी के अनुकम्पार्थ ! अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं ने जब लंकाधिपति देवानं पिय तिरस्स से गौरव भरे शब्दों में यह कहा 'हम तेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहाँ आये हैं' (तबवे अनुकम्पाय जम्बुदीपा इषागता) तो उन्होंने अपने इन शब्दों से उस सारी भावना का ही प्रतिनिधित्व कर दिया जिससे प्रभावित होकर शत-सहस्र धर्मोपदेशक भिक्षुओं और मानव जाति के सेवक भारतीय मनीषियों ने हजारोंकोंकों को भयानक पैदल यात्राएँ कर विदेश-भ्रमन किया था। इन स्मृतियों को पृष्ठभूमि को लेकर चाहे तो भारतीय राष्ट्र आज भी कम से कम एशिया के देशों में अपने पूर्व संबंधों को फिर से जीवित कर सकता है, उनके साथ मंत्रों के संबंध दृढ़तर कर सकता है। पालि साहित्य का शुभ आशीर्वाद सदा उसे अपने इस प्रयत्न में मिलेगा।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभाव-मयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। किन्तु उसके इस संबंधी गुणों या ऐतिहासिक महत्व के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपा महासमुद्र में ही आर्य जाति के संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भांडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक रूपान्तर या अंग ही है। अतः संस्कृत साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्व भारतीय साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना चाहिये हाँ, भारत की

सीमा के बाहर के देशों में पालि अपनी जेष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं कहीं प्रभावशीलता में अधिक बढ़ गई है। इसका कारण है पालि का तत्वागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजनीन होने तक का सौभाग्य मिल गया है, जो संभवतः आज तक अंशतः संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नहीं मिला।

### पालि और विश्व-साहित्य

जर्मन कवि-शास्त्रिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवी-करण कहा है। दुनिया का सायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर खरा उतर सके जितना पालि साहित्य।

भारतीय भाषाओं में यदि किसी के भी साहित्य में विश्व जनीन तत्व सबसे अधिक हैं तो निश्चय ही पालि में। गत पृष्ठों में पालि साहित्य के विवेचन में यदि लेखक ने अधिक प्रमाद नहीं किया है तो उससे स्पष्ट हो गया होगा कि पालि साहित्य एक धार्मिक संप्रदाय (स्वविरवाद बौद्ध धर्म) का ही साहित्य नहीं है, बल्कि वह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है, जो विश्वजनीनता की भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि से उद्भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशों में भी हुआ है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नहीं है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओं को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है जिनमें देश या राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नहीं होता। बुद्ध-धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि-साहित्य में ही हो जाता है। यहाँ कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं, कोई ऐसा कर्मकांड का विधान नहीं, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नहीं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहाँ केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझकर मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण है, तो पालि-साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गढ़-

बन्धन में बँधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है तो उसके लिए भी पालि साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है । विश्व-धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय तो निश्चय ही यह भारतीय जनता को संसार के शेष मनुष्यों के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-संस्कृति को अपने उस महत् दान की दे भी नहीं सकता जिसे उसने बुद्ध-धर्म के रूप में कभी उसे दिया था ।





## परिशिष्ट

### १—नामानुक्रमणी

अ

अकारणवाद १३५  
अकालरावी जातक २८२  
अकित्ति-वरियं २९९  
अकित्ति-जातक २९९  
अक्रियावाद १३७  
अक्रियावादी १९३, १९४  
अकृततावाद १३७  
अकुशल ३०, ३७३, ३७४, ३७५,  
३८६, ४००, ४३८, ४४०, ४४२,  
४४६, ४५०, ४५८  
अकुशल कर्म ३५५  
अकुशल-चित्त ३७९, ३८०, ३८६,  
३९०, ३९२, ५३३, ५३४, ५३५,  
५३६  
अकुशल चैतनिक ३८६  
अकुशल धर्म ४६१  
अकुशल-मूल ३५५, ४४०  
अकुशला मनोविज्ञान-धातु-संस्पर्शजा  
४००  
अकुशल विपाक-चित्त (सात) ३८२-  
३८३, ५३५  
अक्षरसम्बोद्धेयनी ६४१  
अलरावट २३०  
अमगञ्जा-मुत्त ९३, १४७  
अमपंडित (लोकुपात्ति के रचयिता)  
५७९  
अमग पंडित (प्रथम) ६११  
अमग पंडित (द्वितीय) ६११

अमग पंडित (तृतीय) ६११  
अमगवंस ५७९, ६०३, ६११  
अमिवच्छमोत्त (परिवाजक) १५५  
अमिवच्छमोत्त-मुत्त ९६, १५५, १५९  
अमिग भारद्वाज (ब्राह्मण) २४०  
अमोन् ११४  
अघोष जन्म ३६  
अघोष (स्पर्श) १९, २०, ३२, ३४,  
३५, ५४, ५६, ५७, ५८, ५९  
अचिरवती (नदी, राप्ती) १९५  
अचेल काश्यप १४१  
अच्छरियन्मुत्तवम्म-मुत्त ९८, १५७  
अजन्ता २९०  
अजातशत्रु (अजातसतु-मगधराज)  
१३७, १३८, १४४, १५७, १६२,  
१६६, १७७, १९५, ५५०, ५६२,  
५७१, ५७२, ५८१  
अजित (माणव, ब्राह्मण वावरि का  
शिष्य) २४१, २४२, ५८६  
अजित केस कम्बलि १३७, १५९,  
४८०  
अजितमाणवपुच्छा २४१-२४२  
अट्ठकथा १, २, ३, ६, ८, ९, ८५,  
१३०, १३२, २७८, २९७, ३३७,  
३३९, ४२२, ४२७, ४४५, ४६५,  
४६६, ४९९, ५३७, ५३८, ५३९,  
५४८, ५४९, ५६०, ५६६, ५६७,  
५६८, ५९८, ५९९, ६००, ६४२

अट्टकथा-साहित्य ४७१—का  
उद्भव और विकास ४९५-५००,  
४९७, ४९८, ४९९, ५००—  
की संस्कृत भाष्य और टीकाओं  
में तुलना ५००-५०१,—की  
कुछ सामान्य विशेषताएँ ५००-५०१,  
५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६,  
५०८, ५१४, ५१५—  
बुद्धयोग की अट्टकथाएँ ५२२-  
५२९,—बुद्धवत् की अट्टकथाएँ  
५०४-५०५,—अभिधम्मपिटक  
सम्बन्धी अट्टकथाएँ ५२८-५२९;  
५३२, ५३६  
अट्टकथाकार ३०८, ४२७, —  
पालि साहित्य के तीन बड़े ५०१-  
५३१  
अट्टकथाचरित्र ५७७  
अट्टकथानगर-मुत्त ९५, १५३  
अट्टक-निपात १०१, १७८, १८०,  
१८२, १८९, १९०, १९३  
अट्टकनवनिपात-अगुत्तर ६३९  
अट्टकवग्ग १०६, १०७, २४०  
अट्टसालिनी १०५, १९९, ३५२,  
३५९, ४७३, ४९८, ५०७, ५१३,  
५२८, ५३०, ५४३, ५८६,  
६४१  
अट्टसालिनी-अट्टकथा ६३९  
अट्टसालिनी की निदानकथा १९८,  
१९९, ३३५, ३३६, ३५०  
अट्टसालिनी की टीका ५३८, ५४२  
अट्टसालिनी-निस्सय ६४१  
अट्ठान-जातक २९४  
अट्ठकासी (मिषुणी) २६९  
अत्तदण्ड-मुत्त २४१  
अत्तदीप-मुत्त १७५  
अत्त-वग्ग २१५, २१८, २२४  
अत्तनगल्ल (या अत्तनगल्लु—उका  
में स्थान) ५७५

अत्तनगल्लुविहारवंस ५४१, ५४८,  
५७४—५७५  
अतिरिक्त धम्म १९९  
अतीतवत् २७७  
अत्यव्याख्य ६४१  
अत्यवर्णना २७७  
अत्यसवग्ग ६२९  
अत्युद्धार-कांड ३७३, ३९४, ३९५  
अर्थकथा ७१, १०४, १०५, १०९,  
२२३  
अर्थजाल १३४  
अर्थ-विद्या २९२  
अद्वेय ३८८, ३९४, ४४०, ४५८,  
५३३, ५३५  
अद्वैतमागधो १८, १९, २८, ३१, ३२,  
— का पालि में सम्बन्ध ३१-  
३३, ३४, ३९, ४५, ४८, ४९,  
५०, ५२, ६६  
अधिकरणपञ्चय-कथा ५०४  
अधिकरणसमवा धम्मा (सात)  
३१२, ३१९-३२१  
अधिकरण-शमथ ३१३  
अधिष्ठान-हार ४६८  
अधिपति-प्रत्यय ४५७, ४६०  
अधिमोक्ष ३८७, ३९२, ३९३, ४१२,  
५३४, ५३५  
अधोविरोध १६०  
अनंगण १४९  
अनंगण-मुत्त १३, १४९  
अनन्त आकिचन्य (शून्यता) का  
ध्यान ३७८  
अनन्त आकाश का ध्यान ३७८  
अनन्त विज्ञान का ध्यान ३७८  
अनन्यशरण १७५  
अनन्तर-प्रत्यय ४५७, ४६०  
अनमतग्ग-संयुत्त ५९, १६५  
अन्-अवश्या (अनोत्तप्य) ३८८,  
३९२, ३९३, ५३५

अनागतवंस ५७८, ५८४-५८७,  
 ६४०  
 अनागतवंसस्त अट्टकथा ५८०  
 अनागतभय-सूत्र २०१, ४४३, ५८५  
 अनागतभयानि ६२७, ६२८, ६२९-  
 ६३०  
 अनागामि-फल १८९  
 अनागामि-फल-चित्त ३८३  
 अनागामि-मार्ग-चित्त ३७६  
 अनागामी ४१८, ४२०, ४३०,  
 ४३२, ४३६, ४४२, ४४६, ५२२  
 अनात्म ३४७, ३५५, ३७९, ४०२,  
 ४५३, ४६४  
 अनात्मलक्षण ४८१  
 अनात्मसंज्ञा ४६९  
 अनात्मवाद १४९, १५२, १५७,  
 १५८, ३४९, ४२८, ४८४, ४८६  
 अनात्मवादी ४५३  
 अनाशपिण्डिक १२६, १५८, १७३,  
 १८३, १८४, १८८, २२६, २२७,  
 ३२५, ५२६  
 अनाशपिण्डिकोवाद-सुत्त ९८, १५८  
 अन्ध-समान (तेरह) ३८६, ३९१,  
 ३९२  
 अन्ध-समान चित्त ५३४  
 अन्योन्य-प्रत्यय ४४१, ४५७, ४६१  
 क्षनियत ३१३  
 अनियत कथा ५०४  
 अनियता धम्मा ३१२, ३१६-३१७  
 अनिरुद्ध (पालि अनिरुद्ध, आचार्य)  
 १०९, ५३२, ५३९, ५४०  
 अनिरुद्ध (पालि अनिरुद्ध, भिक्षु,  
 वृद्ध-शिष्य) ७८, १५२, १५४,  
 १५७, १७०, १७१, १८३, ३२५  
 अनिश्चिततावाद १३८  
 अनोपवरवाद ४२८  
 अनुटीका व्याख्य ६४१  
 अनुनासिक ३५, ६४, ६५, ६६

अनुपद-वग्ग ९७, १५७  
 अनुपद-सुत्त ९७, १५७  
 अनुपालि साहित्य ३०, ९०, ९१  
 अनुपिटक साहित्य ९०, ९१,—  
 का काल-विभाग १०८-११०  
 १२९, १३२, ४७२, ४९४, ५०६,  
 ५१४, ५२८, ६१३  
 अनुमानपञ्चो ४८९  
 अनुमान पञ्च ४७६, ४७९  
 अनुमान-सुत्त ९३, १५१, ६२९  
 अनुरुद्ध (परमत्त्वविनिच्छेद, नाम-  
 रूप-परिच्छेद और अभिधम्मत्व-  
 संग्रह के रचयिता) ५७८  
 अनुरुद्ध (सुद्धकसिक्ख के रचयिता)  
 ५७८  
 अनुरुद्ध-सुत्त ९८, १५७  
 अनुरुद्ध-संयुक्त १०१, १७१  
 अनुरा देवी (देवानं पिय तिसस को  
 भतीजी) ५७३, ५७४,  
 अनुलोम २२७  
 अनुलोम-पट्टान ४५६  
 अनुलोम-पच्चनिय-पट्टान ४५६  
 अनुलोम-पटिलोम-पटिच्चसमुत्पाद-  
 सुत्त २१२  
 अनुराधपुर ५०४, ५०८, ५०९, ५५१,  
 ५६८, ५७६, ६०८, ६१६  
 अनुसय १५७, ४४६, ४३७, ४४०,  
 ४५०  
 अनुशासनी प्रातिहार्य १४२  
 अनुष्टुभ् २३६  
 अनुश्रव १८६  
 अनुसय—यमक ४५०  
 अनुसंघानात्मक ३८१  
 अनुस्सति कम्मट्ठान-निहेसो ५२०  
 अनेसाकि (मसाहर, प्रो०) २००  
 अनोपमा (भिक्षुणी) २६८, २६९  
 अनोपदस्सी (सिहली भिक्षु) ५७५  
 अनोमा (नदी) २८६



अपगर्भ १९४  
 अपण्णक जातक २८१  
 अपण्णक-सुत्त ९५, १५३, १५९  
 अपर्णक १५३  
 अपर्णा समाधि ५२०  
 अपदान १०२, १०७, ११४, १९७,  
 अप १९८, २००, २९८, ५९९, ६४०  
 दानट्टक्या (अपदान-अट्टक्या)  
 ५७७, ६४०  
 अप्पमञ्जविभंग ४१०  
 अप्पमत्तक वग्ग ६२४  
 अप्पमाद-वग्ग २१४, २२३  
 अपभ्रंश १२, ३०, ३२, ७२  
 अप्रमाणा चेतोविमुक्ति १५७  
 अपरशौलीय ४२६, ४३०, ४३९,  
 ४४१, ४४७, ४४८  
 अपरान्त (अपरान्तक भी) ५५७,  
 ५७२, ५७४, ५८२  
 अपरान्त-काल्पित १३५  
 अपरान्तक-अवेदा ८८  
 अपरिमाण ३८८, ३९३, ४१२  
 अफगानिस्तान ६४४  
 अफलातू १३१, ४५४, ४७३, ४९३  
 अव्युत्तघम्म १०२, १०३  
 अभय ३१०  
 अभय (महत्त्व भेदचिन्ता की टीका के  
 रचयिता) ५८०  
 अभयमाता (मिश्रणी) २६९  
 अभय गिरि विहार ५६३  
 अभयराजकुमार-सुत्त ९५, १५३,  
 १५९  
 अभ्यास ४६८  
 अभिञ्जा निवेदो ५२१  
 अभिण्ण जातक २७४  
 अभिघम्म (अभिघर्म्म) २, ८५, १०९,  
 ११३, १९९, ३०८, ३२६, ३३५,  
 ३३६, ३३८, ३३९, ३४०, ३४३,  
 ३४४, ३४७, ३४९, ३५०, ३५१,

३५२, ३७४, ३९०, ४०५, ४०८,  
 ४१८, ४५०, ४५३, ४६४, ४७०,  
 ४७९, ४८१, ४४३, ५४५  
 अभिघम्म-अनुटीका ६३९  
 अभिघर्म्म-कोश ३३४, ३५७, ४२२,  
 ४२३, ५६३  
 अभिघम्म गन्धि ५८१  
 अभिघम्मत्व संग्रह १०९, ११०, ३५०,  
 ३८४, ४५८, ५३२,—के सिद्धांतों  
 का संक्षिप्त विश्लेषण ५३३-५३६  
 अभिघम्मत्वसंग्रह—अट्टक्या ६३९  
 अभिघम्मत्वसंग्रह-टीका ६३९  
 अभिघम्मत्वसंग्रह की टीका (धर्मानन्द  
 कोसंबी कृत) ५४२  
 अभिघम्मत्वसंग्रह की टीका (लेदि सदा-  
 वकृत) ५४४  
 अभिघम्मत्वसंग्रह की टीका (सुमंगल-  
 कृत) ५४०  
 अभिघम्मत्वसंग्रह-संक्षेप टीका (छाद  
 -कृत) ५४०  
 अभिघम्मत्वगणितपद ५४३  
 अभिघम्मत्वविकासनी ५४०, ५७९  
 अभिघम्मत्वविभावनी ५४०, ५७९  
 अभिघम्मत्वविभावनी की टीका  
 ५४२, ६३९  
 अभिघम्मत्वसंग्रहपकरण ५७८  
 अभिघम्मपण्णरसट्ठानं ५८०  
 अभिघम्म-पिटक ८७, ८८, ९१,  
 १०७, ११५, ११७, १७१, १९७,  
 १९८, १९९, २३२, २९८, ३२७,  
 ३३०, ३३४-४६४,—का रचना-  
 काल ३३६-३४६,—का विषय—  
 ३४६-३४९,—की शैली ३४९  
 -३५१,—का महत्त्व ३५१-३५३,  
 —की सर्वास्तिवाद संप्रदाय  
 के अभिघर्म्म-पिटक से तुलना  
 ३५३-३५८,—के ग्रन्थों की विषय  
 वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण ३५८

४६४, ४६५, ४६६, ४७०, ४९४,  
 ५००, ५०३, ५०५, ५३२, ५३३,  
 ५३५, ५३६, ५६६, ५६८, ६०२  
 अभिधम्म-पिटक संबंधी अट्ठकथायें  
 ५२८-५२९  
 अभिधम्म फिलासफी (भिक्षु जगदीश  
 काश्यप कृत) ८७, ३४२, ३४५,  
 ३४७, ३४९, ३५१, ३९१, ३९३,  
 ५१७, ५३३, ५४५  
 अभिधम्म-मूल टीका ५३२,—की  
 अनुटीका ५४३  
 अभिधम्म-दर्शन ३४२, ४५०, ४५२  
 अभिधम्म-भाजनिय ३४४, ३९७,  
 ३९८, ३९९, ४०२, ४०३, ४०५,  
 ४०७, ४०८, ४१०  
 अभिधम्म-विभाग ३४४  
 अभिधम्म-जैली ३४४  
 अभिधर्म-साहित्य ३११, ३४३, ३४५,  
 ३५८, ५४०  
 अभिधम्मावतार ५०३, ५०४, ५०५,  
 ५३९, ५६६, ५७७  
 अभिधम्मावतार की टीका ५३९, ५४०  
 अभिधान ६४०  
 अभिधान-टीका ६४०  
 अभिधानपदीपिका ५७९  
 अभिधानपदीपिका ७, ८, ९, ६१४-  
 ६१५, ६१६  
 अभिनवसुद्धकसिक्खटीका ५३९  
 अभिनवचूलनिराति ६०१  
 अभिरूपा मन्दा (मिश्रणी) २६९  
 अभिलेख-साहित्य १०३  
 अभिसमय-संयुत ९९, १६५  
 अभिसंबद्ध-भाषा २७८  
 अभिसंबोध १५१  
 अम्बट (अम्बट्ट) १३८, ५२३  
 अम्बट्ट-सुत्त ९२, १२७, १२८, १३०,  
 १३८-१३९, १७२  
 अम्बपाली (गणिका, बाद में मिश्रणी)

१४४, २६६, २६८, २६९, २७१  
 अम्बलट्टिका १४५, १५३  
 अम्बलट्टिकाराहुलौवाद-सुत्त ९५,  
 १५३, ६३१  
 अमरकोश ६१४, ६३८, ६४२  
 अमरकोश-निस्तय ६४२  
 अमरसिंह (संयुत-निकाय के सिंहरी  
 संस्करण के संपादक) १६०  
 अमराविशेषवाद १३५  
 अमानुषी ४४७  
 अमितायु ४४६  
 अमेरिकन लैक्चर्स ऑन बुद्धिधर्म ३४६  
 अमोह ३९४, ४४०, ४५८, ५३३, ५५५,  
 अयोधर-चरिय ३००  
 अरणविमंग-सुत्त २६, ८, १५८, ५००  
 अरब (देश) २९५, २९६  
 अरबी २९५  
 अरस्तु ४५४  
 अरहन्त बग २१५, २१७, २२३  
 अरिमर्दन (वरमार्ग में स्थान) ६०६  
 अरियपरिज्येसन-सुत्त ९४, १५१  
 अरियवंस ५४२, ५८०, ६११  
 अरियसन्धावतार ६४१  
 अरियालंकार (वरमार्ग में भिक्षु) ६७०  
 अरिष्ट ३१०  
 अरुणवति ६४०  
 अरूप ३५५, ४५०, ५०५, ५२१  
 अरूप-धातु ४३५, ४४२  
 अरूप-राग ४४२  
 अरूप-लोक ३७२, ३८५, ४३५, ४४५,  
 अरूप-स्कन्ध ४५०  
 अरूप-समाधि ३७९  
 अरूपावचर ३७६, ३७९, ३९९, ४१२,  
 ४४२, ५३५, ५३६  
 अरूपावचर-भूमि १६९, ३७४, ३८५,  
 ३९९  
 अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-चित्त  
 ३७८-३७९

अरुणावचर-भूमि के चार किपा-चित्त

३८५

अरुणावचर विपाक-चित्त (चार)

३८३

अल्लकप ५७१, ५७२

अलंकार-टीका ६४१, ६४२

अलंकार-सूत्र ११४

अलगाद्वयम-मुक्त ९४, १०४, १५१,  
३०५

अलम्बुस-जातक ६३५

अलसन्द २९५, ४९४

अलशेन्द्र २९५

अलिकमुन्दर ८९

अलियवस्तानि (आयर्वंश) ६२७, ६२८,  
६२९

अलो ३२७

अली हिस्ट्री ऑव इण्डिया (स्मिथ)  
४७३

अलेक्जेंडर २९५

अलेक्जेंड्रिया २९५, ४९४

अलोम ३८८, ३९४, ४४०, ४५८,  
५३३, ५३५

अलौकिक ४७०

अलौकिक ज्ञान ४११

अल्पप्राण ५४, ५६, ५९, ६२

अवदान ११४

अवदान २९८

अवदान-माहिल्य २९८

अवधूत-निगम (तेरह) ४९१

अवधूतव्रत ५१८

अवन्तिपुत्र (मयुरा का राजा) १५५

अवन्ती १७, १८, १७७, १९५, २८७,  
५६३

अवन्ती प्राकृत ३१

अवग्रहा (ओत्तपो) ३८७, ५३५

अवारिय जातक २८४

अविगत-अल्पय ४५८, ४६३

अविद्या १६५, ४०७, ४४१, ४५४,

४५५, ४६८

अविद्या-ओष ३०

अविद्या-वानु ४०३

अविद्या-योग ३०

अविद्यावद्विषय ३५०

अविद्यासख ४४१

अव्याकृत १४१, १४७, १७०, ३५९,

३७३, ३७५, ३७६, ३८५, ३९९,

४००, ४०१, ४०२, ४०४, ४०५,

४०६, ४०७, ४१०, ४३७, ४४०,

४४६, ४५०, ४५८

अव्याकृत-चित्त ३८१, ३८७, ३९२,

५३३, ५३५

अव्याकृत-संयुक्त १००, १७०

अव्याकृता धम्मा ३८१-३८३

अव्याकृता मनोविज्ञान-वानु-संस्पर्शजा  
४००

अवेस्ता ५८

अशाश्वतवाद १३६, ४२८

अशुभ-भावना २५४

अश्लेष ४१८, ४१९, ४२८, ४३३

अशोक (मियदर्सी, 'धम्मराजा')

४, ११, १२, १४, १७, १९, २६,

२८, ३१, ३९, ५१, ५५, ८६,

८७, ८८, ८९, ९०, १०३, १०४,

१०५, १०६, १११, ११२, ११६,

११७, ११८, १२०, १२२, १२३,

१४८, १७५, २०४, २३५, २९२,

२९३, ३१०, ३११, ३३२, ४२१,

४२२, ४२५, ४२६, ४२७, ४९४,

५२९, ५५१, ५५६, ५५७, ५६१,

५६२, ५६३, ५७२, ५७३, ५८२,

५९६,—के अभिलेख ६१७-

६३३,—के अभिलेखों का वर्गी-

करण ६१८-६१९,—के अभि-

लेखों का महत्त्व ६१७-६१८,—

के अभिलेखों का विवरण ६१९-

६३३, ६३६, ६४५

'अशोक' (स्मिन्ध-कृत) ६२०  
 अशोक-कालीन २०६, ३३६, ४२५,  
 ४२७, ६२७  
 'अशोक की धर्मलिपियाँ' (नागरी  
 प्रचारिणी सभा, काशी) ६२६  
 अशोक-पालि ३९  
 अशोक-संगीति ३३८  
 अशोभन-चित्त ५३४  
 अश्वघोष १९, ३५५, ४४४, ५८३,  
 ५९३  
 अष्टक-वर्ग ७५  
 अष्टादश-निकाय-शास्त्र ३०२, ४४९  
 अष्टाध्यायी (पाणिनीय) ६०१  
 अस्तगुप्त (अश्वगुप्त) ४८०  
 अतदिम जातक ६३५  
 असम्यक् वाणी ३५५  
 असमतिस्स ५७५  
 अस्सजि (अश्वजित्) ३२५, ३२८,  
 ६३७  
 अस्सलायन-मुत्त (अस्सलायण मुत्तन्त)  
 १५६, २९१  
 अस्सक (अश्वक, अश्मक, जनपद)  
 १४५, १९५, २८७  
 असिबन्धकपुत्त-मुत्त १७६  
 असुभ-कम्मट्ठान-निहेसो ५२०  
 अ-संस्कृत ४३३, ४३४, ४४४, ४४७  
 असंस्कृता-धातु ४५३  
 असंस्त-संयुक्त १००, १६९-१७०  
 असंस्कारिक (असांस्कारिक) ३७७,  
 ३७८, ३८०, ३८१, ३८२, ३८४,  
 ३८५  
 असंग ३३४  
 असंयुक्त व्यञ्जन ३७, ३८, ४९, ५४-६२  
 अति-प्रत्यय ४५८, ४६३  
 असंपदान-जातक २८६  
 अहेतुक ३८४, ५३३  
 अहेतुक क्रिया-चित्त (तीन) ३८४  
 अहेतु १५७, २३३, २९८, ३७५, ३८४

३८५, ४०७, ४१०, ४२०, ४३०,  
 ४३२, ४३३, ४३६, ४४२, ४४६,  
 ४५८, ४६९, ४७५, ४८८, ५२२,  
 ५३३  
 अहेतु-मार्ग-चित्त ३७९  
 अहेत्त्व १६९, ४२८, ४३२, ४३३,  
 ४४२, ४४५, ४९१  
 अहेत्त्व-फल ३०, १८९, ३६१, ४७५,  
 ४८०  
 अहेत्त्व-फल-चित्त ३८३  
 अ-हो (अहिरीक) ३८८, ३९२, ५३५  
 अक्षर-संकोच ४४, ४९-५०  
 अकोत्तर-निकाय १७९  
 अकोत्तरागम ११३  
 अंग (जनपद) १३९, १४५, १५९,  
 १९५, २८७, ५६३  
 अंग-मगध ५२३  
 अंग्रेजी साहित्य २७८, ४९२  
 अंगिरा (मन्त्रकर्ता ऋषि) १४२, २९१  
 २९१  
 अंगुत्तर-निकाय (अंगुत्तर) २५, ७५,  
 ८३, ९१, १०१, १०४, १०६,  
 १०७, ११३, १२९, १३१, १७८-  
 १९६, १९८, २०१, २१०, २३२,  
 २८६, ३०६, ३१०, ३१४, ३१५,  
 ३४०, ३४२, ४१८, ४४३, ४९७,  
 ५१४, ५६७, ६२९, ६३०  
 अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा ५०१,  
 ५१३, ५२४-५२६, ५३८  
 अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा की टीका  
 ५३८  
 अंगुत्तर-टीका (अभिनवा) ६३९  
 अंगुत्तर-टीका (पाराण) ६३९  
 अंगुलिमाल १५५  
 अंगुलिमाल-मुत्त ९६, १५५  
 अण्डभूत-जातक २८८  
 अन्तर्किन ८९  
 अन्तरगमेवहार (राजगुरु) ६१३



अन्त्य व्यंजन ३७, ५४, ६८  
अस्तस्य ३५, ३६, ५५, ६२, ६४,

६५

अन्तियोकस ८९

अन्वक ४२६, ४३०, ४३१, ४३२,  
४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७,  
४३८, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३,  
४४८

अन्वगजन्वाय २३०

अन्वदठकथा ४९७, ४९८, ५३०,  
५३१, ५४९

अन्वभूत-जातक ६३५

अन्ववेणु-परम्परा १३०

आ

आउटलाइन ऑव दि वर्ल्ड हिस्ट्री  
(एच० जी० वेल्स) ६१९

आसफई हिस्ट्री ऑव इन्डिया ६१८

आकस्मिक-मुक्त ९३, १४९, ३२४

आकाशानन्त्यायतन १६९, २३१, ४३४,  
५२१

आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त ३७९

आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त  
३८३

आकाश-वातु ४०४

आकिञ्चन्यायतन १६९, २३१, ५२१

आकिञ्चन्यायतन विपाक-चित्त ३८३

आकिञ्चन्यायतन कुशल-चित्त ३७९

आख्यात २८३, २९१

आख्यातात्मक काव्य १६१

आख्यात-नीति २७१

आमस ११४

आमदठकथा ४९७, ४९८

आचरियात सामनदठकथा ४९७,  
४९८

आचार्य-मुष्टि २१, ४८८, ४८९

आजीव ३९१, ३९३

आजीवक ३२५

आटानाटिय-मुक्त ९३, १२६, १३३,  
१४८, २१२

आठ आरम्भ वस्तु १८२

आठ अभिभू-आयतन १८२

आठ गुरु-धर्म १८९

आठ विमोक्ष १८२

आणञ्जसम्पाय-मुक्त ९७, १५६

आत्मनेपद ६८

आत्मदीप १७४

आत्मवाद ४२८

आत्म संज्ञा ४६९

आत्मधारण १७४

आत्मा १६६, ३७७, ४२८

आतुम (स्मविर) २४७

आतुमान २३६

आदिच्छपट्टान जातक २८२

आदि असंयुक्त व्यंजन ५४-५७

आदि पर्व २९२

आदि व्यंजन ३७

आदि संयुक्त व्यंजन ६२-६३

आदेशना-प्रातिहास्य १४२

आदेशना-विधि ३३५

आध्यात्मिक आयतन ३४८

आधुनिक आर्यभाषा-युग २९

आनन्द कुमारस्वामी ५६९

आनन्द (बुद्ध-शिष्य) ७७, ७८, १२१

१३४, १४२, १४४, १५३, १५६

१५७, १६७, १७३, १७४, १८३

१८९, १९०, १९५, १९८, ३०५

३०६, ३१९, ३२०, ३२५, ३२७

४८८, ४८९, ५२६, ५५०

आनन्द (बुद्धघोष के समकालिक अद्व-  
कथाकार) ५३२, ५३९, ५४३  
५७७, ५९५

आन्ध ११६

आनन्द 'आरण्यायतन' ५९८

आनन्द कौसल्यायन (भदन्त)

७७, ७८, ८७, ९०, २०७, २१४  
 २२५, २३१, २३५, २४४, २४६  
 २७२, २७८, २९२, २९८, ३३९,  
 ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७,  
 ५६१  
 आनन्द-भद्रेकर-सूत ९८, १५८  
 आनापान सति ५२१  
 आनापान-संपुत १०१, १७२  
 आनापानसति-सूत ९७, १५७, १७१  
 ४०८, ६२४  
 आपत्ति (दोष के अर्थ में) ३१९, ३२०  
 आपत्ति (प्राप्ति के अर्थ में) ६०१  
 आपो कुत्स ५२०  
 आमगन्ध-सूत २४०  
 आयं अष्टांगिक मार्ग १२९, १४०  
 १४१, १५१, १५२, १६९, १७०  
 १७२, १८०, १८२, २०८, २६५  
 ३०३, ४०९, ४३७, ४४५, ४६८  
 ४९०  
 आयं कात्यायनीपुत्र ३५४, ३५६  
 आयं कात्यायन ३५३  
 आयतन १५८, २-८, २३१, ३४५, ३४९  
 ३५६, ४०१, ४०२, ४०३, ४०६  
 ४१२, ४१३, ४१५, ४१७, ४४२,  
 ४४३, ४४७, ४५०, ५२१, ५८९  
 आयतन-वानु-निर्देश ५२१  
 आयतन-यमक ४५०  
 आयतन-विभाग ३९७, ४०१, ४०३  
 आयतन-संयुक्त ३४८  
 आय-मार्ग ३७५, ४१२, ४४२-४४३  
 ४८२  
 आय-प्रज्ञा ३५५  
 आय मोन १६६  
 आयं मौढ्यायन ३५३, ३५६, ३५७  
 आयं शारिपुत्र ३५३, ३५६, ३५७  
 आयं संगम (निधु) २२९  
 आय-सत्य (चार) १२९, १५८, १८०  
 १८१, ३०३, ३५६, ४७२

आयुपाल (स्वाविर) ४८१  
 आयुर्वेद १६०  
 आयु १५२  
 आरामद्वैतक जातक २८३, ६३५  
 आरुणि ४९४  
 आलवी ५२५, ५२६  
 आलम्बन ४५८  
 आलम्बन-अत्यय ३५६, ४५७, ४५९  
 आलवक (यक्ष) २४०  
 आलवक-सूत २१२, २४०  
 आवा (वरमा में) ५९९  
 आयं (जैन सूत्रों की भाषा, अर्द्ध  
 मागधी) १८  
 आश्वलायन १५६, १५९, २९१  
 आरुण-निर्देश ५२१  
 आश्व १६९, ४११  
 आसेवन-प्रत्यय ४५७, ४६२  
 आहार-प्रत्यय ४५८, ४६२  
 आज्ञा कौण्डिन्य १८३, ३२५  
 इ

इंगलैण्ड ५६१  
 इटली २९६  
 इटिय (इतिय) ८९, ३१०, ५५७,  
 ५६८, ५७२  
 इंडियन ऐंक्टिवेरी ५५०, ६२९, ६३०,  
 इंडियन फिलॉसफी (राधाकुण्डानु) ४८४  
 इंडियन लिटरेचर (हिस्ट्री ऑफ इंडियन  
 लिटरेचर, डा० विन्टरनिक्स-कृत)  
 ८, १२, १४, १६, २४, २५, ८०,  
 ८६, ८७, १२९, १३०, १३२,  
 १३४, १६१, १६४, २००, २०१,  
 २५५, २७२, २७३, २९६, ३१५,  
 ३२६, ३४५, ३५१, ४७५, ४७७,  
 ४७९, ४८४, ४९२, ५५४, ५८७,  
 ५९०, ५९३, ५९५, ५९८, ६३०,  
 ६३१  
 इंडियन थिपिंग (राधाकुमुद मुकजी)  
 २८९

इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली ८,  
 १४, २५  
 इंडिया ऐंड हिस्ट्राइड इन अली  
 टैक्सट्स ऑफ जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म  
 (विमलावरण लाहा) २८९  
 इ-चिन् ६२१  
 इच्छा-मंगल (कोशल में ग्राम) १९५  
 इतिवृत्तक १०१, १०३, १०७, ११४,  
 १७९, १९६, १९७, २३१-२३५,  
 ५३१, ६३०  
 इतिवृत्तक (साट्ठकथं) ६४०  
 इतिवृत्तक-अट्ठकथा ५७७  
 इतिहास ४८१  
 इतिहास-पुराण ५४७, —के पाँच लक्षण  
 ५४८  
 इन्द्रोदकशत दू दि कम्पेरेटिव फिलॉ-  
 लाजी ऑफ दि इन्डो-आर्यन् लेन्गे-  
 जेज ८  
 इन्सक्रिप्शन्स ऑफ असोक ८६  
 इन्द्रविषनिन्देयो ५२१  
 इन्द्रिपाद-विभाग ३९७, ४०८  
 इन्द्रिपाद-संयुक्त १०१  
 इन्द्रिय ३३६  
 इन्सिग्लि-सुत्त ९७, १५७, २११  
 इन्सिग्लि जातक ६३५  
 इन्सिग्लि जातक ६३५  
 इन्द्र १६४, २५२, २६२, ३३५  
 इन्द्रकट १६३  
 इन्द्रप्रस्थ २८६, ५६३  
 इन्द्रिय (इन्द्रियाँ) ३५५, ३५६, ३८१  
 ३९३, ४३८, ४६८—पाँच ४१२  
 ५२१,—छह ४४०, ४४२,—  
 बाईस ४०६, ४१२, ४४७  
 इन्द्रिय-चैतना ४३५, ४३७  
 इन्द्रिय-जातक २८७  
 इन्द्रिय पञ्चम्यो ४६२  
 इन्द्रिय-प्रत्यय ४५८, ४६२  
 इन्द्रिय-भावना-सुत्त ९९, १५८

इन्द्रिय-धर्मक ४५१, ६३९  
 इन्द्रिय-विभाग ३९७, ४०६  
 इन्द्रिय-मन्त्र-निन्देयो ५२१, ६०१  
 इन्द्रिय-संयुक्त १०१, १७१  
 इरावदी (नदी) ५८२  
 इसिमिग २९३  
 इक्ष्वाकु १३९

इ

ईर्ष्या १५६, १६०  
 ईशान चन्द्र घोष २७२  
 ईश्वर-अणिधान ४६४  
 ईश्वरवाद ४२८  
 ईर्ष्या ३८८, ३९२, ५३५  
 ईसप २९५  
 ईसाई धर्म २९६, ३३२  
 ईसाई मन्त्र २९६

उ

उक्काचेल १७४  
 उक्काचेल-सुत्त १७४  
 उग्र गृहाति १८४  
 उच्छेदवादी १३५, १३७, १९३, १९४  
 उज्जैनी (उज्जयिनी) १२, १३, १५  
 २८८, ४९४, ५६३  
 उट्टान २५०  
 उड्डीसा ६१७  
 उत्तम (भिक्षु) २०७, २२५, २३१,  
 २४४, २४६  
 उत्तम (बालावतार टीक के लेखक)  
 ५७८, ५७९  
 उत्पलवर्णा (भिक्षुणा) १६२, १८४  
 २७१  
 उत्कल देश २८६  
 उत्तम सिक्क (भिक्षु) ६०६  
 उत्तर-कुत १८  
 उत्तर-मन्त्राल २८६  
 उत्तर-मनुष्य-धर्म १५०  
 उत्तरलीनत्वदीपनी ५०५

उत्तरविनिच्छय ४९९, ५०४, ५०५

५४०, ५७७,

उत्तरविनिच्छय-टीका ५४०

उत्तर विहार ४९९, ५०४

उत्तर (स्थविर) ५५७, ५६८, ५७२

उत्तरा १६४

उत्तरा नन्दमाता १८४

उत्तरापथ २९१

उत्तरापथ २९१

उत्तरापथक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४२६

४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६

४३८, ४३९, ४४०, ४४२, ४४५

उत्तिय ८९, ३१०, ३३६, ५५७, ५६८

५७२

उद जातक ६३५

उद्गत (उमात) गृहपति १८४

उदयन (उदेन) १७७, २३१, ४६४

५०७, ५२७

उदय-माणव-पुच्छा २४१

उदान ७५, १०१, १०३, १०६, १०७

११४, ११६, ११७, २१०, २२५-

२३१, २३३, २३४, ४२०, ४५४

५३१

उदान (साट्ठकथं) ६३९

उदान ११४

उदानट्ठकथा ५७७

उदामि-सुत्त १७३

उदायी १५४, १७३, १७४

उदुम्बर (आचार्य) ५८०

उदुम्बरिक-सौहानाद-सुत्त ९२, १४७

उद्दालक-जातक २९१

उद्देस-वार ४५१

उद्देस-विमंग-सुत्त ९८, १५८

उद्धण्व (उद्धतता) ३८१, ३८८, ३९२

उपका (आजीवक) ३२५

उपकिलेस-सुत्त ९८, १५७

उपधर्मातीय ३६

उपतिसपसने (उपतिष्य-प्रश्न) २३५

६२७, ६२८, ६३०

उपतिष्य ३१०

उपतिष्य (सिहली भिक्षु, महाबोधिवंस के सिहली संस्करण के सम्पादक)

५६८, ५६९

उपतिस्साचरिय (अनागतवंस की अट्ठकथा के लेखक) ५८०, ५८७

उपनिःश्रय ४५८

उपनिःश्रय-प्रत्यय ४५७

उपतिषद् १३०, १३१, १४२, १७६

२२०, २२१, २९१, २९३, ४४३

४६३, ४६४, ४९३, ४९४

उपरिपण्णास ६३९

उपरिपण्णास-अट्ठकथा ६३९

उपरिपण्णास-टीका ६३९

उपवसय ३२३

उपवाम (अनुस्मृति) ५२१

उपसम्पदा ४८७

उपसम्पदा-नियम ३०९

उपसम्पदा-जप्ति ३१३

उपसीवमाणवपुच्छा २४१

उपसेन ५३२, ५७८

उपसेन वंगन्तपुत्त १८३

उपादान १६५, ३४८, ३९३, ४०७, ४५५

उपादान-स्कन्ध १५१

उपालि ७७, १८४, ३१०, ५२५, ५२६, ५५०, ५६२

उपालि-सुत्त १५३, १५९, १६०

उप्पाद-निरोध-वार ४५१

उप्पाद-वार ४५१

उप्पाद-संयुत्त १००, १६७

उपेक्षा १७०, २९९, ३४९, ३७२, ३७७, ३७८, ३८०, ३८१, ३८२, ३८४, ३८५, ४०३, ४०८, ४१०,

उपेक्षा-धातु ४०३

उपेक्षा-भावना १५४

उपेक्षेत्रिय ४००



उपोसथ ३२३, ३२६  
 उव्वरी पेतवत्थु २४६  
 उव्विरी २६८, २७०  
 उम्मदन्ती-जातक २८५  
 उरग २४०  
 उरगपेतवत्थु २४६  
 उरगवग्ग २३५, २४०  
 उरग-सुत्त २३६  
 उरगपुर (उरइपुर) ५०३  
 उरुवेल, कस्सप (उरविल्ल कस्सप)  
 १८२, ३२५, ५२५  
 उरुवेल ७४, १७३, २२७, २८६,  
 ३२५, ५३०, ५६२, ५६३  
 उशीनर २९४  
 उशीरध्वज २८६  
 उष्मा १५२

## ऊ

ऊर्ध्वं विरेचन १६०  
 ऊष्म (ऊष्मा) ३५, ३६, ५५, ६२  
 ६४, ६५, ६६

## अ

अ और लू के पालि प्रतिरूप ३९-४०  
 अम्भेद ११, २८, ३९, १६४, २३६  
 अत ४५४  
 अक्षिदासी (भिज्जुणी) २६८  
 अक्षिपतन (इक्षिपतन) ५२५, ५६३  
 अक्षिपतन मृगदाव १७२  
 अक्षयश्रंग २९३

## ए

एक-आयतन ४१५, ४१६  
 एक-निपात (अंगुत्तर-निकाय) १०१,  
 १७८, १८०, १८१, १८२, २३२,  
 २३३, ६२४, ६३९  
 एकखरकोस ६१४, ६१५, ६१६  
 एक-बुक्क-निक-अंगुत्तर ६३९  
 एक-चातु ४१५, ४१६  
 एक-निपात-जातक-अट्ठकथा ६४०

एकव्योहारिका (एकव्यावहारिका)

४२२, ४२३, ४२४

एकराजचरिय ३०१

एकराजजातक ३०१

एक-स्कन्ध ४१६, ४१७

एकुत्तर-निकाय १७९

एकात्तरागम १७८

ए गाइड टू सांची ६३४

एकामता (एकगता) १७१, ३७८,

३८३, ४०९, ५३४

एकादशक-निपात १०१, १७८, १८२,

१८८

एकासन्निकंग ४९१

एकंसिक ३७७, ५८२

एलेक्जेंडर ८९

एडमंड्स (ए० जे०) २३४, ६२१

एण्ड्रुक २९२

एतदम्मावग्ग ७५, १८२, ३१०

एतिमासमिदीपक ५८०

एतिमासमिदीपिकाय टीक ५८१

एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड

एथिक्स २७३, ४७९, ४९२

ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजी-

कल एथिक्स ३३९, ३४०, ३५१,

३५८, ४४३, ४९८

एलार (वर्मिल नेता) ५७३

एलिया २९४, ६४५

एसुकारि-सुत्त १०, १५९

## ऐ

ऐज यू लाइक इट २९६

ऐतरेय २१०

ऐतरेय-ब्राह्मण १४२, २९१

ऐतिहासिक महाकाव्य ५५३

ऐसा तथागत ने कहा २३१, २३२

## ओ

ओक्कन्तिक-संगुत्त १००

ओष ३६६

ओष-वर्ग ३६६

ओतरणहार ४६८

ओपम्पकवापञ्च ४७७, ४७९, ४९१

ओपम्म-वर्ग १४, १५१, ४४३

ओपम्म-संयुत १९, १६६

ओरिपटल रिसचं इन्स्टीट्यूट ३१४

ओल्दनवर्ग २, १०, १३, १५, २६, ७९,

८०, ८४, ८५, ९०, १०४, १११,

१३२, ३४०, ३५२, ५४८, ६२८

ओण्ड्य ३५, ३६, ३९, ४६

औ

औदित्य ५३५

क

ककवृषाम-सुत १५१

ककुसुम्ब १४३

ककुट-जातक ६३५

ककट-जातक ६३५

कच्चायन (कात्यायन, व्याकरणकार)

१०९, १५१, ४७१, ६०३

कच्चायन-ग्रन्थ (कात्यायन-ग्रन्थ)

५७७, ६०३

कच्चायन-व्याकरण १०, ६०३, —और

उसका उपकारी साहित्य ६०३-

६०७; ६०९, ६१०, ६११, ६१६

कच्चायन-निस्सय ६४१

कच्चायन-रूपावतार ६४२

कच्चायन-भेद (कच्चायन-व्याकरण की

टीका) ५८०, ६०६

कच्चायन-भेद-महाटीका (कच्चायन-

भेद की टीका) ६०६

कच्चायन-वर्णना ६०७

कच्चायन-सार ५८०, ६०६, ६४१

कच्चायनसारस्स टीका ५८०

कच्चायनसार-अभिनव टीका ६०६

कच्चायनसार-पुराण टीका ६०६

कच्छप-जातक २८२

कजंगला २०, १८०, २८६, ४८०,

४९४

कजंगला-सुत १८०

कटाहक जातक २८८

कण्टक-खिप नागित (बरमी भिक्षु)

६०६

कण्ठय संयुक्त व्यंजन ६७

कण्ठिन जातक २८१

कण्ठकत्वल-सुत १६, १५६, १६०

कण्ठ-जातक २८२, २९४

कण्ठदास (कृष्णदास) ५०४

कण्ठदीपायन-चरियं ३००

कवावत्यु (कथावत्युष्पकरण) ८१,

८६, ८७, ९१, १०७, ११२, ११५,

२०६, ३११, ३३५, ३३६, ३४१,

३४३, ३४४, ३४६, ३५२, ३५३,

३५४, ३५६, ३५८, ४२१-४५०,

४५२, ५००, ६३३, ६३९

कथावत्यु में निराकृत सिद्धान्तों की

सूची ४२८-४५९

कथावत्यु की अष्टकथा ३३७, ४२२,

४२५, ४२६, ४४७, ५००, ५०१,

५२९, ५३८, ५४८, ५४९

कथकथी २४३

कदम्ब-लिपि (कदम्ब-तेलमू) ६३६,

६३७, ६३८

कनिष्क (कुषाण-राजा) ३५५, ३५७,

६३६

कनिष्ककालीन ६१७

कन्दरक-सुत ९५, १५३, १५९, १६०

कपिलवस्तु १५९, १७७, १८५, १८९,

२८६, ५२५, ५२६, ५३०, ५६३,

५७१, ५७२, ५७४

कपोत-जातक ६३५

कप्पमाणव-मुच्छा २४१, २४३-२४४

कबीर ३०

कम्पिल-राष्ट्र २८६

कम्बोज १८५

कम्बोडिया ५१३

कम्मवाचा ३२६, ६४१  
 कम्मट्ठानसहणनिहेसो ५२०  
 कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन)  
 ५२०, ५२८  
 कम्भासदम्भ (कस्वा) १९६  
 कयच्चा (वरमो राजा) ६०६,—की  
 पुत्री ६१२  
 कयच्चावरञ्जो ५७९  
 ककुच्छन्द १४३  
 कर्मे (डा०) ३०९  
 करणीय-मेत-मुत्त २११  
 करुणा (भावना) १५४, ३८८, ३९१,  
 ३९२, ४१०, ५०२, ५३५  
 कलहविवाद-मुत्त २४१  
 कलकत्ता रिव्णु ४७३  
 कलापनिस्सय ६४२  
 कलापपञ्चिका ६४१  
 कल्याणी (पेम्-वरमा) ५८८  
 कल्याणी-अभिलेख ५३९, ६१७, ६३४,  
 ६४२-६४३  
 कल्याणिय (मिन्नु) ५८८  
 कलापमुत्त प्रतिञ्जापक-टीका ६४१  
 कलेला वसना २९५  
 कालिग १३, १५, ४९४, ५७६ ६१८  
 कालिगबोधि-जातक २८७  
 कालिग-लेख ६१८  
 कालिग-सूद्ध ६१९, ६२०  
 कालिगारण्य १५९  
 कल्प (कण) ४३९  
 कविकल्पद्रुम ६०७  
 कविसारपकरण ६१६  
 कविसार टीका-निस्सय ६१६  
 कस्सप (काश्यप—मोह विच्छेदनी,  
 अनागतबंस और बुद्धबंस आदि के  
 रचयिता) ५७८, ५८७  
 कस्सप-मुत्त २१०  
 कस्सप-सयुत्त ९९, १६५  
 कस्सप-सिंहनाद-मुत्त ९२, १४१

कस्सपिक मिन्नु ४२२, ४२३, ४२९,  
 ४४८  
 कसि भारद्वाज (ब्राह्मण) २३९, २४०  
 कसि भारद्वाज-मुत्त २३९  
 किया-नित्त ३८४-३८५  
 कर्म २२५, ३०६, ३४०, ३५८, ४४६,  
 ४५८  
 कर्म-प्रत्यय ४६२  
 कर्म-फल २४४  
 कर्म-विपाक ३७५, ३७७, ३९२, ४०८,  
 ४१०, ४३५, ४४२, ४६२  
 कर्म-स्थान (कम्मट्ठान) ३७४, ३७८  
 कर्मान्तक १८८  
 कंठा-टीका ६३९  
 कंठा-रेवत १८३  
 कंठा-वितरणो ५१३, ५२३, ५७७,  
 ६४३  
 कंठावितरणो-अट्ठकाया ६३९  
 कंठावितरणो की टीका ५३९  
 कंठावितरण-विमुद्धिनिहेसो ५२२  
 कस-वच २९४  
 कुवन्त ७०  
 कृष्ण १३९, २९४  
 कुशा गीतमो १८४  
 काय १६५, १६८, १६९, ३४८, ४०२,  
 ४०३, ४०४, ४०६, ४६०  
 काय प्रागुण्यम ३८७, ५३५  
 काय-आयतन ४०१, ४६१  
 काय-कर्मजोता (काय कम्मज्जोता)  
 ३८७, ५३५  
 काय गतासति-मुत्त ९७, १०१, १५७  
 कायगता सति २१०, २३१, ५२१  
 कायगतासति भावना २२९  
 कायानुपपत्त्या १४६, ३५५  
 कनिष्क-कालीन ३५५  
 काय-अश्वत्थि (कायपस्सद्धि) ३८७, ५३५  
 काय-मुद्धता (कायमुद्धता) ३८७  
 काया मे कायानुपपत्त्या ४०७

- कायिक आलस्य (वीन-स्थान) ३८८,  
 ३९२  
 कायलघुता ५३५  
 काय-विज्ञान १६५, ३४८, ३८२,  
 ३८३, ४०३, ४०४, ४६१  
 काय-श्रुता (काम्यश्रुता) ३८७  
 काय मुद्रता ५३५  
 कामन्दकी ६४१  
 कारक पुष्प मंजरी ६१३  
 कारिकाटीका ६४१  
 कारसाइकेल लेखरसे (भांडारकर)  
 २८७  
 कारपेटर ११०  
 कारिक ५८०  
 कारिका ६४०  
 कारिकाय टीका ५८१  
 क्रोधवम २१५, २२४  
 काव्य चरितगाथा ५४३  
 काव्य-आख्यान ५८४  
 काव्य ग्रंथ ५८४  
 काकवण्ण तिस्र (लंकाविपति) ५५२  
 कांचीपुर ५१०, ५११, ५३१  
 कात्यायन ७८, १५१, १५५, ६०३,  
 ६१३, देखिये 'आर्य कात्यायन' भी।  
 कात्यायनी १८५  
 काठियावाड़ ६१७  
 काण्ड-विभाग ३५९  
 काबुल ११६  
 कावल (ई० बी०) २७२, २७८  
 काम-ओष ३६६  
 काम आख ४४१  
 कामवानु ४०३, ४१२, ४३५, ४४०  
 काम्बोज ८८  
 काम सुप्त २४१  
 काम-योग ३६७  
 काम-राग १५४  
 काम-लोक ४४५  
 कामावचर ३५८, ३७२, ४१२, ५३५,  
 ५३६  
 कामावच विपाकचित्त (आठ) ३८२  
 कामावचर भूमि ३०२, ३०८, ३७६,  
 ३८०, ३८९, ३९०, ५३६  
 कामावचर भूमि के आठ विपाक-चित्त  
 ३८४-३८५  
 कामावचर भूमि के आठ कुशल चित्त  
 ३७७  
 कामावचर लोक ४६४  
 कामावर्तक ४०६  
 काय ४०२, ४०३, ४०४, ४०६  
 कावेरी ५०४  
 काव्य-ग्रंथ ५४४, ५४५, ५४६  
 काव्य-शास्त्र ५४६  
 कार्तव्य व्याकरण ६०३, ६०४, ६०८  
 कालसी ६३२  
 काल उदायी १८४  
 कालसी (देहरादून जिला) ६१८  
 काली १८५  
 कालाम १८६, १८७, १६५  
 कालाशोक ५८१  
 काल मुमन ३१०  
 काशीराज्य २८७  
 काशी १४५, १५६, २८८, ५६३  
 काशीनागरी ६२६  
 काशी प्रदेश १६२, १७७  
 काशीगाँव २८७  
 काशी-कोसल १४५  
 काश्मीर ८८, ११६, ३५४, ५५७,  
 ५६८, ५७२, ५७४  
 कासिमारवाजमुत्त २१२  
 काश्यपिका ४४८  
 काश्यप (अट्ठकथाकार) ५३२  
 काश्यप १४२, २२५, ४३२  
 काश्यप-वन्धु ३२५  
 काश्यपीय ४२३, ४२४  
 काशिका वृत्ति ६०३, ६०४



काषाण २८२  
 काशिकावृत्ति ६०३, ६०४  
 कारिका ६०१  
 काशिका वृत्ति पालिनी (काशिकावृत्ति  
 पालिनी) ६४१  
 काशारेवत (भिक्षु) २२६  
 कान-जातक ६३५  
 कान्ति-सुत २५, १७, १५६, ३३४  
 कान्तिर-जातक ६३५  
 कान्तिविल २४८  
 किराताकुनीय ५९०  
 किरिया ४०८  
 क्रियामात्र ३८४  
 करणमत ३८४  
 क्रियावित ३७५, ३७६, ३८४, ३८५,  
 ३९०, ४१०, ५३३, ५३६  
 किलेस-संयुत १००, १६७  
 किविल १५२  
 निवधान आष किम मिलित ४३४,  
 ४९२, ४९४  
 किता गेतामी २७०  
 किष्किन्मा-कांड २२२  
 किमोल २४०  
 कीय (ए० बेरीडेल) ८, १४, १६, १८,  
 २४, १२१, १२३, ४८४, ५४६  
 कीर्तिश्री मेघवर्ण (कित्सिरि मेघ-  
 वर्ण) ५३६  
 कीर्ति श्री राजसिंह (कित्सिरि राज-  
 सिंह) ५६५, ६१३  
 कोटागिरि-सुत ९६, १५५, ३२९  
 कुक्कुरवतिक-सुत ९५, १५३, १६०  
 कुक्कुट जातक ६३५  
 कुक्कुटाराम १७७  
 कुदाल-जातक २८२  
 कुदाल पंडित २८२  
 कुटिदूसक जातक २८३  
 कुडधान (भिक्षु) १८३  
 कुडधान (वन) २२८

कुह्न (ई०) १२, १३  
 कुडिया (नगर) २२८  
 कण्ठदीपायन जातक ३००  
 कुणाल २९३  
 कुणाल जातक २८५  
 कुण्ड स्वामी शास्त्री ५२९  
 कुब्जा उत्तरा १८४  
 कामन्दक २९२  
 कुम्भकार जातक २८७  
 कुम्भासपड जातक २८७  
 कुम्भवति जातक  
 कुम्भासिंह २९४  
 कुमार कल्प ५२५  
 कुमार काश्यप १४६, १८३  
 कुमार पञ्च १७९, २०८, २१०  
 कुस (प्रदेश) १४५, १५५, १५९,  
 १९५, १९६, २८६, २९२, ५२४  
 कुररधर १७७, १८५  
 कुसजातक २८७  
 कुरंगमिग जातक २७४, २७८, ६३५  
 कुर्यादिगन्ध ५८०  
 कुरुधम्मचरिय २९९  
 कुरुधम्मजातक २८६, २९९  
 कुरुदो (कुरुन्दिग) ४९७, ५४९, ५७७  
 कुरराजा २८६  
 कुरराष्ट्र २८६  
 कुरुक्षेत्र २१  
 कालिग-जातक २८७  
 कुशजातक २८७  
 कुशल ३५९, ३७३, ३७५, ३७६,  
 ३८६, ४०१, ४०२, ४०४, ४०५,  
 ४०६, ४०७, ४०८, ४१०, ४३७,  
 ४३८, ४४२, ४४३, ४५४, ४६०  
 देखिये 'कुशल' और 'कुशला' भी  
 कुशललिक ३५९  
 कुशलचित्त २८०, ३७६, ३८५, ३८६,  
 ३८७, ३९१, ४३६, ४३९, ५३३,  
 ५३५, ५३६

- कुशलचित्त, कामावचर भूमि के (आठ)  
 ३७७, एकावचर भूमि के (पाँच)  
 ३७८, अरुणावचर भूमि के चार,  
 ३७८, ३७९, लोकोत्तर भूमि के चार  
 ३७९  
 कुशलदि ४०९  
 कुशलविपाकचित्त ५३५  
 कुशल विपाक चित्त (आठ) ३८१  
 कुशल धर्म ४५५, ४६०, ४६१, ४६२  
 कुशल मनो विज्ञान धानु संस्पर्शा ४००  
 कुशल-मूल ३९४, ४४०  
 कुशल विपाक चित्त ३८१  
 कुशल ४०८, ४११  
 कुशला ३६०, ४०१  
 कुशला धर्मा ३०६, ३७७, ३७९  
 कुसावती (कुसावती) २८७, ५६३  
 कुमिनारा (कुशीनारा) १४५, १९६,  
 २८७, ५६३, ५७१, ५७२  
 कूटदन्त १३९  
 कूटदन्त मुत्त १२०, १२८, १३०,  
 १३९, १४०, १७२, १९२, २७६  
 कूटगारशाला ५२५  
 कूटस्थ ४५३  
 कंकय १३, १५  
 कठुय ३५, ३६, ५७  
 कटेलोंग (डे जाँयसा) ५६६, ६१३  
 कंडी (लंका) ६१३  
 केतुमती २८७, ५८६  
 केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया १२  
 केरला ८८  
 केवट्ट १४८  
 केवट्ट-मुत्त ९२, १२०, १४२, १७२  
 केसपुत्त १८६, १९५  
 केसपुत्तिप मुत्त १८६  
 केसियस ए पिरीरा ३४१  
 कोकालिय २४१  
 कोटिशाम १४५  
 कोटिल्य विष्णुमुत्त २९२, २९३  
 कोणामन १४३  
 कौन्-पोन्-सेल्-इस्से-उव ३३२  
 कोरव्य २८६  
 कोरिया ६४४  
 कोलम्बो १७८, ५०५, ५४०, ५६८,  
 ५६९, ६१४,  
 कोलद्वज ६४१  
 कोलध्वज-टोका ६४२  
 कोलिय १५९, १७७, ५७१, ५७४  
 कोलिय पुत्री (मुत्रवाता) २२८  
 कोशल (कोसल-प्रदेश) १२, १४,  
 १७, ८९, ११०, १४५, १५९,  
 १६३, १७६, १७७, १८६,  
 १९५, १९६, २३१, २८६, २८७,  
 २९१, ४९४, ५२४  
 कोशलराज १६२, १७०, १९४, २२८,  
 २३०  
 कोशलराज (प्रयेनजित्) १७०  
 कोशल-मुत्त १९५  
 कोसल संयुत्त ९९, १६२  
 कोसला देवी २८७  
 कौशाम्बिक (निज्) १७३, ३०२  
 कौसल्य २९१  
 कौसम्बिय मुत्त ९५, १५३  
 कोसी २१  
 कौकल्य (कुकुल्य) ३८८, ३९२, ५३५  
 कौनाम्बी (कोसम्बी) ११०, १५३,  
 १५९, १७१, १९६, २३१, २८७  
 ५२५, ५२६, ५३०, ५६३  
 ख  
 खग्गवग्ग-संयुत्त ६३९  
 खग्गवग्ग-संयुत्त-टोका ६३९  
 खग्गविनाण-मुत्त २०५, २३९, २४०  
 खरस्तर-जातक २८२  
 खरोष्ट्री (खरोष्ठी) लिपि १३, २२१  
 खुज्जुत्तरा १८४  
 खुदानुबुद्ध (धुदानुबुद्ध) ३०२, ३०५,  
 ३१४, ३२९, ४८८

खुदक-निकाय १९६-३०१, —के  
 स्वरूप की अनिविधता १९६,  
 —मुत्त-पिटक के अंग के रूप में  
 १९६-१९७, —अभिधम्मपिटक के  
 अन्तर्गत भी १९७-१९८, —के  
 अन्तर्गत अभिधम्म-पिटक भी  
 १९८-१९९, —इसका अभिधाय  
 १९९, —की ग्रन्थ सख्या के  
 विषय में सिंहल, बरमा और सिआम  
 में विभिन्न मत १९९-२००, —  
 के ग्रन्थोंका काल-क्रम २००-  
 २०७, —२, ११३, ११४, ११७,  
 १३१, १७९, ३४३, ३५५, ४९५,  
 ५१३, ५२६, ५३१  
 खुदक-ग्रन्थ १९७  
 खुदकपाठ (सटीक) ६३९  
 खुदक-पाठ ११४, १७९, १९६, २०७,  
 २१४, ४३४, ५१३, ५२६  
 खुदकपाठद्वयका ५७७  
 खुदकसिक्ता ५३२, ५३९, ६१६  
 खुदसिक्ता (धर्मश्री-विरचित) ५७८  
 खुदसिक्ता (अमरुद्ध-विरचित) ५७८  
 खुदकसिक्ता-टीका (गोराण) ६३९, —  
 —अभिलेख ६३९, —स्थविर संघ-  
 रक्षित-कृत ५३८-५३९, —  
 —महापास-कृत ५३९, —वाचि-  
 स्मर-कृत ५४०  
 खुदकवत्तुविभंग ३९७, ४११  
 खुरण-जातक २८९  
 खेतपमापितवधु २४६  
 खेम (अट्ठकथाकार) ५३२, ५७८  
 खेम (ग्रन्थ) ५७८  
 खेमणकरण ५३२, ५३९  
 खेमणकरणस्त टीका ५७९  
 खेमणकरण-टीका ५३९, ६०५  
 खेमा (खेमा, भिक्षुणी) १७०, १८४  
 खोतान २३१  
 खन्ध-आगतन-वातु-कथा ४१२

खत्तक ११४, ३२२, ३२४-३२६  
 खन्ध-सख्या ५०५  
 खण्डगिरि १३, १५  
 खण्डहाल-जातक २९९  
 खन्ध-निर्देशी ५२७  
 खन्धक-मुच्छा ५०४  
 खन्ध-विभंग ३९७, ३९८-४०१  
 खन्ध-वर्ग १६६-१६७  
 खन्ध-संयुक्त १६६, १७६, ३४८  
 क्षान्ति (क्षान्ति) २९९  
 क्षुद्रकागम (खुद्रकागम) ११४, २४०

## ग

गणपाठ ६०८  
 गण-सन्त्र १९५  
 गणतन्त्र-प्रणाली १९५  
 गया १५०, ५०७, ६१८, ६२१  
 गयासीस (पर्वत) २८६  
 गरहित जातक २८४  
 गणकमोमल्लान्त-मुत्त १५३, १५७  
 गृध्रकूट (पर्वत) १२६, १६३, १९५,  
 २६० देखिये 'गि' शब्दकूट भी  
 गृह्पसूत्र १२४  
 गृहस्थ-धर्म १८७  
 गाइड शू दि अभिधम्म पिटक (ज्ञाना-  
 तिलोक) ३४१, ३४५, ३५१,  
 ३५६, ३५७, ४२२, ४२३, ४४३, ४४९  
 गाथा २७७, ४२०, ४२१  
 गामणि ५५२, ५५८  
 गामणि-संयुक्त १६९  
 गाथगर (ज्ञान, विलेख) २, १२,  
 १५, १६, १७, १८, १९, २०,  
 २१, २३, २४, २५, २६, ४२,  
 ४७, ५४, १२१, १३२, १६०,  
 १६१, २७३, ३४१, ३४५, ४७१,  
 ४७७, ४७८, ४९५, ४९६, ४९८,  
 ५२७, ५५०, ५५१, ५५३, ५५४,  
 ५६४, ५६९, ५७५, ५८७, ५८८,

- ५९०, ५९३, ५९४, ५९५, ५९८,  
 ६०५, ६०६, ६०७, ६१०, ६११,  
 ६१३, ६१४  
 गन्ध १६५, १६६, १६९, १९२, ३३०,  
 ३४८, ३८९, ४०२, ४०३, ४०४,  
 ४५९  
 गन्ध-आवतन ४०१, ४५९  
 गंगमाल-जातक २९४  
 गंगा १६४, १७४, १७७, १९५, ५१०  
 गन्धकाचरिय ५७७  
 गण्डतिन्दु-जातक २८७  
 गन्धद्विष्ट ५६६, ६१२  
 गन्धसार ५४०, ५७९  
 गन्धकार (भवन) ५०९  
 ग्रन्थ-वर्ग ३६६  
 ग्रहणात्मक विज्ञान ३८१  
 गण्डाभरण ५८०  
 गन्धाभरण ६१२  
 गन्धाचरिय (ग्रन्थाचार्य) ४९७, ५८०  
 गन्धर्व १६१, १६७  
 गन्धर्व-काय-संयुक्त १६७  
 गन्धर्वस २८०, ४९७, ४९८, ४९९,  
 ५०२, ५०६, ५०७, ५३९, ५४४,  
 ५४८, ५६७, ५६८, ५६९, ५७६-  
 ५८१, ५८७, ५९१, ५९२, ५९३,  
 ५९४, ६०४, ६०५, ६०६, ६०९,  
 ६१०, ६१६  
 गन्धार (गान्धार) १३, १५, ८८,  
 १९५, २८७, ४९४, ५५७, ५६८,  
 ५७२, ५७४  
 गन्धार-जातक २८७  
 गहपति-वग्ग १५३  
 गाथा-जातक २७९  
 गाथा-संस्कृत २२२  
 गांधी (महामा) २१३, ६१७  
 गिहभकूट पर्वत १९५  
 गिरनार (काठियावाड़) १२, १३,  
 १५, २७, ३९, ५३, ५६, ६१८,  
 ६२३, ६२५, ६२६  
 गिरिवत्त-जातक २८२  
 गिरिमानन्द २१२  
 गिरिमानन्द-मुक्त २११  
 गिरिवज्र १७७, २६०, २६१, २६२,  
 ५६३  
 ग्रियर्सन (डा० सर जॉर्ज) १३, १५,  
 १६  
 गिहिविनय (गृह-विनय) १८७,  
 ६२९, ६३२, ६३३  
 गीता २२०, २६४, ५८९  
 ग्रीक २९२  
 ग्रीक प्रभाव ४९३  
 ग्रीक भाषा ४९३  
 ग्रीक राजा (मिलिन्द) ४८१  
 ग्रीक-शासन ४७४  
 ग्रीक ज्ञान ४८१, ४९३  
 ग्रीस (यूनान) ६२२  
 गुजरात (प्रदेश) १२, ५५१  
 गुजराती १२  
 गुजरात-पुरातत्व-मन्दिर ६१५  
 गुण-जातक २८२  
 गुणरत्न (ई० आर०) ४१२, ५८७,  
 ५९४, ५९५  
 गुणसागर (ग्रन्थकार) ५८०  
 गुणभद्र ११३, ३५६  
 गुन्दावन (मयुरा में) ११५  
 गुप्ता (भिक्षुणी) २७०  
 गुफा-लेख (तीन) ६१८  
 गुरु-धर्म ३०५, ३२१  
 गुलिस्सानी १५५  
 गुलिस्सानी-मुत्तान्त १५५, ३३४  
 गृहदूतक २४१  
 गृहत्वटीक ५८१  
 गेटे (जर्मन कवि-दार्शनिक) ६४६  
 ग्रे (जेम्स) ५६६  
 गीतम (गीतम) १२६, १४०, १४३,  
 १६०, १७६, १९३, १९४, २४५



गोकुलिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४२२.

४२३, ४२४, ४२५, ४३०, ४४७

गोतमी (मिथुणी) २७०

गोत्रवाद-व्यवन १३८

गोदावरी (नदी) २४१

गोध-जातक २७४

गोपक ब्राह्मण १५७

गोपक-मोगल्लात-मुत्त ९७, १५७,

३०५, ३२४

गोपालक-मुत्त ५०९

गोबुध-रित्नु ३११, ३१९, ३३२

गोसिग जालवन् १५२

गोस्वामी तुलसीदास २५२, २५३

गौतम संघदेव (मिज़) ११३, ३५४

घ

घटक-जातक २१४

घटिकार-मुत्त १६, १५५, २७५

घ्राण १६५, १६७, १६८, १६९,

३३०, ३४८, ४०२, ४०३, ४०४,

४०६, ४३५, ४४०

घ्राण-आयतन ४०१

घ्राण-विज्ञान ३४८, ३८१, ३८२,

४०३, ४०४, ४६१

घ्राण-संस्पर्शजा ४००

घोटमुख १५९

घोटमुख - मुत्त १६, १५६

घोष स्पर्श १९, २०, ३२, ३४, ३५,

५४, ५७, ५८,

घोषिताराम ५२४

च

चक्रवर्ति - श्रीहृनाद - मुत्त १२९,

१४७, ५८६

चक्रवर्ती की दाह-विद्या १४४

चतुष्क - निपात १०१, १७८,

१८०, १८१, १८६, १९०

चत्थपयोग ६४१

चतुक्-यंच-छ-निपात-जातक-अट्ठकथा ६४०

चतुरार्य सत्य ४४५, देखिये 'चार आर्य सत्य' भी ।

चत्तारो पुग्गला ३४२

चतुष्क ३९२

चतुष्क - निपात १७८, १८७, ३३२, ३४२

चतुष्क-निपात (अंगुत्तर) ६२९, ६३९

चतुर्थसारत्त्व-मंजूसा ५३८

चतुर्थ ध्यान ४१०

चतुर्थ विपाक-चित्त ३८३

चतुसामणेर सत्त्व ५४४

चतुर्वंश शिलालेख (अशोक के) ६१८

चन्द्रगुप्त (चन्द्रगुप्त) २३९, ५६२

चन्द्रगोमिन् ६०८

चन्द्रकीर्ति ४२३

चन्द्रकुमार जातक २९९

चन्द्रपरित-मुत्त २११

चन्दा (मिथुणी) २६५, २६८, ६२५

चन्द्रपञ्चिका ६४१

चम्पेय्य जातक २०६, २८७, ३००

चम्पा १३९, १५९, ५६३

चम्पा नगर १३९

चम्म सतक जातक ६३५

चम्पेय्यनागचरियं ३००

चम्मापुर १३९

चरियापिटक १०२, १०७, ११४,

१९७, १९८, २००, २०१, २९८-

३०१, ५३०, ५४९, ५७७

चरियापिटक-अट्ठकथा ६४०

चलिन्द पञ्चिका ६४१

चलु १६५, १६७, ३३०, ४०३,

४०४, ४०६, ४३८, ४४०, ४४९,

४५०

चक्षु-आयतन ४०१, ४०२, ४१५,

४६१, ४६२

चक्षु-चातु ४१५  
 चक्षुस्पर्श ४००  
 चक्षु-विज्ञान १६५, ३४८, ३८१,  
 ३८२, ३९८, ४००, ४०३, ४०४,  
 ४४०, ४४४, ४५९, ४६२  
 चक्रदास ३४१  
 चक्रि १५९  
 चक्रि - सुत ९१, १२७, १३०,  
 १५६  
 चण्डाशोक ६१९  
 चातुर्वर्णी शुद्धि ३३२  
 चाणक्य (चणक) ५६२  
 चार अरुपावचर विपाक-चित्त ३८३  
 चार आर्य सत्य १५१, १७२, १७३,  
 २०८, ४०५, ४२०, ४२१, ४३३,  
 ५३५  
 चार आहार १८१  
 चार आवासन १८७  
 चार आर्य-आवक ४१८  
 चार आर्य-भाग ४३३  
 चार ऋद्धिपाद १७१, ४९०  
 चार पाराजिक धम्मा ३१५  
 चार महान्त ३४०, ४३४, ४४०,  
 ४६३  
 चार मार्ग-फल ४३२  
 चान्द्र ६१३  
 चार प्रतिसंविद् ४११  
 चार योग १८१  
 चार वैशारद्य १५०  
 चार लोकोत्तर विपाक-चित्त ३८३  
 चाला (मिलुणी) २६८  
 चार स्मृति-ग्रन्थान १७०, ३०३,  
 चार स्कन्ध ४१५, ४१६  
 चार सम्यक् प्रधान १८०, ४२०  
 चार समाधि १८१  
 चातमा १५४  
 चातुम - सुत १५, १५४  
 चातुर्वर्ग संवर १५५

चार ज्ञान १८१  
 चार आमण्य-फल १८  
 चुल्ल वग्ग १८९  
 चापा २६९, २७१  
 चार ध्यान १६९, ४०९, ४१०  
 चाल्सं इरोयिमिल ५९२, ५९३,  
 ५९४  
 चालिय पवंत ५२५, ५२६  
 चाल्सं इलियट ३३७  
 चाइल्डर्स (आर० सी०) १५, १६, ३५१  
 चित्त १७१, ३०६, ३५९, ३७४,  
 ३८२, ३८५, ४१२, ४३४, ४३५,  
 ४३८, ४५१, ४५९, ४६०, ४६२,  
 ४६३, ५०५, ५३३  
 चिन्तामयी प्रज्ञा ४११, ४६८  
 चित्त कर्मजता ५३५  
 चित्त की शून्यता का योग १५७  
 चित्त प्राणुष्य ३८७, ५३५  
 चित्त-ऋजुता ३८७, ५३५  
 चित्वा (मिलुणी) २६८  
 चित्तुप्पाद-कंड ३७३, ३९३  
 चित्त गृहपति १८३, १८४  
 चित्त प्रथमवि ३८७, ५३५  
 चित्तमें चित्तानुपस्थिति होना १७०, ४०७  
 चित्त-मुदिता ३९०, ५३५  
 चित्त-यमक ४५१  
 चित्तवग्ग २१५, २२१, २२३  
 चित्त विभेद ३८६  
 चित्त-लघुता ५३५  
 चित्तलतावग्ग २४५  
 चित्त संयोजन ४२९  
 चित्त-संपुल १७०, १६२  
 चित्त की चार भूमियाँ ३७४  
 चित्तानुपस्थिता १४६  
 चित्त-संतति ४३८  
 चित्त-समाधि ४०८  
 चीन देश ३०८, ३३२, ३३६, ४९४,  
 ४९९, ६४४

- चीन राष्ट्र ५७८, ४८२  
 चीनी ११३, ११६, ११७, ३११,  
 ३१२, ३१४, ३३३, ४४९  
 चीनी अनुवाद १२९, २०३, २२२,  
 २२३, २२४, ३५४, ३५६, ३५७,  
 ४७७, ४७९,  
 चीनी परम्परा ३५६, ३५७  
 चीनी बौद्ध संप्रदाय ३१४  
 चीनी भाषा ११३, ३१२, ३५३,  
 ३५५, ४७८  
 चीनी दीर्घायम १३३  
 चीनी बौद्ध साहित्य ११६  
 चीनी विनय पिटक ३१३, ३१८  
 चीनी जागम २००  
 चीवरो (ग्रन्थकार) ५८०  
 चूलकर्णिक जातक २८७  
 चूल धम्मपालो ५७८, देखिये 'चूल  
 धम्मपाल' भी  
 चूल निददेस १०७, २७६ देखिये  
 'चूल निददेस' भी  
 चूल निरुत्तिगन्ध ५७७, ६०४  
 चूल पन्थक १८१  
 चून् १४४, २३१, २४०  
 चून्-मुत्त १२२  
 चूल बद्धघोसा ५७९  
 चून् समणुद्देस १७४  
 चून् परित्त मुत्त २११  
 चूल वज्जिरो ५७८  
 चूलवग्ग १७३, २१३, २०१, २२५,  
 २२६, २७६, ३००, ३२२, ३२४,  
 ३२५, ३२६, ३३८, ३४०  
 चूलवस ५७८, देखिये 'चूलवस' भी  
 चूलवग्ग (विनय पिटक) २१, ५५०,  
 ५६८  
 चूल सद्दीति ६११  
 चूह-वि-उर्ध्व २२२  
 चूल अमय ३१०  
 चूल अम्मापुर मुत्त-१५२  
 चूल गोपालक-मुत्त १५२  
 चूल कम्म विभंग-मुत्त ९८, १५८  
 चूल गोसिग-मुत्त ९४, १५२  
 चूल दुक्खसङ्ख-मुत्त ९३, १५१  
 चूलगण ६४०  
 चूलदेव ३१०  
 चूल (चूल) धम्मपाल ५३२, ५३९,  
 ५४०  
 चूल धम्मसमादान-मुत्त ९५, १५२  
 चूल सङ्घासङ्ख-मुत्त ९४, १५२  
 चूल निददेस अट्ठकथा ६४०  
 चूलनिरुत्ति ६४०  
 चूलनिरुत्ति मञ्जुसा ६४१  
 चूलनाग ३१०  
 चूल-निददेस १९७, २९७, ६४०  
 चूल पञ्चरी ४९८, ५४९  
 चूल पुण्णम-मुत्त ९३, १५७  
 चू-फानेन ११३  
 चूलबोधिचरिय ३०७  
 चूल मालव-मुत्त ९५, १३०, १५४,  
 १७०  
 चूलवमणितार ६४२  
 चूलवमक वग्ग ९४-९५, १५२, १५३  
 चूलराहुलोवाद मुत्त ९८, १५८  
 चूलवस २७, १०९, ५०६, ५४१,  
 ५४८, ५५४, ५६४-५६५, ५६७,  
 ६०४  
 चूल वेदल-मुत्त ९५, १५२,  
 चूल सन्धक-मुत्त ९४, १५१  
 चूल वग्ग २३०, २४०  
 चूल सारोपम-मुत्त ९४, १५१  
 चूल सीहनाद-मुत्त १५०  
 चूल विग्रह २४१  
 चूल मङ्गुलदायि-मुत्त—१६, १५५  
 चूल-मुग्धाता-मुत्त ९३, १५७  
 चूल सन्धिबिषोषन ६४०  
 चूल हत्थिपदीपम-मुत्त ९४, १२९,  
 १५१, १७२, ४०९

चेतसिक (चेतसिका घम्मा) ३५९,  
३७३, ३७८, ३७८, ३८६, ४३७,  
४५९, ४६२, ४६३, ५०५,  
५३३,—की परिभाषा ५३४,  
५३५

चेतना ३०६, ३८६, ४१५, ५३४

चेतिद्विनेमि परिभाषा ६४१

चेतियवादी ४२२, ४२३

चेति (चेदि) १४५, १९५, २८८

चेतोखिल-सुत्त १५१

चेत्य पर्वत विहार ५५८

चेत्यवादी ८२३

चेतिय गिरि विहार ५६९

चोल-राज्य ५०३

## छ

छ-अनुस्मति-निर्देशो १७८, ५२०

छक्क-निपात १०१, १८८

छकेसवातुबंस ५४४, ५४८, ५७६

छगतिदीपनी ६४०

छछक्क-सुत्त ९८, १५८

छन्द (छन्दन्त) जातक २८५, ६३५

छन्द १७१, ३८७, ४६०, ५३४, ५३५

छन्द शास्त्र ५३७, ५४६

छन्दन्तिय जातक ६३५

छन्दस् (वृत्ति) ६४१

छन्दस् २२, २५, २९

छन्द वृत्ति (वृत्ति) ६४१

छन्द समाधि ४०८

छन्दोग ब्राह्मण १४२, २९१

छन्दावा ब्राह्मण १४२, २९१

छय १५८, ५२७

छयोवाद सुत्त ९८, १५८

छव्विसोवन-सुत्त ९७, १५७

छन्नगरिक ४२२, ४२३, ४२४

छपद (सङ्गम जोतिपाल) ५३८,

५४०, ६०४

छन्दोविचिन्ति ६१६, ६४१

छन्दाधिपति ४६०

छसतनिपात-संगत्तर ६३९

छह आपतन १८२, ३४८, ४५५

छह इन्द्रिय ४०३

छह बुद्ध १४३

छान्दीय-उपनिषद् २९०, ४६४, ४४७

## ज

जगदीश काश्यप (मिन्नु) ४, ६, ७,

१६, २५, २७, ७०, ७५, १२८,

१३४, १६०, २०७, २१०, २३१,

२३५, २३६, २४४, २४१, ३४१,

३४२, ३४५, ३४७, ३५१, ३६१,

३९३, ५१६, ५१७, ५३३, ५४५,

६०८, ६१०, ६१३

जगती (छन्द) २३६

जटिल काश्यप ३२५

जतिग रामेश्वर (मैसूर राज्य) ६१८

जतुकाणि मागवपुच्छा २४१

जतपदकल्पाणो १३०, १४३

जत-तन्त्र २८९

जनक (राजा) २९३

जनकसम-सुत्त १४५

जनीको राजा जातक ६३५

जनपद-निष्कित २५, २६

जम्बूखादक १६६

जम्बूखादक-सप्त १००, १६९

जम्बूध्वज (जम्बूध्वज) ६१२

जम्बूद्वीप (जम्बूद्वीपो) २८५, ३१०,

३३६, ४८१, ५०२, ५५८, ५८६,

५९८

जम्बूकोल ५५६

जयाहिस जातक २८७, २९३, ३००

जयाहिस चरियं ३००

जयन्त पुरोहितपुत्र २७०

ज्योतिपाल (स्वविर) ५११, ५२४

ज्योतिषी और अली बुद्धिम (लाहा)

२८८, २८९



- जनेल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी  
 ३, १०१, १९९, २०१, ३५४,  
 ३५५, ४२२, ४८४, ४८५, ४८६,  
 ४८७, ४८८, ४९२, ४९३, ४९४,  
 ४९५, ४९६, ४९७, ४९८,  
 ५५०, ५६७, ५७५, ६०१, ६०४,  
 ६०५, ६०६, ६२८  
 जनेल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी  
 २०४, २८९, ४२२, ४४९, ४७१,  
 ५७६, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१  
 जनेल एशियाटिक ६३१  
 जरा २४१, ४३५, ५४५  
 जरा बग २१५, २१७, २२४  
 जर्मन भाषा ४१८  
 जरा-मुत्त १७३  
 जल-धानु ४०३  
 जहागीरदार ८  
 जंकदासस टीका ५८०  
 जातक ७१, १०२, १०४, १०६, १०७,  
 ११३, ११७, १४५, १९६, १९७,  
 २००, २०१, २७२-२९७, ५२६,  
 ५२७, ५२८, ५४२, ५४३, ५४९,  
 ५९२, ५९३, ५९६, ५९८, ५९९,  
 ६००, ६३५  
 जातक टठकथा २८१, ६००  
 जातकटठकथाय लीमतथ पकामिनी  
 नाम टीका ५७८  
 जातक-कथा २७५  
 जातक की निदान कथा २७५  
 जातक गाथाए २९४  
 जातक गंठि ६४१  
 जातकगी निदान ५६९  
 जातक कथानक १३९  
 जातक-टीका ६४०  
 जातक निस्तव ६४१  
 जातकटठवणता २७८, ५१३, ५२७-  
 ५२८, ५७७  
 जातक विसोधन ५४२, ५८०  
 जातक सामग्री २९०  
 जाति १६५  
 जातिवाद १३८, १३९, १५६  
 जात्यन्व वर्ग २२६, २३०  
 जापान ३३१, ३३२ ६४४,  
 जालिय १४०  
 जालिय-मुत्त १४०  
 जावा २९०, २९४  
 जानुस्सोणि १४९  
 जिनचरित ५४०, ५७९, ५८४,  
 ५९२-९४, ६०९,  
 जिनकिजय (मुनि) ६१५  
 जिनालंकार ५४१, ५८४, ५९१-५९२  
 जिह्वा १६७, ३३०, ३४८, ४०१,  
 ४०२, ४०३, ४०४, ४३५, ४४०,  
 ४६०  
 जिह्वा आपतन ४०१  
 जिह्वाविज्ञान ३८३, ३४८, ४०३,  
 ४०६, ४६१  
 जीव ४२८  
 जीवक कौमार भूत्व १८४, ३२५, ५२३  
 जीवितनिद्रय ३८६, ४०६, ५३०  
 जीवक-मुत्त १५३  
 जुजु-रित्सु ३११, ३३२  
 जुगुप्सु १९४  
 जेम्स एल्विस १५, १६  
 जेम्स ये ५०२, ५१२, ५११  
 जे० लेग २०४  
 जेल्टी (मिश्रणी) २६९  
 जेतवन (आराम) १२६, १८३, १८८,  
 १९५, २२६, २२७, २३०, २८१,  
 ५०५, ५२६, ५६३, —का नाम  
 १७३, ३२५  
 जेतवन-विहार (लंका) ६१६  
 जेकोर्वा (हरमन) ७७  
 जैन आगम ३३  
 जैन्-कैन्-रौन् ३१२  
 जैन दर्शन १२९

जैन धर्म १७६

जैन साहित्य २३०

जैन सूत्र १८

जौगड (मद्रास राज्य) २६, ५५, ६१८  
६२१, ६२२, ६२३, ६२७

झ

ज्ञान विभाग ३१७, ४०९-४१०

ज्ञान-संयुक्त १००, १०१, १२९, १७१

ञ

जाणदस्तनविसुद्धिनिहेमो ५२२

जाणविलास (ज्ञानविलास, भिक्षु)  
६०७

जाण-विभाग ४११

जाण सागर (ज्ञान सागर, ग्रन्थकार)  
५८०

जाणाभिवस (ज्ञानाभिवस) संघराज  
५४३, ५४४

जाणिस्सर (ज्ञानेश्वर, समस्तकूट-  
वर्णना के सिंहली संस्करण के  
सम्पादक) ५९८

ज्योत्यासन्दति ५८१

ज्योत्यासन्दतिय टीका ५८१

ज्योतीदय (ज्ञानोदय) ५०७, ५१४,  
५२९

ट

ट्रांजैक्शन ऑव दि एसियाटिक सोसा-  
यटी ऑव जापान २००

टीका-साहित्य ५०५, ५३७-५४६

टीकाओं का संग १०९

टलर (ए० सी०) ४२१

टूकनर (बी०) ४७२

टोपरा (अम्बाला के पास) ६१८

ड

डायलॉग ऑव दि बुड १३१, २८७

डे डॉयस ५६६, ६१३

डेडिगनेश ऑव दि ह्यूमन टाइम ४१८

ड

डालको (पॉल, डा०) १४९

ण

ण्वादि पाठ ६०८

त

तकाकुसु (डा०) ३५४, ३५५, ३५६

तक्काल ४९४

तच्छसुकर जातक २८७

तण्डुलनालि जातक २८७

तण्हा-वग्ग २१५, २१६, २२१, २२४

तण्डि (दण्डी) ६४१

तण्डि-टीका ६४१

तस्वावतार ६४२

तस्वावतार-टीका ६४२

तत्पाणीयसिक ३१९-३२०

ततिय सारत्त्वमंजुसा ५३८

तुतीय संगीति १२३, ३३२, ३४१

तुतीय ध्यान ४०९, ४१०

तत्तिरीय ब्राह्मण १४२

ततिय परमत्त्वपण्कामिनी ५३८

तघता ४४४

तथागत ११, २५, २६, ७२, ७४, ८०,

१०३, १३१, १४०, १४४, १४५,

१५०, १५३, १६३, १७०, १७३,

१७४, १७५, १८९, २६२, ३३१,

३३२, ३३६, ४३१, ४५४, ४८८,

४८९, ५२३, ५२५, ५७१, ५७३,

५८३, ६२५, ६३६, ६३७, ६४६

तथागत-प्रवेदित-धर्म-विनय १४३,

१८९, १९३, ३२९

तथागतपुत्ति ६४०

तथागतपुत्तिपण्करण ५८१

तनोगबुद्धि ६४१

तपस्वी १९४

तपस्सु १८८, ३०३, ३२५

तम्बपणि वीण (ताम्रपणी द्वीप-नका)

८९, ३१०, ५७२, ५७३

तुरानी ३३१  
 तुष्णा १६५, ३५५, ४५४, ४५५  
 तत्र ५  
 तत्र मध्यस्वता (तत्र-मञ्जता) ३८७  
 तयो पुगला ३४२  
 तजणिला १६, २८७, २९१, ५६३  
 तामिल प्रदेश ५३१  
 तालपुट (स्वविर) २६१, -के उद्गार २५२  
 तालव्य संयुक्त व्यंजन ६७  
 तालव्यीकरण ६६-६७  
 तालव्य स्पर्श ३५, ३६, ५६, ५७, ६०  
 तिक (विक) ३५९, ३९३, ३९६, ३९८, ४०१, ४५६, ४५७  
 तिक निपात २५, १०१, १८१, १८५, २३२, ३४२, ६३०  
 तिक पट्टान ४५२  
 तिक-दुक पट्टान ८५६  
 तिक-तिक पट्टान ४५७  
 तिक-निपात-जातक-अट्टकाथा ६४०  
 तिक-पट्टान ६३९  
 लिपिकालकार ५४३, ६००  
 लिपिजातक २७६  
 लिखगाम (लंका) ६०९  
 लिखत ८५, ३१३, ३३२, ६४४  
 लिखती (श्रुतवाद, भाषा, परम्परा, बौद्धधर्म आदि) ११०, ११३, २२२, ३१३, ३१४, ३५७, ३३२, ४४०  
 लिख्यती दुल्ल ८०  
 लिख्यती २७६  
 लिख्यती २०१  
 लिख्यती (विलोकात्मक) ५४३  
 लिख्यती जातक २८८  
 लिख्य (लिख्य) १६६, ३०६, ३१०  
 लिख्य स्वविर ३१०  
 लिख्य-धामधोर ५२३  
 लिख्य (बरमी राजा) ५८८

लिख्यमेव २४१  
 लिख्यमेवमाणवपुच्छा २४१  
 तीन-स्कोष ४१७  
 तीन वेदताएँ २०८  
 तीन सयोजन ४१९  
 तीन वेद ४८१  
 तीन लोकोत्तर इन्द्रिय ४०६  
 तीपुक्खल ४६९  
 तीस निस्तमिग्या पाचिनिवा धम्मा ३१७-३१८  
 तुफान २२२  
 तुम्ह ८९  
 तुवटक (तुवटक)-सुत २४१, ६२९  
 तुमित (लोक) ५५९, ५७६  
 तज-धातु ४०३  
 तेषिटक बुद्धवचन १०४, ३३८, ४६५, ८८१, ८८७, ४९३, ५८३, ६३५  
 तेमिय जातक ३००  
 तेरसकण्ठ टीका ६३९  
 तेलकदाहगाथा ५४२, ५८४, ५८७-५९१  
 तेलपत जातक २८७  
 तेलगु प्रदेश ५१०  
 तेमिवचरिय ३००  
 तेमिज्ज वच्छगोत-सुत ९६, १५५, १५९  
 तेमिज्ज सुत ९२, १२७, १३०, १४२, १४३, २९१  
 तोदेयमाणवपुच्छा २४१  
 तौगदिन (बरमा में प्राप्त) ६३८  
 तौत्तरीय ब्राह्मण २९१  
 तौचिक १५१  
 तौचिकमाता (तौचिमाता) ६४१  
 तौचिक १, २, ३, ४, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २६, २८, ३०, ७१, ७३, ७४, ७५, ८२, ९०, १०३, १०४, १०६, १०८, ११९, १२८, १३२, १३१, १३२, २००, २१२, २२०, २७८,

द

२८९, २९६, ३००, ३०२, ३०८,  
३२७, ३३४, ३३७, ३३९, ४५४,  
४६६, ४७२, ४८७, ४९४, ५००,  
५०१, ५०२, ५०७, ५२९, ५४०,  
५४९, ५५२, ५६०, ५६३, ५६४,  
५७६, ५७७, ५८३, ५८५, ६०१,  
६०२, ६११, ६२०, ६२८, ६३१,  
६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३७,  
६३८ देखिये 'पालि विपिटक' की

विपिटक-गत २७९

त्रिविजमसते कुरुरद्वे २८६

त्रिदश-वज्र १४०

त्रिष्टुभ २३६

त्रैविद्य बाह्याण १४७

थ

धनु-व्यन्-टीका ६४०

धन-मस १७५, ६२४

धामस (ई० जे०) ८, २६

धामस (एफ० डब्ल्यू) २८५

धूलकोटित १५५, १५९

धून २८६

धूपवस ५४०, ५४८, ५६९-५७४,

५७५, ५७६, ५८१, ६४०

धूपाराम ५६३, ६०८, ६१६

धेर-अपदान २९८

धेरगाथा १०२, १०६, १०७, ११४,

११७, १७९, २३९, २४६-२६४,

५३१, ६४०,

धेरगाथा-अट्टकथा ५७८

धेरवाद (स्थविरवाद) ४२२ देखिये

'स्थविरवाद' भी

धेरवादी ४२२, ४२३

धेरी-अपदान २०६, २९८

धेरीगाथा १०६, १०७, ११४, १७९,

१९६, १९७, २००, २४६-२७२,

धेरगाथा के साथ तुलना २४७,

२६९-२७२; ३४९, ५३१, ६४०

दशसप्त-जातक २७५

दक्षिणाविमंग-सुत्त ९८, १५८, ५००

दंडकवन २८७

दण्डकारण्य १५९, २९३

दंडि-टीका ६४२

दण्डी ३१, ४९२

दंड-वग्ग २१५, २१७; २२३

दन्तभूमि-सुत्त ९८, १५७

दन्तधातु पत्तकरण ५७९

दन्तधातुवंस ५७५

दन्त्य (पार्श्व) ३५, ३६, ५५, ५६, ५७,

५९, ६०

दमिल ५५२, ५७३, ५७४

दम्बपुष्प जातक ६३५

दम्ब मल्लपुत्त १८३, २२६, २३१

दम्ब (द्रव्य) गुण ६४१

दम्ब- (द्रव्य) गुण-टीका ६४२

द्रव्य-यज्ञ १६०

दृष्ट ३५५

दृष्टि ३५५, ५३५

दृष्टि-आसव ४४१

दृष्टि-आश ३६६

दृष्टिगत-युक्ता ३८०

दृष्टिगत-विप्रयुक्त ३८०

दृष्टि-जाल १३५

दृष्टि-योग ३६७

दृष्टिमाकार २००

दशान-विग्गशान (राहुल सांक्रियायन)

१४२, ४२७, ४८४

दश-संज्ञा-सूत्र २१२

दस अव्याकृत १७०

दस-आयतन ४०२, ४०४, ४१७

दस-एकादस-निपात-अंगुत्तर ६३९

दस-एकादस-निपात-जातक-ट्टकथा ६४०

दसक निपात १८२

दस गच्छिक्कणना ५८०



दस तथागत बल १८२  
 दस द्वार ३५५  
 दस-धम्म-सुत्त २११  
 दस धातुएँ ४०४, ४१७  
 दसक निपात (अंगुत्तर निकाय) ६२९  
 दस पारमिता २०५, २७३, २९९  
 दसबल १५०, ४३१  
 दस भावी बुद्ध ५८५  
 दसरथ जातक २९३, ६३५  
 दस संयोजन ४३६  
 दस सिक्तापद २०७  
 दसवत्थु ६४०  
 दसुत्तर-सुत्त ९३, १४८, १७९, १८१,  
 २१०, ३३४, ३४०, ६२९  
 दक्षिण देश १३९  
 दक्षिणापथ २८७, ५२४  
 दक्षिण-पूर्वी एशिया २९४  
 दक्षिण भारत ५५१, ५५२  
 दन्त्य स्पर्श  
 दाठाधातुवंस ६४०, ६८१  
 दाठाधातुवंस टीका ६४०, ६८१  
 दाठानाग (संघस्वविर) ५२३, ६०४  
 दाठावस ५४०, ५४८, ५७५, ५७६  
 दानपारमिता २९४, २९९  
 दान-यज्ञ १४०  
 दासक (मिश्र) ३१०, ३३६, ५६२  
 दाविणात्य (प्राकृत) ३१  
 दांति (इतालियन कवि) २९७  
 दि खमिधर्म लिटरेचर ऑव दि सर्वा-  
 स्तिवादिन्स (तकाकुसु) ३५४  
 द्वारका २९४  
 द्वाभतानुपससना २४१  
 दिव्यधोत्र ५२१  
 दिङ्नाग ४६४  
 दि डैजिंग-नेशन ऑव ह्यूमन टाइम्स  
 देखिए 'डैजिंग-नेशन ऑव ह्यूमन  
 टाइम्स'  
 दिट्ठि-संघुत्त १००

द्विक ३९६, ४५६, ४५७  
 द्वितीय ध्यान १६६, ३४१, ४०९,  
 ४१०, ४४३  
 द्वितीय संगीति ११०, ११८, ३४१,  
 ३४८  
 दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा  
 देखिये 'पालि लिटरेचर ऑव बरमा'  
 दि पालि लिटरेचर ऑव मिलोन  
 देखिए 'पालि लिटरेचर ऑव मिलोन'  
 दि लो ऑव मोरा ४२  
 दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धधोत्र  
 (लाहा) ४९९, ५१२, ५१३,  
 ५१३, ५२९, ५६६, ६०१  
 दिव्यावदान ६२०  
 दि सैकट्स ऑव दि बुद्धिस्ट्स ४२२  
 दि होम ऑव लिटरेरी पालि (प्रियमन  
 का लेख) १६  
 दीघ-निकाय (दीघ) १०२, १०७,  
 ११३, १२२, १२६, १३२-१४८,  
 १५२, १७९, २०२, २१०, २१३,  
 २७५, ३४०, ३५७, ४९७, ५१५,  
 ५२४, ५४३, ५६७, ५८६, ६२९,  
 ६३२, ६३३, ६३७, ६४९  
 दीघ निकाय की अट्ठकथा ५१३, ५२३-  
 ५२४, ५३८  
 दीघनख (परिवाजक) १५५, १५९  
 दीघनख-सुत्त ९६, १५५  
 दीर्घलम्बक २१२  
 दीर्घसन्द (सेनापति) ५५४  
 दीर्घ स्वविर ३१०  
 दीर्घ सुमन ३१०  
 दीर्घ-भाणक २०२  
 दीर्घाग ११३  
 दीप ३२६, ३७७  
 दीपवंस २, ३, १०४, १०५, १०९,  
 ३५२, ४२२, ४४९, ४९६, ४९९,  
 ५००, ५६८, ५६९, ५७०, ५७२,  
 ५७३, ५८१, ६२०, ६२४, ६४०

दीपवंस और महावंस की तुलना  
५४८, ५५३, ५५४, ५५५-५६०

दीपवंस और महावंस इतिहास में  
क्या ? ५६०-५६४

दीपिका ५५४

दीपंकर (बुद्ध) ५६९

दीपंकर (रूपसिद्धिपकरण के लेखक)  
५७८

दीपंकर (दिनालेकार के सम्पादक  
सिंहली मिश्र) ५९१

दीपवंस गुरु महावंस (गायनर)  
५६९

दुक ३५९, ३६३

दुक-पट्टान ४५२, ४५६, ६३९

दुक-तिक-पट्टान ४५६, ६३९

दुक-तिक-चतु क-निपात-अंगुत्तर-  
अट्ठकथा ६३९

दुक-निपात १०१, १७८, २३२

दुक-निपात-जातक-अट्ठकथा ६४०

दुःख आर्य-सत्य ४०५, ६३८, ४४२,  
४४७

दुःख-निरोध आर्य-सत्य १७२, ४०५

दुःख-समुदय आर्य-सत्य १७२, ४२९

दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् १७२

दुःखेन्द्रिय ३९३, ४००

दुःख-धातु ४०३

दुट्ठगामाणि (लंकाधिराज) ५५२, ५५३

५५८, ५५९, ५६१, ५६५,

५७०, ५७२, ५७३, ५७४, ५७६,

दुट्ठक २४१

दुतिय परमत्थण्णकासिनी ५३८

दुतियन्सारत्थमंजुसा ५३८

दुग्गेध-जातक २८, २९४

दुग्गजातक-अट्ठकथा ६४०

दुग्गंख जातक २८७

दुष्कृत अपराध २२, २१३

दुग्गिय-मक्कट जातक ६३५

देव (सुभट्टकूटवण्णना) ५७९

देवता-संयुत ९९, १६१, १६२, १६३

देवदत्त १५१, २७८

देवदत्त-वग्ग १५६

देवदत्त-मुत्त १५६, १५७

देवदत्त १७७

देवदत्त-मुत्त ९७, ९८, १२९

देवावितक्क-मुत्त ९४, १२९, १५१,  
१७२

देवधम्म-जातक २८८, २९३

देवमिस्स (मोमाल्लान-व्याकरण के  
संपादक, सिंहली मिश्र) ५९४,  
६०९

देवरत्नित (सिंहली मिश्र) ५६५,  
५९७

देव स्थाविर ३१०

देवशर्मा (स्थाविर) ३५३

देवानं पिय तिसस ५५१, ५५६, ५५६,  
५५८, ५६१, ५७१, ५७३, ६४५

द्वेष (दोस) ३७४

दंसना-नियम ३०९

देवामुर-संश्राम १६९

दंघवादी १३७

दो आयतन ४१५

द्रोपदी २९४

दीर्घमत्त-इन्द्रिय ४००

दीर्घमत्त-धातु ४०३

ध

धज्ज-मुत्त २११

धजविदेह २८७

धनंजय २८६

धनिय २४०

धनिय गोप २३७

धनिय-मुत्त २३७, २५५

धम्मकापिक ६३४

धम्मकित्ति ५९४

धम्मकित्ति महासाभि (धम्मकीर्ति

- महास्वामी—चौदहवीं शताब्दी के  
सिंहली भिक्षु 'सद्धम्म संगह' के  
रचयिता) ५४१, ५६८
- धम्मकित्ति महाधरे (सारिपुत्त के शिष्य,  
तेरहवीं शताब्दी का आदि भाग)  
५३८, ५४०, ५७५
- धम्मकित्ति (दन्तघातुपकरण) ५७९
- धम्मकित्ति महासामि (बालावतार  
और सद्धम्मसंगह के रचयिता) ६०५
- धम्मकित्ति (महावंस के परिवर्द्धन  
कर्ता, तेरहवीं शताब्दी का मध्य  
भाग) ५०६, ५२८, ५४१, ५६४,  
५६७
- धम्मगुत्तिक (बौद्ध संप्रदाय) ३०८,  
३११, ३१२, ३१८, ४१२, ४२३
- धम्मचक्क-टीका ६४०
- धम्मचेतिय-मुत्त ९६, १५६, १६०
- धम्मचक्कपवत्तन-मुत्त ११८, १७२,  
१८७, २११, ३०१, ५७०, ६२९,  
६३६, ६४०
- धम्मदस्सी सामणेरे ६१२
- धम्म ३२७, ३३२, ३३४,  
३३५, ३३६, ३३९, ३४६, ३४८,  
३४९, ४२०, ४९२, ५५०
- धम्म-नगर ४९०
- धम्मदायाद-मुत्त ८०, ९३, १४९,  
१५५, १५८
- धम्म-दीप १७४
- धम्मपालिवाय १११
- धम्मदान ६४०
- धम्मपटिसम्भवा ४११
- धम्मदिग्धा (भिक्षुणी) १५२, १८४,  
२६८, ५२६
- धम्म-जातक ३००
- धम्मचरिय २४०
- धम्मपञ्चापकरण ६४१
- धम्मपाल (आचार्य) २, ३०८,  
४९६, ५०१, ५३०, ५३१, ५३२,
- ५४५, ५७३, ५७८, ६००
- धम्मिक २४०
- धम्मसत्त ६४१
- धम्मधारण १७४
- धम्मट्ठवग्ग २१९, २२१, २२४
- धम्मपद २१०, २१४-२२५, की प्राकृत  
धम्मपद से तुलना २२१,—की भाषा—  
संस्कृत में लिखित धम्मपद से तुलना  
२२२, संस्कृत धम्मपद २२२,—के  
चौनी अनुवाद २२३-२२४; ११४,  
१९६, १९७, २३५, ५२७, ६०२,  
६२३, ६२४, ६३३, ६३९,
- धम्मपदट्ठकवा १०७, २१३,  
२७५, ३३५, ५१४, ५२३-५२७,  
५२८, ५३८
- धम्मपदगणितिसस्य ६४१
- धम्मपालिवाय १११, ६२८
- धम्मपाल (जिनालङ्कार के संपादक  
सिंहली भिक्षु) ५९१
- धम्मपिटक १०२
- धम्मरत्न ५४४, ५६९
- धम्मवादी ४२४
- धम्म-वमक ४५१
- धम्मविलास धम्मसत्थ ५४६
- धम्मवीपको ५८१
- धम्मविजय ४०८, ४९२
- धम्म-वित्त १२१, १६९, ३०४, ३०५,  
३२०, ४११, ४१२
- धम्म-विश्लेषण ३४४
- धम्मवृत्तिय ४२२, ४२३
- धम्मरत्न (भिक्षु) २३५, २३७, २३९
- धम्मसिरि (खुदक सिंहा) ५७८, ६०५
- धम्म सिरि (धर्मशी) ५३६, ५४०,
- धम्मसंगणि ८१, ११५, ३३९, ३४३,  
३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३५३,  
३५४, ३५८-३९५, ३९६, ३९७,  
४०५, ४४३, ४५२, ४५९, ५०७,  
५१३, ५३३, ५३५, ६३९

धर्म-स्कन्ध ३५३  
 धम्म-हृदय-विभंग ३९७  
 धम्मशोक २०६  
 धम्माभिसमय ४४६  
 धम्माधम्मदेवपुत्र चरिय ३००  
 धम्मानन्द नायक महास्थविर ६०८,  
 ६१०,  
 धम्मानन्दान्तरिय (कच्चावतसार)  
 ५८०  
 धम्मानन्द (भिक्षु) ११३, ६०६  
 धम्मानन्द (समन्तकूटवण्णात्ता के  
 सिंहली संस्करण के संपादक) ५९८  
 धम्मानन्द कोसम्बी ३५२, ४५८ देखिये  
 'धम्मानन्द कोसम्बी' भी  
 ध्वनि-परिवर्तन ५, ६, १९, ४२, ७१  
 ध्वनि-समूह ३१, ३५, ३६  
 ध्यान १५७, १५८, ३६७, ४१२,  
 ४४०, ४४३, ४६२  
 ध्यानावस्था ४३०  
 ध्यान की प्रथम अवस्था १७१  
 ध्यान की चार अवस्थाएँ १७१  
 ध्यान-प्रत्यय ५५८, ४६२  
 ध्यान-भूमि ३७४  
 ध्यान साधना ३७९  
 ध्यान समापत्तियाँ २४९  
 धर्म १६५, १६९, ३९४, ४०३, देखिये  
 'धम्म' की  
 धर्मी ४५३  
 धर्मगुप्त ४२४  
 धर्मगुप्तिक ४२२  
 धर्मचक्र ४७४, ४७५  
 धर्मचक्र-प्रवर्तन १५१, १६३, ३२४,  
 ३२५, ५२५  
 धर्मदूत २११, २२५, ३५०, ५१७  
 धर्मजाल १३४  
 धर्म-धर ७५  
 धर्म-धातु ४०४  
 धर्मपद ११४

धर्मरत्न (भिक्षु) २०७  
 धर्मरत्न ३५७  
 धर्मरक्षित ८८, २११, ४८१, ५१७,  
 ५६८, ५७२, ५८८  
 धर्मराज (बुद्ध) ५५८  
 धर्म स्कन्ध १४८, ३५६, ५७२  
 धर्म स्कन्धपाद शास्त्र १४२, ३५६  
 धर्म-संगीतियाँ ९०, ४९९  
 धर्मसंगीतिकार ३२९  
 धर्मस्वामी (बुद्ध) ५०८  
 धर्मसूत्र १२४  
 धर्मसेनापति सारिपुत्र १५०, १५२,  
 १६६, १६७, १६९, २४९, ३०४,  
 ३३५  
 धर्मसेनापति (ग्रन्थकार) ५८०  
 धर्मसन्तति ४८६  
 धर्मानन्द कोसम्बी (आचार्य) ३५०,  
 ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१६,  
 ५३३, ५४५, ५८६, ६०१, ६२९,  
 ६३०  
 धम्मानुसारिणी ५८१  
 धर्ममेघ २३४  
 धर्म-आयतन ४०१, ४०२, ४०३  
 धर्मानुपपत्ति १४६  
 धर्मश्री (धम्मसिग्गि) ५३२  
 धर्मानुपत्थी ३५५, ४०७  
 धर्माशोक ५५६, ५८७, ६१९  
 धर्मशास्त्र संबंधी ग्रन्थ ५४६  
 धर्मोत्तरीय ४२३, ४२४  
 धम्मिय ३३६  
 धानजानि १५९  
 धानजानि-सुत्त १५६, १६०  
 धातु (अठारह) १५७, १५८, १६५,  
 ३४५, ३४८, ३४९, ३६६, ४०३-  
 ४०४, ४१२, ४१५, ४१७, ४४७,  
 ४५०, ५२१  
 धातुकमा (पकरण) १०९, ११५,



३४०, ३४१, ३४३, ३४६, ३४४,  
४१२-४१८, ४५२, ६३९  
धातुकथा की अदृष्टकथा ५३८, ५४३  
धातुकथा योजना ५४३  
धातुकथा टीका वर्णना ५४३  
धातुकथा अनुटीका वर्णना ५४३  
धातुकायपाद ११५, ३५३, ३५४, ३५७  
धातुगर्भ ५५९  
धातुपाठ ६०८, ६१०, ६११  
धात्वत्पदीपनी ६११  
धातुमाला ६११  
धातुमंजरी (कञ्चान व्याकरण की)  
६०७, ६१०, ६११  
धातु-यमक ४५०  
धातु-यमक-पट्टान ४८१  
धातु-विभाग ३९७  
धातु-विभाग ३४०, ३४२, ३४३,  
३९७, ४०३-४०४  
धातुविभाग-मुक्त १५८, ५००  
धातुवादी १८३  
धातु विवर्णन पत्र २४६  
धातुसूची ६११  
धातुसेन (सिंहल का राजा) ५५०,  
५५४  
धातु-संयुक्त ०९, १६५, ३४८, ३५३  
धोरन्द्र वर्मा (हा०) ७२  
धर्तग ४९१  
धर्तग-निर्देश ५१७-५१८  
ध्रुव-आत्मवाद ४४४  
धुमाकारि जातक २८६  
धोतक (माणव) २४३  
धोतकमाणव-पुच्छा २४१, २४३  
धोमसाज जातक २८७  
धौली (अभिलेख, कटक के पास)  
५५, ६१८, ६२३

न

नकुलमाता गृहपति १८५

नकुलपिता गृहपति १८४  
नगजि (नगजित्) २८७  
नगर विन्दव्य-मुक्त १९, १५८  
नगई (एम०) ३१०, ३१२, ३१३,  
३२८  
नक्षत्र जातक ६३५  
नन्द १६६, १८४, २२६, २२९, २४८,  
३२५  
नन्दा १८४  
नन्दक १८२  
नन्दकोवाह-मुक्त १८, १५८  
नन्दमाणव २४१  
नन्द-वग्ना २२७  
ननुत्त-ननुत्त ४०१, ४०२, ४०३, ४०४  
ननुत्त-ननुत्त की वेदना ४०५  
नदी कायदा ३२५  
नयलक्षण विभावनी ६१३  
नरपति सिद्ध (बन्नीराजा) ६११  
नरक के आठ प्रकार ५९७  
नरक-जोक ४४१  
नरयुतिसंग्रह ६४२  
नलपान जातक २८८  
नलकपान १५४, १९६  
नलकपानक-मुक्त १५, १५४  
नलातवातुवर्णना ५८१  
नलातवातुवर्ण ५४४  
नवक-निपात १०१ १७८  
नवटीक ५०८  
नव विमलपुद्धि (अभिधम्मपरिसदानं)  
५८०  
नवमेघकरो (लोकदीपसार) ५८०  
नवमोगल्लान (अभिधानपदीपिका के  
रचयिता) ५७९ ६१६  
नवांग बुद्ध-वचन १०४  
नवांगजितसासन १०४  
नवनीतटीका ११०, ३५० ५३३, ४५४  
नन्द ३०६, ५६२  
नवांग (बुद्ध-वचन) ७८

नवीन सर्वास्तिवादी ३१४  
 न्यग्रोध १४७, ५७२  
 नाग जातक ६३५  
 नागार्जुन ४२३, ४२८, ४५४  
 नागमेन ४७३, ४७६, ४७८, ४८०,  
 ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८७,  
 ४८८, ४९०, ४९३, ४९४, ५६६  
 नागवग्ग २१५, २१९, २२४  
 नाग संयुक्त १६०  
 नागित (बरमी भिक्षु) ६०६ देखिये  
 'कण्टक खिपनागित' भी  
 नागिताचरिय (मदवतात्थजालिनी)  
 ५८०  
 नागसेनसूत्र ४७७, ४७८  
 नादिका १५५  
 नानादेश-प्रचार ५१७-५५८  
 नाम ४०७, ४५३, ५२२  
 नामचारदीप ५४०  
 नाममाला ६०३, ६०४, ६०५, ६०६,  
 ६०७, ६१०, ६१२  
 नाम-संयुक्त १००  
 नाम-रूप १६५, २४२, ४५४, ४५५,  
 ४८६  
 नामरूपटीका ६४०  
 नामरूप-परिच्छेद ५३२, ५३९, ५७८  
 नामरूप-परिच्छेद टीका ५३९, ५७९  
 नामसिद्धिजातक २८२  
 न्यायसूत्र १२४  
 नारद २४६, ५४४  
 नालक २४१  
 नालक-मुक्त २३५, २४०, ५९३, ६३०  
 नालक (मगधमें) १७७  
 नालन्दा १३६, १४५, १५९, ५६३  
 नाला (ब्राह्मण-नाम) ५२५, ५२६  
 नावा २४०  
 नास्तिप्र-पद्य ४५८, ४६३  
 न्यास ६४०  
 निकाय १९७

निम्बोपकण्ड ३७३  
 निगण्ट नाटपुत्त (निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र)  
 १३७, १४७, १५३, १५५, १५९  
 निगण्ट (निग्रन्थ) १९३  
 निग्लिवा ६१८  
 निग्रोध जातक ६३५  
 निघट्ट ४८१  
 नित्यता-अनित्यतावाद १३५  
 नित्यसंज्ञा ४६९  
 निददेत् १०२, १०७, ११४, ११७,  
 १९०, १९९, ३४०, ३४४, ३५१,  
 ४७०  
 निददेम टीका ५३२  
 निदान-वग्ग १६५-१६६  
 निदान संयुक्त ९१, १६५, ४०७  
 निदानवग्ग संयुक्त ६३९  
 निदानवग्गसंयुक्त-अट्ठकवा ६३९  
 निदान कथा ७८, २८१, ५४३, ५६९,  
 ५७०, ५९२, ५९९  
 निधिकण्डमुत्त २०९  
 निश्चय-प्रत्यय ४५७, ४६१  
 निमि २८७  
 निमिजातक २९४, २९९  
 निमिराज चरिय २९९  
 नियत ४३९, ४४४  
 नियाम ४३३  
 निपात २१०  
 निरय-वग्ग २१५, २१९, २२४  
 निरोध सत्य ४०५  
 निरोध-समापत्ति ४३४  
 निरोध-वार ४५१  
 निरुक्त ४६५  
 निर्वाण (निब्बान) १३९, २१७,  
 २२४, २३१, २३६, २६५, ३३४,  
 ३७२, ३७४, ३७५, ३८३, २६८,  
 ४१५, ४३५, ४३६, ४३९, ४५३,  
 ४८२, ४८६, ५०५, ५३३  
 निर्वाण-धातु ४४४

निर्वाणपद ४९०  
 निरोध-समाधि ५३२  
 निर्वाण-मुक्त १४६, १५४  
 निष्कामता धातु ४९३  
 निष्कल ४३८  
 निरुति संगह ६१२  
 निरुतिव्याख्य ६४१  
 निसन्देहो ५८१  
 निसत्तसार मज्झिमा (न्यासही टीका)  
 ६०४, ६०६

निसम्मिय-कथा ५०४  
 निस्सम्मिय पाचितिय कथा ५०४  
 निःसंगिक पातयत्तिक ३१३  
 निसम २४९  
 नीवरण ४३९  
 नीवरण-वर्ग ३६३  
 नेतिपकरणस्य अत्यसवर्णना (नेति-  
 पकरण-अष्टकथा) ४०१, ५३१  
 नेति ४६५  
 नेतिपकरण १०८, २०८, ४६५, ४७१,  
 ४९४, ६०२, ६०३  
 नेतिपकरण मग्नि ५८१  
 नेतिगव ४६५, ५३७  
 नेतिवकथा-टीका ५३१  
 नेरजरा ६०, १७७, २२७, २७८  
 नेतिभावनी ५४२  
 नेतिपकरण की टीका (सद्वर्त्मसिद्धि  
 कृत) ५४२, (ज्ञानाभिव्यक्त) ५४३  
 नैवमज्ञानासंज्ञायत्त १६९, २३१, ४३२  
 ५२१  
 नेपाल ६१८  
 नेपकर्म २९१  
 नैवमज्ञानासंज्ञायत्त, कुशलजित ३, ३९  
 नोट अनि मेघकर ५९३  
 नो अग १०२  
 न्यूनन (के० ई०) २७१, ६३०  
 न्यसोष (आमोष या स्थविर) ६२०  
 ६२४

न्यायविन्दु ६४२,  
 न्यायविन्दु-टीका ६४२  
 न्यायसूत्र १२४  
 न्यास ६०४, ६१३  
 न्वादि (मोमल्लान) ६४१  
 न्यासप्रदाय ६०४  
 न्यग्रोधाराम १७७, १८९

## प

पक्तिपणक निकाय ६४१  
 पाकिणक-निपात २७९  
 पाकिणकवग्ग २१५, २१९, २२४  
 पच्चय निहेस ४५६, ४५७  
 पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान ४५६  
 पच्चदाकार विभंग ३४३, ४७६,  
 ४०७  
 पच्चनिय-पट्ठान ४५६  
 पच्चयसंगहो ५४०, ५७९  
 पज्जमव ५४१, ५८४, ५९४-५९५,  
 ६०५  
 पजावति-पवज्जा-उत्त १८९  
 पटाचारा १८४, २६६, २७१  
 पटिच्चवसमुपाद ४५४  
 पटिसम्भिसामग्ग ८५, १०२, ११७,  
 ११४, ११७, १९७, २०६, ३४३,  
 ३५५, ६४०  
 पटिपत्तिसंगह ६४१  
 पटिपत्तिसंगहो ५८१, ६४१  
 पटिसम्भिसा-विभंग ३९७, ४११  
 पटिसम्भिसामग्ग अट्ठकथा ६४०  
 पटिसम्भिसामग्ग की टीका ५३३  
 पटिसम्भिसामग्ग गठिपद  
 पटिगविवेक टीका ६४१  
 पटिपदाज्ञानदस्तनविमुद्धि — तिदमो  
 ५२१  
 पटिदेसनिय कथा ५०४  
 पटिदेसनिया सम्मा (चार) ३१३,  
 ३१८

- पटिभान पटिसम्भिदा ४११  
 पटान (पकरण) ११, ११५, ३४१,  
 ३४३, ३४६, ३५४, ३५६, ४०७,  
 ४५२-४६३, ४७०  
 पठम-परमत्वण्कासिनी ५३८  
 पटानगणनामय ५४०, ५८०  
 पटानपकरणटठकथा ५२९  
 पटान की अटठकथा ५३८, ५४३  
 पटानवण्णना ५४३  
 पणवार ४९८  
 पण्णरसभेदो खूदकनिकायो १९७  
 पतपिडिकंग ४९१  
 पतंजलि ४०५, ४१०, ५२१  
 पचवीकसिण-निट्टेसो ५२०  
 पद्मपुराण ५९७  
 पदरूपविभावनं ५७९  
 पदसोचन ६४१  
 पद-साधन ६०९,—की टीका ६०९  
 पद-माला ६११  
 पदरूपसिद्धि ६०५  
 दे० 'रूपसिद्धि'  
 पद्यचिन्तामणि ५२९  
 पद्यान २४०  
 पद्यानिय मुत्त १८८, ६२४  
 पपंचसूदनी ४९७, ५६३, ५२४, ५७७  
 पपंचसूदनी की टीका ५३८  
 परमत्वज्योतिका ५१३, ५२६  
 परमत्वमंजूसा ५३१, ५७८, ५८०  
 परमत्वदीपनी २६८  
 परमत्व दीपनी (लेखितवाच-कृत)  
 २४७, ५३१, ५४४, ५७८  
 परमटठक २४१  
 परमत्वविन्दु पकरणं ५७९  
 परमार्थ सत्य ३५०  
 पंचम विपाक चित्त ३८३  
 पंचतन्त्र २९५  
 पंचशाल (घाम) १६२, ४८९  
 पंचस्कन्ध (पञ्चवखन्धा—पञ्च स्कन्ध)  
 या उपादान स्कन्ध) १५२, १५७,  
 १६८, १८१, २०८, ३९४, ४५३,  
 ४८२, ४८३, ५२१, ५८९  
 पंचपकरणटठकथा ६३९  
 पंचपकरणटठकथा की टीका ५३८  
 पञ्च ४०२  
 पञ्चपुच्छकं ३५०, ३९७, ४००, ४०४,  
 ४०५, ४०६, ४०७, ४१०  
 पञ्चिकमोगल्लान टीका ६४०  
 पचिका ६०८, देखिये 'मोगल्लान  
 पचिका' भी  
 पंच-जातक-सप्तानि २०६  
 पञ्चपुमाला ३४०  
 पंचपडित जातक २७५  
 पञ्चवर्गीय भिक्षु १७२  
 पंचादिजगुत्तर अटठकथा ६३९  
 पञ्चिकमोगल्लान ६४०  
 पंचाल (पांचाल) १४५, १९५, २८६  
 पंचालराज २८७  
 पंचशतिका ७७  
 पञ्चा-बल ३८९  
 पञ्चरतिवादी ४२२, ४२३  
 पञ्चसामि (प्रजासामो-वरमी भिक्षु)  
 ५८१  
 पञ्चिन्द्रिय (प्रजा इन्द्रिय) ३९९  
 परित पाठ २१२  
 पहलवी २९६  
 पंडितवग्ग २११, २२१, २२३  
 पंडितवाद ४९१  
 पमुकुलिकंग ४९१  
 पंजाब ११६  
 पंजाब संस्कृत सीरीज ५७५  
 पदावहामहाक ६४१  
 परचित्तज्ञान ५२१  
 पराजिक कोड ६३८  
 पराभव मुत्त २१२, २३९, २४०  
 परस्मीपद ६८  
 परविवेक ६४२



परमार्थविनिच्छय ५३२, ५७८, ६४०  
 पराक्रमबाहु प्रथम (लंकाधिराज) ५३७,  
 ५४१, ५६४, ५६५, ६०९, ६१४  
 पराक्रमबाहु (द्वितीय) ५६४, ५७५  
 परित्त २१०, २१४  
 परित्तपाठ और लंका २११  
 परिव्वाजक - वग्ग ९६, १५५  
 परिवार पाठ (परिवार) ८५, ९१,  
 १०७, ११५, ११७, ३२६-३२७,  
 ५४९  
 पयोग सिद्धि ६०९  
 पवारणा ३२६  
 पशुकथाएँ २८७  
 पसूर २४१  
 पसेनदि १६२ देखिये 'प्रमेनजित्' भी  
 पश्चात्-जात प्रथम ४५७, ४६२  
 पञ्चगतिदीपन ५४२, ५८४, ५९३-  
 ५९७  
 पञ्चत्तय-मुत्त ९७, १५६  
 पञ्चनेकायिक ७५, १०४, २०१, ६३४  
 पञ्चकं ५७९  
 पञ्चनिपात-अंगुत्तर ६३९  
 पञ्च निपात १०१, १७८, १८१,  
 ३४२, ६२९  
 पाँच इन्द्रिय १८०, १८१, ४९०  
 पाँच निकाय ४९४  
 पाँच प्रकार की वेदनाएँ ४०६  
 पाँच निस्तरणीय धातु १८१  
 पाँच धातुएँ ४०४  
 पाँच विमुक्ति आयतन १८१  
 पाँच नैतिक इन्द्रियां ४०६  
 पाँच विज्ञान धातु ४६०, ४६१  
 पाचित्तिय ९१, ११४, ३२२, २२३,  
 ६३८  
 पाफट वण्णना ३१२  
 पाचित्तियादि अट्ठकथा ६३९  
 पातिमोक्ख १०६, १०७, ३२३,  
 ५३९, ६२८

पातिमोक्ख-सुद्धकसिक्खा ६४३  
 पातिमोक्ख - विसोधनी ५४०,  
 ५८०  
 पाणिनि २२, २९, ५१२, ६०८,  
 ६१३  
 पाणिनीय अष्टाध्यायी ६०१  
 पाणिनीय धातुपाठ ६०७, ६११  
 पाणिनीय व्याकरण ६०१, ६०२,  
 ६०३  
 पापवग्ग २११, २१५, २१८, २२३  
 पापक २८२  
 पायासि वग्ग २४५  
 पारायण वग्ग २०५, २४०, २४१  
 पावा १४५, १४७, ५७१, ५७२,  
 ५७४  
 पातञ्जल मत ५०७, ५११  
 पान जातक २८८  
 पातञ्जल योग ५११, ५१६, ५२२  
 पातञ्जल योगदर्शन ४१०  
 पाथिक-मुत्त १४६, १४७  
 पाथिक-वग्ग १४६, १४८  
 पाथेय्य-टीका ६३९,  
 पायासि राजन्य १४६, २०६  
 पायासि-मुत्त पायासिराजञ्ज-मुत्त ९२,  
 १३१, १४६ ४३३  
 पारमिता २९९  
 पाइन्दुस और कन्दोवर्सी ४२१  
 पाराजिका ७७, ९१, ११४, ३२२,  
 ३२३, ३३१  
 पाराजिक कथा ५०४  
 पाराजिका धम्म ३१६, ३९२  
 पाराजिककण्ड-अट्ठ कथा ६३९  
 पाजिटर ५४७  
 पारिलेय्यक (वनसण्ड) १७३ २२९,  
 ५२१  
 पारिच्छतक वग्ग २४५  
 पारिदेसनिय धम्म ३२२  
 पालि माध्यम ११७

पालिलेख्यक १७३, २२९ 'देसिये'  
 पारिलेख्यक भी ।  
 पाटलिगामियवग्गो २२६  
 पाटलिपुत्र ८, १८, २१, ८५, ८७, ९०  
 १५९, १९६, ३३८, ४२१, ४२५,  
 ४८१, ५५६, ५५७, ५६३  
 पाटिक-सुत्त ९२, १३४  
 पाटलिग्रामवर्ग २३१  
 पाटिक-वग्ग ९१, १३२, १३३, १३४  
 पाठाचरिय ६४०  
 पंडित वग्ग २१५  
 पाण्डव पर्वत २८६  
 पारानिससय ६४२  
 पालिटैस्सुसोसायटो (संस्करण) ८३,  
 ८८, १०४, १६०, १७१, १७८,  
 १९५, १९६, १९९, २७७, ३३४,  
 ३४०, ३४५, ३५२, ४१८, ४२१,  
 ४२२, ४५०, ४५२, ४५७, ४७१,  
 ५०५, ५३८, ५४८, ५५३, ५६४,  
 ५६७, ५६८, ५६९, ५७५, ५८१,  
 ५८६, ६०२, ६२८, ६४४,  
 पालि डिक्शनरी (चाइल्ड्स) १२,  
 ३५९  
 पालि-त्रिपिटक १०५, ११२, ११३,  
 ११५, ११८, १२०, १२२, १२३,  
 १२८, २००, २७६, ४६५, ४९४,  
 ५०८, ५२४, देखिए 'त्रिपिटक' भी  
 पालि दि लैंग्वेज ऑव सर्देन बुद्धिदत्त  
 (कीय का लेख) १४  
 पालिधम्मपद २२१, २२२, २२३, २२४  
 पालिका अभिलेख-साहित्य ६१६ ६४३  
 पालि-काव्य २६७, ५६३-६००  
 पालि काव्य-शास्त्र ६१६  
 पालि कोश ७, ६१४-६१६  
 पालि छन्दः शास्त्र ६१६  
 पालि व्याकरण-साहित्य ६००-६१४  
 पालि बौद्ध धर्म ३५०  
 पालि-भाषा १-७३, -शब्दार्थ-निर्णय १-

९, -का भारतीय भाषाओं के विकास  
 में स्थान ११-१२, -किस प्रदेश की  
 मूल भाषा थी? १२-२८, -का मागधी  
 आधार १४-२८

-और वैदिक भाषा २८-३०,  
 और संस्कृत ३०-३१, -और प्राकृत  
 भाषाएँ विरोधतः अट्टमागधो,  
 शौरसेनी और पेशाची ३१-३५, -  
 में पाये जाने वाले प्राकृत-तत्त्व ३२,  
 ५७-६२, -के ध्वनि-समूह का  
 परिचय ३५-६८, -का शब्द-  
 साधन और वाक्य-विचार ६८-७०,  
 -के विकास की अवस्थाएँ ७१-  
 ७२, -और साहित्य के अध्ययन  
 का महत्त्व ७२-७३; १११, ४५०,  
 ४५२, ४७६, ६१७, ६२७

पालि लिटरेचर ऑव बरमा (मेबिल  
 बोंड) १९९, २०१, ३०८, ५९७,  
 ६०६, ६११, ६१२, ६१३, ६३८,  
 पालि लिटरेचर ऑव सिलोन (मल-  
 लसेकर) ५६६, ५८८, ५९८, ५९९,  
 ६०४, ६१५

पालि लिटरेचर एण्ड लेन्ग्वेज (सायमर),  
 १२, १७, १८, १९, २३, ५२, ८०,  
 ९६, १२१, १३२, १६०, १६१,  
 २७३, ३४५, ३४६, ४७१, ४७७,  
 ४७८, ४९८, ५२७, ५५४, ५६९,  
 ५७५, ५८७, ५८८, ५९०, ५९४,  
 ५९५, ५९८, ६०५, ६०६, ६०७

पालि-साहित्य ७४, ८३, ९०, ९१,  
 १०८, १२१, १३०, २१०, २७६,  
 २९०, २९१, ३१८, ३४३, ३७४,  
 ४५२, ४९४, ४९५, ५००, ६२७,  
 ६३३, ६३८, ६४३, -का उद्भव  
 और विकास ७४-९०; -का  
 विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम  
 ७४-११०, -में प्रकृति-वर्णन  
 २५५, -के तीन बड़े अट्ठकथाकार

- ५०१, - का भारतीय वाङ्मय में  
 स्थान ६४४-६४६, - और विश्व-  
 साहित्य ६४६-६४७, - का विव-  
 रण—७४-६४७  
 पालि माध्यम १११  
 पालि ग्रन्थ २७५  
 पालि महाव्याकरण (भिक्षु जगदीश  
 काश्यप) ४, ६, ७, १६, २७, १२८,  
 ६१०, ६१४  
 पांच संयोजन ४१९  
 पासादिका वर्णना ३१२  
 पालि मुक्त वित्त संग्रह ५३८  
 पासादिक-मुक्त १३, १४७, १७०  
 पासादिक-मुक्त १५१, १६०  
 पासादिक-मुक्त २५४  
 पालिभाषा-पुच्छा २४१  
 पिण्डपात पारिमुद्धि-मुक्त १९, १५८  
 पिण्डपातिकं ४९१  
 पितृति ८८  
 पिटक १२३, १२४, १८९, १९९,  
 ३०९, ३१०, ३३५, ३५४  
 पिटकतयलक्षण ग्रन्थ (पिटकतय-  
 लक्षण ग्रन्थ) ५२५  
 पिटक-संग्रह १२३, १८६  
 पिटक-साहित्य ३०८, ३४०, ५१३,  
 ५१४  
 पिटक-संकलन २०१  
 पिंडो-टीका ६४१  
 पिंडो निस्तय ६४२  
 पिंडोल भारडाव १८३, ५२४  
 पियवातिक-मुक्त ३६, १५५, १६०  
 पियवर्षी (अशोक) ६१९, ६२४  
 पियदस्सी (व्याकरणकार मोग-  
 लान के शिष्य) ६०९  
 पिरित २११  
 पियवाति ३३६  
 पियदस्सि ३३६  
 पियपाल ३३६  
 पियवग्ग २१५, २२४  
 पीति ४०८  
 पीटर ३२७  
 पीठवग्ग २४५  
 पुच्छक ४०२  
 पुग्गल ६८२  
 पुग्गल-पञ्चति ११, १०७, ११५,  
 ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४,  
 ३४६, ३५२, ३५४, ३५६,  
 ३५७, ४१८-४२१, ६३९  
 पुग्गलपञ्चति की अट्ठकवा १, ५३८  
 पुग्गलपञ्चतिपकरण-अट्ठकवा ५२९  
 पुण्णक २४२  
 पुण्णकभाषा-पुच्छा २४१, २४२  
 पुण्ण मन्तानिपुत्त ५२४  
 पुण्णोवाद-मुक्त १८, १५८  
 पुद्गल ३५५, ३५६, ३९८, ४१८  
 पुनर्जन्मवाद ४६४ ४८४, ४८६  
 पुनर्वसु १६४, ३२७  
 पुण्डवग्ग २१५, २२१, २२३  
 पुण्वती (पुण्वती) २८७  
 पुम्भरसारि ६४७  
 पुरवा-उर्वशी २९०  
 पुरेजात-अत्यय ४६१  
 पुराण ८२, ५६७,  
 पुराण-इतिहास १०७ ५५१  
 पुराण टीका ५८१  
 पुराणाचार्य (पाराणाचार्य) ४९७,  
 ४९९, ५००  
 पुरामेद २४१, ४९४  
 पुरातन निबन्धावलोक (सहस्र  
 साहस्रायन) ४२२, ४२५, ४२६  
 पुरुषत्व ४०६  
 पुरुषमुक्त ५११  
 पुलत्विपुर ६१६  
 पलिबोधा ५२०  
 पुलिन्द ८८  
 पुण्य ३१०

- पुण्यमित्र ११६  
 पुण्यदेव ३१०  
 पुण्यपुर ५६३  
 पुर्ण १५८, ३५३, ३५७  
 पुर्ण मैत्रायणीपुत्र १८३  
 पुर्णा २६८  
 पुर्णिका २६८  
 पूर्व-अधोलकालीन २७३, ३४१  
 पूर्वोच्चार्य (पुर्वोच्चार्य) ५६७  
 पुर्ण काव्य १३७  
 पूर्व-बुद्धबोध १०९  
 पूर्व-बुद्धबोध-पुत्र ४३५, ४९५  
 पूर्वजन्म की स्मृति ५०१  
 पूर्वजात-प्रत्यय ४५७  
 पूर्वगिराम २२८, ५२५  
 पूरणकस्माप ४८१  
 पूर्ववैलीय ४३६, ४३०  
 पुसा ३०९  
 पुष्यजन (पुष्यजनो) ४१८, ४१९  
 पुष्यी-धानु ४०३  
 पुष्यी-समान ध्यान की भावना १५३  
 पुष्यी-कर्म ४३३  
 प्रकरण-पाद ११५, ३५३, ३५४, ३५५  
 प्रकीर्ण ३५५  
 प्रकृष्ट कात्यायन १३३, १३६  
 प्रतिकूलसजा (आहार में) ५२१  
 प्रत्यय २८६, ३५५, ४५५, ४५७, ४७०  
 प्रत्ययोल्लस २९८  
 प्रत्यय-स्वान ४५७, ४५५  
 प्रत्यन्त देव ५५७  
 प्रातिमोक्ष ३०२, ३२३ देखिये 'पाति-  
 मोक्ष' भी  
 प्रतिदेशना ३१८, ३१३  
 प्रत्येक बुद्ध ४१८, ५३१  
 प्रतिसंख्यान ४३१  
 प्रतीत्य समुत्पाद १४४, १५१, १६५,  
 २१३, ४०७, ४१२ ४५४, ५८९,  
 ६३९  
 प्रातिमोक्षमुद्रटीका १४९, ३०२, ३०५,  
 ३१३, ३२४  
 प्रतिज्ञातकरण ३१९, ३२०  
 प्रतिसर्ग ५४८  
 प्रतिसंविद्-ज्ञान २९८, ४३३  
 प्रथम ध्यान १६७, ४०९, ४१०,  
 प्रथम दो बौद्ध संगीतियां ७३-८५,  
 ३०८  
 प्रथम संगीति ७३-८२, ८९, १९७,  
 ३१०, १९९, ३०९, ३३६, ३९४  
 'प्रसाद' (जयशंकर) ७३  
 प्रज्ञा १५२, १५७, १७९, २४०, ३५४,  
 ४११  
 प्रज्ञा-इन्द्रिय ३८८  
 प्रज्ञातिवादी ११५, ३५४, ३५६, ४२३,  
 ४२४  
 प्रज्ञापिपाद वास्तव १४०, १४१, ३५३,  
 ३५६,  
 प्रयाग ५६३ ६१९, ६१९, ६३३,  
 प्रसादजननी ५८१  
 पराक्रमवाह ५९४  
 प्राकृत-पाकड-पाकड-पाणि ८  
 प्राकृत (भाषा) १३, ३०, ३१-३५,  
 ३७, ३९, ४४, ५०, ५४, ५५, ५६,  
 ५७, ५८, ७२  
 प्राकृतपन (पाणि में पाये जाने वाले)  
 ५७-६२  
 प्राचीन सिंहली अट्टकवा ४९६  
 प्राकृत धम्मपद २०१, २२२  
 प्राच्या (प्राकृत) ३१  
 प्राचीन अर्द्धभागवी १८, १९, १११  
 प्राचीन आर्य भाषा ६८, ७१,  
 प्राचीन भारतीय आर्य भाषायुग  
 ११, ४७  
 प्राचीन जनकथा २७७  
 प्राचीन स्वविर(पोराणकल्पेय) ४९९  
 प्रालेय (प्रालेयक) २८  
 प्राचीन वैदिक प्रयोग २३६



प्राचीन सिंहली भाषा ४९६  
 प्राम्बुद्धबोधकाल ३२३, ४९३, ४९६,  
 प्राणध्वनि ३६, ३७, ५६  
 प्राणध्वनि का आगमन ५६, ६३,  
 ६४, ६७ और लोप ५६, ६३, ६७  
 प्रायश्चित्तिकं ११४  
 प्रायश्चित्तिक ३११  
 प्राणायाम १५७  
 अग्निपात ३५०  
 प्रीति १७०, ३८३,  
 ३८७, ४०९, ४१०, ५३४, ५३५  
 प्रियदर्शी ४, २८  
 प्रवचन ५  
 प्रवेनजित् १५६, १६२, १७७, १९४,  
 १९५, २२८, २३०  
 प्रसन्न उपनिषद् २९१, १५६  
 प्रश्रव्वि १७७  
 प्रद्योत (पञ्जोत) १५७  
 पेगन में प्राप्त संवित पाषाण लेख  
 ६३४, ६३८  
 पेटकालकार ५४३  
 पेटकी ७५, १०४, ६३४,  
 पेटकोपदेस १०८, १२७, १२८, १९९,  
 ४१४, ४६५, ४६६, ४७२, ५७७  
 ५८०, ६०२, ६०३  
 पेतवत्थ १०२, १०७, ११०, ११४,  
 १९६, १९७, २००, २०१, २१०,  
 २४५, २४६, ५३१, ५९६  
 पेतवत्थ अट्ठकथा सहिता ६४०  
 पेतवत्थस्स विमलविलासिनी नाम  
 अट्ठकथा ५७८  
 पेशाची प्राकृत १३, १५, २८, ३१, ३२,  
 का पालि से संबंध ३४-३५, ५०  
 पोतन १४५, २८७  
 पोतलि २८७  
 पोराना ४९९  
 पोराना अट्ठकथा  
 पोरानाचरिय (पुराणाचार्य) ५७७, ६११

पोरानिक आख्यान १३०  
 पोद्दपाद-मुत्त ९२, १२७, १२९, १३०,  
 १४१-१४२, १७२  
 पोतलिय-मुत्त ९५, १३०, १५३  
 पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्डियेन्ट  
 इन्डिया ( हेमचन्द्र रामचौधरी )  
 २९१, २९२, २९३, ४७१, ६०२,  
 ६१०, ६११, ६१३, ६१४  
 पोलोन्नरवा ( लका में ) ६१५, ६१६  
 पोराना खुदकसिक्खा टीका ५३९  
 पोसालमाणवपुच्छा २४१  
 पोष्करसाति १३८

## फ

फन्क्यू-किङ्ग ( चम्मपद का चीनी अनु-  
 वाद ) २२३  
 फल-चित्त ३८३  
 फ-शिन्यमन २७७  
 फासवाल ( वी० ) २७३  
 फामुकारि-मुत्त ९७, १५६  
 फाहयान २०४  
 फास २९६, ५६१  
 फिक ( डा० ) २८९  
 फ्लोट ( जे० एफ० ) ५५४  
 फ्रैंक ( आर-ओ० ) १२, १३, १४, १५,  
 ११९, १३२, १४८, ५५०, ६०७,  
 ६११

## व

वक्क जातक २८२  
 वक्काफ ५०५, ६४४  
 वक्कुल-मुत्त ९८, १५७  
 वंगला २३५  
 वंग-प्रदेश ५५१  
 वमीं विहार ( सारनाथ ) २३५  
 वंवाई विश्वविद्यालय ( संस्करण ) ४,  
 ९०, १३४, १४८, २०२, २१२,

- २४६, ३१५, ३३८, ३४१, ३४४,  
 ४३२, ४३४, ४८१, ५५३  
 बरमा ९१, २०७, २११, २७४, ३३१,  
 ३३२, ३५१, ४७१, ४७२, ४९२,  
 ५१२, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१,  
 ५४३, ५४४, ५४५, ५७६, ५८१,  
 ५८३, ५९९, ६०५, ६०६, ६१०,  
 ६११, ६४४  
 बरमी परम्परा, साहित्य, इतिहास आदि  
 १७८, २७३, ३०८, ३५८,  
 ३९६, ४१८, ४२२, ४५२, ४९५,  
 ५०५, ५३१, ५३९, ५४२, ५४४,  
 ५४६, ५४८, ५६४, ५६७, ५७६,  
 ५८१, ५८२, ५८५, ६००, ६०४,  
 ६०६, ६०९, ६११, ६१२, ६१३,  
 ६१४, ६१५, ६१९, ६३८, ६४२  
 बरमी पालि साहित्य ५४२-४४  
 बरमी परम्परा ५०९, ५१०, ५१२  
 बल (पांच) ४१२  
 बलसंयुत १०१, १७१  
 बहुवचन-सुत १५, १५३  
 बहु-धातुक-सुत ९७, १५७  
 बहुचर्यसंबंधी उपदेश (बुद्धका)  
 १९१-१९३  
 ब्रह्माण्ड पुराण ५९७  
 ब्रह्मसुत ९६, १५६  
 ब्रह्मविहार-निन्देसी ५२१  
 ब्रह्मजाल सुत ९२, १३४-१३७, १३८,  
 २७६  
 ब्रह्मविहार १४३, २१०  
 ब्रह्मवती ५८६  
 ब्रह्मगिरि (संसार राज्य)  
 ब्रह्मसुत १५६, १६०  
 ब्रह्मवत् २७४  
 ब्रह्मनिमन्तिक-सुत १५, १५३  
 ब्रह्मजाल-सुत १३४-१३७, १५३  
 ब्रह्मविज्ञान ४१०  
 ब्रह्म संयुत ९९, १६२, १६३  
 ब्राह्मणधर्मिय (वग) २४०  
 ब्रह्म-प्राप्ति १७७  
 ब्रह्म देश ७२  
 ब्रह्म-सूत्र १२४  
 ब्रह्मचर्य २०८, ४२९, ४३०, ४५३  
 ब्रह्मा १४३, २५२, ५११  
 ब्रह्मायु (ब्राह्मण) १५९  
 बृहत्तर भारत २९०  
 बापट (डा०) २३५, ३५०, ३५२, ५२८  
 बाय (ए) ८६, ११९, ४७७  
 बाण ४९२  
 बारह आयतन ३४८  
 बाराबर (पहाड़ी, गया के पास) ६१८  
 बाल्यबोधनप्रति- (वृत्ति)-करण ६४१  
 बावरि (ब्राह्मण) १६२, २४०, २४१  
 बावेक जातक २८३, २९५  
 बावेक राष्ट्र २८३  
 बाल्यबोधन (आकरण) ५८१, ६०७  
 ६४१  
 बालतज्जन ६४१  
 बालावतार ५६८, ५७९, ६०५, ६०६,  
 ६०९, ६१३, ६४०  
 बालपंडित-सुत ९८, १५७  
 बालावतारटीक ५३९  
 बालवग्ग २१५, २२१, २२३  
 बाहुरी संयोजन ४१९  
 बाहिर कथा ४७७  
 ब्राह्मण-ग्रन्थ ११, २८, २९  
 ब्राह्मण-वग्ग ९६, ९७, १५६, २१५,  
 २२०, २२१, २२४  
 ब्राह्मण-संयुत ९९, १६३  
 बाहिरिक-सुत ९६, १५६  
 बाहिरा (धम्मा) ३६९  
 बाहिय दारुवीरिय (मिस्स) १८३  
 बाह्य आयतन ३४८  
 ब्राह्मण वर्ग १५९  
 बाहुलिक (बौद्धसम्प्रदाय) ४२५, ४२३  
 बाहुत्युक्ति (बाहुलिक) ४२३

चिंगडे (विशय) ६००

चिह्नल जातक ६३५

चित्रलियोधिका इडिका ५६९

चिन्मिसार १३९, १४५, २२८, २९२,

३२५, ३२६, ५६१, ५६२

चिनि-मा-रोन् ३१२

चिलारवत जातक २८२

चोजक्य ६४१

चुद्ध-उपदेश ७५, ७७, ८७, १०१,

१०२, १२५, १२६, १३१, १३२,

१३४, १३७, १६७, १८०, २०१,

२१४, २३५, ३०४, ४४५, ४६५,

४६८, ४६९

चुद्ध-काल ११, २२८, २३७, ३१०

चुद्ध-कालीन १२७, १८२, २४६, २७७,

२८९, ३२५, ३४९, ४८०, ४८१

चुद्धकालीन भाग्य १२०, १५९,

१७५, १९६, २८५

चुद्धपाप (आचार्य) १, २, ३, ६, १०, २२,

२३, २४, ३८, १०४, १०५, १०८,

१२७, १३०, १४८, १९७, २८०,

३०८, ३०९, ३१०, ३१२, ३१५,

३२८, ३३१, ३३४, ३३७, ३४१,

३४६, ३५०, ४२७, ४६५, ४७२,

४७३, ४७९, ४८६, ४९७, ४९८,

४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३,

५०४, ५०५, —की जीवनी ५०५

—५१३—की रचनाएँ ५१३—

५२०—की अष्टकवार्य ५२०—

५२०, —५३१, ५३२, ५३३,

५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४२,

५४३, ५४५, ५४८, ५४९, ५६३,

५६७, ५६८, ५६९, ५७३, ५८६,

५८७, ६००, ६०१, ६०२, ६०३

चुद्ध-देशना ४६८

चुद्ध-जीवन १२५, १७७, २०९,

२२५, ५७१, ५७४, ५७५, ५८२,

५९१, ५९२, ६००

चुद्ध की जीवनी १५०, १५५, १५६,

२०८,

चुद्ध-धर्म ७३, ८६, ८८, १३२, ११९,

१२३, १४५, १४६, १४७, १६१,

१६२, १६९, १७२, १७४, १७५,

१७६, १७८, १८५, १९०, ३०७,

३११, ४१८, ४२१, ४२२, ४२५,

४२७, ४६५, ४९३, ५५७, ५६३,

५६८, ५८९, ५९५, ६२०, ६३१,

६३३, ६४७

चुद्ध-नेत्र ४५४

चुद्ध-प्रवचन १४८, १५७, १६०,

१६८, ३०९

चुद्ध प्रशंसा १६३, १७६

चुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ १२७, २२८

चुद्ध शिष्य १७२, २६९

चुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन) ७६,

८२, १३२, ३११, ३३५, ५२५

चुद्ध-पूर्व युग २९०

चुद्ध भक्ति २०८

चुद्धकालीन संघ ३०८

चुद्ध-मत १५३, ३२५, ४२८, ४५३

चुद्धमन्त्रव्य ८४, १८४, ३०६, ३३५,

३४६, ४२५, ४६३, ४६८, ४८४

चुद्ध मुख ८३, ११२, १२०, ३१०

चुद्ध प्रविष्ट १५५

चुद्धमित २८१

चुद्ध गौरव १६४

चुद्ध-युग २१, ७५, १९३

चुद्धवस १०२, १०७, १०७, १९८,

१९९, २९८, ५०४, ५०५,

५४९, ५७८, ५८५

चुद्ध-शासन ५, १३६, २४५, २४७,

२८८, २५७, २६६, २६९, ३०७,

३०८, ४७२, ४६७, ५८१, ५८८,

६२०

चुद्धरक्षित ३१०

चुद्ध-संवाद १७८

बुद्ध-पूर्व युग २१२  
 बुद्धकालीन भूगोल २८९  
 बुद्धप्रिय 'दीपकर' (स्थविर) ५९५,  
 ६०५, देखिये 'दीपकर' भी  
 बुद्धघोष युग की परम्परा अर्थात्  
 टीकाओं को युग, ५३७, ४६  
 बुद्धिस्ट फिलासफी (कीय) १२३  
 बुद्धिस्ट साइकोलॉजी ५०५  
 (अटंकवाकार)  
 बुद्धवन ४६५, ४२६ ४१९, ५०१,  
 ५०२,—की जीवनी और रचनायें  
 ५०२, ५०५, ५०३, ५०४, ५३०,  
 ५३१, ५३२ ५३९, ५४१, ५४५,  
 ५६६, ५७७, ५८७, ५९२, ६००  
 बुद्धघोष-विहार ५१३  
 बुद्धालंकार ५४२  
 बुद्धगया २९०, ५०९  
 बुद्धमित्र ५१०, ५२४  
 बुद्धपिय ५८०  
 बुद्धवंस-अटंकवा ६४०  
 बुद्धवंश ११४, ११५  
 बुद्ध-यात्रा राजगृह से कुसिनारा तक १४५  
 बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कथा २६७  
 बुद्धघोष-युग ४९६, ५३६  
 बुद्ध-परिनिर्वाण ११८, ११९, १२०,  
 १२१  
 बुद्धिस्ट एजुकेशन इन पालि एंड  
 संस्कृत स्कूल्स (ए० ई० जे० कालेज)  
 २३  
 बुद्धघोष युग की परम्परा अवका  
 टीकाओं का युग ११०  
 बुद्धरक्षित (जिनालंकार के रचयिता)  
 ५९१, ५९२,  
 बुद्ध-वर्गित ७३, ५९२  
 बुद्धानुस्मृति ५३  
 बुद्धकालीन सामाजिक अवस्था  
 २८९  
 बुद्धधोमुपपत्ति ४०५, ५०२, ५०३,

५०६, ५०७, ५११, ५१२, ५४२,  
 ५४८, ५६६, ५६७  
 बुद्धघोष की अभियन्म पिटक सम्प्रदायी  
 अटंकवाएँ ५२८-२९—की अन्य  
 रचनाएँ,—का पालि साहित्य में  
 स्थान ५२९-३०  
 बुद्धपिय ५४१  
 बुद्धयश ११३, ३५६  
 बुद्ध वंग २१५, २१८, २२४  
 बुद्ध (भगवान्) ५, १२, १४, १६,  
 १७, २१, २२, २३, २४, २५,  
 २६, २८, ७३, ७४, ७५, ७६,  
 ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२,  
 ८६, ८७, ८९, ९०, १११, ११२,  
 ११८, ११९ १२०, १२१, १२२,  
 १२४, १२५, १२९, १३०, १३१,  
 १३२ १३३ १३६, १३८, १४२,  
 १४४, १४५, १४६, १४७, १४९,  
 १५२, १५५, १५६, १५७, १६०  
 १६२, १६३, १६४, १६५, १६६,  
 १७४, १७५, १७९, १८५, १९३,  
 १९४, २०१, २०८, २२५, २२८,  
 २३०, २३१, २४१, २४८, २५०,  
 २५२, २६७, २७३, २८१, २९२,  
 २९३, ३०५, ३०७, ३०८, ३१०,  
 ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७,  
 ३३०, ३३५, ३३६, ३४८, ३४७,  
 ३५२, ३५६, ३५७, ४०५, ४२५,  
 ४४८, ४३३, ४४७, ४६८, ४७१,  
 ४५३, ४८६, ४८९, ४९०, ४९२,  
 ५००, ५०१, ५०४, ५२३, ५२४,  
 ५२५, ५२६, ५३०, ५३१, ५५०,  
 ५५६, ५५७, ५५८, ५६१, ५६२,  
 ५६३, ५७७, ५७९, ५७२, ५७३,  
 ५७४, ५७६, ५८१, ५८३, ५८५,  
 ५८६, ५९०, ५९२, ५९४, ५९६,  
 ५९८, ६०२, ६०३, ६१९, ६२०,  
 ६२१, ६२३, ६२४, ६३२, ६३९



बुद्ध-वचन १, ४, ६, ८, २१, २२, २३,  
 २५, ७४, ७५, ७६, ७७, ८०,  
 ८४, १०२, १०३, १०४,  
 १०६, १०७, १०८, ११२,  
 ११७, ११८, ११९, १२०, १२३,  
 १२४, १२७, १२९, १३१, १३३,  
 १४८, १७९, १८२, १८७, १९२,  
 २००, २१४, २२५, २३२, २३३,  
 २३४, २७६, ३३६, ३३७, ३३८,  
 ३३९, ३४०, ३४७, ३५०, ३५२,  
 ३५३, ३५८, ३७४, ४०५, ४०९,  
 ४१०, ४१२, ४६५, ४२८, ५६६,  
 ४६९, ४७०, ४८४, ४८७, ४९२,  
 ४९३, ४९४, ५७७, ६३३, ६३६  
 बुद्ध दर्शन ४५३, ४८१, ४८४, ४२७  
 बुद्धिस्टिक स्टडीज ( लाहो-संपादित )  
 ४, ८, १२, ८०, ८२, ४४, ८९,  
 १०५, ११६, १२३, ३१२, ३१३,  
 ३२८, ३३४, ३३८, ४२४, ४४९  
 बुद्धिस्ट वर्ग स्टोरीज २७३, २८१  
 बुद्धिस्ट विनय डिमिप्लिन और  
 बुद्धिस्ट कम्पाइमेन्टस् ३२८  
 बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजिकल  
 एथिक्स ४४३  
 बुद्धिस्ट इंडिया ( रायस डेविड्ज़ ) १२,  
 ११२, २०२, २७७, ३७३, ५५०,  
 ५६१, ६२८  
 बुद्धिस्ट विनय डिमिप्लिन ३१२  
 बुद्धिज्म : इट्स हिस्ट्री एंड लिटरेचर  
 ( अमेरिकन लेक्चर्स ऑन बुद्धिज्म,  
 डॉ० रायस डेविड्ज़ ) ३४६  
 बुद्ध की उठाने वाली आदेशना १८७  
 बुद्धिपत्तादिनी ६०९  
 बुद्धनाग ( स्थाविर ) ५३८, ५३९, ५७९  
 बुद्ध चन्दना ३७७  
 बुद्धालंकार ५८४, ५९०  
 बुद्धत्व प्राप्ति १२५, १८५, २७४,  
 ३२४

बुद्धरक्षित ( स्थाविर ) ५३८, ५८०, ५६५  
 बुद्धश्री ( बुद्धसिरि ) ५२२  
 बुद्ध निर्वाण ९१, १५५  
 बुद्ध स्वभाव ३२५  
 ब्रह्मसंस्तुत १५५  
 बेलुक-जातक २८२  
 बैकिट्ट्या ८९, ६९६  
 बंराट ( जयपुर ) ६१८  
 बोधिवंस ५८१, ६४०, देखिए ' महा-  
 बोधिवंस'  
 बोधिपत्नीय धर्म १८९, २६३, ४२२,  
 ६३७  
 बोधिसत्व आदर्श २०४, २९०  
 बोधिसत्त ( व्याकरण ) ६०८  
 बोधिबूझ ५०९, ५५१, ५६३, ५६८,  
 ५७३, ५७४  
 बोधिसत्व २०५, २७३, २९६, ४३२,  
 ४४७, ५७०, ६३६  
 बोधि के सात अङ्ग, १७०, २०८, ४०८  
 बोरोबदूर स्तूप २९०  
 बौद्ध भिक्षुणियो २६४  
 बौद्ध योग २१०  
 बोधिराजकुमार-सुत ९६, १५५, १६०  
 बोधभूमि विभाग ३९७, ६०८  
 बोधभूमि-संघस १००  
 बोधध्या १५८, ३१६  
 बोधि वर्ग २२१, २२५, ४१२, ४५४  
 बोधोगी पेगोदा ( बरमा ) ६१७ में  
 प्राप्त ललित पाषाण सेल ६३८  
 बौद्ध संगीतियो १०५, ११८, ३२५,  
 ५२३, ५३७, ५५०, ५५१, ५५६-  
 ५५८, ५६२, ५६८, ५६९, ५७२,  
 ५८१, ६२३  
 बौद्धयुगीन शिक्षा २८१  
 बौद्ध धर्म ११७, ११८, १३१, १४६,  
 १५९, २३१, २३५, २३७, २४५,  
 २६९, २७६, २९०, ३३१, ४४७,  
 ४४८, ४७६

बौद्ध साहित्य २३३, २३०, २९०, २४१,  
 २३०, २६५  
 बौद्ध अनुभूति ७९, ४९६  
 बौद्ध महाविभाषा शास्त्र २९२  
 बौद्ध परम्परा १६०, ३३८, २९६,  
 ३३५, ५८७, ३३८, ४२७, १०५  
 बौद्ध-संघ ८६, ३०७, ३०८, ३०९  
 बौद्ध ग्रंथ ३४०  
 बौद्ध नैतिकवाद २४४  
 बौद्ध दर्शन ४८९  
 बौद्ध सम्प्रदाय ३५५  
 बौद्ध-तत्त्व-दर्शन ३३५  
 बृहज्जातक-निस्सय ६४२  
 बृहत् कथा २९४  
 बृहज्जातक-टीका ६४१  
 बृहज्जातक ६४१  
 बृहदारण्यक ४९४

### भ

भग्मा १५९  
 भग्मा राज्य २८७  
 भग्ने देश ५८५  
 भगवान् महावीर १५६, १५९  
 भंडगाम १४५, १९५  
 भंडारकर (डो० आर०) ८६, ६२९  
 भंडौच ४९४  
 भर्तृ-रोग-रोम् ३१२  
 भदन्त (स्थविर) ५२४  
 भद्रकल्प १४३  
 भद्रपानिक ४२४, ४२२, ४२५, ४३०  
 भद्रा (भिक्षुणी) २६९  
 भद्रा कात्यायिनी (भिक्षुणी) १८४  
 भद्रा कापिलायिनी २६८  
 भद्रा कुंडलकेशा (भिक्षुणी) २६८-  
 २६९  
 भद्रनाम ३३६  
 भद्रसाल (स्थविर) ५५७, ५६८,  
 ५७२, ८९, ३१०

भद्रसाल जातक २८७  
 भद्रालि १५४  
 भद्रालि-सूत ९५, १५४  
 भद्रावध साणव पुच्छा २४१  
 भद्रिय २३०, ३२५, ३३६  
 भद्रिय कालिगोषापुत्र १८३  
 भद्रकरत-सूत १५८, ३४५  
 भूमिज-सूत १५७  
 भयभरत-सूत ९३, १२९, १४९, १७२,  
 २७४  
 भरंड-कालाम १८५  
 भरंडु-सूत १८४  
 भृगु १४२, २९१  
 भर्तृ हरि ५९०  
 भरत मुनि ३१  
 भरुकच्छ २८८, ४९४  
 भरलिक ३२५  
 भरलिक ३०३  
 भव १६५, ४५४, ४५५, ४०७  
 भव-आंश ३६६  
 भव-योग ३६७  
 भव्य (आचार्य) ४४९, ४२३, ४२४  
 भव-वासना ४२०  
 भवासो २३६  
 भवासव ४४१  
 भागलपुर १३९  
 भागवत (डा०) १४८, ५४८  
 भांडारकर ओरियन्टल सीरीज, पुना  
 ३५२  
 भांडारकर कोमोमेरेजान वॉल्यूम १६  
 भाणक ७५, ६३४  
 भाजू (शिलालेख) ४, ६, १९, १०३,  
 २३५, ६१८, ६२०, ६२७, ६३३  
 भारत (भारतवर्ष) ७४, ९१, २८५,  
 ४७३, ५०२, ६४५, ३३७, १०९,  
 ११०, ४८१, ५०८, ५०९, ५३०,  
 ५५८, ५६२, ५६३, ५७३, ५७४,  
 ५७७, ३१०, ३६६, ४९२, ४९३,

५०७, ५८६, ४०४, ६२२, ५९८,  
५९९, ६१४, ६२१  
भारद्वाज (ब्राह्मण) १४२, १७७, २९१,  
१५९, १७६, १६३, २३९  
भारहुत (अभिलेख) १०४, २०१,  
२७७, ५७३, ६१७, ६३४-६३५  
६३६  
भारतीय साहित्य २९०, २९५, २८५,  
४७६, ४९२, ४९९  
भारतभूमि ३३१  
भारत-यूरोपियन ६३  
भारतीय काव्य साहित्य २५५  
भारतीय गद्यशैली ४९२  
भारतीय दर्शन ४५३, ४८४  
भारतीय भूगोल २८५  
भारतीय राष्ट्र ४८१  
भारतीय विद्या भवन (बम्बई) ५१४  
भारतीय साहित्य का विदेशी साहित्य  
पर प्रभाव २९०  
भारतीय वाङ्मय ४९३  
भारतीय ज्ञान ४९३  
भावनामयी प्रज्ञा ४११, ४६०  
भाष्य ५००,—की परिभाषा ५००-  
५०१  
भाष्यकार ४६६  
भिक्षुगणित ६२१  
भिक्षु जातिक ६३५  
भिक्षु-पातिमोक्ष ३२३  
भिक्षुनी पातिमोक्ष ३२३  
भिक्षु-प्रणीत ३१३  
भिक्षु जमा ९५, ९६, ११३, १५५,  
२१५, २१९, २३१, २२४  
भिक्षु वित्त १८७, ६२९  
भिक्षु विभाग ५०४  
भिक्षुनी विभाग ३२३, ६२८  
भिक्षु-संघ २०९, २२८, २५१, ३२१,  
३२३, ३२५, ३२६, ३२७-३२९,  
३३२, ३३८

भिक्षुणी-संघ १९, ३०५, ३०८, ३२१  
भिक्षु-संघ १७३, ३०६  
भिक्षुणी-संघ १९, १३०, १६१,  
१६२  
भीतरी संयोजन ४१९  
भुवनेकबाहु प्रथम (लंकाधिराज)  
५९३  
भुवनेकबाहु द्वितीय (लंकाधिराज)  
५६५  
भुवनेकबाहु तृतीय (लंकाधिराज)  
६०९  
भूमिज-सूत ९८  
भूततथता ४४४  
भूरिदत्त-चार्य ३००  
भेसकलावन १७७, ५२५  
भेसज्वमंजुसा ६४२  
भोज ८८  
भोजाजानीय जातिक २७४  
भोवादी २२०  
भौतिकवाद ४२८  
भौतिकतावादी ४५३

## म

मग्गामग्ग वस्सन विमुद्धि निन्दसो ५२२  
मगध ४, १०, ११, १४, १७, १८, २४,  
२६, २८, २९, ५६, १४५, १७७,  
१९५, २५१, २८६, २८८, ५६३,  
५७१, ५७२, ५८३, २६३  
मगध-कोसल २३७  
मगध-भाषा १०९  
मज्झिम (स्थविर), ८८, ८९, ५५३  
५६२, ५६८, ५८२  
मज्झिमा पटिपटा ३६२  
मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा १४८-  
१६०, १६१, ५१०, ५१३, ५३८  
मज्झिमपण्णास अट्ठकथा-३३९  
मज्झिम पण्णास ६३९  
मंजुसा टीका व्याख्य ६४१

- मज्झिमेसुपदेसु २१  
 मज्झिम-निकाय (मज्झिम) २५, २६, ८१,  
 ९१, ९३, ९९, १०३, १०७, ११३,  
 १२३, १२७, १३१, १२९, १३०,  
 १४०, १४८-१६०, १६१, १६८,  
 १६९, १७०, १७१, १७२, १८०,  
 १८८, १९४, २७५, २९१, ३०५,  
 ३२१, ३२४, ३३४, ३४०, ३४२,  
 ३५९, ४०७, ४०८, ४३१, ४५५,  
 ४९७, ५००, ५०९, ५१४, ५२४,  
 ५६७, ६२४, ६२९, ६३०  
 मध्य मंडल १८, २१, २४, २६, ३०,  
 ३३, ३४, ३३१, ३३२, ३३८,  
 ५६०, ६१४, ६४४  
 मज्झिम निकाय की अट्ठकाथा की  
 टीका ५३८  
 मध्य-व्यंजन ३७, ५४, —अंत्युक्त  
 ५७-६२, —संयुक्त ६३-६७  
 मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) ५२२  
 मध्यमागम ११३, १३०  
 मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ  
 ३०, ३२  
 मध्यम मार्ग १४१, १६९, १७३  
 मध्यकालीन भारतीय आर्य साहित्य  
 ६४४  
 मध्यम (स्थविर) देखिये 'मज्झिम  
 स्थविर'  
 मधुरत्य विलासिनी (बुद्धवंश की  
 अट्ठकाथा) ५०४, ५०५, ५३१, ५७७  
 मनोविज्ञान १६५, ३४८, ४०३, ४०४  
 मन-आयतन ४०१, ४०२, ४०३  
 मनोरथपूरणी ४१७, ५१३, ५२४-७६  
 मनोधातु ४५९, ४६०, ४६१, ३८१,  
 ३८३, ३८४  
 मत्स्य (राज्य) १४५, ५४८  
 मगधराज १३७, १५७, १६६, २२८  
 मगध जातक २८२  
 मगधादेव जातक २८१, ६३५  
 मल्लसेकर (जी० पी०, डा०) ५८८,  
 ५९८, ५९९, ६१५  
 मगधादेविय जातक ६३५  
 मगधलि गोसाल १३७, १५९, १७६,  
 ४८०, ४८१  
 मच्छ-जातक ३००  
 मच्छराज-वरिय ३००  
 मकुल पर्वत ५२५  
 मच्छ १४५, १९५  
 मगोलिया ३३२, ६४४  
 मधुरसवाहिनी ५७९  
 मग्जा (ग्राम-वरमा) का स्वर्णपत्र  
 लेख ६३४, के बीबीसी अभिलेख  
 ६३७-३८  
 मनोविज्ञान धातु ३८१, ३८४, ४००,  
 ४०२, ४०४, ४५९  
 मज्झिम पण्णासक १४८  
 मनोरा पुरणी ५७७  
 मनोरथपुरणी की टीका ५३८  
 मन १६५, १६७, १६९, ३३०, ३३२,  
 ३४८, ४०३, ४०४, ४०६  
 महानाग ३१०  
 मन्त्रकर्ता ऋषि २९१  
 मध्यदेश २७७, २८६  
 मज्झिम-भाषक १९७  
 मध सोमि-रित्मु ३११  
 मनोधातु ४०२, ४०४  
 मगधवग्ग २२१, २२४  
 मज्जेदट्ठ वग्ग २४५  
 मनसिकार (मनसिकारो) ३८६, ४१३,  
 ५३४  
 मणिसार मंजुसा ५४२, ५८०  
 मगधादेव-सुत्त ८१, १५५, २७६, २८१  
 मनसेहर (पेशावर जिला) १७, २७,  
 ६१८, ६२७, ६३३  
 मग्ग-संयुक्त १७७, १७७  
 मग्ग-विम्वंश ३९, ४०८  
 मल्ल राष्ट्र २८७



मत्स्यके मत्स्यलुंग २१०  
 मवृषिण्डिक-सुत्त १४, १५१  
 मनुष्यणना ५४६  
 मनुस्मृति २२०, ५४६  
 मंगल (गन्धर्वादि कं रचयिता) ६१२  
 मनुसार ५४६  
 मन्वन्तर ५४८  
 मलिक मुहम्मद जायसी २३०  
 मनावे श्लोक २५२  
 मंगल सुत्त १९५, २०८, २१०  
 मज्झिमनिका (म्वविर) ८८, ५५७, ५६८,  
 ५७२  
 मल्लिकापण्डवासी १८४  
 मलाया २८८  
 मणिदीप ५४२, ५८०  
 मद्र (वेज) २९२, ५६३  
 मनोहर ५८०  
 मगधभूताविदम्मा ५८०  
 मनोधातु-संस्पर्शजा ४००  
 मधुरा (मधुरा) १५५, १८७, ४७४,  
 ४९४, ५६३  
 मधुसारत्वदीपनी ५४३  
 मुद्र ३९२ ५३५  
 मध्य यत्ता ५३५  
 मल्ल राष्ट्र १४५, ५६३, ५७१  
 मध्य-एशिया ६४४  
 मलवम्मा २२४  
 मध्यमा प्रतिपदा १३६  
 मार्कण्डेय पुराण ५९७  
 मध्यकालीन आर्य भाषा युग ११, २९,  
 ५४  
 मज्झिमपण्णास टीका ६३९  
 मराठी १२, २८, २९, ५६  
 मणिकण्ड जातक २७६  
 मरिचवट्टि विहार ५५८, ५५९, ५७३  
 मयूरकूपपट्टन ५१०  
 मयूरसुत्तपट्टन ५१०  
 मयुदा (प्रो०) ५४९

महाकोटित ५००  
 महावग्ग टीका ६३९  
 महासुवस्सन सुत्तन्त २७६  
 महामेघवण्णाराम ५६३  
 महाकालचक्र ६४२  
 महासुर २९२  
 महाकन्वायन (विनयगडि) ५७७  
 ५७०, ५७१  
 महासेन (लकाविपति) ५४८, ४५९,  
 ५५०, ५५२, ५६०, ५६१, ५६४  
 महाविजितावी (वरमी भिक्षु) ६०७  
 महापरिनिव्वान सुत्त ७५, ७६, ८०,  
 ८१, ८३, ९२, १३०, १३३, १४४,  
 १४५, २२५, २३१, ३०५, ५७०,  
 ५७१, ६२४  
 महावोधि (जर्नल) २२५, २९७,  
 ३०२, ५७०  
 महावंसटीका ५४९, ५५४, ५५५,  
 ५६९, ५७२, ६००, ६४०, देखिये  
 'महावंस की टीका' भी  
 महाधम्मसमादान सुत्त १५२  
 महालोमहंस-जातक ३०१  
 महाविजित १३०  
 महासंघिक ३११, ४२२, ४२३, ४२४,  
 ४२५, ४२८, ४३७, ४३८, ४४१,  
 ४४४, ४४८, ५५०  
 महासतिपट्ठान सुत्त ९२, १४६, १५०,  
 १७०, २१०, ४०५  
 महापुरुष-लक्षण १२९  
 महासलायतनिक-सुत्त १५८  
 महाकम्मविभंग सुत्त ९९  
 महासलायतनिक सुत्त ९९  
 महासुदर्शन २९९  
 महानिस्सर ५८०  
 महागण ६४०  
 महायानो बौद्ध साहित्य ८५  
 महासंन्यातिक भिक्षु १२१, २०२, ३५२  
 महाखेर टीका ६४०

- महानिर्देश १९७, ६४०  
 महापुरुष-लक्षण १४७  
 महिषमंडल ८८ ५७४, ६२४  
 महायानी ग्रन्थ ४४६  
 महामंगल २२४, ५६६, ५६७  
 महाकच्चाव भट्टकण्ठ-सूत १८, १५८  
 महावस्तु २२२  
 महाप्राणस्त ३२  
 महालि सूत १४०, २१३  
 महाकम्पविभंग-सूत १५८  
 महाराष्ट्रलोवाव-सूत ३५  
 महापदाव-सूत १२, २०५  
 महाविरवुद्धि ५७८  
 महाटीका ५३१  
 महाकौण्डिल या शारिपुत्र ३५६, ३५७  
 महामंगल सूत २१०  
 महामारोगन सूत १६  
 महिसासक विनय ३११  
 महाजटुकवा ४६७, ४९८  
 महाभूष ५५२, ५५८, ५५९, ५६०  
 महारिष्ट ५५६  
 महासम्मत ५५०, ५५६  
 महाचौधिमम १३२, १३४, १४८, ५३३  
 महाव्रमण-जातक २८५, २८२, ६३१  
 महाबली गंगा ५२०  
 महापञ्चरो (महापञ्चरिय) ४२७, ५४१, ५८१ ५७७, ५८१  
 महासहनीति ६११  
 महाकालवचन-टीका ६४२ २४९  
 महालि १४०  
 महाप्रसाद ५५८  
 महानाम २३५, ३२५, ५०८  
 महेंद्र (महिन्द्र) १२, १३, १५, ८९, १०, ११०, १२०, १२१, ५६९, ५७२, ५७३, ६१०, ६३६, ६३७, ४५  
 ३३८, ४९६, ५०८, ५५१, ५५७, ५५८, ५६०, ५६२, ५६८, ६४५  
 महाव्युत्पत्ति ३१४  
 महानिर्देशलिङ्गो ५७७  
 महास्वामी (महामामि) ५३०  
 महासमय-सूत १२, १२६, १४६  
 महालि-सूत १२, १७२  
 महाविभंग ३२५  
 महापुण्यम-सूत १७, १५७  
 महासुदस्सन-सूत १२  
 महाभुन्द २१२  
 महा-धम्मसमाधान-सूत १५  
 महावस्त्रपुर सूत १४, १२६, १५२, १७२  
 महासेन ५६४  
 महासकुलुदायि-सूत १६, १५५, १६०, ६२४  
 महाकपि जातक ६३५  
 महानुन्यातावादी ४२८, ४४२, ४४३, ४४९  
 महाविपुल २४१  
 महाधर्मरसित ८८, ५८२  
 महायानी संस्कृत साहित्य १२४  
 महागोव ३१०  
 महागण्डासंख्य-सूत १४, १५२  
 महावृद्धोपसस निदानवाच ५६७  
 महा बुक्कुल्लग्य सूत १५१  
 महावत् टीका ५७२  
 महानिर्देश अट्टकवा ६४०  
 महाकाल्यायन १८३, २१०, २३१, ४७२, ४९९, ५००, ५२४, ५२५, ६०२, ६०३  
 महासुदस्सन जातक १४५, २९९  
 महाधिल २१०  
 महानगर राट्ट (स्याम) ५८२  
 महाविजित १३९  
 महाचत्तारीतक-सूत १७, १५७  
 महावर्ण २२, ७५, ११, १२, १०७,

- ११४, १३२, १३३, १३४, १४६,  
 १७०, १७२, १८१, २१८, २१९,  
 २२५, २२६, २४७, २७६, ३००,  
 ३२४, ३२६, ६३९  
 महामाया ३३५  
 महाभूत ३५५  
 महाधर्मरहित ५५१, ५६८, ५७२  
 महो (नदी) १९५, २३८, २५७  
 'महावंस' कीटीका ४९६, ५४१, ५५३,  
 ५६९  
 महागोविन्द-सुत १४, १५२  
 महापरिनि २१०  
 महायमक-वग्ग ९४  
 महाकाश्यप १६५  
 महानाम-सुत १८८  
 महासीहताव-सुत १३, १६०  
 महावन १७७, ५२५  
 महामौद्गल्यायन १५१, १५३, १६०,  
 १६९, १७४, १८१, २१०, २२९,  
 ३२५  
 महापान २८५  
 महाराष्ट्र ८८, ५७४  
 महानाम धामय १८४, १८५, १८८  
 महासच्चक सुत ९४  
 महापिण्ड जातक २९२  
 महावंस (महावण) २२, ८, ९, १०  
 ७८, ५८, ८७, ८८, ९०, १०४,  
 १०५, १०९, ११२, ११६, २११,  
 ३२७, ३३९, ३५१, ४२२, ४२४,  
 ४२६, ४४९, ४७९, ४९६, ४९९,  
 ५०६, ५०७, ५०९, ५११, ५२८,  
 ५४७, ५४८, ५५०, ५५१, ५५३,  
 ५६४, ५६६, ५६७, ५६९, ५७०,  
 ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५,  
 ५७८, ५८०, ५८८, ५८७, ५९८,  
 ५९९, ६२४  
 महानाम (लकाधिपति) ५०८, ५०९  
 महादेव (स्वविर) ५५७, ५६८, ५७२  
 महामंगल सुत ६३२  
 महामंगल २४०, ५४०  
 महाप्राण ५४, ५६, ५८, ५९, ६२  
 महाम्बामी ५३९  
 महावंस-टीका ६४०  
 महावक्त्रगोत-सुत १६, १५५, १५९,  
 १६०  
 महासिद्धि ६४१  
 महामाग (स्वविर) ५३९  
 महाकस्ता (महर्षी साताब्दी के बरमी  
 भित्ति) ५४३  
 महाकाश्यप (वृद्धशिष्य) ५२६,  
 ७७, ७८, ८७, १८२, १९८, २१०,  
 ३०९, ३०५, ३०७, ३३९, ५५०,  
 ५७२  
 महानाम (महावण के रचयिता)  
 ५५४, ५५५, ५६४, ५६५  
 महासारोप-सुतन १५१  
 महामाया २६५  
 महापरिनिर्वाण ११८, १०१, ३१२, ४२२  
 महासुदर्शन १४५  
 महासुदर्शन-सुत १४५  
 महापान २९०  
 महापान ५०८, ५३०  
 महो-मुञ्जता-सुत ९८, १५७  
 महाटीका ५७९  
 महापान धर्म ४४२, ४४३  
 महाभाष्य ३५५  
 महा-मालुका-सुत ९५  
 महाराष्ट्री (प्राकृत) ३१, ३९  
 महाकल्याण ४७१, ६४० देखिये  
 'महाका' यावन भी  
 महियमङ्गल ५५०, ५६८, ५७२, ५७४,  
 महामाग संप्रदाय ४४३  
 महागोविन्द १४५  
 महोद्यातक २८१, ४२२, ४२३, ४२४,  
 ४२५, ४३४, ४३६, ४३७, ४४२,  
 ४४४, ४४५, ४४८

महानिदानमुत्त ९२, १३५, ४५५, ५४५  
 महाबोधिवस ५६८-६९, ५७२  
 महाभालुक्क मुत्त १५४  
 महागोविन्द-मुत्त ९२, १४५  
 महामुत्तलोम जातक २८६  
 महामाव ६२६  
 महापुरुष-लक्षण १५६  
 महापथक १८३  
 महाकोटिदत्त १८३  
 महाकपिन १८३  
 महावेदल्ल-मुत्त १५, १०३, १५२  
 महाभिनिष्क्रमण १५१  
 महानिद्रेस १०७, २९७  
 महागोविन्द जातक २७५  
 महागोपालक-मुत्त १५२  
 महाजनक-जातक २८७, २९३, ६३५  
 महास्तूप ५७०, ५७३, ५७४  
 महानिकल्लिगघ ६०४  
 महासकुलदायि परित्राजक १५५  
 महापदान मुत्त १४३  
 महाविनयसंगहणकारण ५३८  
 महावग्गसंयुत्त ६३९  
 महाकामल २८७  
 महायमक-वग्ग १५२  
 महाविभंग ५०४  
 महारुठ (महाराष्ट्र) ५५७, ५६८, ५७२, ५८२  
 महाजटुकवा ५४२  
 महानाम (सद्धम्मणकामिनी के रचयिता) ५३०  
 महारुजित (स्वविर) ५५७, ५६०, ५७२  
 महायाम (कच्चायनभेद के रचयिता) ६०६  
 महाबुद्धयोस्स निदानवत्थु ५०६  
 महासुत्तक मुत्त १५२, १६०  
 महाविहार ६०, २८१, ४९८, ४९९, ५०४, ५०८, ५१६, ५३०, ५३१,

५५१, ५६३, ५६८, ५३९, ५९८  
 महानारतकार ५८९  
 महाजतवन (लका) ६१४  
 महाहत्थिपदोपम-मुत्त ९४, १५१, ४५५  
 महानिदान मुत्त १४४  
 महाबोधि सभा २०७, ३५०, ५८८  
 महाबोधि सहण ५५८  
 मग्गसंयुत्त १७४  
 महाप्रजापति गोतमी १८४, १८९, १९०, २६५, ३२५, ५२५  
 मज्झिम २७४  
 महाराहुलोवाद मुत्त १५३, १६०  
 महानाम (मनुसारत्थ दीपनी के रचयिता) ५४३  
 महासंगीति ८४, ८५  
 महासुदस्मान जातक २९९  
 महाभारत १२९, १३०, १६४, २२०, २८६, २९२, २९३, ५४७, ५४८, ५९३  
 महाकस्साप (वारहवी पाताब्दी के सिंहली भिक्षु) ५३७  
 महायानी परम्परा ३१४, ३४०, ५१२, ५१६, ५१९, ६२०  
 महिस-जातक २९०  
 मागधी (प्राकृत) १०, ११, १४, १५, १६, १७—की विलोपताएँ १७-१८, १९, २१, २३, २४, २५, २६, २८, ३१, कहाँ तक पालि का आधार है ? १८-२८, ३१, ३२, ३४, ४८, ५५, ६१  
 मागधी निरुक्ति १०, ११  
 मागधी (भाषा) ५०२, ५०८, ५०९, ५३७, ५७५  
 मागधिक भाषा १०  
 मग्ग संयुत्त १७४  
 मागन्धिय मुत्त ९६, १५५, १६०  
 मार्ग-सत्त्व ४०५, ४१५, ४१७  
 मार्ग-अत्यय ४५८, ४६२



|                                                   |                                                                                              |
|---------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------|
| मागधको बांहारो १०, २३                             | मुनिक जातक २७५                                                                               |
| मागधिय (परिव्राजक) ५७, १५५,<br>१५९, २४१, ३०६, ३२० | मुनि-मुत्त ३३५, ६३०                                                                          |
| मागध सङ्कलन ६०८                                   | मुक्ता २६८                                                                                   |
| मार्ग-प्राप्ति ४३३                                | मुनिगाथा २३५, ६२९, ६२८                                                                       |
| माघ २४०                                           | मुद्रक २४०                                                                                   |
| मार्ग ३२५                                         | मुद्र (ई) १३, १५                                                                             |
| मार्ग-फल ४४४                                      | मुखमत्तसार ६४०                                                                               |
| माधुरिय मुत्त १५५                                 | मुद्रिता ४१०                                                                                 |
| माध्यमिक सूत्र ४२३                                | मुद्रपत्र जातक ६३५                                                                           |
| मान ५३५                                           | मुद्रिता ५२१, ५३५                                                                            |
| मानस ३१६                                          | मुद्रन्य ३५, ३६, ४६, ५७                                                                      |
| मार १५१, १५३, १६२, १६६,<br>१६७, २५८               | मुद्रन्धीकरण ५९                                                                              |
| मारुतज्जनिम मुत्त १५, १५३                         | मूलपद ४६५                                                                                    |
| मार्गि (ई) १७८, ३४२, ४१८, ५९५                     | मूलगायकुटी २३५                                                                               |
| मार संयुत ९९, १६१                                 | मूलसिक्ता-टीका ५३९                                                                           |
| मातृकटुकथा ६४३                                    | मुद्रन्य संयुक्त व्यंजन ६७                                                                   |
| मातृका २१२, ३२६, ३३९, ३५९,<br>३९५, ४१२            | मूल सिक्ताम टीका ५७९                                                                         |
| माणव ४३६                                          | मूल-वर ३५                                                                                    |
| मालालकारवत्थ ५४४, ६००                             | मूलपण्णास अट्टकथा ६३९                                                                        |
| मातंग-जातक ३००                                    | मूल टीका ५६८, को टीका ५४३                                                                    |
| मातंग-वर्ग ३००                                    | मूल सिक्ता (मूल शिक्षा) ५३२, ५३९                                                             |
| मातुगाम-संयुत १००                                 | मूलपरिषाव-वर्ग २४९, १५०                                                                      |
| मातृक्यदीपनी ५४०                                  | मूल-यमक ६५०, ६३९,                                                                            |
| मातृग्य (मन्त्ररिय) ३८२, ३९२, ५३५                 | मूलटीका ५०७                                                                                  |
| मातृक्यपुत्त ४८८                                  | मूल सर्वोत्ति वादो ३१३, ३१४                                                                  |
| मातृल (सर जोम्ह) ६३४                              | मूल परिषाव मुत्त १४९                                                                         |
| मातृकी (हंदरावाद राज्य) ६१८                       | मूलपण्णास टीका ६३९                                                                           |
| मात्राकाल ४२, ५१                                  | मूलपण्णास ६३९                                                                                |
| मातुगाम-संयुत १६८                                 | मूलसिक्ता अभिनव टीका ५३९                                                                     |
| मात्रिका-घर ७५                                    | मूलसिक्ता पोरान टीका ५३९                                                                     |
| मात्रिका वण्णास ३१२                               | मूल सिक्ता टीका ५८१                                                                          |
| मुखसतदीपनी ५२८, ६०४                               | मेगस ८९                                                                                      |
| मुखसतसार तट्टीका ५८०                              | मेघिम-वर्ग २२६, २२९                                                                          |
| मुद्रपत्र जातक ६२५                                | मेदलुम्प १५९                                                                                 |
| मुखसतसार टीका ६४०                                 | मेविल वीठ १९९, २११, ३०८,<br>४०२, ५६६, ५६७, ५८१, ५९७,<br>५९९, ६००, ६०४, ६०६, ६११,<br>६१२, ६१३ |

मेतगुमाणवपुच्छा २४१, २४३  
 मेत सुत २०९, २१०  
 मेतभावसुत २३४  
 मेतगु २४३  
 मेरु ६१८  
 मेता ४१०  
 मेधंकर (जितचरित के रचयिता  
 तेरहवीं शताब्दी के सिंहली भिक्षु)  
 ५७९, ५९३, ५९४  
 मेधंकर (बरमो भिक्षु, लोकदीपसार के  
 रचयिता) ५९३  
 मेधंकर ५४० ५४२  
 मेनुअल आव (इण्डियन) बुद्धिज्म  
 (कर्म) ३४० देखिये 'ए मेनुअल  
 ऑव इण्डियन बुद्धिज्म' भी  
 मेधंकर (व्याकरण) ६०९ देखिये  
 वनरतनमेधंकर  
 मत्स्ययोग ६४१  
 मेनागदर (गोक राजा) ४७३, ४७४,  
 ४७५, ४७६, ४७९  
 मेतानिसस-सुत २११  
 मेसन (डा) ६०३  
 मैसूर ६१७  
 मेन ऐण्ड बाँट इन एन्वियेन्ट इण्डिया  
 (राधाकुमुद मुकर्जी) ६२१  
 मेनेय (बुद्ध) ५०९, ५३०, ५८५, ५८६,  
 ५८७  
 मेनी-भावता १५३, २१३, २२३,  
 २३४  
 मेत्रिका २६८  
 मेनी (भावता) ९१, ४१०, ५२१  
 मेससमुलर ५५०  
 मेसस वेलेसर ८१, ८६  
 मेधुन-संवध ४४७  
 मौगन के दो स्वर्णपत्र लेख (बरमा)  
 ६१७, ६३४, ६३६-६३९  
 मौद्गल्यपुत्र तिप्प ५५७, ५६२, ५६६  
 देखिये 'मौग्गल्यपुत्र तिस्र' भी

मौगल्लान (व्याकरणकार) १०,  
 ५७८, ६०८, ६०९, ६१३, ६१६  
 मौगल्लान व्याकरण और उसका  
 उपकारी साहित्य ६०७-६१०  
 मौगल्लान (अभिधानावलोपिकाकार)  
 ६१४, ६१५  
 मौगल्लपुत्र तिस्र ३१०, ३११, ३२५,  
 ४२२, ४२४, ४२५, ४९२, ५५७,  
 ५६२, ५६६, ५७२  
 मौद्गल्यायन ३२५  
 मौर्य-अधिपति २०६  
 मौद्गल्यायन १२५, २४५  
 मौगल्लान-संयुत १००  
 मौगल्लान (मौगल्लायन) ४९, १२५,  
 २४५, ४०१  
 मौगल्लान पञ्चिका ६०९, ६१०,  
 ६१४  
 मौगल्लान पञ्चिका ६०८  
 मोघराजमाणवपुच्छा २४१  
 माघालियुक्त ३३६  
 मोघराज १८४  
 मेविल हल १७८  
 मोरंडखेटक ५१०  
 मोलिनी २८७  
 मोरपति सुत २११  
 मोनेय्य सूत (मोनेय्य सूत्र) २३५,  
 ६२७, ६२८, ६३०  
 मेसेडोनिया ८९  
 मोह ३७४, ५३३, ५३५, ४५८,  
 मोहविच्छेदनी ५३२, ५४३, ५८७, ६४०,  
 मोहमूलक ३९२, ५३५  
 मोहमूलक दो अकुलचित्त ३८१  
 मोहनपन ६४०  
 मौगल्लान व्याकरण ६०३, ६११  
 मिथ्या-दृष्टि १२९, १३५  
 मिलिन्धपण्ह १२९, १३०, १३१,  
 १३३, ४७२-४७५  
 मीमांसा १७१

मिलिन्द बारम्भुज १८३  
 म्यो-न्यो-रोन् ३१२  
 मृगारमाता (विज्ञाता) २२८  
 मृत्यु वंचन ६४२

## य

यजुर्वेद २३८  
 यानप्रभा-टीका ६४२  
 यद्भूयसिक ३१९  
 यमक ९१, ११५, ३४१, ३४३, ३४६,  
 ३४८, ४५०-४५२, ४५३, ५४४  
 यमक पकरण ८५०  
 यमक पकरणट्टका ५२९, ५३८  
 यमक-वग्ग २२४, २२३  
 यमक वण्णना ५४३  
 यमक (लिखक) ६०४  
 यमवग्गि १४२, २९१  
 यमना १३३, १९५  
 यवन-देश (योनिक लोक) ८८, २९२,  
 ४३३, ४९४, ५५७, ५६८, ५७२  
 यण (बुद्ध-विषय) ३२५  
 यणोमिण ३५६, ३५७  
 यमवद्भूतकथ ५४३  
 यष्टिबन २८६  
 यणोघरा ७३  
 यण १६१  
 यण-लोक ४३५  
 यणिणी १६१  
 यान्क २९, ३९  
 राजवन्क ४९४  
 यम-काल ४३५  
 यनिरल पञ्चानन्द महाधेर ५४४,  
 ५६५  
 यम-विषय ३४  
 यम संग्रह ६४२  
 यम संग्रह-टीका ६४२  
 यमिष्ठिल २९३  
 यमिष्ठिर १६४, २४०, २८६, २९३

युद्धज्य ६४२  
 युद्धज्य चरिय ३००  
 युद्धज्य जातक ३००  
 युद्धस्थव २९६  
 युआन्-चुआइ ८१, ८२, ८३, ८५, ८७,  
 ३५४, ३५६, ३५७  
 युनान ४९४  
 योग ३६७  
 योग-सूत्र १२४  
 योग विनिच्छय ५४०, ५७९  
 योग कम्बोज १५९  
 योगोपियन साहित्य २९६  
 यं वमणी अवयसि जातक ६३५

## र

रक्षित धेर (रक्षित स्वधिर) ५५७,  
 ५६८, ५७२  
 रज्जुक (राज-कर्मचारी) ६२५  
 रठपाल ५२५  
 रठपाल (महाविहारवासी भिक्षु)  
 ५९८  
 रठपाल (मधुरसवाहिनी) ५७९  
 रठपाल मुत्त १५५  
 रठसार ५४२, ५४३, ६००  
 रतन २५०  
 रत्तमाला ६४१, ६४२  
 रत्तमाला टीका ६४१  
 रतनमुत्त २०९, २१०  
 रधवितीत-मुत्त ९४, १५१, १५९,  
 ६३०  
 रम्मनगर २८७  
 रमेणवन्ध मज्जुमदार (श्री०) ८३, ८४,  
 ८६, ४७४  
 रत्त १६५, १६६, ३३०, ३४८,  
 ३८९, ४०२, ४०३, ४०४, ४५९,  
 रत्त-आयतन ४०१, ४५९  
 रत्तवाहिनी ५४१, ५८४, ५८८, ५९७-  
 ५९९

- रसवाहिनी गीठ ५९९  
 रक्षित ८८  
 रक्षित वन २२९  
 राजक (इन्डू० एच० डी०) ५९२  
 रौकहिल (इन्डू० एच० डी०) २२२  
 राग ५३३  
 राघ-संयुक्त १००, १६७  
 रामण्य देश (पेगु-बरमा)  
 रामकथा २९३  
 रामगाम ५३१, ५३४  
 रामपुरवा (चंपारन-विहार) ६१९  
 रामायण २९२, २९३  
 रायस डेविड्स (टी० डबल्यू० डा०)  
 ६, ७, १२, १४, १०४, १०६, १०७,  
 १११, १२१, १३१, १३२, २०१,  
 २७३, २८९, २९०, २९३, ३४०,  
 ४२२, ४७४, ४७५, ४७६, ४८४,  
 ४९२, ४९४, ५५०, ५६१, ६२८,  
 ६२९, ६३०, ६३१  
 रायस डेविड्स (सी० ए० एफ०,  
 श्रीमती) देखिये 'श्रीमती रायस  
 डेविड्स'  
 राष्ट्रपाल १५५  
 राष्ट्रिक ८८  
 राहुल १३०, १५३, १५४, २२९,  
 २४०, २९८, ३६५, ५२५  
 राहुल 'वाचिस्मर' (मिहली मित्र)  
 ६०५, ६०९, ६१०  
 राहुल सांस्कृत्यायन (महापंडित)  
 १०८, १२३, १२९, १३२, १३३,  
 १३४, १४८, १८२, १९३, २१४,  
 २२५, २३१, २३५, २४४, २४६,  
 २९१, ३१३, ३३४, ४२२, ४२३,  
 ४२५, ४२६, ४२७, ४४३, ४८४,  
 ५२५, ५६४, ६३२  
 राहुल संयुक्त ९१, १६६  
 राहुलोवाद-मुगल ६३१  
 राजगृह ७९, ८०, ८१, १२६, १३६,  
 १४५, १५३, १५९, १७७, १९५,  
 २५१, २८६, ५२४, ५२५, ५२६,  
 ५३०, ५६३, ५७१, ५७२, ५७४,  
 राजगृहिक (मित्र) ४२६, ४३४,  
 ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४७,  
 राजतरंगिणी ५४७  
 राजमल्ल ६४१  
 राजमल्ल-टीका ६४२  
 राज-वमा ९६, १५५, १५६  
 राजवाद ४९१  
 राजवादकथ ५४४  
 राजबिराजाविलामिनो ५४४, ५८४,  
 ६००  
 राव १६७, १८४  
 राधाकृष्णन् (सर्वपल्ली, डा०) ४२७,  
 ४८४  
 राधाकुमुद मुकर्जी (डा०) २८९, ६२१  
 रिगाडो वि दि बुडिस्ट किम्बम्स  
 २०४, २७७  
 रिक्कणिय यात्रा ६४२  
 रिक्कणिय यात्रा-टीका ६४२  
 रिष्णु ३०८  
 रत्नमूलिक ४९१  
 रत्नमण्डप ६१८  
 रूप १६५, १६७, १६८, १९३,  
 २३०, ३४४, ३४७, ३४८, ३९३,  
 ४०२, ४०३, ४०४, ४०७, ४३३,  
 ४५०, ४५३, ४८२, ४८३, ५०५,  
 ५२१, ५२२, ५३३  
 रूपभाष्यतन ४०१, ४५३  
 रूपकंड ६७३  
 रूपकल्प-विभाग ३४४, ३४५  
 रूप-जीवितान्द्रिय ४३३  
 रूप-धातु ४१२, ४३५, ४४०, ४४६  
 स्थानां (जबलपुर के समीप मध्य-  
 प्रदेश में) ६१८  
 रूप-राम ४४२  
 रूप-लोक ४३५, ४४५



रूप-विधान ३१

रूप-विलक्षण ६४९

रूप-सम्बन्ध ३४९, ३९४, ३९९, ४०१,

४०४, ४१६, ४५१, ४५२

रूपसिद्धि ५९५, ६०९, ६११

रूपसिद्धिजटुकभा ६४०

रूपसिद्धिटीका ६४०

रूपसिद्धिटीका ५७८

रूपसिद्धिनिस्त्य ६४१

रूपसिद्धिपकरण ५७८

रूपारूपविधान (बुद्धदत्त-कृत)

५०४, ५०५—वाचिस्सर—कृत

५४०, ५७९

रूपावचर ३७२, ३७४, ३९९, ४४३,

५३५, ५३६

रूपावचर-भूमि ३७४, ३७६

रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त

३८५

रूपावचर विपाक चित्त (पाँच) ३८३

रूपावतार ६४१

रूपाव ८५

रूपाव कविर-वर्णन १८३

रूपाव महाशेद ५०७, ५०८

रूपावनिदान ६४१

रूपावनिदान-निस्त्य ६४२

रूपावनिदान व्याख्या ६४२

रूपावयात्रा ६४१

रूपावयात्रा-टीका ६४१

रूपावयात्रा-निस्त्य ६४२

रूपाव (लिपि में संस्कारण, पालि ग्रंथों

के) १७८, २७३, ३९५, ४१२,

४२१, ४५०, ४७२, ५३१, ५३३,

५६६, ५६८, ५७५, ५८४, ५८७,

५९१, ५९२, ६२८

रूपाव २९२

रूपाव ३१०, ४८१, ५६६

रूपाव २८२

रूपाव जातक २८२

ला

लकुटिकोपम-सुत ९५, १५४

लक्षणापञ्चो ४८३

लक्षणापञ्चो ९९, १९६

लक्षणासुत १२६, १४७,

३५७, ६३२, ६३३

लक्षा २, १२, १३, १५, ८२, ९०,

९१, ११२, ११६, १२२, ११३,

२७४, २९०, ३०७, ३१०, ३३१,

३३२, ३३७, ३३८, ३५१, ४७८,

४९२, ४९६, ४९७, ५०२, ५०३,

५०४, ५०८, ५०९, ५२८, ५२९,

५३०, ५३३, ५४४, ५४५, ५४८,

५५०, ५५१, ५५२, ५५५, ५५६,

५५७, ५५८, ५६०, ५६१, ५६२,

५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७,

५६९, ५७०, ५७२, ५७३, ५७४,

५७६, ५७७, ६०४, ६०५, ६०८,

६०९, ६१३, ६१४, ६४३

लक्षणा जातक ६३५

लक्षणा जातक ६३५

लक्षणा २८६

लक्षणा लेख (अर्थों के) ३१८

लक्षणा भद्रि (भिक्षु) १८३, २३०

लक्षणा (प्राकृत) ३१

लक्षणावादे भूतवादे अर्थाधिक्य

भगवतादिभाषिता

लक्षणाकार नयुत ९९, १३५,

१६६

लक्षणा ५५१

लक्षणा (हा० विमलाचरण लाहा)

४, ११, १२, १९, २२, २४,

११६, १२१, २०५, २७३, ३१२,

३१३, ३३३, ३३८, ३५६ देखिये

'विमलाचरण लाहा' भी

लक्षणा विवरण ६४०

लक्षणाविवरणपकरण ५८०

लिगत्वविवरणपकासन ५८०  
 लिगत्वविवरणटीका ५६९, ६४०,  
 लिच्छवि १४०, १७७, १९३, २१२,  
 ५३६, ५३९  
 लिच्छिव गणतन्त्र १६६  
 लिच्छविपुत्र १४०  
 लिट् लकार ६९  
 लिपान फिपर १६०, ५९६  
 लोमत्व पकासिनी ५३१, ५३८,  
 ५७८, ५८१,  
 लोमत्ववर्णना ५३१  
 लोमत्वमुदनी (सद्विन्दु की टीका)  
 ६२०  
 लुम्बिनी २८६, ५३०  
 लुम्बिनी ग्राम ६२१  
 लुम्बिनीवन ६२१  
 लुप्त (एच.) १८, ३३, २९१  
 लुपि सदाव ४५२, ५४४  
 लुवी (मिलवा) १९, २०, ८६,  
 लोक पञ्चमति ६४०  
 लोकपञ्चातिपकरण ५८१  
 लोकपदीपसार (लोकदीपसार)  
 ५४२, ५८०, ५८४, ५९७, ६०९,  
 लोकवग २१५, २१८, २२४  
 लोकायत ४८१,  
 लोकिया ३६४  
 लोकपति ५६९, ६४०  
 लोकोत्तर ३६४, ४३१, ४४०, ४४१,  
 ५३५  
 लोकोत्तर विपाक चित (वार)  
 ३८३  
 लोकोत्तर ध्यान ४०७, ४०८  
 लोकोत्तर भूमि ३७६  
 लोकोत्तर भूमि के चार कुशल चित  
 ३७९  
 लोकोत्तर धर्म ३५५  
 लोकोत्तरवादी ४२४  
 लोमत्ववर्णना ५७८

लोम ३६५, ३६६, ३६९, ३९२,  
 ४४०, ४५८, ४३५  
 लोममूलक ३९२, ५३९  
 लोममूलक आठ अकुशल चित ३७९  
 लोमसकमिव-भददेकरत-तत् ९८, १५८  
 लोमहंस जातक ३०१  
 लोह प्रसाद ५५२, ५५८, ५५९,  
 ५६०, ५६२, ५७३  
 लोहिच १४२  
 लोहिच-मुत्त १४२  
 लौकिक ४३०  
 लौकिक ज्ञान ४११  
 लौरिया अरराज ६१९,  
 लौरिया मन्दनगढ़ ६१९,  
 बिहार)  
 लोहित १४२

## व

वचन-व्यत्यय ३०  
 वचनत्वजोतिका ६१६  
 वचन-वाचक ६१२  
 वच्छमोत्त-मुत्त १००, १६८  
 वज्रवृद्धि (विनय टीका के लेखक) ३४३  
 वज्रा (वजिरा) १६२  
 वज्रि १४४, १४५, १९५  
 वजिरवृद्धि (अटकवाकार) ५३२  
 वजिरवृद्धि समन्तपासादिका की  
 टीका) ४९८, ५३२  
 वट्टगामणि अमर (लुद्धाधिपति) १,  
 ११, ११६, ३२७, ३२०, ४९६,  
 ५५२  
 वट्टकिमुकर जातक २८७  
 वर्णनात्मक काव्य ग्रंथ ५८४  
 वत्थुमाथा २४१  
 वथ मुत्त १५०  
 वत्स राज्य २८७  
 वनपर्व ५९३  
 वनरतन मेवंकर ५९३, ६०९

वनवासी-सम्प्रदाय ५९८  
 वन-संयुत ११, १६३  
 वट्टपोतक जातक ३००  
 वक्कुल-मुल १५७  
 वज्जिपुतक ४२२, ४२६, ४२८, ४४८,  
 ५५१  
 वर्ण-परिवर्तन ३३  
 वर्णनोतिगन्धो ५७७  
 वर्णव्यत्यय ३२, ७०  
 वत्थुपम-मुल (वत्थु मुल) १३  
 वनपत्थ-मुल १४, १५१  
 वनवास (मैसूर का उत्तरी भाग) ५५७,  
 ५६८, ५७२, ५७४  
 वलाह-संपुल १००, १३८  
 वशिष्ठ २८१  
 वसुमित्र ३५३, ३५५, ४२३, ४२४,  
 ४४९  
 वंस १५३, ४९४  
 वंशीय (वंगीस) ७८, १६३, ५२५  
 वंशीस-संयुत ११, १६३  
 व्यंजन अनुकृता ६३, ६४  
 व्यंजन-विपर्यय ६३  
 व्यंजनों के उच्चारण स्थान में परि-  
 वर्तन ५९, ६१, ६३ ६६-६७  
 वृज्जि ८४ देखिये 'वज्जि' भी  
 व्यंजन-परिवर्तन ३७, ५४-६७  
 व्यवहार मत्स्य ३५०  
 वस्सकार (वर्षकार) ११५  
 वण ३२५  
 वम्मिक-मुल १५, १५१  
 वलाहक-कायिक १६८  
 वल्लिय (वधिर) २४७  
 वर्षा-वास ३२१, ३२६  
 वसल मुल २१२  
 वसुवन्धु ३३४, ३५५, ४६४  
 वसुतिस्मा-नियम ३३२  
 वरुण ४५४  
 वज्जिपुतक ४२३ देखिये 'वज्जिपुतक' भी

वृत्तरत्नाकर ६३८, ६४२  
 वृत्ति (मोमल्लान व्याकरण पर) ६०८  
 वृत्तोदय टीका ६४१  
 वश (वस) शब्द का अर्थ और इतिहास  
 में भेद ५४७-४८  
 वंश ग्रन्थ ४९५, ५०२, ५०६, ५३६,  
 ५३७, ५४०, ५४१, ५४२, ५४४,  
 ५४५, ५४६, ५४८, ५६७, ५६९,  
 ५७१, ५७३, ५७६  
 वंश-साहित्य ५१७-५८२  
 वंस्त्यदोषानो (महावंस की टीका)  
 ५४१  
 व्यंजनविपर्यय ६५-६६  
 वाचकोपदेश (व्याकरण) ६०७  
 वाचनामग्न ११, २२  
 वाचस्पति ४६४  
 वाचस्पति मिश्र ५३९  
 वाचिस्सर महासामि (वागीश्वर महा-  
 स्वामी) ५०५  
 वाचिस्सरों ५७९  
 वाचिस्सर ५९४, ६०५  
 वाचिस्सर (सिंहली भिक्षु, सारिपुल  
 के शिष्य) ५३८, ५३९, ५४०,  
 —की प्रधानरचनाएं ५३४-५४०,  
 ५६८, ५६९  
 वाजिरीय ४२६  
 वाडुआ-औरमित्र २२२, २२१  
 वाल्मीपुत्रोप ४२३, ४२४, ४२६  
 वाल्म्यायन ४६४  
 वातितककार (वाल्म्यायन) ६०३  
 वाक्य-विचार २९  
 वातर-जातक २८३  
 वातरिन्द जातक २८२  
 वामक १४१, २९१  
 वामदेव १४१, २५१  
 व्याकरण साहित्य ४८१, ५३७, ५४५,  
 ५४६, ५६६  
 व्याकरण मूत्र १२४

व्याकृत ३५५  
 वायु-वातु ४०३  
 वाराणसी १५९, १६३, १७२, २७४,  
 २८६, ३२४, ३२५, ४९४, ५२५,  
 ५६३, ५२०, ६३६  
 व्यापाद १५४  
 व्यापाद-वातु  
 बाल्मीकि-नामायण १११, २२९, २५५,  
 २६६  
 बाशिष्ट १४२, १४३  
 बाशिष्ठी २७०  
 बामवदत्ता ५२७  
 बामेष्ट १५९, २४१  
 बामेष्ट-मुत्त ९७, १५६  
 बामेष्टी २६८  
 बाहीतिय-मुत्त १९४  
 बाह्योक्त (प्राकृत) ३१  
 विक्रमसिंह ५४४  
 विक्रमसिंह (मारिमुत्त के सिन्ध) ५९३  
 विमलि-प्रत्यय ४५८  
 विचार १७१, २२३, ३७२, ३७८,  
 ३८२, ३८६, ३८९, ३९२, ४१०,  
 ५३४  
 विचिकित्सा १५४, ३८८, ३९२, ४३०,  
 ५३५  
 विचिताचार ६१३  
 विचित्र गंगा ६४१  
 विजय ५५१, ५५६, ५६०, ५६१  
 विजयवाहु (क्षितोय, नृतीय) ५९४  
 विजयवाहु ३५१  
 विनर्क १७१, ३७२, ३७८, ३८०,  
 ३८२, ३८६, ३८९, ३९२, ४०९,  
 ४१०, ४३६, ५३४  
 विन कसण्डान-मुत्त १४४, १५१  
 विसेनिका ४८०  
 वल्लभिय सेनासन ४८०  
 विनुर पुनविम जातक ६३५  
 विविध मण्डमंडल टीका ५८०

विद्वाना ४६९  
 विद्वाना-भावना २६१  
 विद्यालकार परिवेष ६०८, ११०  
 विविधा ५७४  
 विदुर २९३  
 विधुर २९३  
 विधुर पंडित जातक २८६, ६३५  
 विधुसेखर भट्टाचार्य ०  
 विटरनित्त (एम०) ८, ८७, १२९, १३०,  
 १३२, १३३, १३४, १६१, १६४,  
 २००, २०१, २५५, २७१, २७३,  
 २९१, २९३, २९४, ३१५, ३२६,  
 ३४१, ३४५, ३५१, ४७०, ४७४,  
 ४७५, ४७७, ४७८, ४७९, ४८४,  
 ४९२, ५५४, ५८६, ५८९, ५९०,  
 ५९१, ५९३, ५९५, ५९८, ६३०,  
 ६३१  
 विडिवा (डि०) १५, १६  
 विन्ध्य प्रदेश १३, १४, १५, २१  
 विनय ७१, ८२, ८७, ११३, ११७,  
 १९८, ३३६, ३३७, ३३९, ३५७,  
 ३५८, ३७९, ५५६  
 विनय गूढत्वं दीपनी ५४०  
 विनयोत्तर सिन्ध अट्टक्या ६३९  
 विनय नियम ३२८, ३२९, ३३२  
 विनयपत्रिका २५२, २५३  
 विनय पिटक १३, २१, २२, ७५,  
 ७७, ७८, ८३, ८५, १०२, १०७,  
 ११५, ११७, ११८, १२१, १७२,  
 १७३, १९८, २०१, २१०, २७५,  
 ३०२-३३३, ३३६, ३३८, ३४०,  
 ३५१, ३५२, ४२२, ४२३, ४५४,  
 ४९७, ५०५, ५०७, ५८०, ५५०,  
 ६२८, ६३८, ६४३, ६४९  
 विनय-पिटक के नियम ३१५-३२२  
 विनय-पिटक का विषय और उमका  
 संकलन-१८ ३०९-३११  
 विनय-पिटक के भेद ३१५-३१७



विनय-माता-वर्णना ३१२  
 विनय-पिटक की अट्ठकथा (अर्थकथा)  
 ३८, ३०८, ५३८, ३०१  
 विनय-पिटक की टीका ५४०  
 विनयपिटक-चुल्ल-वग्ग ३५, ३८, ८१  
 विनय-पालि ६४३  
 विनयचुल्ल-वग्ग ६३७  
 विनय-परिवार ६३९  
 विनय-प्रसंगि ४८८  
 विनय-महावग्ग ६३८  
 विनय-पिटक-महावग्ग १७३ विलिय  
 'महावग्ग' भी  
 विनयविनिच्छय-अपकरण ६४३  
 विनयविनिच्छयो ५७३  
 विनयसंभमजुसा ५३९  
 विनय-विनिच्छय की टीका ५४०  
 विनय-समुत्थान-दीपनी ५४०  
 विनयसंभमजुस ५७३  
 विनय-मंठि-पद ६३९  
 विनय-गण्टि ५७८  
 विनयविनिच्छय ५४३, ५४४, ५४५,  
 ५०६, ५७३  
 विनय-कण्ठ-निर्देश ६३९  
 विनय-संग्रह ५३८ की टीका ५४३  
 विनय-सम्प्रदाय ३०८  
 विनयसिचयटीका ६३९  
 विनयसंग्रह-अपकरण ६४३  
 विनयसंग्रह-अपकरण ५७९  
 विनयसाहित्य ६०५  
 विनय-संग्रह अट्ठकथा (महा)  
 ६३९  
 विनय-संग्रह अट्ठकथा (चुल्ल) ६३९  
 विनय-समुत्थान-दीपनी ५४० ५७९  
 विनय-समुत्थान (विनय-संग्रह) ६२,  
 ६२७, ६२८, ६२९  
 विनयसारसंग्रह-दीपनी ५०५  
 विनय-सुत्र ३१३  
 विपाका ३६०

विपाकाविता ३३५, ३३६, ३८१, ३८३,  
 ३८५, ५३६, ५३७  
 विपाक-धम्म ३६०  
 विपश्यता १७०  
 विपश्यता-प्रज्ञा ५२२, ५२८  
 विपस्सी (विपस्सी) १४३  
 विप्रशम (विपशम) ५९८  
 विप्रयुक्त-प्रत्यय ४५८  
 विपाक-प्रत्यय ४५७  
 विभक्तित्वा-यम ७०  
 विभज्यवाद ८६, ३४७  
 विभज्यवाद ४२५  
 विभज्यवादी ७४, ८६, ८७  
 विभज्यवादीपत्नी ६१२  
 विभज्यवादी टीका ६१२  
 विभक्तित्वावर्णना ६१२  
 विभक्तित्वावर्णना ६१२  
 विभग ११, ११४, ११५, ३२३, ३४१,  
 ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६,  
 ३४७, ३४८, ३४९, ३५३, ४५२,  
 ६३९  
 विभग की अट्ठकथा ५२३, ५२८,  
 ५२९, ५३८  
 विभग-वग्ग १ ७  
 विभागा ३५९  
 विमला २८९  
 विमलावरण-लाहा (ठाठ) १०५, १०७,  
 ३०३, ३०४, ३८५, ३८८, ३८९,  
 ३४४, ४ ३, ४९८, ५१२, ५१३,  
 ५२९, ५५४, ५६३, ५६९, ५७०,  
 ५७५, ५८२, ६१४, ६२९  
 विमलिल्लेदनी ५३७, ५७८, ५८७  
 विमलि-वितादिनी ६४३  
 विमलिल्लेदनी पञ्चो ४८६  
 विमलसार ५३९  
 विमल-वृद्धि ५७८, ३०४  
 विमल-वृद्धि (महाटीका) ५७९  
 विमान-वस्तु ११४

विमानवत् १०३, १०३, ११४, ११६,  
 ११७, २००, २०१, २४४, २४५,  
 ४११, ५२१, ६४०  
 विमान वत्सुमा विमलविलासिनो  
 नाम अट्टकथा ५७८  
 विरग ६४२  
 विरग-टीका ६४२  
 विरतिया (तीन) ५३५  
 विरोचन जातक २८२  
 विलारवत जातक २८२  
 विवृत् स्वर ४३  
 विमवापित १४२, २११  
 विशाखा ५२६  
 विष्णुदास (वेष्णुदास) ५०४  
 विष्णु-नाम २९२  
 विसर्ग ३६, ३७, ४४-४५  
 विसर्जनीय या विसर्ग ३६  
 विसृद्धिमग्न (विसृद्धिमग्नो) १, १०,  
 ३५, १०९, ११०, १३०, २७९,  
 ३३०, ४११, ५७३, ५८६, ६०१  
 विसृद्धिमग्न अट्टकथा ५३१, ६४०  
 विसृद्धिमग्न बल्ल मवटीका ५८१  
 विसृद्धिमग्न को टीका ५४५, ६४०  
 विसृद्धिमग्न गणित ५८१  
 विहार मीमा २००, ५८२, ६४२  
 विशेष भागीय १४८  
 विज्ञान १५२, १६५, १६६, १६८,  
 २४१, ३४७, ४०१, ४०२, ४०६,  
 ४५८, ४५५, ४८२, ४८३, ५०५,  
 ५२१, ५३६  
 विज्ञानानुवायतन १६९, ५२१  
 विज्ञानानुवायतन कुशल चित्त ३७९  
 विज्ञानकायपाद ११५, २५६, ३५३  
 विज्ञान धातु ४०३  
 विज्ञानकाय ४२८  
 विज्ञान स्कन्ध ३४९, ३९४  
 वीतसोक (स्थविर) २०४  
 वीमसक-मुत्त १५, १५२

वीमसा (मीमांसा) ४६०  
 वीमसाधिपति ४६०  
 वीमसा-समाधि ४०८  
 वीर्य (विरिय) १७०, १७१, ५३४,  
 ५३५  
 वीर्याधिपति ४६०  
 वीसतिजातक-अट्टकथा ६४०  
 वीसति वण्णना ५४३  
 वृत्तिमोगल्लान ६४०  
 वृत्तोदय ५७८, ६१६, ६४१  
 वृत्तोदय-टीका ८०  
 वृत्तोदय विवरण ५७९  
 वृत्तगम-मुत्त ९६, १२७, १५९  
 वेठवीपक ५७१, ५७२  
 वेणोमाधव बाहुआ २२१, ३५५, ६२६,  
 ६३०, ६३१, ६३४ देखिए 'बाहुआ' भी  
 वेणुवन (बेलुवन) १५३, ३२५, ५२५,  
 ५६३  
 वेतुलक (वेतुल्यक-वेपुल्यक) ४२६,  
 ४२८ देखिए 'वेतुल्यक' भी  
 वेद २२, २९, ७०, ११५  
 वेदसु (वेदस) १५६, १७६, २४३  
 वेद-वेदास २९१  
 वेदविधिनिमित्तनिरुतिवण्णना ६४१  
 वेदना १५२, १६६, १६७, १६८,  
 ३४७, ३८६, ३८९, ३९४, ३९८,  
 ३९९ ४०१, ४०६, ४०७, ४१२,  
 ४५४, ४५५, ४६८, ४८२, ४८३,  
 ५०५, ५२१, ५३४, ५३६  
 वेदनानुपपन्नता १७०, २४६, ३५५,  
 ४०७  
 वेदनानुविज्ञान ३४७  
 वेदना-सम्यक्त १००, १६८  
 वेदना-स्कन्ध ३४९, ३९४, ३९८, ४१५,  
 ४१६, ४१७  
 वेदकम जातक २८८  
 वेदल्ल १०२, १०३  
 वेपुल्लवृद्धि ५८०

वेद्याकरण १०२, २७७, ४८१, ६०२  
 वेरजक-मुत्त ९४, १५२, १९३  
 वेरजक-ब्राह्मण-मुत्त १२९  
 वेरजा ५२५, ५२६  
 वेरजकण्डवणना २  
 वेल्स (एच० जी०) ६१९  
 वेस्तन्तर-जातक २०९, २६४, २८५,  
 २९३, ६००  
 वेस्तमू १४३  
 वैगुल्यक (वैपुल्य) ४२६, ४४१, ४४२,  
 ४४७, ४४९  
 वैदिक आख्यान २९१  
 वैदिक परम्परा १२४, २४१, २८९,  
 ४६४, ४७१  
 वैदिक भाषा ६, ८, २२, २८, —की  
 विशेषताएँ २९-३०, —का  
 ध्वनि-समूह ३५, ५२, ७१  
 वैदिक वाङ्मय १२४  
 वैदिक साहित्य १२४, २९१  
 वेदेह स्थविर ५४१, —की दो प्रसिद्ध  
 रत्नार्ण ५४७, ५९५, ५९८  
 वैभार गिरि २८६  
 वैभागिक ३५५  
 वैशाली ७७, ८४, १४५, १५९, २१२,  
 ३०७, ३०९, २८६, ३२६, ३३८,  
 ५२५, ५३६, ५६३, ५७१, ५७२,  
 ५७४, —का गणतन्त्र १४५, —की  
 संगीति ३३९, ३५२  
 वैशेषिक-सूत्र १२४  
 वेस्टरमार्ड १२, १४  
 वोदोपया (बुद्धप्रिय-वरमी राजा) ६००  
 वोपदेव ६००, ६०७

## श

शब्द १६६, १६९, १९२, ३३०, ३४८,  
 ४०२, ४०३, ४०४  
 शब्द-आमलन ८०१  
 शब्द-साधन २९, ६८

शक १४५, १४६, १६४, २४३  
 शब्द कल्पद्रुम १२४, ५००  
 शतपथ ब्राह्मण २९०, २९१  
 शतक काव्य ५८९  
 शरण-वय २०३  
 शमथ १७०  
 शरीर के चत्तीस अंग २०८  
 शंख-लिखित ब्रह्मचर्य ३०७  
 शाक्य १३८, १३९, १५९, २६९, ५७१  
 शाक्य मुनि ३०७ ६२१,  
 स्वास-प्रस्वास ४८७  
 शास्त्रवाद १३५, १३६, ४२८  
 श्यामावती २३१  
 शक्य और बुद्धिस्ट औरिजिन्स  
 (श्रीमती गायस डेविड्स) ६, ७,  
 १२३  
 श्यारामात्मिकव्य-निस्सय ६४२  
 श्यारामात्मिकव्य ६४२  
 शास्त्र संग्रह ३५३  
 शा-जैन आंग ४२१  
 शाल (कोमल से श्राम) १७०  
 शहवाजमडी (पेशावर जिला) ६१८  
 श्यामा (भिक्षुणी) २६८  
 शाक्य महिलाएँ २६८  
 शारिपुत्र (महाकौण्डिल) ३५३  
 शिवनृगिम्मु ३११, ३१२, ३१३,  
 ३१४, ३१५, ३१८, ३३२  
 शिलापद १४०, ३०५, ३१४, ४८८  
 शिखी १४३  
 शिवपाल कव ५९१  
 शिव स्थविर ३१०  
 शिशुपाला २६८, २७१  
 शीलव २५१, २७०  
 शील १५२, १५७  
 शीलभद्र (भिक्षु) २३५  
 शील सम्पत्ति १४१  
 शील-निर्देश (शीलनिर्देशा) ५१७-  
 ५१८

शील वन १४०  
 शीलव्रतपरामर्श १५४  
 शुक २३४  
 शुभा २६८  
 शुभ १४२  
 शुक्रतारा २४५  
 शुनः शेष की कथा २९०  
 शुद्धोदन २६८  
 शुग ११६  
 शुन्यता ४४३  
 शकर ४५४  
 शूरसेन (सूरसेन) १४५, ११५, ४२२  
 स्वतन्त्र आरुण्य ४९४  
 शैलसपीयर २९६  
 शैल (बाह्यण) १५९  
 शैला (भिल्लणी) २३२  
 शैव ३१३, ३१४, ३५५, ४१८, ४३३,  
 शोभन (चित्त) ३८६, ५३४  
 शोभन-चित्त-साधारण ३८७  
 शोभन चेतसिक ३८७  
 शोणा (भिल्लणी) २६८  
 शोभा (भिल्लणी) २६८  
 शोभित म्हावि २३०, ३८७  
 शौरसेनी १८, २८, ३१, ३२—का  
 पालि से सम्बन्ध ३३-३४, ३९  
 श्रद्धा १७१, २२३, ५३५  
 श्रद्धेन्द्रिय ४३१, ४४४  
 श्रमाल माता १८४  
 श्रमण शौलम १४९  
 श्रावक २२३  
 श्रावक संघ ३२७  
 श्रावस्ती (मावस्ति) १८, १२६, १५६,  
 १५९, १८३, १८८, १९३, २२६,  
 २२७, २३०, २८६, २९१, ५१५,  
 ५२४, ५२६, ६२१  
 श्रीमती रायस डेविड्स (नी० ए०  
 एफ०) १२३, २९६, ३३९, ३४०,  
 ३४५, ३९१, ३९५, ४२१, ४४३,

४५०, ४५२, ४८४, ४९८, ५०५,  
 ५४४  
 श्री मेघवर्ण (सिरि मेघवर्ण) ४६४  
 श्रीराजाधिराज सिंह १११  
 श्रीपद (वृद्ध का चरण-चिन्ह)  
 ५९८  
 श्री महासिंह सुधर्मराज (वरमी राजा)  
 ५८२  
 श्री विक्रम राज सिंह (सिरि विक्रम  
 राज सिंह) ५६५  
 श्री संवोधि (सिरि सम्बोधि—लका-  
 धिराज) ५७५  
 श्री हर्ष ४६४  
 श्रुतमयी प्रजा ४११  
 श्रुति ४८०  
 श्रुत ४७८  
 शौक्य-अशौक्य ३५५  
 श्रोत्र ३३०, ३४८, ४०२, ४०३, ४०४,  
 ४०६, ४३५, ४४०  
 श्रोत्र-आयतन ४०१  
 श्रोत्र-विज्ञान १६५, ३४८, ३८१, ३८२,  
 ४०३, ४०४, ४६१  
 श्रोत्र संस्मरणा (वेदना) ४००  
 श्रोत सूत्र १२४

## प

पञ्चायतन ४५४  
 पाण्ड्यागारिक ४२४

## स

संगीति पर्यायपाद ११५, ३५३, ३५४,  
 ३५६, ३५७  
 संगीति-पर्याय-सुत १३, १२९, १७२,  
 १७९, १८१, २१०, ३३४, ३४०,  
 ३४२, ३५७, ६२९  
 संगीत-सुत १७, १५६  
 सगाधवमा १६१, १६२, १६५  
 सगाधवमा संयुत-अट्टकवी ६३९



- सनाथवर्ग संयुक्त ६३९  
 समास के कारण खरों के भाषाकाल  
 में परिवर्तन ५१-५२  
 संग ५४८  
 संगह्वार ४६७  
 सर्ववर्मा ३०३  
 सम्मोह विनोदनी ५१३, ५२८  
 संगीतियाँ ८१, १९४, १९८, ३१०,  
 ३३६  
 सप्तरिम-मुक्त ९७, १५७  
 सम्मोषधान-विभक्त ४०८  
 सनाथवर्गसंयुक्त टीका ६३९  
 सागल २८७, ४७३, ४८०, ४९४, ४६३  
 संगीतिकार २२५, २२६  
 सागलका ४७९  
 सामनपटोल ४६७  
 सामनाम-मुक्त १७, १५६, १७२,  
 ३२९  
 सामाहिक सदस्य १००, १६९  
 नाम जातक २९३  
 सगारब १५९  
 सिगाल १४८  
 सिगवेर ४६  
 सिमाव ५६२, ५६३  
 सिगालोवाध-मुक्त १४८, ६२९, ६३२  
 सिगाल जातक २८४  
 सिलव लेखी, देखिये लेखी  
 सुधीव २९२  
 सधमिता (अशोक की मुर्ती) ५५१,  
 ५७३, ५७४  
 स्टेन कोनी १३, १४, १५  
 सिम्पलिकाइड सामर ओप दि पालि  
 नम्बेज १३  
 संहिता ५, २२  
 सरणीतस ५९७  
 सप्त जातक २८८, २९९, ३००  
 समुदाय चरित्र ३००  
 सदस्यसंग ४९७, ५०६, ५४१,  
 ५४८, ५६७-५६८, ५७२, ५७१,  
 ५९६, ५९४  
 सदस्य जोतिका ५३२  
 सदागन्ध ५६७, ५९१  
 सद्वक्तविका ६१३  
 सद्वक्तविका ६४१  
 सद्वक्तव्यभेदचिन्ता ५७९, ६०५, ६४१,  
 —की टीका ६४१  
 सद्वक्तव्य भेद चिन्ताय महाटीका ५८०  
 सद्वक्तव्यभेद चिन्ताय सविश्रम टीका ५८१  
 सद्वक्तव्यभेद चिन्ता निस्सय ६४२  
 सद्व विन्दु ५७९, ६०६, ६०७, ६१३  
 सधरक्षित (स्वविर-सम्बन्धचिन्ता के  
 लेखक) ६०४  
 सन्धेयकथा ५८६  
 सधपाल स्वविर ५०८  
 स्वागत (मिष्ट) १८४  
 सन्धका मुर्ती १५५  
 संघ ३२१, ३२२, ३२३, ३३२  
 सधाराम ४८७  
 सधायितेस कथा  
 सर्वचित्त साधारण ३९३  
 सर्ववि सत्य ३५०  
 सधगुणाकार ६०२  
 सरभू (सगु) १९२  
 सुमेध कथा ५४३  
 सन्धविभक्त-मुक्त २११  
 सध्व-संयुक्त १०१, १७२  
 सध्वसङ्घ-चरित्र ३००  
 सध्वविभक्त-मुक्त ९८, १५८, १४३  
 सध्व विभक्त ३४२, १८३, ४०५  
 सध्व-संयुक्त १०१  
 सध्वचिर जातक ३००  
 सध्वसंवेग (साय संवेग) ५३२,  
 ५३९, ५४०  
 सध्वसंवेगटीका (स्वविर-वाचित्सार-कृत)  
 ५३९  
 सध्वसंवेग ५७८

मुच्छिकिरिया १३९  
 सहसराम (विहार) ६१८  
 संपरिचित (सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ५३८, ५३९, ५४०  
 स्कन्ध ८७, ३४५, ३४८, ३९४, ३९६, ३९८-४००, ४१०, ४१३, ४१७, ८३३, ४६०  
 समजमंडिका-मुत्त ९६, १५५  
 समर्थ रामदास २५  
 समरसेकर ५४४  
 सहदागामी ४१८, ४१९, ४२८, ४३३, ५२२  
 सक-संपुत्त १०६, १०७, १६४, १७३  
 सम्मिति ४२२, ४०३, ४२४, ४२५, ४२९, ४३०, ४३१, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४४४, ४४८  
 सकुलादायि १५९  
 सकलिक सुत्त १७३  
 सुख-सन्त्रा ४६९  
 सनकुमार ब्रह्मा १४०  
 ससराज-जातक ३००  
 सुसुमार-जातक २८३  
 सहदागामिफल १५०  
 सिद्धत्व ५४१  
 सिद्धांतिक ४२६, ४३४, ४४०, ४४१, ४४२, ४४९  
 सिद्धार्थ ७३  
 नाकेत १७७, ४१४  
 संकिलेस ४६९, ४७०  
 संकिलेस-वासना-निव्वेष-भागिय ४६९  
 सक्कलिक ४२२, ४२३  
 संकिलेस भागिय ४६९  
 सिक्खपाद १०७  
 सिक्खपादविभंग (शिखा पदविभंग) ३९७, ४१०  
 सिवि जातक २९९  
 सिविराज चरिय २९९  
 सकिच्च २४९  
 ४६

सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट १०२, १०३, ३४०, ४७५, ४९२, ४९४, ५५०, ६००  
 सीहनाद-वग्ग ९३, ९४, १५०-१५१  
 सेक्ख-मुत्त ९५, १५३  
 संसार यमक ४५०  
 संखपाल जातक २८८  
 संसारुप्पत्ति-मुत्त १५७  
 मुचिलोम २४०  
 सद्दनीति (सद्दनीतिपकरण) ५७९, ६०३, ६१०-६११, ६१३, -का उपकारी साहित्य ६११, ६४०  
 सद्दवचिनिच्छय ६१३  
 सद्दसारत्त्वजालिनी (कम्मवाम-व्याकरण की टीका) ६०६  
 सद्दसारत्त्वजालिनीया टीका ५८०  
 सद्दवुत्ति ६१२  
 सद्दवुत्तिपकासर्ग ५७९, ५८०  
 सद्दावतार ६४१  
 सद्दवुत्तिपकासतस्स टीका ५८०  
 सद्धम्मकिंति (एकस्वरकोश)  
 सद्धम्मपकासिनी ५३२, ५७८  
 सद्धम्मदठटीका ५३२  
 सद्धर्म पंडरीक १०२  
 सद्धम्मोपायन ५४२, ५८४, ५९५-५९६  
 सद्धम्म विलास ६०६  
 सद्धम्मगुह (सद्दवुत्ति) ५७९, ६१२, ६१३  
 सद्धम्म दीपक ६४१  
 सद्धम्मदिठ टीका ५७८  
 सद्धम्मालेकार ५४३, ५८८  
 सद्धम्मपाय ६४१  
 सत्तपणी गृहा ५२६  
 सुसुमार गिरि १७७, ५२५  
 सम्बन्ध चिन्ता ५७८, ६०४, ६०५, ६१६  
 सम्बन्ध-चिन्ता टीका ५७१, ६४१

सद्व्यसनगह ३  
 सदात्मन ३  
 सत्त्व ६७  
 संधावर्ष ३१३, ३१४, ३१८, ३१९  
 संधादिसेन ११, २०, ३२२, ३२६  
 सान्त्वयिका ८३  
 सत्त्व-यामक ४५०  
 सत्त्व संश्लेष टोका (सुमंगल-कृत) ५४३  
 मेछ जातक ६३५  
 सञ्जय वेलादिभुक्त १३७, १३८, १७५, ४८०  
 सुजात जातक ६३५  
 सुञ्जयता-वर्ग ९७, ९८  
 सुनीम-जातक २८३, २९४  
 सुजाता १८४, २६८, २६९,  
 स्वराधाल के कारण स्वर-परिवर्तन ४६,  
 ४८, ४९  
 स्ट्रिंग (एस० ए०) ५६८, ५६९  
 मिम (बी० ए०) १-१, ५५०, ६१८,  
 ६१९  
 सुमना २६९  
 सौवान्तिक ४२३, ४२४  
 सानुनासिक ४२, ४३, ५०, ५१, ५२, ५५  
 सुजती गह्वरी जातक ६३५  
 सुञ्जय वमा ९७-९८, १५७  
 स्ट्राट २७७  
 सदायतन वर्ग ९८, ९९, १००, १५८,  
 १६८, १७०  
 सदायतन-विभाग-भुक्त ९८, ३४०,  
 ५००  
 सदायतन संयुक्त १००, १२९, १६३,  
 १७३, ६११, ६३९  
 सतिवत् २८१  
 सत्यतत्वावली ६४१  
 सुतन्त्रिक १०४  
 सुत निपात की अट्कबा ६०१  
 सतक निपात १०१, १७८, १८२, १९१  
 सादायतन-विभाग ४६१

सतिपट्टान विभाग ३४२, ३४३,  
 ४०७, ४०८  
 सत्कर्षणक जातक २८६  
 सति पट्टान २१०  
 सतिपट्टान-संयुक्त १००, १७०, १७३  
 सजावेदीय-निरोध १५२  
 स्वर-संश्लेष ५३-५४  
 स्वर-भक्ति के कारण स्वर-गम ५०-५१  
 स्वर-विभाग ४५  
 सतिपट्टान भुक्त ९३, १५०, १७०,  
 ३४३, ४०७, ४०८  
 सतीशचन्द्र विद्याभूषण ६०३  
 समन्तपामादिका २१०, ३१०, ३३९,  
 ३४०, ४१७, ४९८, ५०४, ५०५,  
 ५१३, ५१८, ५२३, ५३०, ५६८,  
 ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७७,  
 ५८२, ६०१, ६२२  
 समन्तपामादिका की निदानकबा ४३८  
 समन्तपामादिका की बाहिरकबा ११३  
 समन्तपामादिका की बाहिर निदान  
 वर्णना ४९६  
 समन्तपामादिका-संयुक्त १०१  
 समन्तकृत पर्वत ५९८  
 सौर्विस्तुप ८९, २०१, २००, ५३६,  
 ५६२, ५७३, ६३२ और भाष्य  
 के अभिलेख ६३४-६३५, ६१७,  
 ६१६  
 स्यालकोट ४७३  
 सति वस्तुएं ४१७  
 स्थान (बीन) ३९२, ५३५  
 सान स-भुक्त ९७, १५३, १७२,  
 २०६, ४०८  
 साम जातक २९३  
 सामञ्जस्य सुत-व पता १, ९२, १३०,  
 १३७, १३८, १५६, १७२, २७६,  
 ४०८  
 सामञ्जस्य सुत-व पता १, २  
 सामावति (श्यामावती) १८४

- सदम्मासिंह (सद्वर्ष भेदचिन्ता) ५७१  
 सदम्माजोतिपाल ५३८, ५४०, ५७१-५८०  
 सदम्मतन्वी ६१०  
 सब्बासव-सुत्त १३, १४१  
 सब्बदाठ जातक २८४  
 संयुक्त निकाय ११, १९, १०१, ११३, १२२, १२९, १३०, १३१, १६०-१७८, १८०, १८१, १८२, १८८, १९८, २०१, २१०, ३०६, ३४२, ३४३, ३४८, ३४९, ४४३, ४९७, ५१३, ५१४, ५६७, ६२४  
 संयुक्त-निकाय की अट्ठकथा ५१३, ५२४, ५३८  
 संयुक्त व्यजन ३७, ३८, ४१, ४२, ४३, ४४, ४८, ५०, ५१, ५२, ६२-६७  
 संयुक्त स्वर ३५, ३७, ४४, ७२  
 संयोजन १५४, ४३२  
 संयुक्तकागम ११३  
 संकल ७, ११, २२, ७३, २५, २७, -का पालि से सम्बन्ध ३०-३१, का ध्वनि-समूह ३६, ३७, ६८, ३९, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ६२  
 स्मृति १७०, १७१, ३८७  
 स्मृति प्रस्थान १४६, १४७, १५०, १५८, १७०  
 स्मृति-सम्प्रबन्ध १७०, १७३  
 सिद्धार्थ (निधु) ४, ५, ६, १६, २३, २४, ३०  
 स्मृति-विनय ३१९  
 संघर्ष लत (सुदृकसिक्ता, सम्बन्ध-चिन्ता, वृत्तोदय के लेखक) ६१६  
 सदम्मादीनिका ६४१  
 संवहल-सुत्त १७५  
 संघरक्षित ५७८ (सुबोधालङ्कार)
- साधुविलासिनी ५४३  
 सुधीरमुखमंडन ६१३  
 संधिभेद जातक २८३  
 सोपनहार ४६८  
 सिधु २७४  
 सम धात्रिय द्वादश आँव एन्डियन्ट इंडिया (लाहा) २८८  
 सुप्रवासा कौलिय-दुहिता १८४, २२७, २२८,  
 सुप्यारक ५५१, ५६३  
 सुनक्षत्र लिच्छविविपुत्र १४०, १४६, १५०  
 सुत्त १३२, १०२, १०३, १०८, ४२०, ४२१, २७४, ३२७, ३०८, ३३५, ४७९, २२५, ११५, १२४, २२६, ५८५, ५१३  
 सुत्त पिठक १७, ७४, ८१, ९१, १०४, १११-३०१, १९९, २२२, २२५, ३३४, ३३५, ३४०, ३४२, ३४६, ३५०, ३५१, ३५२, ४९७, ५२३  
 सुत्तनिर्देश (छापरकृत व्याकरण-नाम्न) ६०४  
 सुत्तावली ६४१  
 सुत्तनिपात २२, ६२१, ६३०, ६३२, १०१, १०२, १०६, ११६, ११७, ११४, ५९३, २३५, २४४  
 सुत्तमाला ६११  
 सुत्तनिर्देश ५८०  
 सुत्तनिपात की अट्ठकथा ५१३, ५२६  
 सुत्तों की सूची १२८, १३१  
 संगीतिका १८२  
 सुत्तसंग्रह ११२, १९९, ४१५  
 सुत्तन्त ३४३, ३४४, ३४७, ३९७, ४०६, ४०७, ४१८, ४६३  
 सुमंगल विलासिनी १, २, १९९, ३३४, ३३९, ५१३, ५२३, ५२४, ५३०, ५३८, ५७७, ६०२, समंगल विलासिनी की निदान कथा १९६, १९७, १९८, ३०१



मुहुरसन २८७  
 मुहुरत गृहपति १८४  
 मुहुरतक २४१  
 मुत्रह्वा ५८६  
 मुवणसामिचनिय ३०१  
 मुभ-सुत्त ९७  
 मुवोपालंकार ५७८, ६१६, ६४१  
 मुनक्खत-सुत्त ९७, १५६  
 मुनधात्र लिच्छविपुत्र १४०, १४६  
 मुप्रबुद्ध २३०  
 मुप्रिया (उपासिका) १८४  
 मुपणसमुत्त १००, १६७  
 मुमेघ-कथा ५९९  
 मुमंगल ५४२, ५६५, ५९४  
 मुमंगलाचार्य ५६५  
 मुरट्ठ २८७  
 मुरियपरित-सुत्त २११  
 सत्तम्भतु-गरम ४३८  
 सत्य (चार आर्य) २११, ४१२, ५२१  
 सात बोध्यय १८०, ४९०  
 सीमा विवाद-विनिच्छय ५४४  
 सीमालङ्कार संग्रह ५७१, ६४३  
 सुत्त विभाग ९१, १०६, ३२२, ३२४  
 स्तुपाहं व्यक्ति ५७१  
 सुत्तान्तिक ७५, १०४, ३४९, ६३४  
 सुत्तसोम चरिय ३००  
 सुत्तवादी ४२२, ४२३  
 सुभूति चन्दन ३१२  
 सुमध-कला ५९९  
 सुत्र पन्थ ११, २८  
 सुत्ता रक्खन्धो ३९४, ३९८  
 संखेय अट्ठकथा ४९७, ४९८  
 संखपाळ चरिय ३००  
 सांख्य दर्शन १२९  
 सालेयक-सुत्त ९४, १५२  
 सालक जातक २७५  
 सिद्धी १४३  
 संक्षेप्य परिवेण ४८०, ४८१

सेलिया ३१३, सेलिय घम ३१५,  
 संघा दिसेमा  
 संखेय वण्णना ५८०  
 सांख्य योग ४८०  
 सांख्य सूत्र १२६  
 सुखुम ३९९  
 सुख धातु ४०३  
 मेल-सुत्त ९६, १५६  
 सुखावती व्यूह ४४६  
 सोलवंस ४९९, ५४२, ६०७  
 सुत्ता-न-दुत्ता १६८  
 सुत्र १७१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०६  
 ४०९, ४१०,  
 सुखवग्गा २१८, २२४  
 सुखोदय २८०  
 संखपाल जातक ३००  
 सेलिय कथा ५०४  
 संख्या योग ४८०  
 सेलिय घम्मा ३१२, ३२२  
 सुत्र वेदना ३४८, ४०५  
 सात अनुसस १८२  
 सिआम (स्याम देश) ७२, ९१, १०९,  
 २००, २०१, २७४, २९०, २९४,  
 ३३१, ३३२, ४९२, ५४५, ६०५,  
 सिआमी (स्यामी) २००, २७३,  
 ४१२, ४३२, ४५२, ४५५, ४५६,  
 ६४४  
 सुतन्त आधार ३९८  
 सुत्त विभाग ३४४  
 समोपवर्ती व्यजनों का स्वरों पर प्रभाव  
 ४६  
 मुन्दरिक् भाट्टाज २४०  
 मुवर्ण-भूमि ८९, २८८, ५५६, ५६८,  
 ५७२, ५७४  
 सीमालंकार संग्रह ५३९, ५४०, ५७९,  
 ६४३  
 सीमालंकारस्य टीका ५७९  
 सीहचम्म जातक २८२

सीहलवार्थ ५८१, ६४०  
 सीहलिकीकलित ४६९  
 सीहलट्टकषा महावंस ५४९, ५५३  
 सुरेन्द्रनाथ मिश्र २२१  
 सुरापान जातक २८७  
 मुरुचन २८७  
 मुरुचि जातक २८७  
 सेल-मुत्त ९६, १५६  
 सेवितव्य-असेवितव्य मुत्त ९७, १५७  
 सुतन्त-भाजनिय ३४४, ३९६, ३९८,  
 ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५,  
 ४०६, ४०७, ४०९  
 सुत निपात की प्राचीनता २३६  
 ओत आपत्ति ३०४, ४३३, ५२२  
 सुतसोम जातक २८६  
 सात सवोष्यंग १८२  
 सिरिया ८९  
 सोततगीनिदान ५७९  
 सोतप्पमालिनी ५८१  
 सोतापत्ति संयुक्त १०१, १७२  
 सोतमालिनी ६४१  
 सेतकेतु जातक २९१  
 सेना ११९, २२१, ४७७, ६३१  
 सेनानी (गाव) १७३  
 सेनानी वृद्धि १८८  
 सोणदण्ड (बाह्याण) १३९  
 सोणदण्ड-मुत्त ९२, १३०, १३८, १७२  
 सोण ७५  
 सोण कोडिवीस ८३, ५५२  
 सोणक ३१०, ५६२, ५६८  
 सोणुत्तर ४८०  
 सबजैकदस ओव डिमसोस ४२१  
 सत्त-अट्ट-नव-निपात जातक अट्ट  
 कषा ६४०  
 सत्यैकविपस्वप्रकाश ६४१  
 सोत आपन्न ४१८, ४१९, ४२८,  
 ४२९, ४३१, ४३८, ४८०  
 सुत्त-निपात (अट्टकषा सहित) ६४०

सति ३९०  
 सतिन्द्रिय (स्मृति इन्द्रिय) ३८९  
 सोलह महाजनपद १९५, २८६  
 सोम (स्थविर) ५५७, ५७२  
 स्तम्भल्ल (सात) ६१८, ६२६  
 सोत विज्जान ३४६  
 सोसनिकांग ४९१  
 सो-सोर-वरुणा ३३२  
 सोरट्ट (सोराट्ट) ११६, १९४  
 सहस्रसव्यप्पकरण ५८४, ५९९-६००,  
 ६४०  
 सहस्र वग २१५-२१७, २२१, २२२,  
 २२३  
 सहस्ररसिमालिनी ६४०  
 सहजात प्रत्यय ४४१, ४५७  
 सहेतुकचित्त ३९९, ५३३, ५३५, ५३६  
 सवण्णनानयदीपनी ६१२  
 सारत्थदीपनी ४७८, ५८९, ६०६,  
 ६४३  
 सारत्थप्पकासिनी ४९७, ५१३, ५२४,  
 ५३८, ५७७  
 सारत्थमंतूसा ५३८, ५७९  
 सारत्थसंगह ५८०, ६४२  
 सारनाथ १०९, ४७२, ६१७, ६१९,  
 ६३२  
 सारसंगह ५४१, ६४१  
 सारसंगह निम्मान ६४२  
 सारवस्सी ५४३  
 सारिपुत्त (सारिपुत्त) १०९, १२५,  
 १४१, १५७, १६२, १७७, १७४,  
 १७५, १८३, २४१, ३२१, ३३६,  
 ४२४, ५००, ५३८, ५४०, ५४१,  
 ५७५, ५७९, ५८०, ६०४, ६०५,  
 ६१०, ६१६  
 सारिपुत्त-मुत्त २३५  
 सारिपुत्त संयुक्त १००, १०६, १३१,  
 १६७  
 सिंहल २, ९, ७२, १२०, १९९, २०९,

३२६, ३३६, ३३८, ३५१, ४७१,  
५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५५०,  
५५१, ५५२, ५६१, ५६३, ५६४,  
५६५, ५६७, ५९३, ६१०, ६११,  
६४४

सिंहली अष्टक कथार्थ (प्राचीन) ४९५,  
४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१,  
५०८, ५०९, ५२७, ५४९, ५५३,  
५५५, ५६०, ५७७

सिंहली (परम्परा, भाषा, साहित्य  
आदि) १०, ११, १२, १४, १५,  
१६०, १७८, १९९, २७३, ३३७,  
३५१, ३५२, ४१३, ४१८, ४२२,  
५०२, ५०५, ५०८, ५४२, ५४८,  
५४९, ५५०, ५५२, ५५३, ५७०,  
५७५, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७,  
५९८, ५९९, ६०४, ६०५, ६०६,  
६०९, ६१०, ६१६, ६४०

सिंह सेनापति १९३

सुभाषित काव्य २४०

सुभ-मञ्जरी ६६९

सुभगकट वण्णना ५७१

सुभ सुत ८६, ९२, १२९,

१४०, १५६, १७२

सुभद्र ७६, ७८, ७८

७९, ८० १४४, ४८८

सुभ (प्राज्ञाण) १५१

सुभूति (सिंहली विद्वान्) ६०३, ६०४,  
६०५, ६०६, ६०७, ६१०, ६१२,  
६१४

सुभूति (बुद्ध-भिक्षु) १८३

सुलचारक ६४१

सोमप्रिय (ब्रह्मचारी) ५९६

सोभित ३३६

संस्कृत भाषा ६८, ७१, ११६, १२०,  
२३०, २३२, २३५, २६४, ४४७,  
४४९, ४७६, ५४७, ५८३, ५९१,  
५९२, ५९३, ५९४, ६००, ६०१,

६०२, ६१५, ६१६, ६४५,  
६४६

संस्कृत व्याकरण ६८, ७०, ६०१,  
६०३, ६१०, ६११

संस्कार १५७, १६५, १६६, १६७,  
१६८, ४०१, ४३०, ४४०, ४५५,  
५०५, ५२१, ५३६

संस्कृत ग्रन्थ ७३, ६०३, ६३८

संस्कृत धर्मपद २२२, २२३

संस्कृत साहित्य ११२

संस्कृत विपिटक १७९

संस्कृत ब्राह्मण्य ६४३

संस्कार स्कन्ध ३४९, ४१७, ४४४

संयोजन ४३८, ४४६

संस्कार श्रुतना ४०७

सेसकमिणित्तिद्वेसो ५२०

सामानवस ५०२, ५०३, ५०६, ५४४,  
५४८, ५६७, ५८१-५८२, ६०६

सिंहबाहु ५५१

सिंह २६८

स्यविरवाद बोद्ध धर्म (उसकी परम्परा,  
साहित्य आदि) ८६, ९१, १०८,  
११२, ११४, ११६, ११७, ११७,  
२००, २१२, २१३, २२९, २८१,  
२९०, ३०८, ३३६, ३३८, ३३९,  
३५१, ३५२, ४०५, ४२६, ४२७,  
४२८, ४३०, ४३२, ४३४, ४३५,  
४७६, ४७८, ४८६, ४९२, ४९३,  
५५१, ५९६

सर्वोस्तिवादी बोद्ध धर्म (उसकी  
परम्परा, भाषा, साहित्य आदि)  
११३, ११४, ११५, ११६, ११७,  
२००, २१२, २१२, २२४, २३९,  
३५३, ३५४, ३८०, ३९२, ४२२,  
४२३, ४२४ ४२५, ४२८, ४२९,  
४३०, ४३८, ५६७

## ह

हस्तिगाम १३५  
हरनिय जातक ६३५  
हरित मातक जातक २८७  
हेरिदवसन (क बा) १५९  
हल्स (डा०) २०४  
हस्तक आलवक १८४  
हन्धवनगल्लविहारवंस ५७४ वेम्बिये  
अतमगादुविहारवंस

हन्स भाषाकाल का नियम ४२-४३  
हन्वस्वर ३७-४०, ४२, ४३, ५२  
हस जातक ६३५  
हाडी (ई) ३४०, ४७१  
हितोपदेश २९४  
हिमवान (हिमवन्त) प्रदेश ८९, ५२०  
हिमालय प्रदेश ८८, २९२  
हिमालय पर्वत ४८०  
हिमाचल-प्रदेश २१, ४८१  
हिमाचल जिनरतन (बरमो भिज्ज) ६११  
हिन्दी १२, ३०, ४९२  
हिन्दी भाषा का इतिहास (खोन्स  
वर्मा) ७२

हिन्दी साहित्य सम्मेलन २७२, ५५३  
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर  
(किन्टरनिन्ज)

वेम्बिये 'इण्डियन लिटरेचर'

हिस्ट्री ऑफ पार्लि लिटरेचर (लाहा)  
८, ११, १२, १८, २२, २४, १०६,  
१०७, २०३, २२०, ३४२, ३४३,  
३४४, ३५६, ४९८, ५३४, ५५६,  
५५७, ५६२, ५६८, ५८२, ५८५,  
५८६, ५९३, ५९८, ६०१, ६१०,  
६१४, ६२९

हिंदुधर्म एंड बुद्धिधर्म (चाम्पे इस्मियट)  
३३७

हिंदुकुण (पर्वत) २९४  
हीनयान २९०  
हीनयानी ३११, ३५२  
हो ३८७, ५३५  
हेतु ३६३, ४५८, ४७०, —शब्द का  
अर्थ ५३३  
हेतु-पञ्चयी ४५८  
हेतु-प्रत्यय ३५६, ४५७, ४५८  
हेतुवादी (बौद्ध संप्रदाय) ४२६, ४४१,  
४४२, ४४५, ४४७, ४४८  
हेतुविन्दु ३४२  
हेतुविन्दु-टीका ६४२  
हेमकमाणव पुच्छा २४१  
हेमचन्द्र (वैयाकरण) ३१  
हेमचन्द्र राय चौधरी (डा०) १७६,  
२९१, २९२, २९३, २९५, ४७३  
हेमवत २४०, ४२४  
हेमवत-मुक्त २४०  
हेमरस्मिय ३२०  
हेवाक्वितरणे निबि संस्करण २७३,  
३९६, ५३१

## ज

ज्ञान-दर्शन २२३  
ज्ञान प्रस्थान-शास्त्र ११५, ३५३, ३५४  
ज्ञान-विप्रमुक्त ३७७, ३७८, ३८२,  
३८४, ३८५  
ज्ञानयज्ञ १३९  
ज्ञान-संप्रमुक्त ३७७, ३७८, ३८२,  
३८४, ३८५  
ज्ञानानिलोक (महास्वविर) ३४१,  
३४५, ३५१, ३५६, ३९३, ८१२,  
४१८, ४२२, ४२५, ४२६, ४२७,  
४४३, ४४९, ४५५



## २—उद्धृत पालि शब्दों की अनुक्रमणी

अ

अकल २०, ५९  
अकालिक १७५  
अकुलाला (धम्मा) ३६०, ३७९-३८१,  
४०१, ४०२ देखिये 'अकुशल'  
(नामानुवमणी) भी ।  
अभिसा ६३  
अगति २३१  
अगर ५२  
अगलु ५२  
अगण्यनिषा (धम्मा) ३६६  
अग्ग ४७  
अग्गि ३७, ४५, ६४  
अग्गोहि ३८  
अकुस ४६९  
अगुल-अगुलि-अगुली ५  
अचेतसिक ४२७  
अचेतसिका (धम्मा) ३६८  
अच्यन्तनियामता ४४४  
अच्छ ३९, ४०  
अच्छेर (अच्छविर, अच्छरिय) ४९,  
६४  
अजानन्तेन ४८९  
अजिरवती २०  
अज्झत्तवहिद्वा ३६३  
अज्झत्तवहिद्दारम्मणा ३६३  
अज्झता ३६३  
अज्झत्तारम्मणा ३६३  
अज्झतिक जायतन ३४८  
अज्झत्तिका (धम्मा) ३६९  
अज्झत्त ३९९

अज्जेन ४९  
अज्जामज्जापच्चया ४६१  
अज्जा ४०६  
अज्जाताविन्दित ४०६  
अट्ट ६७  
अट्ठ ३७  
अत्तनीपद ६८  
अत्तसज्जा ४६९  
अत्ता १६७, ४६४  
अतिबोल ४९  
अतिरेक ३२४, ३४६  
अतीतवरु २७७  
अतीता ३६२  
अतीतारम्मणा ३६३  
अत्थपटिसम्भिता ४११  
अत्थवण्णता २७७  
अत्थि-पच्चयो ४६३  
अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुता  
(धम्मा) ३६०  
अदोसो ३८८  
अधिकरणतमसा धम्मा (सात)  
३१२, ३१९-३२१, ३२२ देखिये  
'अधिकरणधम्म' (नामानुक्रमणी) भी ।  
अधिगिच्च १९  
अधिपति-पच्चयो ४६०  
अधिमोक्षो ३८७, ३९२  
अनण ४०  
अनत्तलक्खण ५८९  
अनत्तसज्जा ४६९  
अनत्ता ४५३, ५२२

|                                             |                                                 |
|---------------------------------------------|-------------------------------------------------|
| अतन्तर-गच्छयो ४६०                           | अभि-विनय ३३४                                    |
| अतभिज्जा ३९०                                | अभ्यापादो ३९०                                   |
| अतमतण १६५                                   | अमूढ-विनय ३१९, ३२०                              |
| अतागता (धम्मा) ३६२                          | अमोहो ३८९, ३९४                                  |
| अतागतारम्भणा (धम्मा) ३६३                    | अम्ब ३०, ५२                                     |
| अतारम्भणा (धम्मा) ३६८                       | अम्हना ६६                                       |
| अतासक ४३२                                   | अय्य (अरिय) ६४                                  |
| अतासवा (धम्मा) ३६५                          | अरणा (धम्मा) ३७३                                |
| अनिच्च-सञ्ज्जा ४६९                          | अरुपाक्चरा (धम्मा) ३७७                          |
| अनिदस्सन-अण्टिघा (धम्मा) ३६३                | अरुपिनी (धम्मा) ३६४                             |
| अनिदस्सना ३६४                               | अरजर ४६, ६१                                     |
| अनियत ३१३                                   | अल्लि ४८                                        |
| अनियता (धम्मा) ३१२, ३१६, ३१७, ३२२, ३६२, ३७२ | अलोभो ३८७, ३८९                                  |
| अनिय्यातिका (धम्मा) ३७२                     | अवट ३९                                          |
| अनुत्तरा (धम्मा) ३७३                        | अवस्सं ६९                                       |
| अनुपपन्ना (धम्मा) ३६२                       | अव्याकृत १५४                                    |
| अनुपादानिया (धम्मा) ३७०                     | अव्याकृता (धम्मा) ३६०, ४०१                      |
| अनुपादिना (धम्मा) ३६९                       | अव्याकृतो ४०१                                   |
| अनुपादिनुपादानिया (धम्मा) ३६०               | अविगत-गच्छयो ४६३                                |
| अनोत्तण ३८८, ३९२                            | अविचारा (धम्मा) ३७२                             |
| अपचवनामिनो (धम्मा) ३६१                      | अविज्जा ४६९, देखिये आविद्या (नामानुक्रमणी) भो । |
| अपचवया (धम्मा) ३६४, ३९५                     | अवितक-अविचारा (धम्मा) ३६१                       |
| अपटिघा (धम्मा) ३६४                          | अवितक-विचारमत्ता (धम्मा) ३६१                    |
| अपमाणा (धम्मा) ३६२                          | अवित्तका (धम्मा) ३७२                            |
| अपमाणाारम्भणा ३६२                           | अवीवदाता २३६                                    |
| अपरगोमान ५८                                 | अवेत्त ५३                                       |
| अपरण्ह ६५                                   | अवंग ५७                                         |
| अपरसल्लिय ४४८                               | असञ्जसत्ता ४३१, ४४१                             |
| अपरानट्ठा (धम्मा) ३६८                       | अस्स ६५                                         |
| अपरिमाण ३९९                                 | अस्सार्द ४६८                                    |
| अपरिवापला (धम्मा) ३७२                       | अनु ४८                                          |
| अपारुत ४०                                   | अनुभसञ्ज्जा ४६९                                 |
| अपीतिका (धम्मा) ३७२                         | अमेक्का (धम्मा) ३६१                             |
| अपेला (अपेक्ता) ४२                          | असेण ४७०                                        |
| अव्वहृति ४२                                 | असेणभाणिय ४६९                                   |
| अव्वमत्त (अव्वामत्त) ५२                     | असंकिलिट्ठ-असंकिलेसिका (धम्मा) ३६०              |
| अभिनन्दति ५३                                |                                                 |

असंकलिष्ट-संकलितिका (धम्मा) ३६०

असंकलिष्टा (धम्मा) ३७०

असंकलितिका ३७०

असंखवा (धम्मा) ३६४

असंखता धातु ३९५

असंयोजनिया (धम्मा) ३६५

अहिरोक ३८८, ३९२

अहिकार ४७

अहेतुक (चित्त) ५३३, ५३५

अहेतुका (धम्मा) ३६४

### आ

आचारिय (आचर) ५०

आचारिय-मण्डित ४६६

आचर्यानामिनी (धम्मा) ३६१

आजिर (अजिर) ४८

आदित्तव ४६८

आनाति ४६८

आनापानसति १५३

आनेच्च ४४६

आमिसदाषाद ३२७

आरत्तिप्रकाश ४९१

आरभरे २७

आरभित्तु २७

आरभित्तु २८

आरभित्ता १७, २७

आरम्भा ६१

आरम्भणपञ्चयो ४५१

आरोग (अरोग) ४८

आलभित्तु १७, २७

आलभयित्तु २७, २८

आलचिका ५

आलारिका ६१

आलन्द (अलन्द) ४८

आवसहार ४६८

आवुष ६१

आवुसी ६१

आसवविषययुता (धम्मा) ३६५

आसवविषययुता अनासवा (धम्मा)

३६५

आसवविषययुता सासवा (धम्मा)

३६५

आसवसम्पयुता (धम्मा) ३६५

आसवसम्पयुता चेव नो च आसवा

(धम्मा) ३६५

आसवा (धम्मा) ३६४

आसवा चेव आसवसम्पयुता च

(धम्मा) ३६५

आसवा चेव सासवा च ३६५

अयस्मन् ४६

आनेवन-पञ्चयो ४६२

आहार-पञ्चयो ४६२

आहुनेय ३२७

### इ

इक ३९, ४०

इण ३९, ४०

इत्थो ५७

इदं ५३

इस ५८

इत्त (अवद की निरूपित) ६०१

इरियति ५०

इसिपत्त २०

इस्सग्गि ४४

### उ

उच्छु (उच्छु) ४५

उम् (उम्) ३९

उम्मा ६९

उत्त ६३

उत्तिट्ठ ६७

उदात्त २०, ४८, ५७

उदिग्गति ६४

उदुक्खल ४२

उदुत्त ३४०, ३४४, ३५१

|                                                |                      |
|------------------------------------------------|----------------------|
| उपधेय्य ५१                                     | उत् ४५               |
| उपादानविषय्युता (धम्मा) ३७०                    | उत्तुमा ५१           |
| उपादानविषय्युता अनुपादानिया<br>(धम्मा) ३७०     | उत्तान ६२४           |
| उपादान विषय्युता उपादानिया<br>(धम्मा) ३७०      | उत्सुक ४४            |
| उपादान सम्पयुता (धम्मा) ३७०                    | उत्तया (असुय्या) ४५  |
| उपादा (धम्मा) ३६९                              | ऊ                    |
| उपादाना (धम्मा) ३७०                            | ऊहादेति ५०           |
| उपादाना चैव उपादानसम्पयुता<br>(धम्मा) ३७०      | ए                    |
| उपादानसम्पयुता चैव नो च उपादाना<br>(धम्मा) ३७० | एक २७                |
| उपादानिया चैव नो च उपादाना<br>(धम्मा) ३७०      | एकं ३८               |
| उपादाना चैव उपादानिया च (धम्मा)<br>३७०         | एकमाता ३८६           |
| उपादानिया (धम्मा) ३७०                          | एके २७               |
| उपादाना चैव उपादानिया च (धम्मा)<br>३७०         | एकी २७               |
| उपादानिया (धम्मा) ३७०                          | एकोदि १९, २०         |
| उपादाना (धम्मा) ३६९                            | एकवागी ४३८           |
| उपादिद्रुपादानिया (धम्मा) ३६०                  | एकारित (एकादस) ६०    |
| उपाहनदान ५२                                    | एडक ५                |
| उत्ता (उपेक्षा) ४२, ६०८                        | एदिस् (एरितस्) ४३    |
| उपेक्षा पारमिता ३०१                            | एदिसक ४३             |
| उपेक्षासहगता (धम्मा) ३६१, ३६८,<br>३७१          | एदिस (एरित) ४३       |
| पेप्पया (धम्मा) ३६२                            | एरावण ४४             |
| उपादिनी (धम्मा) ३६२                            | एरिक्ता (एदिक्ता) ६० |
| उपेक्षासहगता (धम्मा) ३७१                       | एरिस (एदिस) ६०       |
| उपेता ५३                                       | एल ६०                |
| उपज्जाति ६४                                    | एलक ५                |
| उपाधि २३९                                      | एलन्द ६०             |
| उच्चिग्ग ६४                                    | एल्व ३८              |
| उम्मूलेति ६४                                   | ओ                    |
| उम्हपति (उम्हपते) ५०                           | ओक ४७                |
| उयम ६२४                                        | ओक्कामुख ३८          |
| उल्लूक ६६                                      | ओदुठ ३८              |
| उसम ३९                                         | ओत्तण ५०, ३८९, ३९०   |
| उत्तह ६२४                                      | ओधि ४९               |
|                                                | ओपम्म २०१            |



ओरस ३७, ४४  
ओवरक ५०

क

काक ६४  
काकल ५७  
कच्चान (कच्चायन) ४९  
काच्छ ६३  
कणभि २९  
कणैहि २९  
कर्ण ६१  
कत ४०  
कतेति ४९  
कम्मञ्ज ६७  
कल ६५  
कलन्द ७७  
कावि (कपि) ५७  
कविट्ट ५८  
कम्म-पच्चयो ४६२  
कम्माम ६४  
कपिलका ६१  
करोणि ५९  
कह ५१, ६६  
करोति ५४  
कसट ३४, ५०  
कसाक ६४  
काकणिका ४६  
कातवे ३०  
कातुन ७०  
काल ४१  
कालुसिप ५०  
किण ६५  
कि ३९, ४०  
किलन्तो ६२  
किलेसो ६२  
किब्बिस ६४  
किलेसविण्णयुत्ता (धम्मा) ३७०

किलेसविण्णयुत्ता असंकिलेसिका  
(धम्मा) ३७१  
किलेससम्पयुत्ता ३७१  
किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा  
३७१  
किलेसा ३७०  
किलेसा चेव संकिलेसिका ३७१  
किलेसा चेव संकिलिट्ठा च ३७१  
किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च ३७१  
कुट्ठा (कृतस्था) ३९  
कुत्त ४०  
कुत्ति ४०  
कृण्टिच्चस्सन्ति २३६  
कुब्बन्ति ६४  
कुसंग ४६  
कुसित्तर (कुसितार) ५८  
कुसीत २०, ५९  
कुट्टट ६७  
केन वि विज्जेय्या ३६४  
केन वि न विज्जेय्या ३६४  
केवट ६७  
को ४५  
कोटित्त ७८  
कोसिय ५८

ख

खत्त ५६  
खत्ताति ५४  
खम्भो ६२  
खलपच्छामसिकंग ४९१  
खायित ५८  
खोर ४१  
खील ५६  
खण्ड ५६  
खद्द ४४  
खुधा ६३  
खेल ५७

ग

गणनाय ४१  
 गधित (गधित) ५८  
 गन्धनिया ३६६  
 गन्ध-विण्णपुत्ता ३६६  
 गन्धविण्णपुत्ता अगन्धनिया ३६६  
 गन्धविण्णपुत्ता गन्धनिया ३६६  
 गन्ध-सम्पपुत्ता ३६६  
 गन्धसम्पपुत्ता चैव नो च गन्धा ३६६  
 गन्धा ३६६  
 गन्धा चैव गन्धनिया च ३६६  
 गन्धा चैव गन्धसम्पपुत्ता च ३६६  
 गधित २०  
 गन्तवे ३०  
 गमिस्सि ३४  
 गरहति ५१  
 गरहा ५१  
 गर ५२  
 गहिता ४८  
 गाम ६२  
 गिरिमिव ५३  
 गेरुका ४७

घ

घटो ५५

च

चक्कु ३४८  
 चर्जाति ६२  
 चत्तारो मे ५३  
 चतुक्क ४४३  
 चतुष्पूह-हार ४६८  
 चन्दिमा ४७  
 चरामसे २३६  
 चरिम ४७  
 चापका २०, ५९  
 चित्त-पस्सिद्धि ३९०  
 चित्तमुदुता ३८७

चित्त-उहुता ३९०  
 चित्तविण्णपुत्ता ३६८  
 चित्तविसंसदुठा ३६८  
 चित्तसम्पपुत्ता ३६८  
 चित्तसमुदुताना ३६८  
 चित्तसंसदुठा ३६८  
 चित्तसहभुतो ३६९  
 चित्तसंसदुठसमुदुताना ३६९  
 चित्तसंसदुठ-समुदुतानानुपरिवत्तिनो ३६९  
 चित्त - संसदुठ - समुदुतान - सहभुतो ३६९  
 चित्ता २९  
 चित्तानुपरिवत्तनो ३६९  
 चित्तामया पञ्जा ४११  
 चित्तुज्जुक्ता ३९०  
 चेतिय ३८, ४३  
 चेमे ५३  
 चोरो ५४

छ

छकल ५९  
 छारिका ६३

ज

जन्वा ६७  
 जेनस्स २३६  
 जनेस्वा २३६  
 जनो ५४  
 जल्लिका ५६  
 जिगुल्लति ४६  
 जिण्ण ४१  
 जिम्ह ६५  
 जिया ५०  
 जिक्का ६६  
 जिक्कामुल्लोय ३६  
 जीवन्तो (जीवतो)  
 जण्हा ६६

मन्हा ६६  
जैति ४९

तेमै ५३

थ

भा

भान १६८  
भाम ६३  
भान-यन्त्रयो ४६२

थक ३३  
थीन ४८  
थगो ६२  
थेन ५०

ठ

द

ठापेति ६३  
ठितो ६३

दक्खिणा ६३  
ददल्लति ६०

ड

डसति ५७  
डइति ५७  
डाह ५७, ६०

दल्ल ६९  
दलो ५४  
दमित् ६३  
दस्सनेन पहातत्त्वा ३६१  
दस्सनेन पहातत्त्वेवुत्ता ३६२  
दातणि ५३  
दानि ५४

त

तक्क ३५  
तक्कति ६३  
तपरिच ५३  
तण्हा ६६, १६९, ४७०  
तण्हाबोधान-भागिय ४६८, ४६९  
तण्हासंकिनेस भागिय ४६९  
तल्लण (तल्लण) ६०  
तसिणा ५२  
तति ५, ७, ८, ९  
तापेदि ५४  
त्वाय ७०  
तिक्किच्छति ६०  
तिणक्किमारुत ३१९, ३२०, ३२१  
तिण ४१  
तिण्व ३५  
तिमिस्सा ४५  
तीह ४८  
त्वीन ७७  
तुरिय (तुरिय) ५३  
तेवीयनिकय ४९१

दाय (दाय) ६३  
दामिमाण ५२  
विदिठगतसम्पत्तु ३८९  
विदिठबोधान-भागिय ४६९  
विदिठ-संकिनेस-भागिय ४६९  
दिसाज्जेवन ४६९  
दोष ४१  
दोषमवधान (दोषमवधान) ५२  
दुक्ख ४९, ५२  
दुक्खसंख्या ४६९  
दुक्खो ३३  
दुक्खाय वेदनाय सम्मयत्ता ३६०  
दुग्गजह ५२  
द्राह ४८  
दुक्खरित-बोधान-भागिय ४६९  
दुक्खरित-संकिनेस-भागिय ४६९  
दुल्लभ ६४  
दुवे ५३  
दुस्सहो ४७०  
द्विन्द्व ६०

देवाति ५३  
 देवान् ४१  
 देवसो ६०  
 देवेभि २१  
 देवेहि २१  
 देवो ४५  
 देवनाहार ४६८  
 देसो ५६  
 देहसो ६१  
 देहक ६०  
 दोस ४९, ४६९

## ध

धम्मता २५८  
 धम्मराजा ४  
 धम्मा २५, २६१  
 धम्मसो ३०  
 धारोप २६  
 धेनु ४५

## न

न अरुणावधरा (धम्मा) ३७२  
 नग्ग ५१  
 नत्ति-नत्तसो ४६३  
 नवति (नदी) ५१  
 नदि ४१  
 न दस्सनेन पहातव्वहेतुका ३७१  
 निव्वेधभागि ४६९  
 न भावनाय पहातव्व ३७१  
 न भावनाय पहातव्वहेतुका ३७२  
 न-पीतिसहसता ३७२  
 नय ४६७  
 नय-समुद्दान ४६७  
 नयिद ५३  
 न रुणावधरा (धम्मा) ३७२  
 नवति ४७  
 न सुखसहसता ३७२  
 न हेतु ३६३

न हेतु अहेतुका ३६४  
 न हेतु सहेतुका ३६४  
 नासेति ५५  
 निचवसव्व ४६९  
 निह्व (नेह्व) ४२  
 निह्वेसवार ४५१, ४६७  
 निदाना ४०७  
 निघ ६४  
 निगारिवाय देसता ३५०  
 निगति पटिगम्भवा ४११  
 निघता ३७२  
 निष्पाति ६४  
 निष्पातिग ३७२  
 निम्मागिया पान्तिगिया ३१६, ३२०  
 निम्मागिया पान्तिगिया धम्मा ३१२,  
 ३१६ ३१७-३१८  
 निस्तसो पचवधो ४६१  
 निसिध ४६  
 निस्सोको ४५  
 नीयाति ४२  
 नीवरण १२९  
 नीवरणविणयुता ३६७  
 नीवरणविणयुता अनोवरणिया ३६७  
 नीवरणविणयुता नीवरणिया ३६७  
 नीवरणसम्पयुता ३६७  
 नीवरणसम्पयुता चेव नीव नीवरणा  
 ३६७  
 नीवग्गा ३६७  
 नीवरणा चेव नीवरणिया च ३६७  
 नीवरणा चेव नीवरणसम्पयुता च ३६७  
 नीवरणिया ३६७  
 नीवरणिया चेव नीव नीवरणा ३६७  
 नेवत्त ३८, ६४  
 नेव आचयगामितो न अपचयगामितो  
 ३६१  
 नेव दस्सनेन न भावनाय पहातव्वहेतुका  
 ३६१  
 नेव दस्सनेन न भावनाय पहातव्व ३६१



नेव विपाक-न-विपाक-धम्मा ३६०  
 नेव सेवसा न असेवसा ३६१  
 नेसज्जिकं ४९१  
 नो आमवा ३६४  
 नो उपादा ३६१  
 नो उपादाना ३७०  
 नो किलेसा ३७०  
 नो गन्धा ३६६  
 नो चित्तसमुत्थाना ३६८  
 नो चित्तसहभूतो ३६९  
 नो चित्तसंसद-समुत्थाना ३६९  
 नो-चित्त-संसद-समुत्थान-सहभूतो ३६८  
 नो-चित्त-संसद-समुत्थानानु-  
 परिवर्त्तिनो ३६९  
 नो चित्ता ३६८  
 नो चित्तानुपरिवर्त्तिनो ३६९  
 नो नीवरणा ३६३  
 नो पराभासा ३६७  
 नो संयोजना ३६५  
 नंगल ३३, ६१

प

पकिरिय ४३  
 पग्गहो ३९०  
 पग्घरति ६३  
 पच्चनीका (पच्चनिका) ५१  
 पच्चय धम्म ४६०, ५५९  
 पच्छावात-प्रत्यय ४३२  
 पच्चयासे ३३६  
 पच्चयुत्पन्न ४६१, ४६९  
 पच्चुपप्रारम्भण ३६३  
 पच्चरे २९  
 पच्चुप्पसा ३६२  
 पच्चलति ६५  
 पज्जसिहार ४५१  
 पज्जसिहार ४६८  
 पज्जना ६२

प्रतिनां ६९  
 पञ्च ६६  
 पथवी-पटवी-पुथवी, पुथुवी, पुटुवी ४०  
 पदुत्थानहार ४६८  
 पत ५२  
 पम्ह ६६  
 पटंग ५९  
 पट्ठाप ६७  
 पट्ठान ४६८  
 पटच्चर ५  
 पटिगच्च (पटिगच्च) ५७  
 पटिमा ६०  
 पटिक्खिमा ४४  
 पटिक्खिसुप्पाद ४६८  
 पटिद्वैतानिवा धम्मा ३१२, ३१३, ३१८  
 पटिसल्लान ४९  
 पटिसंखा ४३१  
 पठम ६०  
 पटुवी ६०  
 प्रणानि २८  
 पर्णीता ३६२  
 पति २६  
 परक्कम ६२४  
 परस्सपद ६८  
 पराभासतत्त्वयुत्ता ३६८  
 पराभासविण्णयुत्ता अपरा मट्ठा ३६८  
 पराभासविण्णयुत्ता परामट्ठा ३६८  
 परामट्ठा ३७८  
 परामासा ३६७  
 परामासा जेव परामट्ठा च ३६८  
 परामट्ठा जेव नो च परामासा ३६८  
 परामास विण्णयुत्ता ३६८  
 परिज्जाना-वार ४५१, ४५२  
 परिवाय (परिवाय) ४, ९  
 परिवत्ततहार ४६८  
 परिस्सा-हार ४६८  
 परिधापयित्वा ७०  
 परिधाय ६५

|                                 |                     |
|---------------------------------|---------------------|
| परिता ३६१                       | पितृभक्त्यो ४०      |
| परिम ४७                         | पितृस ७१            |
| परिसारम्भण ३६२                  | पितृघातक ४०         |
| परिकषारहार ४७०                  | पितृयति ५९          |
| पलच्चर ५                        | पिपकल ६७            |
| पल्लिनति ६१                     | पियवसिना २७         |
| पल्लि २०                        | प्रियवसि २७         |
| पल्लि (पल्लि) ५१                | प्रियवसिनि १७, २७   |
| पल्लिस्तनति ६१                  | पिय ३७              |
| पल्लि ८                         | पियवसिने २८         |
| पल्ल ६२४                        | प्रियवसि १७, २७, २८ |
| पवति-वार ४५१                    | पियल २८             |
| पवेधति २०                       | प्रियस २८           |
| पसद ५७                          | प्रियवसिनी २८       |
| पसन्ना ६२                       | प्रियवसि २७, २८     |
| पसुत ४७                         | पिलक्कु ५०          |
| पसिञ्चक ४४                      | पिसील २६            |
| पस्माडि ४०८                     | पितृसहृता ३६१, ३७२  |
| पञ्चद्वारावज्जन ३८४             | पुच्छति ३९          |
| पात ५२                          | पुत्तिमा ४७         |
| प्राप्तसहस्रानि २७, २८          | पुन ५२              |
| प्राप्तितया घम्मा ३१२, ३१४, ३१८ | पुञ्चह ६५           |
| पाचित्तिय २०, ३१३, ३२२, ३२३     | पुर २७, २८          |
| पाठलि-पाठलि ८                   | पुरा १७, २७, २८     |
| प्राप्तसहस्रानि १७, २७, २८      | पुरिस ५६            |
| पाति २६                         | पुरिसकारे ३३        |
| पालिय ४८                        | पुरे ३३             |
| प्राप्तसहस्रानि २७, २८          | पुरेजात-पञ्चयो ४६१  |
| पानानि २८                       | पुल्ल १७, २७, २८    |
| पापुरण २०, ४७, ५१               | पक्व ३४             |
| पापजिक २०                       | पेतवल् २४४          |
| पापजिकाधम्मा ३१५, ३१६           | पेय्याल ६, १२८      |
| पापपत (पापुरण) ६१, ३०१, ५८२     | पोक्कर ३८           |
| पाल ५, ६                        | पोक्करणी ४६         |
| पालि ४, ५, ६                    | पोष २६, ४९          |
| पावच ५, ५२                      | पोर ४४              |
| पाहुणेस्य ३२७                   | पोसव ५४             |
| पित ७१                          |                     |

## फ

फरसु ५६  
फल ५५  
फाल्गु ५७  
फल्गु ३८९  
फेगु ३७  
फोटव्व ३४८

## ब

बधि ७०  
बर्षा ७०  
बहिडा ३६३ ३९०४  
बहिडारम्मणा ३६३  
बहिनी (बहिणी) ५६  
बहिरो ५४  
बहूपकार ५३  
बुद्धानं सामुक्कसिका धम्मदेसना  
१२७, ६२९  
बुद्धासे ३०, ६९  
बुद्धेहि ७०  
बुध १७  
बुधेति ४०

## भ

भिक्षु ३८  
भिक्षुहि ३८  
भगवा ६८  
भारिष ३४  
भासरे २९  
भावनाय पहातब्बा ३६१  
भावनाय पहातब्बहेतुका ३६१  
भिक्षुवे २२, २३, २४, ३३  
भिक्षुक ३७  
भेसज्ज ३७

## म

मकल ६२

मक्खिका ६३  
मग ३९, ४०, ८९  
मग्गजिन २३९  
मग्ग-पच्चयो ४६२  
मगो २७, २८  
मग्गहेतुका ३६२  
मग्गाधिपतिनो ३६२  
मग्गारम्मणा ३६२

मन्वस्सेवोदके ५३

मच्छेर ५०

मत ४०

मत्ति ५३

मइव ४१

मइह ५५

मरियादा ५०

'मसे' २९

महग्गता ३६१

महग्गसतारम्मणा ३६२

माकुण (मकुण) ४३

भागन्दिम २०

मातिकत्थदीपनो ५७९

मात्तिपत्ततो ४०

मानुषातक ४०

मुख ३७, ५५

मुखपाठसेन २३२

मुखोदक ५३

मुग्ग ६४

मुच्चति ६७

मुत्तिग २०, ५९

मूर्तीमा ४६

मुपिता (मुहुता) ४७

मुळाल ६०

मूल या मूल ४०

मेत्ता ४४

मीचेति ४९

मीर (मयूर) ५०

मीरिष ३८, ४३

य

यदिठका (लदिठका भी) ५५  
 यपरिव ५३  
 यवाक्यभासयेन ४३  
 यवासत्यस्तिकेन ४९१  
 यमामसे २९  
 यस्मिन्दिवाणि ५३  
 याव ५५  
 यागु ४९  
 युतिहार ४६८  
 येव ३३

र

रज २७  
 रजापथ (रजापथ) ५०  
 रज्ज्वा ७१  
 रम्म ६५  
 रहद ६१  
 राजो २८  
 राज ५५  
 राजा १७, २७  
 राजिने २७, २८  
 राजिनो ७१  
 राजूल ४७  
 रक्व ४०  
 रक्वो ३७  
 रुहिर (रुधिर) ५८  
 रुपा २९  
 रुपानि (लुपानि भी) ५५  
 रुपिनो (धम्मा) ३६४

ल

लत्तणहार ४६८  
 लमा ६४  
 लघुमेस्सति ५३  
 लहु ५८  
 लासा ४९  
 लापुलोवावे १७, २९

लाजा १७, २७  
 लाजिना २७  
 लाजिने २८  
 लुञ्जति ५५  
 लुहु ४४, ५५  
 लोकस्साति ५३  
 लोण ४९

व

वक ३९  
 वक (वाक) ४२  
 वजिर ५१  
 वडवति ६७  
 वडिह ४०  
 वध ३७  
 वसतन ४८  
 वाक ६४  
 वादी ५५  
 वासना-भागिय ४६९  
 वासना-निक्खेध-भागिय ४६९  
 व्याकतो ५३  
 व्यावट ६०  
 व्याध ४८  
 विकट (विकृत) ३९  
 विचय-हार ४६८  
 विच्छिन्नक ३९  
 वितक्को ३८६, ३९२  
 वित्थ २६  
 विपस्सना ४६९  
 विप्पयुत्त ४१२, ४४०  
 विष्कार ४३६  
 विप्पयुत्तेन विप्पयुत्त ४१४  
 विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं ४१४  
 विप्पयुत्तेन सम्पयुत्तं ४१३  
 विप्पहातवे ५०  
 विभत्ति-हार ४६८  
 विभागवार ४६७  
 विहाय ६६



विमोक्ष (विमोक्ख) ४२

विरिपिन्द्रिय ३८९

विल्ल ६५

वीतिवत् ४८

वीरिय ३८०

वीमसति ६१

वीसति (वीसं) ४३

वुच्चति ६५

वुद्धि ४०

वे ४४

वेलु ५, ३३, ३२

वेणु ३८

वेवचन-हार ४६८

स

स-उत्तरा २७३

सकटभासाय २२

सका निरुत्ति २३

सकाय निरुत्तिया २२, २३, २४, २५, २६

सकित्ति ३४

सक्खि (सक्खिं) ३३

सक्खिभाव (सक्खीभाव) ५३

संचाय ५३

सत्-सद-सय-सज-सी—५८

सतिमती (सतीमती) ५१

सत्त ६३

सत्थबाही ५६

सद् ६३

संगहित ४१२

सण्ह ६६

सन्तीरण ३८३

सनिहस्सन-सण्णटिषा ३६३

सनिहस्सना ३६४

सण्णच्चया ३६४

सण्णटिषा ३६४

सण्णौतिका ३७२

समन्तीध ५३

समूहतामे २३६

सम्मुज्जनी ४६

सम्मृत्ति ४७

सण्ह ६५

सम्मदत्तो ५३

सवनीय ५३

सरणा ३७३

सराव २६

सविचारा ३७२

सवितक्का-सविचारा ३६०

सवितक्का ३७२

समंसारिक ३७०, ३८०

संहित (संहिता) ५

सहेतुका ३६४

सहेतुका चेव न च हेतु ३६४

संकिलिट्ठ-संकिलेसिका ३६०

संकिलिट्ठा ३७०

संकिलेसिका ३७०

सक्खलो (सक्खलिका) ४६

सकुण ६०

संखता ३६४

संगहितेन सम्पयुत्तं विण्ययुत्तं ४१४

संगहितेन असंगहितं ४१३

सम्पयोगो विण्ययोगो ४१३

सम्पयुत्तेन विण्ययुत्तं ४१३

सम्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं ४१४

सम्पयुत्तेन सम्पयुत्तं ४१४

संयोजन-विण्ययुत्ता ३६५

संयोजनविण्ययुत्ता संयोजनिया ३६६

संयोजनविण्ययुत्ता असंयोजनिया ३६६

संयोजनसम्पयुत्ता चेव नो च संयोजना ३६६

संयोजनसम्पयुत्ता ३६५

संयोजना ३६५

संयोजनिया ३६५

संयोजना च संयोजनिया च ३६५

संयोजना चेव संयोजन-सम्पयुत्ता ३६५

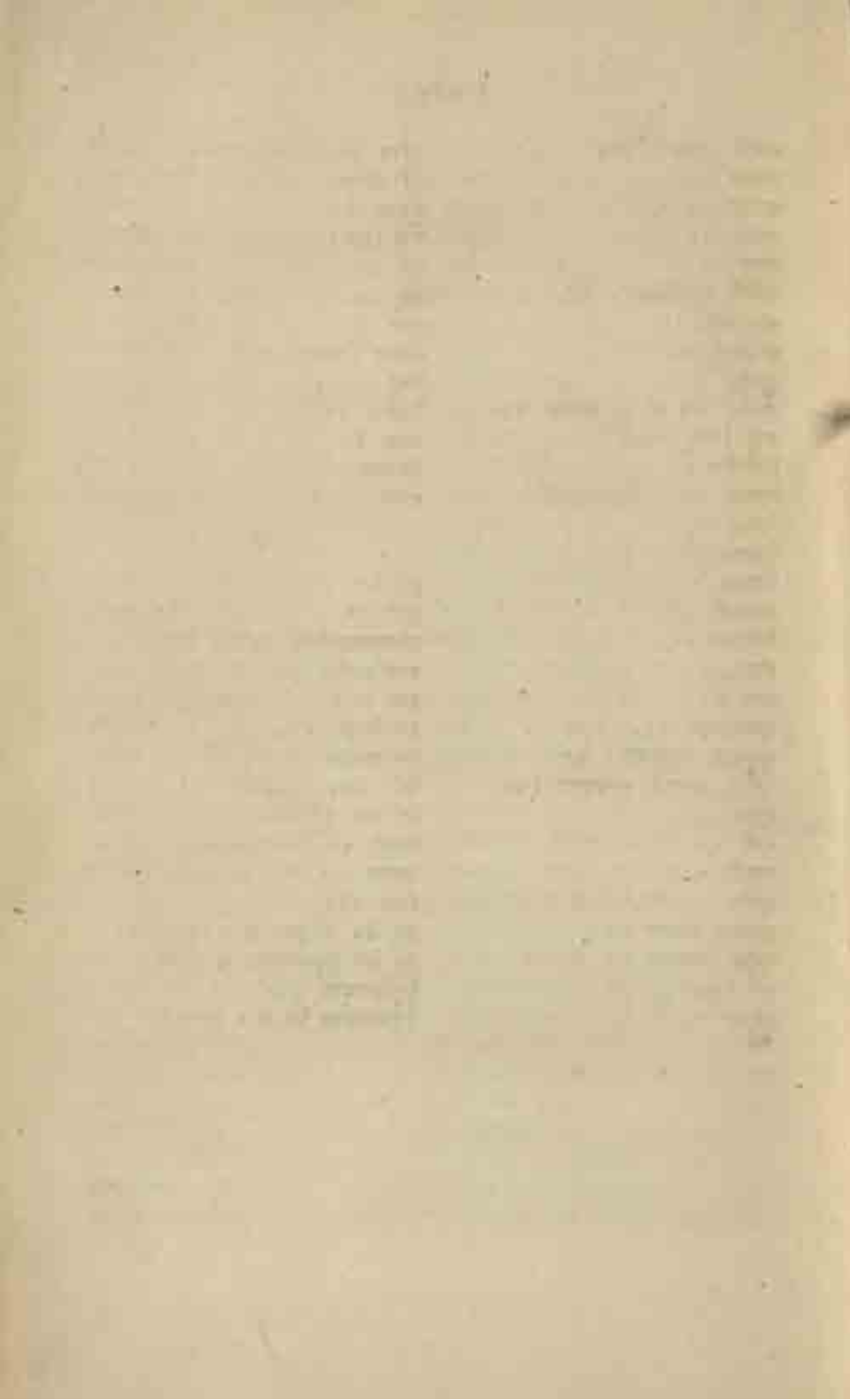
संयोजनिया चेव नो च संयोजना ३६५

सेंवरी (सावरी) ४३  
 समथो ३९०  
 सागल ५७  
 साज्ज ४३  
 साण ४०  
 साम्यति (सादियति) ५८  
 सारम्मणा ३६८  
 सावित्री २२  
 सासवा ३६५  
 सासवा चैव नो च आसवा ३६५  
 साह (साधु) ५८  
 सिगिवेर ४६  
 सिनान ३४  
 सिनेह ५१  
 सिन्धव ४८  
 सिम्बल ५२  
 सिम्बली ५२  
 सिरित्तप ४५  
 सीह ४३  
 सुक्क ६५  
 सुखसहगता ३६०, ३७२  
 सुखुमाल (सुकुमार) ५९  
 सुखाय वेदनाय सम्पयुता ३६०  
 सुसुम ५१  
 सुजा ५७  
 सुणाहि ७०  
 सुणोय ७०  
 सुतमया पञ्जा ४११  
 सुनल (शुनक) ५९  
 सुक (सुक) ४०  
 सुसुमा ५५

सुणि ४९  
 सुरिय (सुर्य) ४३  
 सुसुमा ४५  
 सुव (सुक) ५८  
 सुवे ३३  
 सुसु १५  
 सुस्स ४४  
 सुक्खा (धम्मा) ३६१  
 सुम्ह ३८, ६५  
 सुम्पया ३३  
 सुम्प्या ३८  
 सुत्थान ४९  
 सुण ४९, ६४

ह

हट ५९  
 हवय ३९  
 हसितुप्पाद-चित्त ३८४  
 हान भागीय १४८  
 हार ४६७  
 हार-विभंग ४६७  
 हार-सम्पात ४६७  
 हिरि २४०, ३९०  
 हिरिखल ३८९  
 हिय्यो ५०  
 हिलाद ५१  
 हीना ३६२  
 हेतु चैव सहेतुका च ३६४  
 हेतु चैव हेतुसम्पयुता च ३६४  
 हेतुविपययुता ३६४  
 हेतुसम्पयुता चैव न च हेतु ३६४

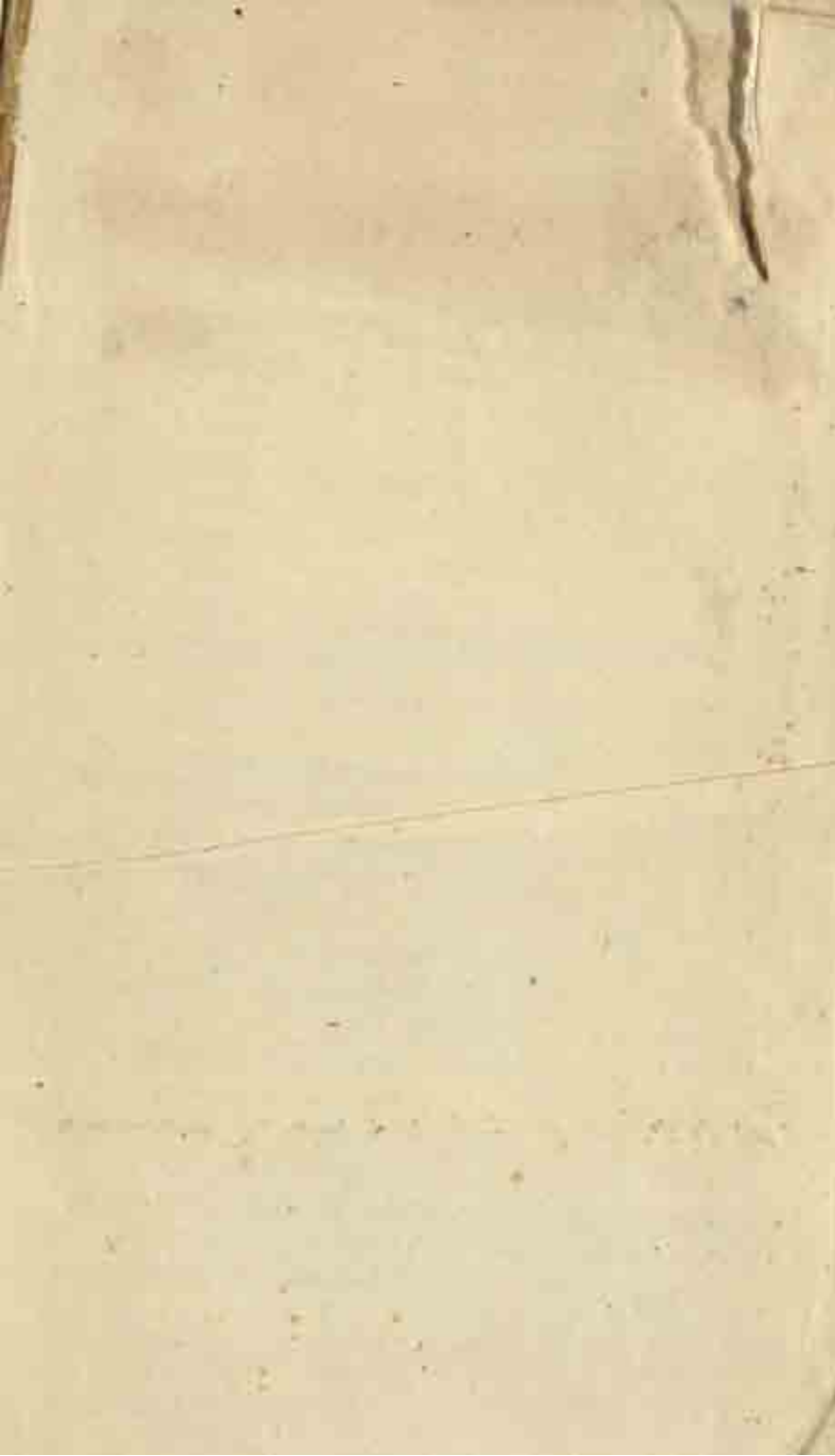


## शुद्धिपत्र

| पृष्ठ     | पंक्ति                     | अशुद्ध                                       | शुद्ध                  |
|-----------|----------------------------|----------------------------------------------|------------------------|
| ९ भूमिका  | १३                         | नडे                                          | नई                     |
| ११ भूमिका | १७                         | पाइता                                        | पड़ता                  |
| १२ भूमिका | १५-१६                      | पालि साहित्य संबंधी लेख                      |                        |
| ११        | पद-संकेत की प्रथम पंक्ति   | हम                                           | इस                     |
| २९        | १९                         | शब्द-बोधन                                    | शब्द-साधन              |
| ३१        | पद-संकेत की अंतिम पंक्ति   | प्रकृष्ट विदुः                               | प्रकृष्ट प्राकृत विदुः |
| ६०        | १७                         | ऐरिस                                         | ऐरिस                   |
| १२१       | २१                         | मिनयेक                                       | मिनयेक                 |
| १२८       | पद-संकेत की पांचवीं पंक्ति | पूर्वागत                                     | पूर्वागत               |
| १२९       | २४                         | करिस्समि                                     | करिस्सामि              |
| १६१       | २२                         | बोज्झ                                        | बोज्झ                  |
| २२७       | ८                          | सम्बोधि                                      | सम्बोधि                |
| २५२       | ३                          | उपसम्पदा                                     | उपसम्पदा               |
| २७८       | १८                         | भनन्ता                                       | भदन्ता                 |
| ३३०       | १०                         | अनुभव                                        | अनुभव                  |
| ४८७       | २                          | सब्बेव                                       | सब्बेव                 |
| ४९७       | १०                         | अट्ठकायाय                                    | अट्ठकायाय              |
| ४९९       | पद-संकेत की दूसरी पंक्ति   | बुद्धकोष                                     | बुद्धकोष               |
| ५०४       | ५                          | पालि-साहित्य                                 | पालि-साहित्य           |
| ५०७       | ६                          | धम्मकित्ति महासामि<br>(धर्मकीर्ति महास्वामी) | महामंगल                |
| ५०९       | पद-संकेत की अंतिम पंक्ति   | जा तो                                        | जातो                   |
| ५१०       | १०                         | विमुद्धमग्ग                                  | विमुद्धिमग्ग           |
| ५१०       | १६-१७                      | मज्झिम-निकाय                                 | मज्झिम-निकाय           |
| ५१५       | पद-संकेत की पहली पंक्ति    | विमुद्धिमग्गो                                | विमुद्धिमग्गे          |
| ५२६       | २०                         | विशेष                                        | विषय                   |
| ५२५       | ११                         | कार्यकर्मज्ञता                               | कार्यकर्मज्ञता         |



| पृष्ठ         | पंक्ति | अशुद्ध              | शुद्ध              |
|---------------|--------|---------------------|--------------------|
| ५४०           | १      | विनया, विनिच्छयटीका | विनयविनिच्छय टीका  |
| ५४०           | ११     | बुद्धदत्त           | बुद्धदत्तकृत       |
| ५४०           | २६     | दाढावंस'            | दाढावंस            |
| ५४२           | १२     | बुद्धधोमुपपत्ति     | बुद्धधोमुपपत्ति    |
| ५५०           | ५      | ग्रन्थो             | ग्रन्थ             |
| ५५६           | ११     | सातव                | सातव               |
| ५६२           | १०     | संगति               | संगीति             |
| ५६२           | २२     | सनाश्रमणीय          | सनाश्रमणीय         |
| ५६३           | १६     | इतिपतन              | इतिपतन             |
| ५६७           | २३     | खुदक                | खुदक               |
| ५६९           | ७      | बुद्धकोष            | बुद्धघोष           |
| ५७२           | १५     | समन्तपामोदिका       | समन्तपामोदिका      |
| ५७५           |        | २२४६                | १२४६               |
| ५७५           | १३     | दाढावंस             | दाढावंस            |
| ५७६           | १५     | ग्रन्थ              | ग्रन्थवंस          |
| ५७७           | २२     | मुद्दकापाठट्ठकाया   | मुद्दकापाठट्ठकाया  |
| ५७८           |        | परमत्त्वविनिच्छय    | परमत्त्वविनिच्छय   |
| ५७८           |        | मुचोबलकार           | मुचोबालकार         |
| ५७९           | ४      | नवमोगलान            | नवमोगलान           |
| ५८०           | १५     | सहृत्त्वभेदचित्ताय  | सहृत्त्वभेदचित्ताय |
| ५८३           | १४     | उन्न                | उन्नत              |
| ५९५           |        | विटरनिरत्त          | विटरनिरत्त         |
| ६०१           |        | पाणिनीय             | पाणिनीय            |
| ६०७           |        | ग्रन्थ              | ग्रन्थ             |
| ६०७           |        | उपकार               | उपकारी             |
| ६११, ६१२, ६१३ |        | मेडिल               | मेडिल              |
| ६१२           |        | विनत्यव्यपकरण       | विनत्यव्यपकरण      |
| ६१३           |        | रूपसिद्धि           | रूपसिद्धि          |
| ६३३           |        | विजितावीसे          | विजितावी सां       |
| ६४४           | २१     | राजर्जितक           | राजर्जितक          |
| ६४६           | ९      | कसौटी पर खरा        | कसौटी पर उतना खरा  |





D.G.A. 80.  
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

NEW DELHI

Issue record.

Call No.— 891.3709/Upa-8684

Author— Upadhyaya, Bharat Singh.

Title— *Āli sâhitya kâ itihâsa.*

Borrower's Name

Date of Issue

Date of Return

*"A book that is shut is but a block"*

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
NEW DELHI.

Please help us to keep the book  
clean and moving.